॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

अष्टम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध अध्याय—५० से ५६

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—४७ से ५३

उत्तरार्ध अध्याय—१ से ७

राजस–साधन उप-प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।
साकार ब्रह्म वादैक स्थापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्वल्लभाचार्य)
श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी— **श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण**
लेख— **गो० श्री वल्लभजी महाराज**
प्रकाश— **गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज**
योजना— **प० भ० श्री लालूभट्टजी**
कारिकार्थ— **प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट**

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्या भूषण
जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति—१०००
श्रीमद्वल्लभजयन्ती महोत्सव
वैशाख कृष्णा ११, वि.सं. २०३०
दिनाङ्क २९ अप्रेल, १९७३

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

प्रथम अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४७ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५० वां अध्याय

जरासन्ध से युद्ध और द्वारकापुरी का निर्माण

★

कारिका—उत्तरार्धे हरेर्लीला स्वतः सर्वात्मना कृता ।
यदर्थमवतीर्णोऽसौ सा निरूप्या विभागशः ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीमद्भागवत के उत्तरार्ध में भगवान् ने अपने आप ही अर्थात् भक्तों के अनुरोध के बिना ही जो लीलाएं की हैं और जिस सर्वोद्धार करने के लिए आपका प्राकट्य है, वे लीलाएं विभागपूर्वक निरूपण की गई हैं ॥१॥

कारिका—एषा निरोधलीलैव स्वसंसारपरा परम् ।
भगवांश्च तदीयाश्च तच्छास्त्रं चेति स त्रिधा ॥२॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध में की हुई लीलाएं भी निरोध लीलाएं ही हैं। यह शंका भी नहीं करनी चाहिए, कि जब प्रद्युम्न आदि ने भी इसमें लीलाएं की हैं तो वे निरोध लीलाएँ कैसी होंगी ? वे भी निरोध लीलाएं ही हैं, क्योंकि जैसे बलराम, भीम, पार्थ के व्याज से आपने ही सब कुछ किया है, वैसे ही यहाँ भी अपने पुत्र आदि (संसार)

द्वारा भी लीलाएँ की हैं। भगवान्, उनके धर्म तथा शास्त्र इस भाँति भगवान् तीन प्रकार के हैं, धर्म भगवद्रूप ही है और शास्त्र, शिक्षा देने वाला होने से भगवान् का ज्ञान होने में हेतु है तथा भगवान् स्वयं षड्गुण सम्पन्न हैं। वैसे त्रिविध भगवान् की लीलाएं निरोध करने वाली हैं। 'निरोधीस्यानुयनं' में 'अस्य' पद से भगवान् की लीलाएं निरोध करने वाली ही कही हैं, जिसमें किसी प्रकार विरोध नहीं है, क्योंकि प्रद्युम्नादि द्वारा की हुई लीलाएँ भी आपकी ही लीलाएँ हैं, यों समझना चाहिये ॥२॥

कारिका—चतुर्दशभिरध्यायैः प्रमाणं तस्य रूप्यते ।
तदीया एकविंशत्या षड्भिः स च निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—चौदह अध्यायों से उसका प्रमाण निरूपित किया है। इक्कीस से उनके धर्म कहे हैं, किन्तु वे छ से ही निरूपित किए हैं, क्योंकि षड़धर्मों में ही उन सबके भाव आ जाते हैं ॥३॥

कारिका—कृतिः प्रमाणं तु हरेः स्वतश्चान्यानुरोधतः ।
सप्तभिः सप्तभिः प्रोक्ता गुणैर्युक्तो हरिस्तथा ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् की लीला तथा प्रमाण अपने से तथा भक्तों के अनुरोध से हैं। षड् गुणों से हरि सात सात अध्यायों से कहे हैं अर्थात् एक एक अध्याय में एक एक गुण द्वारा की हुई लीला ६ अध्यायों में कही गई है और सातवें में धर्मी हरि की लीला कही है, इस प्रकार सात अध्याय हैं ॥४॥

कारिका—वाक्यात्तदीया विज्ञेयास्तस्यैव न तु शास्त्रतः ।
एकविंशविधं सर्वं श्रुत्वा तद्बहुधोदितम् ॥५॥

कारिकार्थ—भगवान् के ही वाक्यों से उनके धर्म जानने चाहिये, न कि साधारण शास्त्र न्याय से, इसी कारण से ही उस प्रकरण के आरम्भ में नृग के प्रसंग से भगवान् के वाक्यों द्वारा ही धर्म ज्ञान का निरूपण किया है। वे सब भगवद्वाक्य काल के अतिक्रमण करने वाले होने से निरोध के सम्पादक हैं। काल इक्कीस प्रकार का है,

अत: यह भी इक्कीस प्रकार का है। इस कारण से भगवान् के धर्म इक्कीस अध्यायों से निरूपित किये हैं। भगवान् के वाक्य को सुनकर अन्यों ने बहुत प्रकार से वर्णन किया है, किन्तु मूल वही है ।।५।।

कारिका—**षड्गुणैर्भगवान् रूप्यस्तेषु सर्व प्रतिष्ठितम् ।**
तत्र तु प्रथमेऽध्याये स्वावतारप्रयोजनम् ।।६।।

कारिकार्थ—भगवान् का वर्णन षड्गुणों से किया है, कारण कि, उनमें ही सर्व अनन्त गुण समाये हुए हैं। उसमें अपने अवतार का प्रयोजन पहले अध्याय में कहा है ।।६।।

कारिका—**निरूप्य क्षात्रधर्मेण जयोऽन्यश्च निरूप्यते ।**
राजसानां साधने तु निरोधे भगवत्कृतिः ।।७।।

कारिकार्थ—क्षात्र धर्मानुसार जय का निरूपण करने के पश्चात् अन्य विषय का निरूपण किया गया है। राजसों के निरोध का साधन सर्वथा भगवान् की कृति ही है ।।७।।

कारिका—**सर्वथा साधनमिति तदेवादौ निरूप्यते ।**
विवाहपुत्रजन्मान्ता सा निरूप्या विशेषतः ।।८।।

कारिकार्थ—भगवान् की कृति ही सर्वथा साधन होने से वही पहले अध्याय में वर्णित है। भगवान् की वह कृति विवाह से लेकर पुत्र के जन्म तक विशेष प्रकार से निरूपण करने योग्य है ।।८।।

कारिका—**अलौकिकं ततः स्थानं निरूप्यमिति रूप्यते ।**
तस्योपद्रवनाशाय भ्रमोत्पादनमोरितम् ।।९।।

कारिकार्थ—जब भगवान् की कृति ही साधन है, तब अलौकिक स्थान का भी निरूपण करना चाहिए तथा उस स्थान में कोई उपद्रव न हो, इस लिए जरासन्ध को भ्रम पैदा करने की कथा दो श्लोकों में कही है ।।९।।

कारिका—**निग्रहानुग्रहौ चैव प्रसङ्गात् सुनिरूपितौ ।**
अन्यथा लौकिकी लीला कृष्णस्य स्यान्न चान्यथा ॥१०॥

कारिकार्थ—जरासन्ध का बन्धन और मुचुकन्द पर अनुग्रह ये दोनों भी प्रसंग से निरूपित किए गए हैं, जो, यों न करें तो कृष्ण की लीला लौकिकी न होकर अलौकिकी हो जाए ॥१०॥

कारिका—**त्रिविधो हि क्षत्रियाणां विवाहः परिकीर्तितः ।**
गान्धर्वो राक्षसश्चैव विहितश्च स्वगृह्यतः ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—क्षत्रियों का विवाह तीन प्रकार से हो सकता है, गान्धर्वविधि से[1], राक्षसविधि से[2], और अपने गृह्य[3]शास्त्रानुसार वैदिक विधि से ॥ ११ ॥

कारिका—**पुत्रस्यापि कथा वाच्या ह्यन्येनापि समर्पिताम् ।**
भार्यामाहुः क्षत्रियस्य तत्प्रसङ्गात्तथा परा ॥ १२ ॥

कारिकार्थ—पुत्र ने भी जो क्षात्र धर्म से विवाह किया, वह कथा कही है । शवर की दी हुई कन्या को भी उसको मारकर ले आये तथा यहाँ "परा" शब्द से यह कहा है कि रुक्मी की पुत्री को समस्त राजाओं को जीत कर ले आये । वह प्रद्युम्न की पत्नी हुई, यह सर्व कृति क्षात्रधर्म के प्रसंग होने से की है ॥ १२ ॥

कारिका—**सत्यभामाविवाहान्ता कथेयं विनिरूपिता ।**
त्रिविधं दुःखमादौ हि भक्तानां विनिरूपितम् ॥ १३ ॥

कारिकार्थ—सत्यभामा के विवाह तक यह कथा निरूपित की है । भक्तों के त्रिविध दुःख का पहले ही दशम स्कन्ध के प्रथमाध्याय में वर्णन कर दिया है ॥ १३ ॥

कारिका—**भूमेर्मातुर्वैष्णवानां वैकुण्ठादागतिर्यतः ।**
द्वयमप्यत्र मथुरात्यागे हेतुर्निरूप्यते ॥ १४ ॥

---

[1] प्रेम हो जाने से विवाह करना मध्यम है । [2] राक्षस की भाँति जबरदस्ती ले जा कर विवाह करना अधम है । [3] वैदिक विधि से विवाह करना यह उत्तम प्रकार का है । —अनुवादक

कारिकार्थ—तीन प्रकार के दुःख कौन से हैं ? वे बताते हैं। भूमि, माता और भक्तों का दुःख। इन दुःखों को मिटाने के लिए भगवान् को वैकुण्ठ से आना पड़ा है। फिर उनको भूमि तथा वैष्णवों के दुःखों के कारण मथुरा छोड़नी पड़ी। यदि मथुरा न छोड़ते तो ये दुःख दूर करने अशक्य थे, यह मथुरा छोड़ने का कारण कहा है ॥१४॥

कारिका—**प्रमाणरक्षासिद्ध्यर्थमनिवार्यं तुवद्रूतयम् ।**
निवार्यः सप्तदशधा ब्रह्माण्डे तु प्रजापतिः ॥ १५ ॥

कारिकार्थ—ब्रह्मा के दिए हुए जरासन्ध के वर की सिद्धि के कारण वे दो दुःख मिटाने कठिन हो जाते, अतः मथुरा का त्याग और उसको भी १७ बार छोड़ देना आवश्यक था तथा इससे आपने अलोकिकत्व छिपा कर लौकिक प्रकार से लीला की है, यह दिखा दिया है ॥ १५ ॥

कारिका—**स सप्तदशधा प्रोक्तस्तन्निवृत्तावशक्यता ।**
अतोऽत्र प्रथमं वाच्यं कृतिशक्यमनेकधा ॥ १६ ॥
उत्तरार्धसमैः श्लोकैरतिदेशस्ततः परम् ।
द्वाभ्यां कलाभिरपरः साधिकाभिरिति स्थितिः ॥ १७ ॥

कारिकार्थ—"यो वे सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञमन्वायतं वेद" इति इस श्रुति में प्रजापति को ब्रह्माण्ड सप्तदश "१७" प्रकार का कहा है, अतः जरासन्ध उसके वरदान के कारण १७ बार चढ़ाई कर आया, किन्तु वह नहीं मारा गया। अब यदि १८ वीं बार उसको यों ही भेज दें तो वह भगवान् का अलौकिकत्व प्रकट हो जाए। वह उत्तरार्ध में करना नहीं है, क्योंकि उत्तरार्द्ध भाग उसे कहते हैं जिसमें भगवान् ने भक्तों के अनुरोध से नहीं, किन्तु स्वतः लौकिक प्रकार से, अपनी इच्छा से, सर्व लीलाएं की हैं, इस लिए यहां पहले ही कृति से जो शक्य है, वह अनेक प्रकार से ४१ श्लोकों में कहा है। उसके बाद दो श्लोकों से अतिदेश कहा है। अनन्तर साढ़े पन्द्रह श्लोकों से दूसरा अतिदेश कहा है। इस अध्याय में इस प्रकार चरित्र का वर्णन हुआ है ॥ १६, १७ ॥

॥ कारिकार्थ सम्पूर्ण ॥

१—"व्याख्यातरूपार्थ"–अथवा, अन्य के धर्म का दूसरे में लगा कर दिखा देना।

इस अध्याय से उत्तरार्ध का प्रारम्भ होता है। श्रीभागवतार्थ निबन्ध में आचार्य श्री ने आज्ञा की है कि "आलोकिके न भावेन यावद्धिभगवत्कृतः" भक्तानुरोध पूर्वक भगवान् ने जिस भाग में अलोकिक भाव प्रकट करते हुए लीलाएं की हैं वह "पूर्वार्द्ध" भाग है और जिस भाग में "लोक धर्मं पुरस्कृत्ययच्चकार कुरु द्वहः" भगवान् ने भक्तों के अनुरोध विना लोक धर्म को आगे कर अर्थात् जैसे राजा प्रकट रीति से अपनी इच्छा से स्वयं करता है वैसे आपने भी स्वतः सर्व लीला अपने आप जिस भाग में की है वह उत्तरार्द्ध भाग कहा जाता है।

आभास—भगवानक्लिष्टकर्मेति निरूपयितुं प्रथमं कंसभार्ययोरुपद्रवहेतुमाह अस्ति प्राप्तीति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं इसका निरूपण करने के लिए पहले उसका हेतु कंसकी अति प्रिय स्त्रियों का उपद्रव करना है वह दो श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—**अस्ति प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ।**
हते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान् ॥ १ ॥
पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते।
वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—हे भरतश्रेष्ठ 'अस्ति' और 'प्राप्ति' नाम की कंसकी दो रानियां पति के मरने से दुःख से पीड़ित हो अपने पिता जरासंध के घर गईं। दुःखित उन दोनों ने मगध के भूपति जरासन्ध अपने पिता को अपने वैधव्य का सर्व कारण निवेदन किया ॥ १, २ ॥

सुबोधिनी—उभयोः क्रियानामत्वमग्रे क्रियायोगित्वाय प्रथमत एव तथा निरूपितम्। अस्तीति सर्वधात्वर्थः, क्रियासामान्यम्। प्राप्तिः सर्वक्रियाफलम्। भगवदिच्छया एते पुत्ररहिते अतिक्रुद्धे भगवत्सान्निध्यादेव भर्त्रा सह गमनरहिते पितृगृहे गते। दिग्विजये पराजितः सोऽपि दुहितरावदादिति पुराणान्तरप्रसिद्धिः। चकारात्तत्सम्भृतिर्दास्यः सर्वाश्च। पितुर्गृहानीयतुः। आकारणं तत एव नापेक्षितम्। निमित्तं भर्तृमरणम्। भगवतोऽतिसमर्थस्याक्लिष्टकर्मत्वज्ञापनाय तयोर्गमन प्रसिद्धमेव जातमित्याह स्मेति। नन्वेवं साधनफलरूपयोः कथं वैधव्यमिति चेत्, तत्राह कंसस्य महिष्याविति। महिषीत्वात् पराधीनत्वम्। तद्भोगातिशये प्रवृत्ते अपि भगवदिच्छया तथाभूते। तद्विश्वासार्थं भरतर्षभेति। नात्र तयोर्दुःखे लौकिकं किञ्चिदस्तीति भावः। गमनेऽपि न दुःखान्तरं हेतुः,किन्तु भर्तृहननमेव। गतयोः कृत्यमाह पित्रे इति। मगधराजायेति। प्राकृतदेशाधिपतित्वेन दोषोऽपि निरूपितः। दुर्जयत्वं निरूपयितु जरासन्धायेति। दुहितृप्रियत्वं निरूपयितुं दुःखित इति। सर्वमाकाशवाणीप्रभृति मरणान्तम्, आत्मनो धवाभावकारणम्, कृष्णचरितमिति यावत् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—दोनों रानियों का आगे क्रिया में योग देने के कारण से पहले ही उनका क्रिया नाम का निरूपण किया है। "अस्ति" पद सर्वधातु का अर्थ होने से सामान्य क्रिया वाचक है, अर्थात् साधन रूप है और "प्राप्ति" सर्व क्रिया का फलरूप है। भगवान् की इच्छा से दोनों को पुत्र नहीं थे. जिससे भी ये दोनों विशेष क्रोधयुक्त हुई थी। भगवान् के होते ही पति के साथ जाने से रहित हो अर्थात् विधवा हो पीहर गई। जरासन्ध ने दिग्विजय में पराजित होकर कंस को कन्याएं दी थीं, यों अन्य पुराण में कथा है श्लोक में "च" शब्द देने का आशय यह है, कि वे अपना पोषण का सर्व पदार्थ तथा दासियाँ आदि सर्व अपने साथ मायके ले गई थीं, यद्यपि पिता का आमन्त्रण नहीं था, जिसकी इस समय अपेक्षा नहीं थी, कारण पति का देहान्त हुआ था। भगवान् अक्लिष्ट कर्मा सर्व समर्थ है जिससे उनके जाने का कार्य तो प्रसिद्ध हो गया। "स्म" शब्द का यह आशय है कि साधन फल रूप 'अस्ति' तथा 'प्राप्ति' को वैधव्य क्यों प्राप्त हुआ? विधवा होने का कारण यह है, कि कंस की रानियां होने से पराधीन थीं,कंस विशेष भोग के लिए प्रवृत्त हुआ तो भी भगवदिच्छा से विधवाएं हो गई। इस बात पर परीक्षित को विश्वास करना चाहिए, इसलिए (भरतर्षभ) परिक्षित का विशेषण दिया है। यहाँ उन दोनों के दुःख में लौकिक कुछ कारण नहीं है और जाने में भी कोई दूसरा दुःख का कारण नहीं है, किन्तु केवल भर्ता का मर जाना ही कारन है। वहाँ जाकर जो किया उसका वर्णन करते हैं। पिता को अपने विधवा होने का सब आकाशवाणी से लेकर मरण तक का कारण बताने लगी वे पिता की प्यारी थीं, इसलिए इनको देख सर्व समाचार विदित कर जरासन्ध स्वयं भी दुःखित हुआ। यहाँ श्लोक में पिता के दो नाम वा विशेषण दिए हैं। (1) जरासन्ध, जिसका आशय है कि आपको कोई सरल रीति से जीत नहीं सकता है, अतः आपको प्रतिकार करना चाहिए। (२) मगधराज विशेषण से निषिद्ध देश के राजा होने से दोष का भी निरूपण किया गया है। सारांश यह है कि कन्याओं ने पिता को यह बताया कि हमारे विधवा होने का कारण श्रीकृष्ण का चरित्र ही है ॥१,२॥

आभास—पूर्वं तेन कंसवधः श्रुत एव, परं मल्लक्रीडायां मञ्चाद् पतितो दैवान्मृत इति। इदानीं हेतुपूर्वकं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा पयसा पुष्टः सर्प इव जात इत्याह स तदाऽपियमाकर्ण्येति।

आभासार्थ—जरासन्ध ने पहले कंस का बध तो सुना ही था, किन्तु वह यों सुना था कि मल्ल क्रीड़ा देखते हुए उच्च आसन से गिर पड़ा, जिससे दैव के कारण मरगया अब तो वह कारण सहित भगवान् का सकल चरित्र श्रवण कर ऐसा क्रुद्ध हुआ जैसे दूध से पुष्ट सर्प होता है, जिसका वर्णन "स तदाऽप्रिय" श्लोक में करते हैं।

श्लोक—स तदाऽप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप।
अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् यह अप्रिय वार्ता सुनकर जरासन्ध शोक तथा क्रोध से भर गया और पृथ्वी को यादवों से शून्य करने के लिए महान् उद्यम करने लगा ॥ ३ ॥

सुबोधिनी–छलेन मारणादमर्षः । मरणं त्वप्रियम् । राजा हि दुःखशोकप्रतीकारं करोत्येव समर्थस्य तूष्णीम्भावो न युक्त इति । अयं दोषो वस्तुतो वसुदेवस्य । तद्रक्षार्थं सर्व एव यादवाः प्रवर्तिष्यन्त इति पृथिवीमयादवीमेव करिष्यामीति मनसि विधाय, तदर्थं महान्तमेवोद्योगं कृतवान् । स हि महान् भवति, कृष्णस्य च दोषं न पश्यति । आनुपूर्वी तादृशी श्रुतेति । परमो ह्युद्यमः तद्बन्धूनामपि स्ववशीकरणमुपायैः । सेनादिसम्पत्तिः स्पष्टैव ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—कंस कपट से मारा गया है, यह सुनकर तो जरासंध विरोध करने के लिए प्रस्तुत हुआ, मरना तो अप्रिय है ही, इसलिए वह शोकयुक्त भी हुआ, जरासन्ध राजा है, इसलिए उसको दुःख तथा शोक का प्रतीकार करना[1] ही है, बदला लेने में समर्थ को मौन कर बैठना योग्य नहीं है, जरासन्ध विचार कुशल है। अतः उसने सुनी हुई सब बातों को सोच विचार कर समझ लिया कि इसमें कृष्ण का दोष नहीं है, दोष तो वसुदेव का है, अतः वसुदेव का ही वध करना चाहिए क्योंकि शास्त्र कहता है कि "जिघांसतनिघांसो यात्" मारने वाले को ही मारना चाहिए किन्तु उसकी रक्षा के लिए सर्व यादव तैयार होंगे। अतः मैं पृथ्वी पर एक भी यादव को जीता रहने न दूंगा, जो वसुदेव की रक्षा कर सके। जरासन्ध ने भगवान् को जो यादवपन के अभाव वाला समझा एवं यों मन में धारण कर उस कार्य की पूर्ति के लिए महान् उद्यम करने लगा; महान् उद्यम क्या करने लगा? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि उसके बन्धुओं को भी उपायों से अपने वश में लाना, अपने पास जो सेना है वह तो प्रकट ही है ॥ ३ ॥

आभास—तस्योद्यमस्य फलमाह अक्षौहिणीभिर्विंशत्येति ।

आभासार्थ—उसके उद्यम का फल "अक्षौहिणीभि" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चाभिसंवृतः ।**
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—तेईस अक्षौहिणी सेना से यादवों की राजधानी मथुरा को चारों तरफ से घेर लिया ॥ ४ ॥

---

1 बदला लेना।

सुबोधिनी—अक्षौहिणीत्रितयं तस्य गृहस्थम्। विंशतिरुद्यमेन सम्पादिता। पूर्वस्थितं विशेषेण प्रवक्ष्यतीति चकारेण समुच्चयः, पृथङ् निरूपणं च कृतम्। अभितः संवृत इत्यैकमत्यमेकप्रभुत्वं चोक्तम्। यादवानां जये स्थानग्रहणं मूलमिति मथुराग्रहणार्थं तां न्यरुणत्। यतः सा राजधानी। सर्वतोदिशमिति तत्रत्यानां निर्गमनाभावाय। न्यरुणत् आवृतवान्, अष्टदिक्ष्वावरणम्। अनेन रात्रावेव व्याजान्तरेण समागत्यावरणं कृतवानिति लक्ष्यते॥ ४॥

व्याख्यार्थ—तीन अक्षोहिणी सेना तो घर में स्थित थी शेष वीस अक्षोहिणी सेना उद्यम कर इकट्ठी की है, पहले घर में स्थित को विशेष प्रकार से कहेगा और "च" कहा है, जिससे घर की तथा बाहर से इकट्ठी की हुई का संग्रह बताया है और पृथक भी निरूपण किया है, श्लोक में "अभिसंवृत" पद का आशय बताते हैं, कि इस पद से एकता तथा एक ही प्रभु है यह प्रकट कर दिखाया है, मथुरा को ही पहले क्यों घेर लिया ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि जीत करने का मूल तत्व यह है, कि जिन को जीतना हो उनकी राजधानी पहले उनसे छीन लेनी चाहिये इस लिए मथुरा को पहले घेर लिया है कारण कि "मथुरा" ही उनकी राजधानी है।

आगे दिशाओं में चारों तरफ घेरने का कारण यह है कि कोई भी वहां से निकल न सके, यों समझा जाता है कि जरासन्ध ने रात को ही किसी मिष से आकर घेर डाला है॥४॥

आभास—तदा भीतानां वार्ताकथनं व्यर्थमिति भगवतश्चरित्रमाह निरीक्ष्येति।

आभासार्थ—डरे हुए की वार्ता करना व्यर्थ है अतः भगवान् का चरित्र "निरीक्ष्य" श्लोक से कहते हैं —

श्लोक—निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम्।
स्वपुरं तेना संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम्॥५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण सीमा का उल्लंघन न कर आते समुद्र के सदृश उसकी सेना, उससे घिरी हुई अपनी पुरी तथा भय से व्याकुल अपने जन को देख कर - विचार करने लगे॥ ५॥

सुबोधिनी—यतो भगवान् कालात्मा अवतीर्णः। तच्च समागत बलरूपम्, न तु स्नेहार्थमन्यार्थं वो समागतम्। तस्य अमर्यादत्वं चाह। वेलामतिक्रम्य समागच्छन्तं सागरमिव दृष्टवान्। नन्वक्लिष्टकर्मा भगवान्, यादवनयनार्थमागतो जरासन्धः यादवान् नयतु, राजा वा विचारं करिष्यति, स्वयं किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह स्वपुरं तेन संरुद्धमिति।

मथुरा तु स्वनगरम्, न केवलं यादवपुरीमात्रम्। निरीक्ष्येति त्रिषु सम्बन्धः। एका मोचनीया, अन्ये निर्भयाः कर्तव्याः, एकं च मारणीयमिति। गुणानां कार्यमुपस्थितमिति दर्शनम्। स्वजना भक्ताः, ते च भयाकुलाः। चकारात् तत्सम्बन्धिनोऽन्ये पुरवासिनः। बलस्यैकत्वमनायासेन मारणज्ञापनाय। पुर्यास्त्वावश्यकत्वाय। स्वजने वसुदेवं ज्ञापयितुम् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—इस समय भगवान् दुष्टों के नाश करने के लिए काल रूप से प्रकट हुए हैं, वह (जरासन्ध) स्नेह करने के लिए वा अन्य किसी लौकिक आदि कार्य के लिए नहीं आया है किन्तु बलरूप होकर आया है, अर्थात् सेना लेकर लड़ने के लिए आया है उसका वह बल भी असीम है, जैसे समुद्र मर्यादा त्याग भयानक रूप से वढ़ता आता है, उसी प्रकार यह भी आया है। इस प्रकार वह यादवों को ले जाने के लिए आया होगा तो उनको ले जावे इसका विचार तो राजा को करना है, वह करेगा, कृष्ण तो अक्लिष्टकर्मा हैं फिर इस क्लिष्टकर्म के लिए विचार क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं, कि उनके विचार करने के तीन कारण हैं।

(१) कृष्ण मथुरा को अपनी नगरी समझते हैं (यह केवल यादवों की नहीं है) जिसे उसने घेर रक्खा है।

(२) उसकी सेना विशेष है, उसके साथ लड़ने की सामर्थ्य भी विशेष चाहिए वह यादवों में अपूर्ण है।

(३) अपने भक्त भयभीत हैं, तथा श्लोक में (च) शब्द से भक्तातिरिक्त अन्य पुर वासी सम्बन्धी हैं वे भी डरे हुए हैं।

(१) घिरी हुई अपनी नगरी को उससे छुड़ाना आवश्यक है।

(२) भयभीत भक्त तथा नगर निवासियों को भी निर्भय करना है।

(३) एक को मारना ही चाहिए।

इस कहने का आशय यह है, कि यह कार्य, गुण रूपों का है। सेना का एकत्व दिखाने का भाव यह है, कि सारी सेना एक ही स्थान पर इकट्ठी होने से उसके मारने में किसी प्रकार का परिश्रम नहीं होता है, स्वजन शब्द कहने का भीतरी भाव है, कि पिता श्री वसुदेव भयभीत हैं कारण कि जरासन्ध ने वसुदेव को ही दोषी समझा है जिसके नाश के लिए चढ़ाई की है ॥ ५ ॥

आभास—तत्र भगवान् पदार्थद्वयस्योपस्थितत्वात् किं कर्तव्यमिति चिन्तां कृतवानित्याह चिन्तयामासेति।

आभासार्थ—भगवान् विचार करने लगे, कि भगवान् हूँ इस लिए मैं दोनों तरह कर सकता हूँ अक्लिष्ट कर्मा होने से इसका, कंस की भाँति, नाश करूँ तो

स्वजनों का तिरस्कारादि सहन करना पड़ेगा या अक्लिष्ट कर्मा भगवद् धर्म को त्याग, कारण मालुम होने से, विषमता स्वीकार कर युद्धादिक करूं इस प्रकार दो स्थिति उत्पन्न होने से मुझे क्या करना चाहिए ? जिसका वर्णन "चिन्तयामास" श्लोक में किया है —

श्लोक—**चिन्तयामास भगवान् हरिः कारण मानुषः ।**
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६॥

श्लोकार्थ—कारण मानुष, हरि, भगवान् देश और काल के अनुसार अपने अवतार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अपने कर्तव्य का विचार करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—ननु किमेतत् द्वयं यदर्थं चिन्तेत्याशङ्कयाह हरिः कारणमानुष इति । भगवानित्युभयथापि करणे सामर्थ्यमुक्तम् । किमक्लिष्टकर्मत्वात् कंसवदयं मारणीयः, तावत् स्वजनाभिभवः सोढव्यः, आहोस्विदक्लिष्टकर्मत्वं परित्यज्य वैषम्यमङ्गीकृत्य युद्धादिकं कर्तव्यमिति । कि तावत्प्राप्तम् । स्वधर्मपरित्यागोऽनुचित इति हरित्वं दूरीकृत्य कारणार्थं व्याजेन मनुष्यो जात इति कंसवदेव मारणीयः, अन्यथा व्याजकरणं व्यर्थं स्यात् । अक्लिष्टकर्मत्वरक्षार्थमेव मानुषभावेनावतीर्णः। तस्माद्युद्धं न कर्तव्यमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु कर्तव्य इति । यतो हरिरयम्, न भक्तानां दुःखं सहते, स्वधर्मश्च कर्तव्यः, सान्नाहिको हि षोडशवार्षिको भवति, युद्धार्थमागतेन च सह युद्धं कर्तव्यमिति । ननु स्वधर्मोऽन्यथा भविष्यतीति कथं क्लिष्टकरणमित्याशङ्कय देशानुरोधेन करणं निरूपयति तद्देशकालानुगुण मिति । तस्य देशस्य तस्य च कालस्य युद्धकरणमेवानुगुणम् । कदाचिदङ्गानुरोधेनाप्यङ्गिनो धर्मा अन्यथा क्रियन्ते । यथा प्रवर्ग्यसम्भारे आदित्यास्तमयेविरमणम्, कृतान्तादेव विरमेदिति । यथा वा देशदोषेण प्रधानयागस्यापि नाशः दक्षयज्ञे । तस्मात् तस्मिन्देशे अभक्ताः स्थास्यन्तीति तदनुरोधेन ते मारणीयाः, तेषां च मृत्युकाल उपस्थित इति कालानुरोधोऽपि कर्तव्यः, अतः क्लिष्टकरणं तद्देशकालानुगुणं भवति । किञ्च, स्वावतारस्य प्रयोजनमपि भवति । अवतारो हि भक्तानामुद्धारार्थः । स च कालं वञ्चयित्वा, लौकिकवत् कृत्वा, भक्ता नेयाः । तत्र क्लिष्टकरणमुपयुक्तं भवति । अन्यथा कालो भक्तेषु द्रोहं कुर्यात् कर्मादिभिः । ततो बहुकर्तव्यमापद्येत । अतः स्वावतारस्य प्रयोजनं यस्मात् तादृशमपि विषमकरणमिति भगवतश्चिन्ता युक्ता ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—कौनसी दो स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनके लिए भगवान् को चिन्ता हुई है ? जिसके लिए कहते हैं, कि भगवान् हरि और कारण मानुष दोनों हैं भगवान् हैं इसलिए दोनों प्रकार से कर सकते हैं तो क्या अक्लिष्ट कर्मा होने से कंसकी भाँति इसको मारना चाहिए ? यदि यों मारा

जाएगा तो स्वजनों का पराजय वा तिरस्कार सहन करना पड़ेगा अथवा अक्लिष्ट कर्मत्व का त्याग कर विषमता अंगीकार कर युद्धादिक करना चाहिए इन दोनों में से कौनसा पक्ष ग्रहण करना चाहिए ?

पूर्व पक्षी का मत कहते हैं--अपना धर्म त्याग करना अयोग्य है, इसलिए हरिपन को दूर कर कारणार्थ ही कपट से, मनुष्य रूप धारण किया है, अतः कंस की भाँति इसको भी मारना चाहिए, यों न करने से कपट से मानुष रूप धारण करना व्यर्थ होगा।

आप अक्लिष्ट कर्मत्व रक्षार्थ ही मनुष्य रूप से अवतीर्ण हुए हैं इसी कारण से युद्ध नहीं करना चाहिए।

अब उत्तर पक्ष अर्थात् सिद्धान्त कहते हैं, युद्ध करना चाहिए, क्योंकि आप हरि हैं, अतः भक्तों का दुःख सहन नहीं कर सकते हैं अपने धर्म (भक्त :दुख हरण) को पालन करना चाहिए एवं क्षात्र धर्म का भी पालन आवश्यक है, यदि कहा जाय कि क्षत्री जब १६ वर्ष का होता है तब उसको क्षात्र धर्म पालन करना है, अब आपको नहीं, इसके उत्तर में कहते हैं, कि यह १६ वर्ष निर्बलों को साधारणतया कहा गया है, किन्तु जो पूर्ण समर्थ हैं वह क्षत्रिय तो १६ वर्ष पूर्व पहले भी क्षात्र धर्म का पालन कर सकता है, इसलिए जो युद्ध करने के वास्ते आवे उससे युद्ध करना ही चाहिए, यदि आप युद्ध करोगे तो, आपका अक्लिष्ट कर्मा धर्म नहीं रहेगा, इसके समाधान के लिए कहते हैं, कि देश के अनुरोध से युद्ध करना योग्य है, जिसका निरूपण करते हैं, "देशकालानुगुणं" देश तथा काल के अनुरूप युद्ध करना ही चाहिए, समय पर कभी अंग के अनरोध से अर्थात् अंग के रक्षार्थ अंगी के धर्म बदलने पड़ते हैं, जैसे "यथा प्रवर्ग्यसम्भारे आदित्यास्तमये विरमणम् कृतान्तादेव विरमेदिति"।

अथवा देश दोष से प्रधान भाग का भी नाश किया जाता है जैसे दक्ष-यज्ञ में किया गया था,- उसी के कारण से उस देश में अभक्त आकर रहेंगे इसलिए उनको मारना ही चाहिए उनका मरण काल आ गया है, यों काल का अनुसरण भी करना चाहिए, अतः परिश्रम से कार्य करना देश काल के अनुसार होता ही है और अपने अवतार का प्रयोजन भी यही है, अवतार भक्तों के उद्धारार्थ ही लिया जाता है और वह काल का वञ्चन कर लौकिक की भाँति कर भक्तों को ले जाना अर्थात् भय से रक्षा करनी इसमें परिश्रम से कर्तव्य करना उपयोगी है, जो यों नहीं किया जाएगा तो काल कर्मादि द्वारा भक्तों से द्रोह करेगा, पश्चात् विशेष कर्तव्य करने पड़ेंगे अतः जिसके लिए अवतार धारण किया है, उस कार्य की सिद्धि के लिए विषम करना पड़े तो हानि है वा नहीं ? इसलिए भगवान् को विचार करना योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

आभास—चिन्तया निर्धारितं पक्षमाह हनिष्यामीति चतुर्भिः।

आभासार्थ—विचार करने के अनन्तर जो निर्णय किया उसका "हानिष्यामि" श्लोक से लेकर ४ श्लोकों में वर्णन करते हैं —

श्लोक—हनिष्यामि बलं ह्येतद्भुवि भारं समाहितम् ।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ॥७॥
अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः ।
मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥८॥
एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय च ।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥९॥
अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः सम्भ्रियते मया ।
विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभदतः क्वचित् ॥१०॥

श्लोकार्थ—अपना किया हुआ निश्चय कहते हैं कि इस समय तो जरासन्ध वशवर्ती राजाओं की जो भार रूप सेना लाया है उसका ही नाश करूंगा ॥७॥

प्यादल, घोड़े, रथ और गजयुक्त लाए हुए अनेक अक्षोहिणीयों को नाश करना है, मागध (जरासन्ध) को नहीं मारना है, क्योंकि जो यह जीवित रहेगा तो फिर उद्यम कर सेना इकठ्ठीं कर लाएगा ॥८॥

मेरा यह अवतार भूमि से भार उतारने के लिए है, साधुजनों की रक्षा के वास्ते है और असाधुओं के नाश करने के लिए हैं ॥९॥

मैं अन्यावतार भी लेता हूँ वह केवल एक ही कार्य के लिए अर्थात् किसी प्रकार भी धर्म की रक्षा हो सके और अधर्म का निराकरण हो, ऐसे कार्य तो कभी किसी समय होते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—बलं हनिष्यामीति प्रतिज्ञा। युक्तश्चायमर्थः । लोके हि यदुपरि यो गच्छति, स तं न यार्यत इति नात्र विरोधः । एतदिति प्रदर्शनेन बलस्यातिक्रमोऽपि सूचितः । बलेन समागत इति बलेनैव वधो युक्तो, न तु व्याजेन । पूर्वोक्तास्तु व्याजेन समागताः । अतस्तेषां व्याजेनैव हननं युक्तम् । *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'* इति भगवतो व्रतरूपोऽपि धर्मः परिपालितो भवति । अनेन मारणवैषम्यबुद्धिरपि परिहृता भवति । मार्याणामेव तथा बुद्धिर्जातेति । एतत्सर्वमभिसन्धाय भगवान् हिशब्दमाह । किञ्च, सर्वेर्भूभारहरणार्थं विज्ञापिते कार्यान्तरमागच्छन्नपि तेषां कृपयापि तथा समागतः । अत आगमनकार्यसिद्ध्यर्थमपि मारयिष्यामीत्याह भुवि भारमिति । एतद्भाररूपमेव बलम् । अत एव सर्वाधः पाताले स्थापितं तत्कालेन भुवि समाहितम् । सम्यगा-

हितत्वात् न कृत्रिमकालकर्मादिभिः दूरीकर्तुं शक्यते। ननु राज्ञो बलं धर्महेतुर्भवतीति तद्वधे प्राणिवधः अधर्मश्च स्यादिति चेत्? तत्राह। मागधेन अधमदेशोद्भवेन समानीतमिति। नन्वेतावता स्वामी महानेव भविष्यतीत्याशङ्क्याह वश्यानां सर्वभूभुजामिति। तद्वश्या दुष्टा एव। तेऽपि तत्स्वभावापन्ना जाता इति। अनेन तद्बलं न ग्राह्यमित्यप्युक्तम्। दुष्टं भारात्मकमिति। तस्याजेयत्वज्ञापनायाह अक्षौहिणीभिः संख्यातमिति। समूहशो युद्धे भङ्गो भवेत्। सजातीया बहवोऽपि एकेन विजातीयेन हस्त्यादिना मार्यन्त इति। आदौ पञ्चभटा युद्धं कुर्वन्ति। तेषां पराजयशङ्कायां त्रयोऽश्ववाराः। तेषामपि पराजये एको रथी प्रवर्तते। तस्यापि तथात्वे षाष्टिहायनो गजः। एवमेकापि पत्तिः क्रमतः सन्निविष्टा जेतुमशक्या। तादृशमेतदित्याह। भट्टाश्वरथकुञ्जरैः कृत्वा पत्त्यङ्गत्रिगुणन्यायेन क्रमवृद्ध्या अक्षौहिणीसंज्ञापन्नाः। तेऽपि बहवः। अतोऽन्येषामशक्यत्वात् मयैव हन्तव्यं बलम्। अनेन सार्द्धश्लोकेन बलस्यावश्यवधार्थं दुष्टत्वं भारत्वं च निरूपितम्। ननु 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरी'ति न्यायेन मागध एव किं न हन्यते, एते च दीना मोचनीया इति चेत्? तत्राह मागधस्त्विति। तुशब्दस्तेषां वधाभावं निराकरोति. भाररूपत्वात्। यद्यपि मागधोपि भाररूपः, तथापि शवदाहककाष्ठदायकदीर्घवंशवदन्तपर्यन्तं संरक्षणीयः। अतो मागधो न हन्तव्यः। तदेवाह भूयः कर्ता बलोद्यममिति। बलानयनार्थं उद्यमं करिष्यति, अन्यथा बलं निलीय तिष्ठेत् भारभूतम्। समानयनार्थं वा अधिकः प्रयत्नो भवेत्। यतोऽयं मागधो दुष्टः। आमरणान्तं यत्नं करिष्यतीति ॥ ७। ८॥

ननु कथं सर्वेषां वधार्थं प्रयत्नो ब्रह्मणः सर्वात्मनः, तत्राह एतदर्थोऽवतारोऽयमिति। मत्प्राया व्याधिप्राया दैत्या इति तन्निराकरणे न सर्वात्मत्वं भज्यते। उच्छून: स्वावयवोऽपि छिद्यत इति। अत एव भगवान् स्वयं पुरुषरूपं प्राप्य तत्र दोषरूपान् दैत्यान् हन्तुं स्वयमेवौषधरूप आविर्भूतः। तदाह एतदर्थोऽत्र तारोऽयमिति। वैषम्यलक्षणो हि दोषो लौकिकः। स यत्र दोषत्वं न भजते, स दोषो न भवति। अक्लिष्टकर्मत्वं तु पूर्वमेव परित्यज्य समागतमिति 'अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाये'ति न्यायेन न दूषणं भवति। स्वतश्चोद्यम्य न हन्यते. निष्कपटेन युद्धार्थमागतं निष्कपटेन युद्धेन हन्तव्यमिति मे अवतार.। मे च भूः। धर्म्यो वधो दोषाय न भवतीति धर्मार्थमप्येतद्वधं करिष्यामीत्याह संरक्षणाय साधूनामिति। कृतत्वान्न करणम्। प्रकारान्तरेण साधुरक्षा कर्तव्येत्याशङ्क्याह अन्येषामपि वधायेति। चक्राङ्कितस्थापनार्थम्। ततः कार्यचतुष्टयार्थमवतार इत्युक्तं भवति। भूभारहरणार्थं दुष्टनिराकरणार्थं भक्तिप्रवर्तनार्थं चेति। समप्रधानं चतुष्टयम्, नत्वेकमन्यार्थम्। भूभारनिराकरणं राजसम्, रक्षा सात्त्विकी, निग्रहः तामसः, भक्तिर्निर्गुणेति। न हि दुष्टहनने भूभारो गच्छति, पुनरुत्पत्तिसंभवात्। हननार्थमेव प्रयत्ने तु भगवतस्तात्पर्याद्धता एव भवन्ति, न पुनरुत्पद्यन्ते, मुक्ताश्च भवन्ति। एवमेव सद्रक्षायामपि। असत्संसर्गात् सतामप्यसत्तापत्तौ सर्ववधे अनिष्टमेव स्यात्। अतस्तेषां वृद्ध्यादिबाधकमेव दूरीकर्तव्यमिति सद्रक्षापि स्वतन्त्रैव। भक्तेरननुप्रवेशः स्पष्ट एव। तदाह अन्येषां वधाय चेति ॥९॥

साम्प्रतवेशस्य प्रयोजनचतुष्टयमुक्त्वा पक्षपातलक्षणो धर्मः पूर्वमपि मयि वर्तत इति सृष्ट्यादावेव तथाङ्गीकारात् न दोषायेति वक्तुं पूर्वमपि धर्मरक्षार्थं मयावताराः क्रियन्त इत्याह अन्योऽपि धर्मरक्षाया इति। एतद्व्यतिरिक्तानामवतारणा धर्मरक्षा अधर्मनिवृत्तिश्च फलम्। एतदेवाभि-

प्रेत्याह 'यदा यदा हि धर्मस्ये'ति । नत्वयमवतारो धर्मरक्षार्थः केवलः । अपिशब्दात्सोपि संगृह्यते । ततश्च षट् प्रयोजनानि भविष्यन्ति । अधर्मनिराकरणं धर्मरक्षा चेति । अत्रापि पूर्ववदुभयं प्रधानम् । अत एव 'संस्थापनाय धर्मस्ये'त्यपि वाक्यमविरुद्धम् । अत एव बुद्धावतारे केवलं धर्मरक्षैव प्रयोजनम्, कल्क्यवतारे अधर्मनिवृत्तिरेव, परशुरामावतोर दुर्ष्टानग्रह एव, बलभद्र भूभारहरणमेव, पृथ्ववतारे सत्परिपालनमेव । एवं सर्वत्र यथायथमूह्यम् । सर्वाणि तु भगवत्येव । भक्तिश्च स्वतन्त्रा अधिका । नन्वेतसर्व कालकर्मादिभिरेव स्वतन्त्रतया आज्ञया वा सिध्यतु, किं विशेषावतारेणेत्याशङ्कायामाह काले प्रभवत इति । धर्माधर्मौ क्वचिदेव काले प्रभवतः । अतो यदा अनपेक्षितः, तदा अवतीर्य निराकरणं स्थापनं वा कर्तव्यम्, कालस्तु जनक एवेति न तेन तन्निराकरणम्, नियतस्योभयशक्तित्वाभावात् । तस्मादवश्यं वैषम्यं अक्लिष्टकर्मत्वं च भक्ताद्यनुरोधेन कर्तव्यमिति ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—सेना को नाश करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा की, यों प्रतिज्ञा करना योग्य ही है, क्योंकि लोकों में भी जो आक्रमण कर आता है, वह आक्रान्त से मारा जाता है, इस प्रकार करना कोई विरोध नहीं है, "एतत्" शब्द से यह भी बता दिया है, कि यह सेना आक्रमण कर आई है, वह आक्रमण बल से किया हुआ है, अतः बलपूर्वक ही इसका वध करना उचित है, न कि कपट से, पहले जो थे वे कपट से आए थे अतः उनका कपट से ही मारना योग्य था, यों करने से भगवान् का जो व्रत है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्ताथैव भजाम्यहम्" जो जिस प्रकार मेरी शरण आवे मेरा भजन करता है, मैं भी उसका उसी प्रकार भजन करता हूँ, वह भी सिद्ध हो जाता है, अर्थात् जो मुझे जीतने या मारने के लिए आता है तो मैं भी वही कार्य उसके साथ करता हूँ इस प्रकार व्रत पालन करने से नीति अनुसार वैषम्युबुद्धि भी नहीं रहती है, जो मारने के लिए आए हुए जनों की ही जैसी विषम बुद्धि होती है, यह सब विचार कर ही भगवान् ने "हि" शब्द कहा है और विशेषतः यह भी कहा है, कि सब देवादि ने भूभार को उतारने के लिए प्रार्थना की, अन्य कार्य होते हुए भी उन पर कृपा कर ही उस भूभार हरण रूप कार्य के लिए मैं प्रकट हुआ हूँ अतः जिस कार्य के लिए आया हूँ उस कार्य की सिद्धि के लिए इनको मारूँगा, कारण कि यह सेना भूमि पर भार रूप है, भार रूप होने से इसको सबसे नीचे पाताल में रखा था, वह समय पाकर पृथ्वी पर आ गई है, अच्छे प्रकार से दृढ़ हो कर स्थित हो गई है, साधारण काल कर्म से इस को दूर नहीं किया जा सकता है, अर्थात् अपने पापों से नष्ट हो जाएँगे, ऐसा नहीं है राजा की सेना धर्म का कारण है, क्योंकि राजा सेना की सहायता से प्रजा की चौरादि दुष्टों से रक्षा करता है, ऐसी सेना के नाश से एक प्राणी वध होगा और दूसरा अधर्म ही होगा ? इस शंका के परिहार में कहते हैं, कि यह सेना जो लाया है, वह जरासन्ध अधम देश में उत्पन्न हुआ है, इन अक्षोहिणी सेनाओं का स्वामी तो महान् होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, क्योंकि जो जिसके आधीन होते हैं, वे भी वैसे ही हो जाते हैं अतः वे राजा लोग भी दुष्ट हैं जिससे उनके सैनिक भी दुष्ट हैं, इसलिए इसके बल की परवाह नहीं करनी चाहिए, दुष्ट भार रूप होते हैं, वह सेना अजेय है, यह बताने के लिए कहते हैं कि "अक्षोहिणीभिः संख्यातं" अनेक अक्षोहिणियाँ हैं और उनमें गिने हुए ही सब होते हैं अतः प्रसिद्ध भी हैं । प्रत्येक समूह का युद्ध में भङ्ग

होता है, जैसे कि लड़ाई इस प्रकार करते हैं बहुत सजातीय भी, एक ही विजातीय हस्ती आदि से मारे जाते है, पहले पाँच प्यादल लड़ते हैं, उनके हार जाने की शंका होने पर तीन घुड़ सवार आते हैं, उनको पराजित देख कर "रथी" युद्ध में आता है, उसके भी पराजय होने पर एक *साठ वर्ष की आयु वाला गज आता है इस प्रकार के युद्ध से एक पैदल सेना को भी जीतना अशक्य है, प्यादल, घोड़े, रथ और हस्तिओं से युक्त पत्ति के अंग सहित त्रिगुण न्याय से, क्रम वृद्धि से बनी सेना अक्षोहिणी कहलाती है, वह अक्षोहिणी एक नहीं हैं किन्तु बहुत हैं अतः दूसरों से उनका नाश होना अशक्य होने से ही यह सेना नष्ट करने जैसी है इस सार्द्ध श्लोक से सेना का वध आवश्यक है, क्योंकि वह दुष्ट तथा भार रूप है, यह निरूपण किया शास्त्र का सिद्धान्त है कि कोई भी कार्य "प्रयोक्त रीति" न्याय से करना चाहिए अतः इस न्यायानुसार "मागध" को ही क्यों नहीं मारा जाना चाहिए ? ये दीन सैनिक तो छोड़ देने चाहिए, इस प्रकार कहने वाले को उत्तर देते हैं कि उसको क्यों अब नहीं मारता हूँ उसका कारण यह है कि पहले तो यह सेना भार रूप है इसलिए भार को पहिले उतारना चाहिए, हालांकि जरासन्ध भी भार रूप है तो भी जैसे चिता में लगे हुए दो लम्बे बांसों में से एक को पहिले नहीं जलाया जाता है क्योंकि उसके जरिए शव तथा अन्य काष्ट को सम्पूर्ण जला देने में मदद मिलती है अतः जब शव तथा अन्य काष्ठ आदि सम्पूर्ण जला देने में मदद मिलती है अतः जब शव तथा अन्य काष्ठ आदि सम्पूर्ण भस्म हो जाते हैं तब अन्त में उसका भी दाग किया जाता है वैसे ही अब मगध मारने योग्य नहीं हैं, कारण कि वह जीता रहेगा तो पृथ्वी पर जो भार रूप जो दुष्ट हैं उनको उद्यम कर जहाँ तहाँ से ढूंढ़ कर ले आएगा, इसके न रहने से वे दुष्ट भार रूप जहाँ कही छिप जावेंगे तो पता नहीं लगेगा और उनको लाने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ेगा, मागध दुष्ट है जब तक जीता रहेगा तब तक प्रयत्न करता रहेगा, जिससे सर्व दुष्ट हाथ आ जाएंगे और उनका सरल रीति से सफाया हो जायगा ।। ७–८ ।।

जब कि सब की आत्मा ब्रह्म का सब को मारने के लिए प्रयत्न क्यों ? वा कैसे ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं कि "एतदर्थोवतारड़ेयम्" इनके वध के लिए ही यह अवतार है, कारण कि ये दैत्य हैं जिससे ×मलप्राय और व्याधि+प्राय हैं, उनके नाश करने में सर्वात्मापन नष्ट नहीं होता है, व्यादि आदि से फूला हुआ अपनी देह का अंग भी काटा जाता है, इसलिए ही भगवान् स्वयं पुरुष रूप धारण कर उसमें दोष रूप दैत्यों को मिटाने के लिए आप स्वयं ही औषध रूप बने हैं, विषमता दोष लौकिक है, वहाँ जहाँ दोष रूप नहीं बनता है वहाँ वह दोष नहीं है, अक्लिष्टकर्मत्वगुण को तो यह वैसे ही छोड़ा हुआ है, इसलिए "अंगीकृत ग्लानि भी दोप के लिए नहीं होती है" इस न्यायानुसार यों करने में कोई दूषण नहीं है, अपने आप उद्यम कर, नहीं मारे जाते है, बिना कपट स्वयं युद्ध के लिए जो आया है, उसको उसी तरह निष्कपट युद्ध से ही मारना योग्य है, इसलिए मेरा यह अवतार है और 'भूमि' मेरीभक्त है, धर्मरक्षार्थ जो वध किया जाता है वह दोषकारी नहीं है इसलिए धर्म की रक्षा के लिए भी इसका वध करूंगा, अतः कहा है, कि

---

* अथवा साठ आग की लपट समान तेजस्वी गज । × मलरूप । + व्याधिरूप ।

"संरक्षणाय साधूनां" मैंने साधुओं की रक्षा के लिए अवतार लिया है, यह कार्य होने से, साधन नहीं है जो उससे दोष होवे, दूसरी तरह साधुओं को रक्षा करनी चाहिए, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि दुष्टों के वध के लिए भी मैने अवतार लिया है श्लोक में "च" शब्द से यह दिखाया है, कि भक्तिमार्ग की स्थापना के लिए भी अवतार धारण किया है. इससे यह बताया है, कि कार्यों की सिद्धि के लिए मेरा अवतार है (१) भूभार हरण, (२) साधु रक्षा (३) दुष्टों का नाश और भक्ति का प्रसार ये चारों ही समान प्रधान हैं. अर्थात् सर्व मुख्य कार्य हैं न कि एक दूसरे के लिए करना है (१) भूभार उतारना राजस कार्य है, (२) साधुओं का रक्षा करना सात्विक कार्य है, (३) दुष्टों का निग्रह तामस कार्य है और भक्ति का कार्य निर्गुण कार्य है। केवल दुष्टों को साधारण रीति से मारने से पृथ्वी का भार नहीं उतरता है, क्योंकि दुष्ट फिर उत्पन्न हो सकते हैं, उनके हनन का ही प्रयत्न जो स्वयं भगवान् ने किया, उसमें भगवान् के अन्तःकरण का तात्पर्य यह था, कि मेरे हाथ से मरने के कारण वे मुक्त हो जाएगे, फिर वे दैत्य उत्पन्न न होंगे, इस प्रकार साधुओं की रक्षा में भी समझना चाहिए। साधुओं को रक्षा के लिए भगवान् ने दो कार्य किए हैं (१) असाधुओं का नाश, क्योंकि असाधु होंगे तो उनके संसर्ग से कदाचित् साधुओं की असत् बुद्धि हो जाएगी इसलिए असाधुओं का नाश किया, सब के वध करने से तो अनिष्ट होवे और दूसरा साधुओं की बुद्धि बदलने में जो बाधाए आती है उनको दूर कर, बुद्धि शुद्ध एवं दृढ़ कर दो। अशुद्ध असद् बुद्धि मे भक्ति का प्रवेश नहीं होता है, यह तो स्पष्ट ही है ॥ ८ ॥

इस अवतार के चार प्रयोजन बताकर भगवान् कहते है, कि पक्षपात लक्षण वाला धर्म पहले से ही मेरे में है, यह धर्म सृष्टि के आदि में ही मैने स्वीकार कर लिया था अतः कोई योग्य कार्य पक्षपात से मैं करूं तो मुझे दोष नहीं लगता है, इसको सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि मैने पहले भी धर्म को रक्षा के वास्ते अवतार लिए हैं।

इस अवतार के सिवाय अन्य अवतार धारण करने का फल है, धर्म रक्षा और अधर्म की निवृत्ति है। इसलिए गीता में "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" कहा है यह अवतार तो केवल धर्म रक्षा के लिए नहीं है "अपि" शब्द से धर्म रक्षा और अधर्म निवृत्ति कार्य का भी ग्रहण किया है, यों समझने पर इस अवतार के ६ प्रयोजन हैं यह निश्चय होगा। यहाँ भी पूर्व की भाँति दोनों मुख्य हैं, इसलिए ही "संस्थापनाय धर्मस्य" यह वाक्य भी विरुद्ध नहीं होगा, अतएव बुद्ध के अवतार में केवल धर्म को रक्षा प्रयोजन है, क्रियावतार में अधर्म को निवृत्ति ही प्रयोजन है। परशुराम के अवतार में दुष्टों का निग्रह प्रयोजन है, बलभद्र अवतार भूभार हरणार्थ ही है, पृथु का अवतार सत्य वा सत्पुरुषों का परिपालन ही प्रयोजन है, इस प्रकार सर्व अवतारों में योग्यतानुसार समझना चाहिए, सर्व तो भगवान् में ही है, भक्ति स्वतन्त्र तथा अधिक भगवान् में ही है ये सब तो काल कर्म आदि से स्वतन्त्र वा उनकी आज्ञा से स्वतः सिद्ध होते रहेंगे, फिर विशेष अवतार लेने की क्या आवश्यकता है ? इसके समाधान के लिए कहते है कि, "काले प्रभवतः" धर्म और अधर्म कभी ही काल में पैदा होते हैं, अतः जब वे अपेक्षित नहीं हैं तब अवतार लेकर अधर्म का निराकरण और धर्म की स्थापना करनी पड़ती है. काल तो केवल उत्पन्न करने वाला है उससे निराकरण

नही हो सकता है, जो निश्चित् अर्थात् सीमा वाले में दोनों शक्तियों का अभाव होता है, इस कारण से विषमता तथा अक्लिष्ट कर्मत्व दोनों का भक्तों के अनुरोध से करना ही चाहिए ।।१०।।

आभास—भगवद्ध्यानमात्रेण भूमिष्ठानां पदार्थानां दैत्यांशवासितत्वात् तेषां सज्जीकरणे विलम्बात् वैकुण्ठादेव साध्ये स्मृते स्वयमेव साधनमागतमित्याह एवं ध्यायतीति ।

आभासार्थ—भगवान् ने सोचा कि भूमि पर जितने युद्ध के साधन हैं उनमें दत्यांश हैं, उनके तैयार करने में विलम्ब होगा, अतः वे साधन अलौकिक होने चाहिए यों विचार करते ही, वैकुण्ठ से स्वयं ही साधन आ गए, जिनका वर्णन "एवं ध्यायति" श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात्सूर्यवर्चसौ ।**
रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ।।११।।

श्लोकार्थ—भगवान् के इस तरह विचार करते ही, आकाश से सूर्य की भाँति प्रकाश वाले, सारथियों सहित तथा युद्ध की सामग्री के साथ तुरन्त दो रथ उतर आए ।। ११ ।।

सुबोधिनी—सर्वे हि देवाः अधिकारन्यायेनापि भगवद्वशा इति ज्ञापयितुं गोविन्द इति । आकाशात्सर्वेषामलौकिकत्वज्ञापनाय । दृष्ट एवालौकिज्ञानं भवतीति दर्शनार्थं सूर्यसङ्काशत्वमाह सूर्यवर्चसाविति । न हि सूर्यं कदाचिदुदितं न पश्यति । अनेन अक्लिष्टकर्मताप्युक्ता । स्वानां भयं च निवारितम् । अलौकिकरथागमनं दृष्ट्वापि यदि युद्धार्थं यतन्ते, तदा मृत्युं निश्चित्यैव यतन्त इति न भगवद्दोषः कश्चन । यथा धनुर्भङ्गादिसामर्थ्यप्रदर्शनम्, तथैतदपि । सद्य एवोपस्थिताविति सिद्धावेव समागतौ, नतु लक्ष्मीवत् रुक्मिण्यादिभावेनोत्पत्तिरपेक्ष्यते । यद्यप्यलौकिकरथस्य न सूताद्यपेक्षा, तथापि तदभावे शोभार्थं वा सूतः कर्तव्य इति प्राकृते स्थापिते तदनुरोधाननुरोधाभ्यां कार्याभावः । अतः ससूतौ । युद्धादिसामग्री कवचादिर्ध्वजादिश्च परिच्छदशब्देनोच्यते ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में भगवान् का 'गोविन्द' नाम यह जताने के लिए दिया है, कि सर्वदेव अधिकार न्यायानुसार भगवान् के वश में हैं, आकाश से आए, यों कहने का आशय यह है, कि सब अलौकिक हैं यह ज्ञान हो जाए, "सूर्य सम प्रकाश वाले" कहने का भाव यह है, कि सब को वे देखने

में आवे क्यों कि देखने से ही ये अलौलिक हैं यह दृढ़ ज्ञान होता है। सूर्य उदय होता है तब सब देखते ही हैं, यों कहने से भगवान् अक्लिष्टकर्मा है यह भी सिद्ध कर दिखा दिया और अपने सम्बन्धियों का भय भी मिटा दिया, अलौकिक सामग्री सहित अलौकिक रथों का आना देख कर भी, यदि लड़ने का प्रयत्न करते हैं तो वे निश्चय से मृत्यु के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, इसलिए भगवान् का कोई दोष नहीं है, जैसे मथुरा मे धनुर्भग आदि से अपना सामर्थ्य प्रकट दिखाया, तो भी समझे नहीं, अन्त मे वे मृत्यु को ही प्राप्त हुए वैसे ही यहाँ भी होगा, तत्क्षण आए, उसका भाव यह है,कि तैयार ही थे वे आ गए, न कि जैसे लक्ष्मी की रुक्मिणी आदिभाव में आने में देरी हुई यद्यपि अलौकिक रथों को सूतादि की अपेक्षा नहीं है वैसे यहाँ नहीं है, तो भी उनके न होने से रथों की शोभा न होगी, इस लिए शोभार्थ सूत चाहिए, यह कार्य प्राकृत की भाँति किया गया, उनके अनुसरण अथवा अनुसरण बिना कार्य का अभाव हो, अतः कहा कि रथ सूतों सहित आए तथा कवच और ध्वजादि सामग्री भी उनमें धरी हुई थी ॥ ११ ॥

आभास—सायुध एव रथमारोहतीति पृथगायुधानामागमनमाह आयुधानि चेति ।

आभासार्थ—योद्धा आयुधों वाले रथ में ही बैठता है, अतः आयुधों के आगमन का "आयुधानि च" इस श्लोक में पृथक वर्णन करते हैं ।

श्लोक—आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया ।
दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥१२॥

श्लोकार्थ—धनुष, खड्ग आदि दिव्य आयुध जो असल थे, वे अपने आप आ गए। भगवान् ने उनको देख कर बलरामजी से कहा ॥१२॥

सुबोधिनी—धनुः खड्गादीनि दिव्यानि शार्ङ्गप्रभृतीनि । भिन्नान्याकृतिमन्ति निषेधति पुराणानीति । केनचिन्नानीय दत्तानि, किन्तु यदृच्छया स्वयमेवागतानि । एवं सामग्री दृष्ट्वा कार्यषट्के भूभारहरणस्योपस्थितत्वात् तदर्थमेव बलभद्रं प्रत्याह दृष्ट्वा तानीति । यद्युक्तं न करिष्यति, तथाप्यवतारान्यथानुपपत्त्या तथैव प्रेरयिष्यामीत्यभिप्राय इत्याह हृषीकेश इति । सर्वेन्द्रियप्रेरकस्तथैव प्रेरयिष्यतीति । सङ्कर्षणः सम्यक् भारमाकृष्य दूरीकर्तुं समर्थः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—विष्णु के धनुष सहित अन्य धनुष, तलवार आदि अलौकिक शस्त्र किसी ने लाकर नहीं दिए किन्तु स्वयं आ गए। "पुराणानि" शब्द से कहने का आशय यह है, कि वे शस्त्र नवीन आकार वाले थे, किन्तु जो अलौकिक आकृति आगे थी, वह अब भी है। इस प्रकार आई हुई सामग्री को भगवान् देख कर विचार करने लगे कि हमारे अवतार कार्यों को सिद्ध करने के लिए हैं,

उनमें से अब भूभार के हरण का कार्य सामने आया है। उस कार्य को पूरा करने के लिए बलराम जी का प्राकट्य है, अतः बलभद्र को कहने लगे। जो अपना कार्य जिसके लिए प्रकट हुए हैं वह न करेंगे, तो अवतार धारण करने की अन्य प्रकार उत्पत्ति नहीं है, इसलिए वैसी ही प्रेरणा करेंगे, जैसे वे इस कार्य को करेंगे। भगवान् "हृषीकेश" हैं, अतः प्रेरक तो सब के आप ही हैं। इसीलिए जैसे कार्य कराने की इच्छा होती है, वैसी ही प्रेरणा करते हैं क्योंकि बलरामजी संकर्षण स्वरूप भी हैं, अतः पूर्ण रीति से भार को खेंचकर दूर फेंक देने में समर्थ है ।।१२।।

आभास—अथ विचारव्यतिरेकेण निर्धारितमेवाह पश्यार्येति ।

आभासार्थ—भगवान् विशेष विचार से निर्णय किए हुए कर्तव्य को करने के लिए "पश्यार्य" श्लोक में बलदेवजी को कहते हैं।

श्लोक—**पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो ।**
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ।।१३।।

श्लोकार्थ—हे आर्य ! हे प्रभो ! जिनके आप रक्षक हैं, उन यादवों पर वैसा दुःख आ पड़ा है, जिसका उपाय आपके सिवाय कोई नहीं कर सकता है। इसलिए आपके वास्ते प्यारे मुसल आदि शस्त्र भी आ गए हैं ।।१३।।

सुबोधिनी—एकान्ते स्थितावुभौ। अतो यथा लोके परिज्ञानं न भवति, तथा शनैर्वचनानि त्रिभिः। आर्येति सम्बोधनं कृतानुकरणत्वाभावाद्वक्तव्यत्वज्ञापकम्। त्वत्त एव अवनं येषां ते त्वावन्तः। अतो रक्ष्याणां व्यसन प्राप्तमिति तन्निराकरणमवश्यं कर्तव्यम्। रक्षाप्यवश्यं कर्तव्येत्याह यदूनामिति। अप्रतीकार्य दुःखं व्यसनमित्युच्यते। यद्यपि पूर्वमेव विचारः कर्तव्यः, तत्र कृतमित्यनौचित्यमपि ज्ञापयन्नाह प्राप्तमिति। सामर्थ्यं तु वर्तत इत्याह प्रभो इति। अवताराणां गुणव्यवधानात् साधनानि बोधयति एष ते रथ आयात इति। भवदीय एवायं रथ इति साधने सन्देहाभावः। प्रियाणि च मुसलादीनि आयुधानि। चकारादपेक्षित सर्वम् ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—दोनों भ्राता एकान्त में इस प्रकार खड़े हुए थे, जैसे जो सलाह की जाय उसका किसी को भी पता न पड़े। तीन श्लोक धीरे-धीरे कहने लगे। हे आर्य ! सम्बोधन इस आशय से दिया है, कि आपको किसी की भी नकल नहीं करनी है, किन्तु मेरे वचन आपको कर्तव्य के जताने वाले हैं। अर्थात् आप श्रेष्ठ हैं, आपका इस समय यह कर्तव्य है कि जो यादव हैं, इनकी रक्षा सदैव

आपसे ही होती है, अतः अब भी होनी चाहिए। कारण कि, उन पर अभी ऐसा व्यसन अर्थात् बड़ी आपदा आ पड़ी है कि जिसका कोई प्रतिकार नहीं है। यद्यपि यह पहले विचार करना चाहिए था, वह न कर अनौचित्य* ही किया है, किन्तु अकस्मात् अब वह प्राप्त हो गया है, तो भी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। कारण कि आप प्रभु हैं, जिससे आप में सर्व प्रकार का सामर्थ्य है। आप इस व्यसन-से इन की रक्षा करने में सर्वथा समर्थ हैं। अवतारों में गुणों से अन्तर पड़ता है, किन्तु साधन स्वतः प्राप्त हो गए हैं। देखिये, यह आपका आया हुआ रथ है, यह रथ आपका ही है इसलिए साधन में कोई संशय नहीं है। फिर जो आयुध आए हैं, वे आपके प्यारे मुसल आदि हैं। श्लोक में दिए गए "च" का तात्पर्य बताते हैं, कि जिसकी भी युद्ध में अपेक्षा रहती है, वे सब हैं ॥१३॥

आभास—भूभारहरणं तस्यैव मुख्यमिति तमेव बोधयति यानमास्थायेति।

आभासार्थ—भूभार हरण करना उसका ही कार्य है, 'यानमास्थाय' श्लोक से वह वर्णन करते हैं।

श्लोक—**यानमास्थाय जह्येतद्व्यसनात् स्वान् समुद्धर।**
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रथ पर बैठ कर इस सेना को नष्ट कर, अपने स्थानों को संकट से छुड़ाइए। हे ईशः! अपनने अवतार साधुओं के कल्याण के लिए धारण किया है ॥१४॥

सुबोधिनी—रथमास्थाय एतद्बलं जहि, रथारोहणे सर्वा शक्तिः प्रादुर्भविष्यतीति। विलम्बाभावायाह व्यसनात् स्वान् समुद्धरेति। आवश्यकत्वं स्पष्टम्। कार्यस्याप्यावश्यकतामाह एतदर्थं हि नौ जन्मेति। आवयोर्जन्म एतदर्थम्। युक्तश्चायमर्थः। भूम्या प्रार्थितमिति, अन्यथा जन्मैव न स्यात्। सर्वत्रानुस्यूतं प्रयोजनमाह साधूनां शर्मकृदिति। साधूनां सुखमस्माद्भवतीति सर्वैरेव प्रकारैः ते सुखिनो भवन्तीति महतः आविर्भूतस्यैतदेव कृत्यम्। ईशेति सामर्थ्यम्। अन्यथोपेक्षादोषो भविष्यतीति भावः। परिमितमेवेति प्रयासाभावायाह त्रयोविंशत्यनीकाख्यमिति। अनीकशब्देनाक्षौहिणी। अल्पसङ्ख्याशब्दनिर्देशः अनायासेन निराकरणार्थः। त्रयोविंशत्यनीकान्याख्या नाममात्रं यस्य। वस्तुतस्तु न किञ्चित्, तथापि निराकर्तव्यमेवेत्याह भूमेर्भारमिति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—रथ में बैठ कर इस बल को नाश कर। यह विचार ही न करना कि शक्ति कहाँ से आएगी ? रथ में बैठने पर सर्वशक्ति उद्भूत हो जाएगी। विलम्ब मत करो, क्योंकि ये अपने

---

* जो उचित नहीं।

सम्वन्धी हैं. अत: शीघ्र ही इनका व्यसन से छुटकारा करो। यह कार्य आवश्यक है, इसलिए कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह विषय स्पष्ट ही है, फिर भी आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अपन इसलिए अवतरित हुए हैं। यों कहना तो योग्य ही है, कारण कि भूमि ने प्रार्थना की थी, नहीं तो हम प्रकट हो नहीं होते. हमारे प्राकट्य में सर्व कार्य गूंथे हुए हैं। साधुओं को भी सुख हमारे द्वारा ही प्राप्त होगा। सर्व प्रकार वे भी सुखी होंगे, महान् आत्माओं के प्राकट्य का यही कर्तव्य है। "ईश" शब्द से बलराम का सामर्थ्य प्रकट करते हैं। यों नहीं कहते तो उपेक्षा का दोष भगवान् को लगता। कुछ भी चिन्ता न करो, क्योंकि सेवा विशेष नहीं है. गिनी हुई है, केवल तेवीस अक्षौहिणी ही हैं। तात्पर्य यह है कि इनको नाश करने में किंचित भी परिश्रम न होगा। तेवीस अक्षौहिणी भी नाम मात्र की हैं। आपके सामने तो कुछ भी नहीं है, तो भी पृथ्वी पर भार रूप होने से इनका नाश करना ही चाहिए ॥१४॥

आभास—प्रकटतया कथने राजा निर्गच्छेत्, स्नेहाद्वसुदेवादयः प्रतिबन्ध कुर्यु, अत एकान्ते तथा सम्मन्त्य युद्धार्थं प्रवृत्तावित्याह एवं सम्मन्त्र्येति ।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण और बलराम एकान्त में परामर्श + कर युद्ध के लिए तैयार हुए। एकान्त में विचार करने का कारण यह था कि यदि पिता वसुदेवादि सुनेंगे तो रुकावट डालेंगे और यदि राजा सुन लेंगे तो वे युद्धार्थ निकल पड़ेंगे, अतः दोनों ने एकान्त में परामर्श कर स्वयं युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए।

श्लोक—त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरू ।
एवं सम्मन्त्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥१५॥
निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसावृतौ ।
शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ॥१६॥
ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः ।

श्लोकार्थ—इस प्रकार दोनों भ्राताओं ने परस्पर सलाह कर, पहले कवचादि * धारण किए। अनन्तर अपने सुन्दर शस्त्रास्त्र लेकर रथ में बैठ कर लड़ाई करने के लिए प्रवृत्त हुए। साथ में स्वल्प सेना भी थी, पुर से बाहिर निकले और दारुक

+ सलाह। * शरीर की रक्षा के लिए लोह का वस्त्र।

के सारथि वाले श्रीकृष्ण ने अपने शंख को बजाया। जिसकी ध्वनि से शत्रु की सेना के हृदय में त्रास उत्पन्न हुआ जिससे वह कांपने लगी ।। १५-१६-½ ।।

सुबोधिनी—यतो दाशार्हौ सेवकप्रियौ। दंशितौ पूर्व बद्धकवचौ। ततो रथिनौ। ततः पुरान्निर्जग्मतुः। ततः सुष्ठु आयुधाढ्यौ आयुधं गृहीत्वा युद्धार्थं प्रवृत्तौ। तावता पूर्व राजाज्ञाभावात् विचाराभावाच्च न सर्व बलमेकीभूतम्, अतोऽल्पेनैव बलेनावृत्तौ जातौ। तत्राप्यङ्गवैकल्यं प्रत्ययार्थः। आदौ पाञ्चजन्यं वादितवानित्याह, सैनिकानामुद्योगोत्साहनिवृत्त्यर्थम्। 'यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता' इति। अन्तः प्रवेशाभावाय बहिर्निर्गम्य शङ्खं दध्मौ। यतो हरिः। अन्यथा पुरस्थानां शङ्का स्यात्। दारुकः सारथिर्यस्येति। सङ्कर्षणांश एवात्र विशेषाकारेण प्रवृत्त इति ज्ञापयितुम्। तृतीय प्रकरणे तस्याप्युपयोगः सूचनीयः, यथा द्वितीये अनिरुद्धे सान्त्वनम्। अग्रे आयुधान्तराणामपि कार्यं भविष्यतीति ज्ञापयितु कृतस्य नादस्य फलमाह ततोऽभूदिति। शत्रुभूताना सैन्यानां भाविमरणमदूरे प्रतिभातमिति हृदि विशेषेण त्रासो भयं जातम्। तेन कम्पश्च। शरीरेऽप्यर्थात्।

व्याख्यार्थ—पहले कवच धारण कर रथ में बैठे, फिर नगर से निकले और सुन्दर शस्त्र लेके युद्धार्थ प्रवृत्त हुए, क्योंकि दोनों सेवक प्रिय थे। जिस समय युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए उस समय सम्पूर्ण सैना आपके पास नहीं थी, कारण कि आपने राजा से सलाह न की थी। जिससे युद्ध में जाने के लिए सैना को राजा की आज्ञा न मिली थी। अतः अल्प सेनायुक्त थे, उसमें भी सेना में इतनी कमी, अपने स्वतन्त्र निश्चय करने के कारण हुई थी। शत्रु के सैनिकों के उद्यम तथा उत्साह को नाश करने के लिए भगवान् ने नगर से बाहिर निकल कर, जिसकी ध्वनि दानव दर्प नाश करने वाली है, वैसे पांचजन्य शङ्ख को बजाया, क्योंकि वे दुःख हर्ता हैं। यदि वह नगर के भीतर बजाते तो नगर निवासियों के मन में शङ्का उत्पन्न हो जाती। जिससे वे यों भी भ्रम में पड़ जाते, कि कदाचित् शत्रु की सेना नगर में घुस आई है। दारुक जिनका सारथि है वैसे भगवान् थे। यहाँ विशेष रूप से संकर्षण रूप में ही प्रवृत्त हुए हैं, यों जताने के लिए कि साधन प्रकरण में उसका "संकर्षण" का उपयोग है। जैसे प्रमेय प्रकरण में अनिरुद्ध में सान्त्वन है। आगे अन्य आयुधों का भी कार्य होगा, यह बताने के लिए शंख बजाने से जो फल हुआ, उसका वर्णन करते हैं कि शत्रुओं के सैनिकों का मरण निकट ही है। इसलिए पहले ही उनके हृदय में ध्वनि से भय ही उत्पन्न नहीं हो गया है, किन्तु उससे शरीर में कंपन भी पैदा हो गई है ।। १५-१६½ ।।

आभास—एवं ज्ञात्वा चतुरो जरासन्धः भगवन्तं युद्धान्निवर्तयितु किञ्चिदुक्तवानित्याह तावाहेति।

आभासार्थ—सेना की यह दशा जान कर चतुर जरासन्ध भगवान् को युद्ध से निवृति करने के लिए "तावाह" श्लोक में कुछ कहने लगा।

**श्लोक—तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥१७॥
न त्वया योद्धुमिच्छामि बालकेन विलज्जया ।
गुप्तेन हि त्वयाऽमन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥१८॥**

श्लोकार्थ—इन दोनों को अच्छी तरह देख (जानकर) मागध कहने लगा। हे कृष्ण ! हे पुरुषों में अधम ! मैं तुम से युद्ध करना नहीं चाहता हूँ, क्योंकि तू बालक है। बालक से लड़ते हुए लज्जा आती है, एवं तू बन्धु की हत्या करने वाला तथा छिप कर रहने वाला है, इस लिए भी हे मन्द ! तुझ से लड़ना नहीं चाहता हूँ ॥ १७-१८ ।,

सुबोधिनी—ननु सदुत्तरेणैव भगवता सह युद्धमनुचितमिति चेद्वदेत्, तदा भगवान् युद्धं न कुर्यात्. स्वकार्यं च भवेत्, तत्परित्यज्य किमिति विषममुक्तवानित्याशङ्कायामाह मागध इति । देशदोषात्तथा बुद्धिः । तौ वीक्ष्याहेति । तेजः स्वानुभावेन ज्ञात्वेत्येतदर्थम् । आदौ भगवता सह युद्धं न मन्यते, तदाह, हे कृष्णेति । त्रिधा सम्बोधनं करोति, आनन्दचित्सद्रूपैः । कृष्ण आनन्दः, पुरुषश्चिद्रूपः। अधो मातीत्यधमः प्रपञ्चः सद्रूपः । न हि सदानन्दरूपेण पुरुषार्थरूपेणात्मना स्वोपकारिणा कश्चिद्युद्धमभिकाङ्क्षते । अत आह न त्वया योद्धुमिच्छामीति । किञ्च, बालकेनेति । बालानामपि कं सुखं यस्मात् । बाले बाले को वा । न हि ब्रह्माण्डकोटिविग्रहेण कार्यपक्षेपि योद्धुं शक्यते । किञ्च, विलज्जयेति । धाष्टर्येन यद्यपि युद्धं कर्तुं शक्यते, मरणेन मोक्षो भविष्यतीति, तथापि लोकलज्जयापि न युद्धमुचितम्. लोको हसिष्यति, स्वामिना सह युध्यतीति । अतो विशिष्टलज्जयापि न योत्स्ये । अन्यत्र स्वशक्ति स्थापयसि चेत्, तथापि युद्धं न करिष्यामीत्याह गुप्तेन हीति । त्वया गुप्तः केन वा हन्तुं शक्यते । पराजयपक्षे त्वत्त एव मरणमुचितम्: न त्वन्यस्मात्, अपकीर्तिरपि भवेदिति । अतो युक्तमेव त्वद्रक्षितेन सहायुद्धम् । किञ्च, अमन्देति । अमो मोक्षः । न विद्यते मा माया यत्रेति । अमं ददातीत्यमन्द इति । न हि मोक्षदात्रा आराध्येन सह कश्चिद्युमभिकाङ्क्षति । अतो याहि मोक्षं दातुम् । नन्वहं यादव एव, न तु मोक्षदातेत्याशंक्याह बन्धुहन्निति । यदि यादवः स्यात्, तर्हि बन्धून् कंसादीन् किं हन्यात् ? अतो यादवमारकत्वात् अस्मत्स्वाम्येव, नतु यादव इत्यर्थः । यदापाततः प्रतिभात्यन्यथा, तत्प्रकरणविरुद्धत्वात् निन्दापरवचनमुपेक्षणीयमेव । भ्रामकाणि परं वचनानि ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—यदि सौम्य रीति से कहें, कि भगवान् के साथ युद्ध मेरे लिए उचित नहीं है, तो भगवान् युद्ध न करें और उसका अपना कार्य भी सिद्ध हो जाए, किन्तु उसने सत् नीति छोड़ विषम रीति से यों कहा ? यों विषम प्रकार से कहने का कारण यह है, कि इसका जन्म अधम देश में

हुआ है। इसलिए इसकी बुद्धि भी अधम हो है। उन दोनों को देख कर अपने मनोगत भाव के अनुसार तेज को समझ कर इस प्रकार इसलिए कहने लगा। पहले भगवान् से युद्ध करना स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि इनसे युद्ध नहीं चाहता है। इसलिए भगवान् के लिए तीन सम्बोधन करता है। अर्थात् भगवान् के लिए तीन गुण बतलाता है। (१) आनन्दगुण (२) चैतन्यगुण (३) सतगुण, इन गुणों को बतलाने के लिए तीन नाम १-कृष्ण २-पुरुष और ३-अधम कहे हैं।—१-कृष्ण नाम से कहा है, कि आप आनन्दरूप हैं। २-पुरुष नाम से कहा है कि आप चैतन्यरूप भी हैं तथा ३ अधम नाम से कहा है कि आप सद्रूप से प्रपञ्चरूप भी हैं। सदानन्दरूप, अपने उपकार करने वाले पुरुषार्थरूप आत्मा से कोई भी युद्ध करना नहीं चाहता है। इसीलिए जरासन्ध कहता है, कि तुझ से लड़ना नहीं चाहता हूँ और फिर विशेषता यह है, कि आप बालकों को भी सुख देने वाले हैं, तथा आपके एक एक बाल में ब्रह्मा विराजमान हैं, अतः जिसके शरीर में कोटिश ब्रह्माण्ड हैं, उसके साथ कार्य के लिए भी कौन लड़ने की सामर्थ्य रखता है ? और वैसे से लड़ने में लज्जा भी आनी चाहिए, अतः आप से युद्ध करना उचित नहीं है। लोक हँसेगा कि यह स्वामी से लड़ता है, अतः विशिष्ट लज्जा से भी न लड़ूँगा। यदि आप कहो, कि ये मेरी शक्तियाँ मैं दूसरे मैं स्थापित कर देता हूँ, तब तो तू लड़ेगा ? तो क्या कहता है, कि तब भी नहीं लड़ूँगा, क्योंकि तू गूढ़ अर्थात् अव्यक्त है, अव्यक्त से कौन लड़ सकता है ? उसको कौन मार सकता है ? पराजय पक्ष में तुझ से ही मरना योग्य है न कि दूसरे से अपनी कीर्ति भी हो, अतः यह भी योग्य है कि तुझ से रक्षित जो मैं हूँ उससे आपको लड़ना ही नहीं चाहिए तथा अन्य भी विशेष कारण यह है कि आप "अमन्द" हैं अर्थात् जहाँ माया नहीं है, ऐसे मोक्ष को देने वाले हैं। मोक्ष देने वाला तो आराध्य है, उससे कोई भी लड़ना नहीं चाहता है, अतः आप इस लड़ाई के कार्य को त्याग कर, जाके भक्तों तथा ज्ञानियों को मोक्ष दान करो। यदि आप कहो, कि मैं तो यादव हूँ, मोक्षदाता नहीं हूँ, तो यह कहना मुझे भुलावे में डालने के लिए कहते हो, क्योंकि यदि आप यादव हो तो अपने सम्बन्धी कंस आदि को कैसे मारा ? अतः यादवों को मारने से आप यादव नहीं हैं, किन्तु हमारे स्वामी ही हैं, जो अब आप दूसरे देखने मे आते हो। ये त्रे वचन प्रकरण मे विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है, क्योंकि ये निन्दापरायण है, तथा शेष भ्रमित करने वाले वाक्य है ॥१८॥

आभास—एवं भगवन्तमयुद्धार्थं प्रार्थयित्वा तेनैव बलभद्रोपि निवृत्तो भविष्यतीति तं युद्ध याह्वयति त्वं त्विति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने भगवान् को इस प्रकार युद्ध से निवृत्त होने की जब प्रार्थना की, तब यह विचार उसके हृदय मे उत्पन्न हुआ, कि इस प्रार्थना से कदाचित् बलरामजी भी निवृत्त हो जाए, अतः उनको "त्वं तु राम" इस श्लोक से लड़ने के लिए आह्वान करता है।

श्लोक—त्वं तु राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह ।
हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे राम ! यदि लडने की श्रद्धा हो तो लड़, धीरज धर, मेरे शरों से छिन्न देह को त्याग स्वर्ग को जाओ अथवा मुझे मार ।

सुबोधिनी— तुशब्दः पूर्वप्राप्तार्थव्यावृत्त्यर्थः । अन्यथावयोर्बन्धुमारणं च तुल्यमिति कथं रामं गृह्णीयात् । तेन यादवा एव तस्य मारणीया इति सत्त्वव्यवहितानां सुतरामावेशिनां देहोऽस्तीति यादवत्वं सिद्धमिति वसुदेववैरं तत्पुत्रे पातनीयमिति वसुदेवे युद्धप्रतिप्रसवः । तत्रापि यदि श्रद्धेत्याह । अयं हि वसुदेवानुकल्पत्वेन द्विष्टो भवति । तथा सति यदि पितरि श्रद्धा, क्षत्रियत्वेन युद्धे वा, तदा युध्यस्व । आवयोर्यद्यपि समानं बलम्, तथापि सेना महतीति तद् दृष्ट्वा कदाचिद्भीतो भवेत्, अत आह धैर्यमुद्वहेति । भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते इति, अन्तर्बलमस्तीति धैर्यमस्त्येव, बहिरपि धैर्यं सम्पादयेत्याह उदिति । ततो युद्धविषयनि तदनिश्चयेनाह हित्वेति । एकतरनिश्चये युद्धार्थं प्रवृत्तिरेव न स्यात् । अतो मच्छरैः छिन्नं देहं हित्वा धैर्यमुत् धैर्येण जातां मुदं स्वर्गलक्षणां वह । अथवा मच्छरैः छिन्नं देहं पित्वेति । 'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः' इति न्यायेन शरच्छादनं दूरीकृत्य मां जहि । अनेन प्रथममहमेव प्रहारं करिष्यामीति सूचितम् ॥१९॥

व्याख्यार्थ—"तु" शब्द पहले कही हुई बात को निवारणार्थ है नहीं तो, हम दोनों को अथवा एक बन्धु को मारना बराबर ही है, तो राम को लडने के लिए क्यों आह्वान करता है ? इसका समाधान यह है कि इसको यादवों का नाश करना है, सत्व से व्यवहित अतिशयकर आवेश वालों का यह देह है इससे सिद्ध है कि राम यादव है, इसलिए राम का आह्वान किया है । वसुदेव का वैर उसके पुत्र पर डालकर राम से लडना मानों वसुदेव से ही लडना है । इसलिए कहा है, कि यदि पिता में श्रद्धा अर्थात भक्ति है, तो तू लड अथवा क्षत्रियपन में श्रद्धा है, तो भी लड । अपने दोनों में शक्ति समान है, किन्तु मेरी सेना बहुत है । यदि वह देख कर डर गए हो तो डर मत धीरज और हिम्मत धारण कर, भगवान से जो भिन्न है, उनका धर्म अन्य होता है, बलरामजी में भीतर बल तो है ही जिससे धैर्य भी है, उसको बाहिर प्रकट कर, इसलिए वह धातु के आगे "उत्" उपसर्ग लगा कर "उद्वह" पद दिया है । लडने से जो होगा उसका निश्चय तो है ही नहीं । यदि किसी एक की जय वा पराजय का पूर्व ही निश्चय हो तो लडाई हो ही नहीं । अतः मेरे शरों से छेदी हुई देह का त्याग कर धैर्य करने से स्वर्ग की प्राप्ति के आनन्द को धारण करो, अथवा मेरे शरों से कटी हुई देह को त्याग विधि निषेध विशेषण में ही प्रयुक्त होते हैं । इस न्यायानुसार शरों का परदा हटा कर मुझे नष्ट कर, यों कहने से मागध ने यह बता दिया कि पहले मैं ही प्रहार करूंगा ॥१९॥

आभास—एवं बलभद्रं प्रति यत्स्वपौरुषं ख्यापितम्, तदयुक्तं मत्वा भगवान् निषेधति न वै शूरा इति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने जो बलरामजी के आगे अपनी सामर्थ्य की डींग हांकी, वह उचित नहीं है। यों समझ भगवान् उसका "न वै शूरा" श्लोक में प्रतिवाद करते हैं।

श्रीभगवानुवाच -

श्लोक—न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।
न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे कि हे राजन् शूरवीर बकवाद नहीं करते हैं, किन्तु अपना पराक्रम कार्य करने से ही दिखाते हैं। हम आतुर तथा जिसकी मौत निकट आ गई है, उसके वचनों पर ध्यान नहीं देते हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—ये हि शूरास्ते स्वख्यातिं न वदन्ति, किन्तु पौरुषमेव दर्शयन्ति। यदप्युक्तं 'न त्वया योद्धुमिच्छामी'ति, तत् तव वाक्यं न गृह्णीमः। अनेन तद्वाक्यमप्रमाणमित्युक्तम्। न हीश्वरेणामतं प्रमाणं भवति। तेन हि शङ्काद्वयेन युद्धं त्यक्तम्, मरणं भविष्यति, मोक्षे प्रतिबन्धो वा भविष्यतीति, तदुभयं न कर्तव्यम्, इदानीं न मारणीयः, मोक्षश्च देय इति। अत एव भगवान् सर्वस्वदानं कारयित्वा मोक्षं दत्तवान्। अतो युक्तमुक्तं न गृह्णीमो वच इति। किञ्च, हे राजन्! राज्ञां शूरक्षत्रियाणां युद्ध एव मुक्तिः। 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' इति ब्राह्मणक्षत्रिययोः मोक्षप्रकारस्य प्रतिपादितत्वात्। तयोरेव च मोक्षोपदेशः 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन' इत्यत्र निरूपितः। अतो मद्रक्षितेनापि त्वया युद्धं कर्तव्यम्, अहं तु त्वया सह युद्धं न करिष्यामि, बलभद्र एव करिष्यति, बलं पर मारणीयमिति भावः। अयमुपदेशोऽग्रे कार्यार्थः। अन्यथा भीमेनापि न युध्येत्। किञ्च, आतुरस्य वचनं न ग्राह्यम्। स हि स्वापथ्यमेव याचते। अनेन याचितं देयमिति पक्षो निवारितः। किञ्च, मुमूर्षतः मुमूर्षां प्राप्नुवतः। कृदन्तात् षष्ठी। स हि मोक्षं दूरीकृत्य वृथा मरणं वाञ्छति। तादृशं नाङ्गीकर्तव्यम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—जो सचमुच निश्चित शूरवीर होते हैं, वे अपनी प्रशंसा अपने आप नहीं करते हैं; परन्तु अपनी शूरवीरता दिखाते हैं। जो भी आपने कहा, कि मैं तुम से युद्ध नहीं करूंगा, वह आपका वचन ग्रहण नहीं करते हैं; सो कहने से भगवान् ने बता दिया कि मागध का कहना प्रमाण रूप नहीं है। जिसको ईश्वर नहीं मानते हैं, वह प्रमाण नहीं हो सकता है। इस शंकाद्वय से युद्ध छोड़ा, युद्ध से मरण होगा वा मुक्ति मिलेगी, ये दोनों अब नहीं करने हैं। अब नहीं मरना है और न मोक्ष देना है. इस कारण से ही भगवान् ने पहले उससे सर्वस्व अर्पण कराने के अनन्तर ही मोक्ष दी। अतः भगवान् ने ये वचन उचित ही कहे हैं कि तेरा कहा हुआ वचन ग्रहण नहीं करूंगा।

किञ्च हे राजन् ! शूरवीर जो क्षत्रिय राजा हैं, उनकी युद्ध में मरने से ही मुक्ति होती है। जैसा कि शास्त्र में कहा है "द्वाविमौ पुरुषोलोके सूर्यमण्डल भेदिनौ परिव्राड् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो-हतः" अर्थ—लोक में योग युक्त सन्यासी, युद्ध में मरा हुआ शूरवीर, ये दोनों मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के मुक्ति का मार्ग निश्चित सिद्ध किया हुआ है। उन दोनों को ही मोक्ष का उपदेश है। "यस्य ब्रह्म च क्षत्र" इस श्रुति में भी यही बात कही है। अतः तू मुझ से रक्षा किया हुआ है, तो तुझ से राम लड़ाई तो करेंगे ही। मैं तो तेरे साथ युद्ध न करूंगा, कारण कि तेरी इस बड़ी सेना को तो नष्ट करना ही है। यह उपदेश आगे के कार्य के लिए है: जो यों उपदेश न दें तो भीम से भी न लड़े। बीमार का वचन कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह सदैव कुपथ्य रोग में हानि करने वाली वस्तु की ही याचना करता है, किन्तु उसको वह नही देनी चाहिए, क्योंकि उस वस्तु के देने से उसका रोग बढ़ेगा। इसी प्रकार यहाँ भी यदि आपका कहा हुआ किया जाए तो आपकी ही हानि होगी और जो मरने के समीप है, वह भी बुद्धि शून्य हो जाता है। जिससे वह मोक्ष को हटाकर केवल मारना ही चाहता है, इसलिए उसका कहा भी नही करना चाहिए ॥२०॥

आभास—एवमुपदिष्टः युद्धं स्वहितं मन्यमान, ससामग्रीको युद्धार्थमागत इत्याह जरासुत इति।

आभासार्थ—इस प्रकार के उपदेश से युद्ध करने में अपना हित समझ कर सारी लड़ाई की सामग्री सहित सेना को लेकर युद्ध के लिए आया। जिसका वर्णन जरासुत श्लोक से श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—जरासुतस्तावभिसृष्य माधवौ महाबलौघेन बलीयसावृणोत्।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी कहने लगे कि जरासन्ध ने समीप जाकर, अपनी बड़ी सेना से रामकृष्ण को उनकी सेना, सारथि सहित रथ, ध्वजा, घोड़ों को इस प्रकार घेर लिया जैसे पवन बादलों से सूर्य को और रेणु से अग्नि को घेर लेता है ॥२१॥

सुबोधिनी—मातुः पुत्रोऽयम्। तत्रापि सा जरा, सर्वानेव विरूपान् करोति, कथमेनं त्यक्ष्यतीति। तत्रापि राक्षसी। तेन दुर्बुद्धिरप्ययं ज्ञापितः। अन्यथा तदुपदेशमेव गृहीत्वा, मरणं निश्चित्य, तेनैव सह किं युद्धं कुर्यात्। तौ कृष्ण-रामावभिसृत्य सर्वत संवेष्टयित्वा महाबलौघेन

आवृणोत् । माधवाविति । मधुवंशोत्पन्नाविति भगवन्ताविति वा, धनं दास्यत इति वा, पित्रोः स्वबलं प्रदर्शनीयमिति वा । जेष्यामीति बुद्ध्या प्रवृत्त इति ज्ञापयितुं साधनाधिक्यमाह बलीयसा महाबलौघेनेति । महत्त्वं स्वरूपेण, तादृशानां बहुत्वमोघः अन्तस्सारं बलम् । एवं गुणत्रयस्य विद्यमानत्वात् आवरणं कृतवान् । भगवत्सहायं सर्वमेव स्वार्थं गृहीतवानित्याह ससैन्येति । सैन्यसहितौ, यानसहितौ, तत्र ध्वजवाजिसारथिभिः सहितौ । अनेनैवमुक्तं भवति, केचन सैन्ये लग्नाः, केचन रथे, केचन ध्वजयोः, केचनाश्वेषु, सूतयोरिति । एतयोरसम्भावितमावरणमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह सूर्यानलाविति । न ह्यावरणं सूर्यं स्पृशति, अग्निं वा, परं पश्यतां चक्षुः प्रतिरोधकमेव । वायुस्थानीयो जरासन्धः, अभ्राणि सूर्यावरकाणि, रेणवोऽग्नेः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—यह मगध माता का पुत्र है, उसमें भी यह माता साधारण माता जैसी नहीं है, किन्तु जरा होने से सब को बदसूरत कर देती है, तो इसको कैसे छोड़ेगी ? केवल जरा नहीं, किन्तु राक्षसी भी है, जिससे वह जो दुर्बुद्धि हुआ है, यह भी बता दिया है । यदि यह नहीं बताया जाता तो उसका उपदेश लेकर, मरने का निश्चय कर उसके साथ युद्ध कैसे करें ।

जरासन्ध ने उन दोनों के समीप आ कर अपनी जबर्दस्त सेना से उनको चारों तरफ से घेर लिया । ये दोनों भ्राता मधुवंश में उत्पन्न हुए थे । इसलिए भगवान् अर्थात् षड्गुणसंयुक्त स्वरूप थे । अथवा लक्ष्मी के पति होने से धन देंगे, इसलिए मागध ने घेर लिया । अथवा माता पिता को अपनी शक्ति दिखानी थी, इसलिए घेरे में आ गए । जरासन्ध युद्ध में इसलिए तैयार हुआ कि उसकी बुद्धि में यह विचार था कि मै जीतूंगा । कारण कि मेरे पास जीतने के लिए साधन बहुत हैं । वे दिखाते हैं ? 'बलीयसा महाबलौघेन" अर्थात् स्वरूप से ही उसका महत्व था, ऐसों का बहुत समूह था और उन में भीतर शक्ति भी थी । इस प्रकार वैसे तीन गुणों के विद्यमान होने से ही घेरा डाला था । यों घेरे डालने का कारण यह था, कि भगवान् की सहायता करने वाले सर्व साधन अपने काम के लिए आधीन हो जाए । अर्थात् सैन्य सहित, यान सहित और ध्वजा घोड़े सारथी सहित ये दोनों मेरे शरण में आजाएँ किन्तु वैसा हुआ नहीं । श्री शुकदेवजी यह दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं कि जैसे पवन से चलायमान मेघ से सूर्य का आवरण तो हो जाता है परन्तु सूर्य का स्पर्शमात्र भी नहीं कर सकता है और रेणु भी अग्नि को आच्छादित कर देती है किन्तु अग्नि को छू नहीं सकती है । सारांश यह कि मेघ और रेणु केवल देखने वालों की दृष्टि को रोकने वाले होते हैं । इसी प्रकार सैन्य सहित इसका घेरा भी उनके सैन्य स्पर्श भी नहीं कर सका केवल मनुष्यों की दृष्टि में ही यह घेरा देखने में आ रहा था । उनका आवरण करना मागध के लिए असम्भव था । वे तो कोई सैन्य व्यवस्था में लगे थे, कोई रथ की गति में कोई ध्वजाओं की स्थिति में और कोई घोड़ों को तीव्रतावरोध* में लगे थे ॥२१॥

---

* तेज़ी को रोकना ।

आभास—अतः स्वरूपे फलस्यायुक्तत्वात् दृष्टौ तज्जातमित्याह सुपर्णताल-ध्वजचिह्नि ।

आभासार्थ—अतः जरासन्ध के घेरे का फल भगवत्स्वरूप में होना, अनुचित होने से केवल देखने में ही वह हुआ जिसका वर्णन "सुपर्ण" श्लोक से करते हैं—

श्लोक—सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथावलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रिताः संमुमुहुः शुचार्पिताः ॥२२॥

श्लोकार्थ—गरुड़ और तालकी ध्वजा से चिह्नित राम कृष्ण के रथों को युद्ध में न देख कर, पुरी के अट्टालिकाओं, महत्व और नगर के बड़े दरवाजों पर चढ़ी हुई नगर की स्त्रियाँ शोक से दुःखी हो मूर्च्छित हो गई ॥२२॥

सुबोधिनी—सुपर्णध्वजो भगवद्रथः । तालध्वजो बलस्य । सेनामध्ये पतिताविति रेणुभिः विजातीयध्वजादिभिश्च व्यवधानात् अलक्षयन्तः अपश्यन्तो जाताः । एको दुःखहर्ता, अपरो रमयतीति सुखद ता । उभयोरत्यावश्यकत्वात् तद्दर्शने व्याकुलता उचितैव । स्त्रियश्च तत्र मुख्यतया द्रष्टुं समागता इति युद्धानभिज्ञत्वात् रसान्तरपरिग्रहे स्ववैयर्थ्यं सूचयन्त्यः शोकेनार्पिता जाता इत्याह स्त्रिय इति । पुरस्य अट्टालकाः अत्युच्चा भवन्ति । हर्म्याणि राज्ञां गृहाः । पुरद्वार चात्युच्चम् । एतानि समाश्रित्यापि अलक्षयन्त्यः सम्यक् मुमुहुः, मूर्च्छां प्राप्तवत्यः । ततो जागरणे शुचा चार्पिताः । कृष्णो हि भगवान् स्त्रीणामेवार्थे अवतीर्ण इति तद्बाधकत्वेनैव सैन्यं मारितवान् । न त्वन्यथेति स्वरूपविचारसिद्धमर्थमुक्तम् । अन्यथा सङ्कर्षणकार्ये भगवान् प्रविष्ट इति भवेत् । तच्चैकादशे न पुनरुक्तम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—गरुड़ की ध्वजा वाला भगवान् का रथ और ताल की ध्वजा वाला राम का रथ ये दोनों रथ सेना के मध्य में आ गए, तथा धूलों से और विजातीय ध्वजादि से रुकावट होने के कारण नगर की नारियाँ उनको देख न सकीं एक रथ जो भगवान् का है वह दुःखहर्ता है और जो दूसरा राम का है वह आनन्द दाता है दोनों के दर्शन अत्यावश्यक है, अतः उनके दर्शन न होने से, स्त्रियों को व्याकुलता होना उचित ही है, वहाँ देखने वाली में मुख्य रूप से स्त्रियाँ ही दर्शक थीं किन्तु स्त्री होने से युद्ध का नमूना नहीं जानती थीं, इसलिए अन्य रस की प्राप्ति होने से अपना यहाँ आना अथवा जन्म व्यर्थ समझ शोक युक्त हो गई शहर को अट्टालिकाओं वहुत ऊँची होती हैं, राज महल नगर के बड़े द्वार[1] भी वहुत ऊँचे होते हैं उन पर बैठी हुई भी नगर की नारियाँ न

---

१ भीतर जाने का फाटक ।

देख कर बहुत मूर्च्छित हो गईं जब कुछ होश में आती तो शक्ति से घिर जाती थीं, क्योंकि भगवान् कृष्ण तो स्त्रियों के लिए ही प्रकट हुए हैं उन स्त्रियों को सेना के कारण हो भगवान् के दर्शन न हुए इसलिए सेन्य का नाश किया गया नहीं, कि अन्यथा स्वरूप के विचार की सिद्धि के लिए यों कहा है, यदि यों न कहा जाए तो लोक समझने लगे कि संकर्षण के कार्य में भगवान् प्रविष्ट हुए हैं और वह फिर एकादश में नहीं कहा है ॥२२॥

श्लोक— हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् ।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—शत्रुओं की सेना रूप बादलों से गिरती हुई बाण रूपी तीखी वृष्टि से पीड़ित, अपनी सेना को देख भगवान् ने, देव तथा दैत्यों से पूजित अपने शार्ङ्ग धनुष का टंकार शब्द किया ॥२३॥

सुबोधिनी—अतः स्त्रीणां दुःखनिवृत्त्यर्थं भगवान् सैन्यं निहतवानित्याह हरिरिति । सूर्यस्थानीयो हि भगवान् । तत्र मेघस्थानीयाः तदीयाः । अतस्तेषां निराकरणमनायासेनैव भविष्यतीति निरूपयितुं तेषां सेनामनुवदति परानीकपयोमुचामिति । शत्रूणामनीकमेव पयोमुचः मेघाः । तेषां शिलीमुखान्येवोल्बणवर्षः । तेन पीडितं स्वसैन्यम् । अनेन महाशूरा अपि, अहन्यमाना अपि, यथा वृष्टौ समागतायां सर्व एव भीताः पलायन्ते, न हि वृष्टिः कांश्चिन्मारयति, मृता वा भवन्ति केचन, तथापि महाशूरा अपि राजानमपि परित्यज्य पलायन्ते, तथा अत्र जातमित्युपहासार्थं निरूपितम् । स्त्रीषु कृपा, तेषु च हास्यरसमुत्पन्नमिति भावः । अत उभयोरपि हननचिकीर्षया स्वशार्ङ्गं गृहीतवानित्याह सुरासुरार्चितमिति । सुराणां हितम्, असुराणां मोक्षम्, द्वय दास्यतीति ज्ञात्वा शार्ङ्गं धृतवान्, विशेषेणास्फूर्जयत् । शार्ङ्गज्यानिनादः सुराणां चित्ते भयनिवर्तको भवतीति प्रथम सन्देहनिवारणार्थमाश्वासनमुक्तवान् । 'धज्ज्यानिनादश्रवणात् सुराणां चेतांसि निर्मुक्तभयानि सद्यो भवन्ति' इति वाक्यात् । शार्ङ्ग एव शरासनेषु भगवदीयेषु उत्तमम् । अनेनाशनिबाणवर्षमिति तस्य द्वितीयं माहात्म्यमुक्तम् । भगवतः अनेकान्यपि धनूंषि सन्तीति बोधितम् । शरासनपदेन देवतारूपत्वं प्रतिषिद्धम् । अन्यथा माहात्म्यमुक्तं न भवेत् ॥२३

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में कहते हैं, कि स्त्रियों को जो न देखने से दुःख हुआ था उसकी निवृत्ति के लिए भगवान् ने शत्रु की सेना को मारा भगवान् का नाम यहाँ हरि दिया है, जिससे दो आशय हैं, एक दुःखहर्ता है इसलिए स्त्रियों के दुःखों को मिटाने के लिए शत्रु सेना का नाश किया और जैसे सूर्य अन्धकार को मिटाता है वैसे ही यहां आप शत्रु सेना रूप अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य हैं, सर्य के ताप से बादल आ जाते हैं वैसे यहां शत्रु सेना रूप बादलों ने आकर तीक्ष्ण

वाणों की वृष्टि से भगवान् की सेना को पीड़ित किया, जैसे वर्षा आने पर सब डर कर अपने-अपने घरों को भाग जाते हैं, यद्यपि वर्षा किसी को भी मारती नहीं है, कितनेक मर भी जाते हैं वैसे वाणों की वर्षा से भयभीत हुए बड़े-बड़े शूरवीर घायल न होने पर भी राजा को छोड़ कर भागने लगते हैं, यहाँ भी इस प्रकार होने लगा। यह उपहास के लिए कहा गया है स्त्रियों पर कृपा हुई जिससे उनमें हास्य रस उत्पन्न हुआ। भगवान् ने दोनों के हित के लिए अपना शार्ङ्ग धनुष ग्रहण किया,—वह धनुष देवता तथा दैत्यों से पूजित है, क्योंकि इस धनुष से देवताओं का भय निवृत्ति रूप हित होता है और दैत्यों को मोक्ष मिलता है भगवान् के अनेक धनुषों में "शार्ङ्ग" धनुष उत्तम है और जोर से उसकी टंकार की, टंकार इसलिए की, कि उससे देवों के चित्त में विश्वास हो जाए कि अब हमारा भय नष्ट होगा जैसे कि कहा है कि "शार्ङ्ग धनुष के टंकार से देवता शीघ्र ही निर्भय हो जाते हैं, यों उत्तमता कहने का आशय यह है, कि इस धनुष से वज्रवत् शरों की तेज वर्षा होती है, यह उसका दूसरा माहात्म्य बताया है। इससे यह भी प्रकट कर दिखाया है, कि भगवान् के पास अनेक धनुष हैं, 'शरासन" पद का भाव यह है, कि यह धनुष देवता रूप नहीं है यदि देवता रूप होता तो माहत्म्य नही कहते ॥२३॥

श्लोक—गृह्णन्निषङ्गादथ संदधच्छरान्विकृष्य मुञ्चन् शितबाणपूगान् ।
निघ्नन्रथान्कुञ्जरवाजिपत्तीर्निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—शरों को तरकश से निकाल, धनुष में जोड़ कर, धनुष को खेंच, जो आप तीक्ष्ण बाणों के समूह को फेंकते हैं तो उनसे रथ हाथी घोड़े और पैदल चलती सेना का निरन्तर नाश हो जाता, क्योंकि उस समय धनुष अलातचक्र की भांति कार्य करता हुआ दीखता था ॥२४॥

सुबोधिनी—इदानीं भगवतो युद्धचातुर्यमाह गृह्णन्निषङ्गादिति । अतितेजस्विनां स्वागमेपि स्वशक्तिस्तिष्ठतीति क्रियाशक्तेर्व्यापकता नित्यत चोक्ता भवति । निषङ्गात् तूणीरात् शरान् गृह्णन्, अथ तदनन्तरं तस्य योजनाप्रकारेण योजितवान् । ततो विकृष्य मुञ्चन्, ततः चतुरङ्गिणीं सेनां निघ्नन् । जात इति प्रत्येकं वा सम्बन्धः । चतुर्धा भगवत्कृतिः ।

व्याख्यार्थ—अब भगवान् का युद्ध में चातुर्य कैसा है वह वर्णन करते हैं विशेष तेजस्वियों की अपनी शक्ति अपने आगम-साधन-में भी रहती है इससे भगवान् की क्रिया शक्ति की नित्यता और व्यापकता कही है, तरकस से शरों को लेकर बाद में धनुष में जोड़ते थे फिर उससे खेंचकर फेंकते हुए उनसे चतुरङ्गिणी सेना को मारने लगे, इस प्रकार समस्त क्रिया से आपका सम्बन्ध रहा जिससे यह भगवान् की चार प्रकार की कृति है ।

कारिका—स्थानात् प्रच्यावनं पूर्वं साधने योजनं तथा ।
फलार्थं विनियोगश्च फलसिद्धिरिति क्रमात् ॥१॥

कारिकार्थ—पहले स्थान से (तरकस से सरों को निकालना) फिर उसी तरह साधन में (धनुष में उन शरों का जोड़ना) लगाना और फल के लिए उनका (शत्रु सेना का नाश कर विजय पाना) विनियोग करना, इस प्रकार करने से फल की सिद्धि की है ॥१॥

सुबोधिनी—मोचनसमयेपि ग्रहणमावर्तते चेत्, तदा क्रिया अपरिच्छन्ना भवति, नान्यथेत्यत आह निरन्तरमिति । अन्तराभावो यथा भवति तथेति । चतुर्णां विशेषणं । तदसंभावितं मत्वा दृष्टान्तमाह यद्वदलातचक्रमिति । अलातचक्रं परिभ्रममाणं सर्वत्र विद्यमानमिव मण्डलाकृति भाति, तद्वन्निरन्तरमिति सम्बन्धः ।

यद्यपि भगवतः क्रियाशक्तौ न सन्देहः, तथापि स्वयमपि वक्ष्यति । लोके निरूपणे असंभावना मा भवत्विति दृष्टान्तमप्याह । निषङ्गादित्येकवचनेनाक्षयतूणीरता निरूपिता । अथेति भिन्नोपक्रमेण । अनेन शरेण एतावत् मारयिष्यामीति पूर्वं सङ्कल्पो निरूपितः । तदैव च निघ्नन् जातः, अन्यथा काकतालीयवत् भगवत्प्रवृत्तिरपि स्यात् । ततश्च न पराक्रमः सिद्ध्येदिति । एतावदथशब्देन निरूपितम् । सन्दधत् सम्यग् धनुषि योजयन् । शरानित्यस्त्रव्यावृत्त्यर्थम् । अन्यथा देवताया एव सामर्थ्यं भवेत् । शरानिति बहुवचनं सकृदपि बहूनां सन्धानं सूचयति । विकृष्य मुञ्चन्निति ।

मानुषक्रियैवात्र व्यापृता भगवता, न त्वलौकिकं किञ्चित्प्रकाशितमिति ज्ञापितम् । शितास्तीक्ष्णाः ते च बाणाश्च तेषां पूगः समूहो येषु । एकस्मिन् बाणे भगवत्क्रिया व्यापृतेति भगवता स मुक्त इति परिच्छेदे निवृत्ते सहस्ररूपः स एव जात इति बाणस्यानन्तत्वे प्रतिपादिते तेन मोचितशराणामपि अनन्तत्वं फलिष्यतीति तथोक्तम् । अन्यथा पुनरुक्तदोषः स्यात् । सन्धितानामेव विमोकस्य सिद्धत्वात् । नितरां घ्नन्निति सकृत् प्रहारेणैव प्राणवियोगः शरीरस्य शतधा खण्डाश्च प्रदर्शिताः । चतुरङ्गसेना सर्वैव मारिता इति ज्ञापयितुं गणनामाह । रथान् कुञ्जरान् वाजिनः पत्तयः पदातयः । पत्तीरिति स्त्रीप्रयोगः । एको बाणः एकां पत्तिमनेकां वा मारयतीति सूचयति । 'एकेभैकरथा अश्वा पत्तिः पञ्चपदातिके'ति । पत्तीनिति वा पाठः । शूराणां प्राणवियोगमात्रे न सामर्थ्यं सिध्यति । मर्मस्थानस्पर्शे अल्पप्रहारेणापि प्राणवियोगसम्भवात् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जिस समय शरों को फेंका जाता है, उस समय शरों को तरकस से लेने का कार्य भी होता था तब उस में अपरिच्छिन्नता रही है, यदि यों न होता तो क्रिया में परिच्छिन्नता होती इसलिए श्लोक में "निरन्तर" पद दिया है, जिस क्रिया में थोड़ा भी अन्तर न हो उसको निरन्तर की हुई क्रिया कहते हैं, इसलिए समस्त क्रियाएँ वर्तमान काल में दी हुई है, यों एक ही काल में सब

होना असम्भव है, इस प्रकार किसी के मन में शंका उत्पन्न हो तो उसको मिटाने के लिए दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'यद्वदलातचक्रम्'' जैसे अलातचक्र जब घूमता है तब चारों तरफ एक ही समय घूमता हुआ दीखता है उसी भाँति यहाँ भी समझ लेना चाहिए । यद्यपि भगवान् की क्रियाशक्ति में किसी प्रकार सन्देह नहीं है, तो भी अपने आप भी कहेंगे, इस प्रकार निरूपण करने में लोक में असम्भावना न होवे इसलिए दृष्टान्त भी कहते हैं श्लोक में "निषङ्गस्" एक वचन दिया है जिस से जाना जाता है कि तरकस एक ही था किन्तु वह अक्षय शरों का निवास था अर्थात् उसमें अक्षय शर थे, "अथ" शब्द देकर यह बताया है, कि अब अलग विषय का प्रारम्भ करते हैं, इस शर से इतनों को मारूंगा इस प्रकार का संकल्प भगवान् पहले ही कर लेते थे बाद में शर फेंकते थे, फेंकते ही उनका नाश उस काल ही हो जाता, यदि यों न हो तो भगवान् की कृति भी काकतालीय न्याय के समान हो जाती, उससे कोई पराक्रम सिद्ध न होना चाहिए, किन्तु भगवान् की क्रिया की प्रवृत्ति का फल पराक्रम तो प्रत्यक्ष प्रकट है ही, इतना आशय "अथ'' शब्द का निरूपण किया है। "सन्दधत्" शब्द का अर्थ है, अच्छे प्रकार से शरों को जोड़ते हुए "शरात्" शब्द कह कर बताया कि अस्त्र नहीं है किन्तु शस्त्र है यदि शस्त्र नहीं अस्त्र हो, तो देवता का ही सामर्थ्य हो जाए "शरान्'' बहुवचन देकर यह सिद्ध किया है, कि एक ही काल में बहुत शरों को धनुष में जोड़ देते हैं "विकृष्य मुञ्चन्" इस पद से यह दिखाया है, कि यहाँ भगवान् ने मानुष क्रिया ही ग्रहण की है, कुछ भी अलौकिकता प्रकट नहीं की है, एक एक बाण भगवान् की क्रिया शक्ति से युक्त था, इस लिए वह एक को भी जब भगवान् फेंकते थे तब उसका परिच्छेदपन निवृत्त हो कर वह सहस्र रूप हो जाता फिर उनका समूह होता था जिससे वे अनन्त होकर अनन्त शरीरों की मुक्ति कर देते थे, अन्यथा पुनरुक्ति दोष हो जाता, क्योंकि जोड़े हुए शरों को फेंकना ही सिद्ध होने से । 'निघ्नत्" पद का भावार्थ है कि एक प्रहार से ही प्राण निकल जाते और शरीर के सैकड़ों टुकड़े हो जाते, चतुरंग, जितनी भी सेना थी वह सारी नष्ट कर दी गई, यों मालूम करने के लिए उसकी गणना करते हैं। रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सेना । एक बाण एक सेना को अथवा अनेकों को मारता है यह सूचित किया है जैसे कि कहा "एकेभैकेरथा अश्वापत्तिः पंचपदातिका" अर्थात् एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े और पांच प्यादे, इसको भी एक प्रकार की सेना कहते हैं, शूरवीरों का सामर्थ्य केवल प्राण वियोग से सिद्ध नहीं होता है क्योंकि मर्मस्थान पर अल्पप्रहार से भी प्राण निकल जाते हैं ॥२४॥

आभास—अथो भगवतः क्रियाशक्ति बोधयितुं बाणानां महत्कार्यमाह निर्भिन्न-कुम्भा इति ।

आभासार्थ—अतः भगवान् की क्रियाशक्ति का बोध कराने के लिए "निर्भिन्न-कुम्भाः" श्लोक में बाणों के महान् कार्य का वर्णन करते हैं—

श्लोक—निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतुरनीकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः ।
रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥२५॥

श्लोकार्थ—फाड़ हुए गण्डस्थल वाले हस्ती, बाणों से कटी हुई गरदन वाले अनेक घोड़े नष्ट हुए हैं घोड़े, ध्वजा, सूत और नायक जिनके वैसे रथ टूटी हुई भुजाएँ छगनी और ग्रीवा जिनकी वैसे प्यादे, ये सब रण के मैदान में गिर गये थे ।

सुबोधिनी—करिणो हस्तिनः नितरां खण्डशो निर्भिन्नाः । यद्यपि निर्भिन्नकुम्भाः करिण एव भवन्ति, तथापि स्वतन्त्रः करो मेषातिति षष्टिहायनपरः करि शब्दः । अनीकशः अश्वा एकैकेन शरेण वृक्णाः कन्धरामु केशाः सन्तीति तत्र बाणप्रचारो न भविष्यतीति कन्धरपदम् । रथास्तु, हता अश्वा ध्वजाः सूता नायकाश्च येषां, तादृशा जाताः । नत्वेकमारणेन शिष्टं दैवान्मृतमिति । रथोऽपि अवयवशः वृक्णः इति ज्ञातव्यम् अन्यथा निपेतुरिति क्रियासम्बन्धो न स्यात्, अन्यथा जाता इति क्रियान्तरं कल्प्यं प्रसज्येत । पदातयश्च निपेतुः । आघातेनापि पतन्तीति तेषां विशेषणमुच्यते । छिन्नाः भुजाः ऊरवः कन्धराश्च येषाम् । उरु स्थूला वा कन्धरा । नाभेरधो बाणप्रहारस्य निषिद्धत्वात् । अनेन शिरश्छेदः अर्थादुक्तः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—हस्ती अतिशय टुकड़े-टुकड़े हो गए, हालांकि फाड़े हुए गण्डस्थल वाले 'करि' ही होते हैं, तो भी जिनकी सूंड स्वतन्त्र हो जाती है वे हस्ती साठ वर्ष के होते है, यहाँ 'करि' शब्द वैसे हाथियों के लिए दिया है अनेक घोड़े एक-एक शर से नाश को प्राप्त हुए, यहाँ "कन्धरा" पद इस लिए दिया है, कि उसके ऊपर केश होते हैं केशों पर बाण का प्रहार असर न करेगा बाण के प्रहार का असर तो ग्रीवा पर ही होगा अतः "कन्धरा" शब्द उचित ही है, रथ तो मरे हुए घोड़े वाले, नष्ट हुई ध्वजा वाले और सूतनायक भी जिनके मृत हुए हैं वैसे हो गए, यों भी न समझना चाहिए कि एक के मरने से शेष देव से मरा, रथ भी समग्र अवयवों सहित नष्ट हो गया यों जानना चाहिए जो यों नहीं माना जाएगा तो "निपेतुः" क्रिया का सम्बन्ध सब के साथ न हो सकेगा, यदि "निपेतुः" क्रिया का सम्बन्ध न समझा जाएगा तो दूसरी क्रिया "जाताः" की कल्पना करनी पड़ेगी, अतः "निपेतुः" क्रिया सब के साथ सम्बन्ध वाली है यह ही युक्त है इसलिए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि "पदातयश्चनिपेतुः" इस वाक्य में "च" शब्द देकर सर्व के साथ

---

* साठ वर्ष के हस्तियों के गण्डस्थल ढीले पढ़ते हैं जिससे सूंड उनसे सटी हुई नहीं रहती है अतः वह सूंड स्वतन्त्र कही जा सकती है—अनुवादक

सम्बन्ध बताया है, यदि कोई कहे, कि चोट लगने से भी गिर पड़ते हैं तो इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि चोट से गिरे होते तो उनकी भुजाएँ, छातियाँ, ग्रीवाएँ अलग-अलग छिन्न होके गिरती नहीं, युद्ध शास्त्र में नाभि से नीचे शरीर में बाण के प्रहार का निषेध है। इससे ऊपर के भाग का टूटना ही कहा है ॥२५॥

आभास—एवं चतुरङ्गसेनामारणमुक्त्वा तस्याधिक्यं वक्तुं तेन जाता रुधिरनदीर्वर्णयति संच्छिद्यमानेति सार्धाभ्याम् ।

आभाषार्थ—इस प्रकार चतुरंगिणी सेना को मृत्यु कह कर अब उसकी अधिकता दिखाने के लिए उससे उत्पन्न रुधिर की नदी का "संछिद्यमान" श्लोक से लेकर २॥ श्लोकों से वर्णन करते हैं—

श्लोक—संछिद्यमानद्विषपदेभवाजिनामङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीप हयग्रहाकुलाः ॥२६॥
करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरंगायुधगुल्मसंकुला ।
अच्छूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥२७॥
प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् ।

श्लोकार्थ—मनुष्य, हस्ती तथा घोड़ों के कटे हुए अंगों से सैंकड़ों रुधिर की नदियाँ बहने लगी, जिनमें भुजाएँ सांप जैसी दीखती थीं मनुष्यों के सिर कछुओं के समान नजर आते थे, मरे हुए हाथीं टापू से और घोड़े मगर से दृष्टि में आते थे हस्त ही बड़ी मछली के समान दीखते थे अथवा हस्त तथा छाती ही मछलियाँ थीं, मनुष्यों के केश ही शेवाल + था धनुष तरंग थे, शस्त्र झाड़ी थी, ढालें भंवर थे और अमूल्य बड़ी-बड़ी मणियों के उत्तम आभूषण पत्थर तथा पँवारे से नजर आते थे युद्ध में बहती हुई इस रुधिर की नदियों को देख डरपोक तो घबराते थे और शूरवीर परस्पर प्रसन्न होते थे ॥ २६, २७, २७॥ ॥

+ सवार—पानी की लताएं ।

सुबोधिनी—चतुरंगेषु त्रय एव रुधिरवन्तः, एकं दारुमयम्। अतस्त्रीन् गणयति। द्विपदाः मनुष्याः, इभाः हस्तिनो वाजिनश्च, तेषामङ्गैः छिन्नैः प्रसूता शतशः असृगापगा जाताः। अनेन मृतानां निर्भयत्वं सूचितम्। अन्यथा भयेन रुधिरशोष एव स्यात्। विजातीया अपि एकैकप्रकृतिका जाता इत्यपि। अङ्गपदं तु तेषां हनने जाते दैवकृतां रुधिरवृष्टिं व्यावर्तयति। प्रशब्देन मरणानन्तरमपि संस्कारेणापि भयाभावः सूच्यते। अन्योन्यं प्रवाहमेलनात् पूर्वं नामान्तरमप्यापन्नाः पश्चादनेकानि नामानि प्राप्नुवन्तीति शस्प्रत्ययः। असृगापगा रुधिरनद्यः। ननु नदीत्वं कुतः, नहि प्रवाहमात्रेण नदीत्वं भवति, अन्यथा वर्षाकाले जगदेव नदी स्यादित्याशङ्क्य नदीसमानाकृतित्वसिद्ध्यर्थं वर्णयति भुजाहय इति। भुजा एवाहयः सर्पा यत्र। पुरुषशीर्षाण्येव कच्छपा यत्र। एतत्सात्त्विकम्। हता ये द्विपास्त एव द्वीपप्रायाः। द्विर्गता आपो यत्रेति। तस्मिन् द्वीपे छिन्ना ये हयाः अश्वास्त एव हि ग्रहा ग्राहाः। तैराकुलाः। द्वीपा एव तामसा नदीत्वख्यापकाः। तथापि तत्र प्रवाहेण गच्छतां हयावयवानामारोहावरोहौ द्वीपाधिक्यार्थमेव निरूपितौ। आगन्तुका एवैते नदीधर्माः, न तु सहजा इति। साधारणान् वर्णयति करोरुमीना इति। करा एव उरु अधिका मीना यत्र। करा ऊरवश्च मीना इति वा। मध्यच्छेदे शिष्टो भागः ऊरुशब्देन ग्राह्यः। उरुशब्द एव वा। नराणां केशा एव शैवालानि शैवाला यत्र। धनूंष्येव तरगाः। मीनाः सात्त्विकाः। तरङ्गास्तामसाः इति। त्रयं पूर्वेण वा। नरके शान्तास्त्रयः। आयुधान्येव तृणीगादीनि गुल्माः, तैः सङ्कुलाः। अत एव धनुस्तरङ्गाश्च ताः आयुधगुल्मसंकुला इति कर्मधारयः। अच्छुरिकान्येव आवर्ताः। तैर्भयानकाः। अच्छुरिकाश्चक्राणि चर्माणि वा। अनेनातिगाम्भीर्यं नद्याः प्रदर्शितम्। महामणिप्रवेका महामण्युत्तमाः, तद्युक्तान्याभरणान्येव शर्करा यासाम्। पुरातननदीस्थाने कदाचित्पतितं रुधिरं जलेन सहितं तथा जातमिति शङ्कां व्यावर्तयति प्रवर्तिता इति। नूतनतया प्रवर्तिताः। पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमाह भीरुभयावहा इति। भीरूणामेव भयावहाः। मनस्विनां तु हर्षकरीः। अन्येषां तु साधारणा यथावद्वर्णिताः। परस्परमिति समयुद्धे। अन्यथायुद्धे तु जयशीलानां प्रायेण हर्षो भवतीति नाश्चर्यमेतत्।

व्याख्यार्थ—सेना के चार अङ्गों में से तीन रुधिर वाले हैं, एक काष्ठ का होने से रुधिर शून्य हैं, अतः यहां तीन ही गिने हैं, मनुष्य, हाथी और घोड़े उन तीनों के कटे हुए अङ्गों से सैंकड़ों खून की नदियां निकली, इससे अर्थात् इतनी खून की नदियों के निकलने से यह बताया कि यह सेना डरपोक नहीं थी, यदि डरपोक होती तो मरे हुए सैन्यों से खून की नदियाँ न निकलती थी भय से खून सूख जाता है, ये, विजातीय होते हुए भी, एक सी प्रकृति वाले हो गए, सेना के टूटे हुवे अङ्गों से खून की नदियाँ बही, इस वाक्य में अङ्ग पद कहने का आशय यह है, कि कोई यों न समझे कि इनके मरने पर देवों ने रुधिर की वृष्टि की है, अर्थात् ये रुधिर की नदियां इनके अङ्गों से ही निकली हैं ॥प्रसूताः॥ पद में ॥प्र॥ अक्षर देने का यह आशय है कि मरने के बाद भी इनके हृदय में संस्कार से भी भय नहीं रहा है, ॥शतशः॥ पद में शस्॥ प्रत्यय देने का भाव बताते है कि परस्पर प्रवाह के मिलने से पहले दूसरे नाम वाली होते हुए भी पश्चात् अनेक नाम को धारण किया है। ये नदियां

जल की नहीं थीं किन्तु रुधिर की थी, शंका होती है कि इस रक्त प्रवाह को नदी कैसे कहा जाता है, केवल प्रवाह से नदी नहीं बनती है यदि प्रवाह को नदी कहा जाता है तो वर्षा काल में जगत ही नदी रूप हो जाएगा ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, कि ये नदियाँ सहज नदियाँ नहीं है किन्तु नदी समान आकृति वाला प्रवाह होने से नदियाँ कहलाती है, जिसकी सिद्धि के लिए वर्णन करते है, कि नदियों में जो जो दृश्य देखे जाते वे सब इन में भी है जैसे कि—भुजाएँ ही सर्प हैं, पुरुषों के मस्तक कछुवे है ये सात्विक हैं हस्ति टापू है उसमें मरे हुए घोड़े मगरमच्छ है, उनसे व्याकुल हुए हैं, टापू ही तामस है वे नदीपन को प्रसिद्ध करते है, तो भी वहाँ के प्रवाह से वहकर जाते हुए घोड़ों के अवयवों का जो चढ़ना और उतरना अर्थात् नीचे ऊपर होना टापुओं की अधिकता दिखाने के लिए ही वर्णन किया है, अतः ये नदी के जो धर्म हैं वे आगन्तुक है सहज नहीं है, नदी पे साधारण धर्मो का वर्णन करते है—हस्त जिनमें बड़े मत्स्य है, अथवा हस्त तथा छातियाँ ही बड़े मत्स्य है, बीच के भाग को काटने पर जो शेष भाग रहता है उसको ।।उरु।। जानना, मनुष्य के केश सेवार है, मनुष्य ही तरंग है, मछलियाँ सात्विक हैं तरग तामस है, अथवा उरु के साथ जो तीन है उनको लेना चाहिए, नरक में तीन ही शान्त हैं, भाथे आदि आयुध ही मकड़ी है, उनसे घिरी हुई है, इस लिए ही ।।धनुस्तरंगायुधगुल्मसंकुला।। पद का इस प्रकार कर्मधारय समास किया है, ।।धनुस्तरंगश्चताः आयुधगुल्मसंकुला।। ढालें ही भंवर है उनसे ये नदियाँ भयानक दिखती है और इससे नदी की अतिशय गम्भीरता भी दिखाई है, उत्तम मणियों से युक्त आभूषण ही जिन नदियों में पत्थर वा पवारे हैं यदि कोई कहे कि यह रुधिर की नदी वैसी तब हुई है जब वह रुधिर प्राचीन नदी में गिरा है उस नदी के जल से मिलने पर इतना ज्यादा हो गया है जो नदी सा प्रतीत होता है अन्यथा नही होता, इस शंका के मिटाने के लिए श्लोक में ।।प्रवर्तिता।। पद दिया है जिसका भावार्थ है कि यह रुधिर की नदी नवीन प्रवृत्त हुई है अर्थात् पहले की नदी के जल से मिलकर प्रवृत्त नही हुई है, अगली प्राचीन से इस नदी की विलक्षणता वताते हैं, कि डरपोकों को डराने वाली है वह पुरानी जल की नदी डराती नहीं है, वीरों में तो हर्ष पैदा करती है दूसरों के लिए तो साधारण है, जैसी वर्णन की है वैसी ही देखते हैं उनको न भय होता है और न प्रसन्नता होती है ।।परस्परम्।। का तात्पर्य है कि समान युद्ध में जय होने पर आपस में योद्धे प्रसन्न होते ही हैं किन्तु अन्याय की लड़ाई में तो जीतने वालों को बहुत करके प्रसन्नता होती है इस में कोई आश्चर्य नहीं है ।। २६, २७, २७½

आभाष— एवं भगवत्कृतं सपर्यवसानं युद्धमुक्त्वा बलभद्रकृतमाह विनिघ्नतारीनिति ।

आभासार्थ —इस प्रकार भगवान् के किए हुए युद्ध का सम्पूर्ण वर्णन कर अब "विनिघ्नातारीन्" श्लोक से बलभद्र कृत कहते है ।

श्लोक— विनिघ्नातारीन्मुसलेन दुर्मदान्संकर्षणेनापरिमेयतेजसा ।।२८।।

श्लोकार्थ—अमित तेज वाले बलभद्रजी ने दुर्मदवाले वैरियों को मूसल से मार कर रुधिर की नदियाँ बहा दी ॥२८ ॥

सुबोधिनी –अरयः कथञ्चित् हन्तव्याः । भगवतस्त्वरयो न सन्तीति बलभद्रे तदुक्तम् । हलेनाकृष्य मुसलेन विनिघ्नता सङ्कर्षणेन सह । भगवान् गृह्णान् निषङ्गादित्यादि जात इति पूर्वेणैवान्वयः । अथवा । अरीन् विनिघ्नता सङ्कर्षणेन कृत्वा नद्यः प्रवर्तिता इति । हनने हेतुः दुर्मदाजिति । दुष्टो मदो येषां उद्धृत्तिकरणरूपः । सङ्कर्षणपदेनैव तेषामाकर्षणं निरूपितम् । सामर्थ्ये हेतुमाह । अपरिमेयं तेजो यस्येति । अन्तर्बलमस्त्येव, बहिस्तेजोपि । कस्याप्येतावदिति मातुमशक्यम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ शत्रुओं को कैसे ही मारना चाहिए, भगवान् के तो कोई शत्रु है ही नहीं इसलिए यह कार्य बलभद्र ने किया. बलभद्र संकर्षण है इसलिए उनमें खेंचने की शक्ति है जिससे उसने शत्रुओं को मुसल से खेंच लड़ाई में मारने के लिए खड़ा किया उस (संकर्षण) के साथ भगवान् भी तरकश से शरों को निकाल अपना कार्य करते थे, अथवा शत्रुओं का नाश करते हुए संकर्षण ने इन रुधिर की नदियों को बहने में प्रवृत्त किया, शत्रुओं के मरने का कारण यह था, कि वे दुष्ट मद वाले हो गये थे, जिससे वे उलटे कार्य कर पृथ्वी के भार भूत हो गए थे, बलरामजी की सामर्थ्य में कारण कहते हैं, कि असीम तेज वाले हैं भीतर तो बल है ही किन्तु बाहर भी तेज प्रकट कर दिखाया है, किसी का भी इतना बल व तेज नहीं है इसलिए भी नापा नहीं जाता है ॥२८॥

आभास—एवमुक्तं युद्धमुपसंहिरति बलमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कही हुई युद्ध को समाप्ति करते हैं, जिसका वर्णन "बलं तदंगार्णवं" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् ।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयोर्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अश्व आदि अंग रूप अर्णवों से दुर्ग में तथा भयानक जरासन्ध से पालित,अपार अन्तवाली सेना को वसुदेव के पुत्र ने क्षण में नाश किया वह कार्य उनकी विशेष क्रीड़ा ही है, क्योंकि वे जगत् के ईश हैं ।

सुबोधिनी—शीघ्रमुपसंहारे ततोऽपि महत्त्वं दुर्गं भैरवं भयानकं च । अनेन स्वरूपतो माहाभवतीति बलमिति । अङ्गैरश्वादिभिः अर्णवरूपैः तथ्यमुक्तं बलस्य । दुरन्ताः पाला यस्येति बलस्य

रक्षकाः । सङ्गे समागताः राजानः दुरन्ताः । न हि तेषामन्तं कश्चित्कर्तुं शक्तः । ततोऽपि माहात्म्यमाह मगधेन्द्रपालितमिति । जरासन्धेन पालितम् । इन्द्रपदेन सर्वतो बलस्य समृद्धता द्योतिता । एतादृशमपि क्षणमध्ये क्षयं प्रणीतम् । एतदपि वसुदेवपुत्रयोः क्रीडितम् । यद्यपि वसुदेवपुत्रत्वेन नाट्यं कृतम् । तथा सति पुत्रत्वनिर्वाहार्थं प्रयासोऽपि बाललीलायामिव प्रकाशनीयः । तथापि न प्रकाशितम्, किन्तु क्रीडयैव सर्वं मारितमिति । एव करणे वेतुमाह जगदीशयोरिति । सर्वजगत एव ईश्वरयोः । नहीश्वरः सदैकरूपो भवति । कदाचिदभिनयं करोतीति सर्वदा अभिनयमेव करिष्यति । परमित्यनेन विशेषक्रीडायामप्यनादरः, ततोऽप्यल्पमिति सूचनार्थः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में दिखलाते हैं कि शीघ्र ही युद्ध को समाप्ति कर दिखाई, जिससे भगवान् का आगे से भी विशेष महत्व प्रकट हुआ है, सेना का स्वरूप से माहात्म्य बताते हैं, कि वह वल अश्व आदि अंगों से समुद्र रूप बन गया है जिससे जाने में कठिन और भयानक है मगध के संग में आए हुए राजा ऐसे है जिनका कोई अन्त पा नहीं सकता है उनसे यह सेना रक्षित है उससे भी विशेष सेना का माहात्म्य इससे है, जो जरासन्ध से पाली हुई है जरासन्ध को मगध देश का इन्द्र कह कर यह प्रकट किया है, कि सेना सर्व प्रकार से समृद्ध है वैसी सेना को क्षण में नष्ट कर दिया, नष्ट करने में वसुदेव के पुत्र को कोई परिश्रम न हुआ, क्योंकि यह तो उनके लिए वाल क्रीड़ा ही थी, जो वसुदेव के पुत्रपन से यह खेल ही किया है, तो भी पुत्रत्व के निर्वाह के लिए, बाल लीला की भाँति प्रयत्न भी प्रकट करना योग्य है तो भी प्रकट नहीं किया, किन्तु सर्व को क्रीड़ा से ही मारा है यों करने का कारण वताते हैं, कि सारे जगत् के ईश्वर हैं, ईश्वर सदा एक रूप नहीं होते हैं, कभी खेल भी करते हैं इस प्रकार सदा ही खेल ही करेंगे । "परं" पद से यह बताया है कि विशेष क्रीड़ा में भी आदर नहीं है, इस कारण से भी थोड़े समय में सर्वं क्रीड़ा कर विशेष क्रीड़ा में भी अनादर सूचित किया है ॥२९॥

आभास—ननु किमित्येषा कथा वर्णिता विशेषाकारेण, सामान्यत एवैतद्वक्तव्यम्, जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधं कृतवानिति, अल्पे हि पौरुषत्वेन युद्धं वर्णनीयम्, न तु भगवतीति चेत्, सत्यम्, इत्याह स्थित्युद्भवान्तमिति ।

आभार्थ—यह युद्ध का वर्णन विशेष रूप से क्यों किया ? साधारण रीति से ही करना चाहिए था, जैसा कि जरासन्ध की लाई हुई सेना को बहुत प्रकार से बध किया इस प्रकार थोड़े में ही पुरुषार्थ न दिखा कर युद्ध का वर्णन करना चाहिए, न कि भगवद्रूप में इतना विस्तार करना था, यदि यों कहते हो तो, सत्य है, इस प्रकार की शंका का समाधान "स्थित्युद्भवान्तं" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥३०॥

श्लोकार्थ—जो अनन्त गुण वाले भगवान् हैं वह लीला से ही त्रिलोकी की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते हैं उन्होंने शत्रु पक्ष को दण्ड दिया इससे कुछ भी आश्चर्य नहीं है, तो भी मनुष्यावतार धारण करने के कारण यह कथा विस्तार से वर्णन की गई है ॥३०॥

सुबोधिनी—यस्त्वनन्तः सर्वतः परिच्छेदरहितः, स्वरूपविचारे क्रियमाणे । गुणविचारे त्वाह अनन्तगुण इति । अनन्ताः कोटिब्रह्माण्डेषु यावन्तः पदार्थाः तावद्गुणो भगवान् । ततोप्यधिक इति मुख्यः सिद्धान्तः । काश्चिद्गुणान् प्रकटीकरोति । क्रियाविचारे त्वाह । भुवनत्रयस्य स्थित्युद्भवप्रलयं स्वस्य लीलामात्रेण समीहत इति । तत्र कियदिदं बलम् । अतः तस्यैतन्न चित्रम् । तथापि तस्य परपक्षनिग्रहो वर्ण्यते भक्तिस्थापनार्थम् । नन्वीश्वरे परपक्षनिग्रहव्यतिरेकेणापि महत्त्वादेव भक्तिर्भविष्यति, किं निग्रहवर्णनेनेत्याशङ्क्याह मर्त्यानुविधस्येति । भगवान् मर्त्यानुविधानं करोति । तथा सति कदाचिद्भक्तपक्षपातं न कुर्यात्, अन्यधर्माभिनिवेशादिति । तत्रापि चेत् भक्तपक्षपातं कुर्यात्, तदा निःसन्दिग्धं भक्तिमार्गः प्रवर्तेत । अत एव वर्ण्यते विशेषाकारेणेति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—रूप के विचार करने से ज्ञात होता है, कि भगवान् चारों ओर परिच्छेद रहित होने से अनन्त हैं, तथा उनके गुणों का विचार करने से भी मालूम होता है कि उनके गुण भी अनन्त हैं कोटि ब्रह्माण्डों में जितने पदार्थ हैं उतने गुणों वाले भगवान् है किन्तु उनसे भी अधिक असीम गुण भगवान् के हैं यह ही मुख्य शास्त्रीय सिद्धान्त है भगवान्, कुछ गुणों को प्रकट करते हैं, भगवान् की क्रिया शक्ति का विचार करते हुए जाना जाता है कि वह अपनी लीला मात्र से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते हैं, जो इतना कार्य लीला मात्र से कर सकते हैं, उनके लिए यह सेना कितनीक है ? अर्थात् कुछ नही है, अतः भगवान् इस सेना का निग्रह करें, यह अचम्भे की बात नहीं है, तो भी उनने जो शत्रु पक्ष का नाश किया है, इसका इतना विशेष वर्णन भक्ति की स्थापना करने के लिए किया गया है इस पर वादी कहता है कि शत्रु पक्ष का नाश करने के सिवाय भी महत्व होने से ईश्वर में स्वतः भक्ति होगी ही, तो सेना के मारने के वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? जिस का उत्तर देते हैं कि भगवान् ने अत्र मनुष्य नाट्य किया है अतः मनुष्य की भांति ही सर्व लीला कर दिखानी है यों करने से कभी भक्त का पक्षपात नहीं करना चाहिए, क्योंकि यों करने से अन्य धर्म का अभिनिवेश होगा, वहाँ भी यदि पक्षपात करें, तब निश्चय भक्ति मार्ग प्रवृत्त होगा ही अतः विशेष रूप से वर्णन किया है ॥३०॥

आभास—एवं दूषणं परिहृत्य जरासन्धेन बलभद्रं प्रति यदुक्तं तद्बलभद्रः कृतवानित्याह जग्राह विरथमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार विशेष वर्णन करने में जो दूषण दिए उनको मिटाकर अब जरासन्ध ने जो बलभद्र को कहा, बलभद्रजी ने उसके कहने से जो कुछ किया, उसका वर्णन "जग्राह विरथं" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम् ।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥३१॥

श्लोकार्थ—सेना नष्ट हो जाने से जिसके केवल प्राण ही बचे हैं ऐसे महाबली रथहीन प्यादे बने हुए जरासंध को, जैसे सिंह अपने पराक्रम से दूसरे सिंह को पकडता है वैसे ही बलरामजी ने उसे हाथों से ही पकड़ लिया ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी—तस्य रथोऽपि छिन्नः । केवलं पदातिरवशिष्टः । यद्यपि शरीरेणापि महाबलः, तथापि तं जग्राह । विरथो हन्तव्यो न भवतीति बद्धा गृहे नेय इति बन्धनार्थं गृहीतवान् । यतोऽयं रामः सर्वेषां रमणार्थं प्रवृत्तः । सः हन्तुमप्यशक्य इति तस्य नामाह । महाबलमिति च दैवं मानुषं च बलं तस्य निरूपितम् । तर्हि दैवगत्या गृहीत इति चेत्, तत्राह ओजसेति । तर्हि पाशादिभिर्गृहीतो भविष्यतीति चेत्, तत्राह सिंहः सिंहमिवेति । हस्ताभ्यामेव निगृह्य स गृहीतः, न तु हलादिना आकृष्टः । तस्य मोचकाभावमाह । हतमनीकं यस्य, अवशिष्टा असवो यस्येति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—उस (जरासंध) का रथ भी टूट गया था अतः पैदल चल रहा था यद्यपि शरीर से महाबलवान् था, तो भी उसको बलरामजी ने पकड़ लिया पकड़ा क्यों ? मारा क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि युद्ध शास्त्र की रीति के अनुसार जिसका रथ नष्ट हो गया हो उसको मारना नहीं चाहिए इस लिए मारा नहीं और बान्ध कर घर ले आना था, इस लिए पकड़ा था क्योंकि वह राम होने से सर्व को रमण कराने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं, उसको मारना भी कठिन था, कारण कि वह महाबलवान था अर्थात् उस में दो बल थे (१) देव बल और दूसरा मानुष बल, तब तो बलरामजी ने भी उसे देव गति से पकड़ा होगा ? यदि यों कहो तो, उत्तर में कहते हैं, कि नहीं, उन्होंने अपने बल से ही पकड़ा है तो वरुणादि पाशों के द्वारा पकड़ा होगा ? इस के उत्तर में भी कहते हैं कि नहीं, जैसे सिंह सिंह को पकड़ता है वैसे हाथों से ही पकड़ लिया, हलादि से भी खीचकर नहीं पकड़ा, क्या उसको किसी ने छुड़ाया भी नहीं ? इसके उत्तर में कहते है कि उसको छुड़ाने वाला कोई बचा ही नहीं था सारी सेना नष्ट हो गई थी, केवल इसके ही प्राण बचे थे अर्थात् यह एक ही बचा था ॥३१॥

आभास—ग्रहणानन्तरं परोपकारार्थमागतो न बन्धनीय इति बध्यमानं भगवान् निवारयामासेति आह बध्यमानमिति ।

आभासार्थ – पकड़े जाने के अनन्तर भगवान् ने बान्धने वाले बलराम को कहा कि इस को मत बान्धो क्योंकि परोपकार के लिए आए हुए को बान्धना नहीं चाहिए इस का वर्णन "बध्यमानं" श्लोक में करते है ।

श्लोक—**बध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः ।**
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥ ३२ ।

श्लोकार्थ – शत्रुओं का नाश करने वाले जरासन्ध को वरुण और मनुष्यों के पाशों से जब बलरामजी बान्धने लगे तब श्रीकृष्ण भगवान् ने निषेध किया, कारण कि उसके द्वारा अन्य कार्य भी कराने को भगवान् की इच्छा थी ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी—महतो बन्धनमनुचितमिति तं विशिनष्टि हतारातिमिति । हता अरातयो येन । अनेन शत्रुभूयस्त्वात् तेषां च दुष्टत्वात् तत्सुख भविष्यतीत्यपि मोचने तदभावो हेतुरुक्तः । केवल-बन्धनानि तत्र न समर्थानीति पाशैर्बद्धः । ते आकृष्टाः निग्रहहेतवो भवन्ति । तत्रापि वारुणैर्मानुषैश्च । जरादीनां मोचनाभावाय वारुणाः पाशाः, मनुष्याणामर्थे मानुषाः । एतादृशमपि स्वाधीन जातं परमशत्रुं वारयामास, बन्धनं न कर्तव्यमिति । ननु कथमेव भूभारहर्ता तं मोचयतीति चेत्, तत्राह गोविन्द इति । सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वलीलां स्मृतवान् । अतस्तेनापि काचिल्लीला सेत्स्यतीति तं मोचितवान् । ननु कथमिति दुष्टो मुच्यते, तत्राह तेन कार्यचिकीर्षयेति । निरोधो हि कर्तव्यः, एतदभावे सर्वे भगवत्परा राजसाः सात्त्विकाश्च न भविष्यन्तीति तदर्थमयं रक्षितः । अक्लिष्टकर्मत्वाय च ॥ ३२ ।

व्याख्यार्थ—महान् पुरुष को बान्धना अयोग्य है उसको महता सिद्ध करने के लिए उसका बखान करते है, इसने बहुत शत्रुओं को मारा है इसके शत्रु बहुत हैं और वे दुष्ट है यदि इसको आप बान्धोगे तो वे दुष्ट सुखी होंगे, अतः दुष्ट प्रसन्न न हो इसलिए इसको छोड़ दो जिससे वे दुष्ट सुखी न होवें यह महाबली है इसको बान्धने के लिए केवल रज्जु आदि बन्धन समर्थ नही है किन्तु पाशों से बान्धना चाहिए, उनको आकर्षण करने से वे निग्रह के कारण बन जावेंगे वे पाश भी वारुण तथा मानुष्य होने चाहिए । जरादिकों के बन्धन मे पड़े रहने के लिए वारुण पास चाहिए और मनुष्यों के लिए मानुष्य पाश चाहिए ? ऐसे भी अपने हाथों मे आए हुए परम शत्रु को बन्धन से छुड़ाने के लिए बलरामजी को कहने लगे कि इसका बन्धन नही करना चाहिए । भूमि से भार उतारने वाले भगवान् यों उसको कैसे छुड़ाते है ? इसके समाधान के लिए कहते है कि वे "गोविन्द" है, अतः "सिंहावलो-

करने माया से आगे करने वाली लीला को याद करने लगे, जिससे यह विचार उत्पन्न हुआ, कि यह होगा तो आगे की लीला 'द्वारिका लीला' सिद्ध हो सकेगी, इसलिए उसको छुड़ाया, अरे यह दुष्ट है, ऐसे ही क्यों छुड़ाते है, वहां कहते है कि उसके द्वारा आगे भी कार्य करने की इच्छा है, और निरोध भी करना है इसके न होने से, सब सात्विक राजस भगवत्परायण न होगे इस कार्य को सिद्ध करने के लिए इसकी रक्षा की है और आप 'अक्लिष्टकर्मा" हैं, उसके सार्थक होने के लिए भी ॥ ३२ ॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह स मुक्त इति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह "स मुक्तो" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसंमतः ।
तपसे कृतसंकल्पो वारितः पथि राजभिः ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—बड़े ही शूरवीर जरासन्ध को जब त्रैलोक्यनाथों ने मुक्त किया तब वह लज्जा के कारण घर जाने का विचार छोड़ तपस्या का संकल्प कर, उसको करने के लिए जब जाने लगा, तब मार्ग में राजाओं ने उसे लौटाया । ३३ ।

सुबोधिनी—अन्ये यादवा पुनर्बन्धनं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह लोकनाथाभ्यामिति । त्रैलोक्यनाथाभ्यां मुक्तं को वा बद्धुं शक्तः । द्विवचनेन विभक्तसामर्थ्यं सर्वमेव मोचने नियुक्तमिति सूचितम् । ननु तादृशः त्यक्तोपि म्रियेतेति कथं कार्यसिद्धिरिति चेत् ? सत्यम् । व्रीडितः । अत्र हेतुः वीरसंमत इति । वीरेषु अयमतिवीर इति समतः । ततः मानुषपराक्रमस्य हृतत्वात् अलौकिकं पराक्रमं साधयितुं तपसे कृतसङ्कल्पो जातः । ततस्तपःकरणार्थं गच्छन् पथि राजभिर्वारितः, ये राजानो भारभूताः । अनेन भगवच्चरित्रमलौकिकमित्युक्तम् । येषामुपकारं करोति तैस्त्यक्तः, येषां त्वपकारं करिष्यति तैर्गृहीत इति ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—दूसरे यादव फिर बान्ध लेंगे ? इस शंका को मिटाने के लिए ही "लोकनाथाभ्यां" पद दिया अर्थात् जो कार्य त्रैलोक्यनाथों ने किया है उसको कौन अन्यथा कर सकता है ? तात्पर्य यह है कि जिसको इन्होंने छोड़ दिया उसको बन्धन में कोई नहीं डाल सकता है । द्विवचन से पृथक् करने अर्थात् मुक्त करने की सब सामर्थ्य मुक्त करने में लगा दी है यह सूचित किया है जिससे अन्य कोई भी बन्धन में नहीं डाल सकता है, यदि वैसा छोड़ा हुआ भी मर जावे तो, कार्य की सिद्धि कैसे होगी ? यदि यों कहो तो सत्य है, क्योंकि लज्जित हुए गए हैं, लज्जित क्यों हुआ ? इसलिए, कि वीरों में मान पाया हुआ है अर्थात् बड़ा शूरवीर है अतः हार जाने से लज्जित हुआ है । तो क्या

किया ? इस पर कहते हैं कि उसने सोचा कि मेरा मानुष पराक्रम नष्ट हो गया है, अब अलौकिक पराक्रम सिद्ध करना चाहिए, अतः उसकी सिद्धि के लिए संकल्प कर, तपस्या के लिए जाने लगा तो मार्ग में राजाओं ने समझा कर लौटाया। कौन से राजा थे ? तो कहते हैं जो दुष्ट राजा लोग भूमि पर भार रूप थे इससे जाना जा सकता है, कि भगवान् के चरित्र अलौकिक है, जिनका उपकार करता है उन्होंने तो छोड़ दिया, जिनको बुराई करेगा उन्होंने उसका स्वीकार किया ॥३३॥

आभा—**तेषां बोधेने करणान्याह वाक्यैरिति।**

आभासार्थ—उनको समझाने के साधन "वाक्यैः" श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि।**
स्वकर्मबन्धनः प्राप्तो यदुभिस्ते पराभवः ॥३४॥

श्लोकार्थ—मार्ग में जाते हुए राजाओं ने धर्म तथा नीति के वचनों से समझाया कि आपकी जो यादवों से हार हुई है वह केवल कर्म बन्धन से हुई है, इसमें लाज करने का कोई कारण नहीं है ॥३४॥

सुबोधिनी—त्रिविधा हि बोधकाः। तत्र सात्त्विकाना वचनं पवित्रार्थपदैरिति पवित्रार्थानि पदानि येषु वाक्येषु। वाक्यैरिति त्रिष्वपि सम्बध्यते। नयनैः प्राकृतैरपि। भगवानीश्वरः सर्वात्मा, तत्र पराजयो भाग्यमेवेति पवित्रार्थपदानि। नीतिवाक्यानि तु स्वदेशो न भवति, विचारश्च न कृतः। अकस्माद्युद्धे पलायनमुचितमेवेति राजसाः। अतो नीतिविरुद्धं न कर्तव्यमित्युपदेशपरैः। प्राकृतास्तु बहूनामेव महतामपि पराजयो जायत इति प्राकृतवचनैः बोधमुक्तवन्तः। एते त्रिविधा अपि दृष्टन्यायेनैवोक्तवन्तो, नादृष्टन्यायेन। अन्ये पुनरन्तरङ्गाः अदृष्टप्रकारेण बोधयामासुरित्याह स्वकर्मबन्धन इति। त्वया हि बहवो जिताः, तत्कर्मफलं च भोक्तव्यम्, अन्यथा प्रकारान्तरेण दुष्टैः सह पराजयो भवेत्, यतः स्वकर्मणा बन्धनं यस्य तादृशः पराभवः। अपिशब्दात् सर्वे चतुर्धा व्यस्तैः समस्तैश्च बोधयामासुरित्यर्थः। यदुभिः सह पराभव इति। युक्तमेवैतत्। यतो ज्येष्ठो यदुरित्यपि ज्ञापितम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान देने वाले तीन प्रकार के है उनमें पहले सात्विकों के वचन ये हैं "पवित्रार्थ पदैः" पवित्र अर्थ वाले पद जिनमें हो ऐसे वाक्यों से समझाने लगे सात्विकों ने वाक्यों में कहा कि राम कृष्ण मनुष्य नहीं है किन्तु ईश्वर तथा सर्वात्मा है, उन से पराजय होना कोई आश्चर्य नही है, समझलो कि भाग्य में यों ही होना था।

जब दूसरे राजस "नयते: वाक्ये:" से नीतिवाक्यों से समझाने लगे जहाँ लड़ाई की, वह अपना देश नहीं था और पूर्ण विचार भी नही, अचानक युद्ध कर लिया, अतः ऐसे युद्ध में पलायन करना उचित नहीं है इसमें लज्जा किस कारण की है लज्जा करनी नहीं चाहिए अत. कोई कार्य नीति विरुद्ध नहीं करना चाहिए ।

प्राकृत समझाने लगे कि पराजय में क्या है ? बड़े-बड़े राजा लोगों की तथा महान् शूरवीरों की भी पराजय हो ही जाती है इसमें लाज करनी वृथा है. इन तीन प्रकार वालों ने जो कुछ कहा वह दृष्ट न्याय से ही अर्थात् देख कर जो अनुभव किया तदनुसार ही उपदेश दिया है ।

दूसरे जो अन्तरंग है वे अदृष्ट न्याय से समझाने लगे "स्वकर्म बन्धन." यह सर्व अपने कर्म का ही फल है आपने भी बहुत राजाओं को जीता है उसका फल भोगना ही चाहिए अन्यथा दूसरे प्रकार से दुष्टों के साथ पराजय तो होवे हो, क्योंकि अपने कर्म का फल ही पराभव मिला है श्लोक में "अपि" शब्द कहा है जिसका भावार्थ है कि सबने पृथक् एवं मिलकर चार प्रकार से जरासन्ध राजा को समझाया कि यादवों से पराजय होना योग्य हो है कारण कि यदुराजा बड़ा है बड़े के वश से पराजय होनी ही चाहिए और उसमें लाज नहीं करनी चाहिए ।।३४।।

श्लोक—हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा ।
　　　उपेक्षितो भगवता मागधान्दुर्मना ययौ ।।३५।।

श्लोकार्थ—सब सेना के मरने के अनन्तर जब भगवान् ने उपेक्षा कर दी तब जरासन्ध उदास हो मगध देश गया ।।३५।।

सुबोधिनी—ततो यज्जातं तदाह । हतेषु सर्वानीकेष्वपि, तथापि सर्वः पुरस्कृत इति राजचिह्नानि प्राप्य स्वदेशान् गतः जरासन्धः । यतो नृपः दैवामानुषसहायः सूचित. । तदा बोधनानन्तरं दृष्टसामग्र्यां च सत्यां पश्चाद्गत इत्याह तदेति ।

व्याख्यार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह कहते है सर्व सेना के मर जाने पर भी सब राजाओं ने उसका आदर किया जिससे राज चिन्ह धारण कर अपने देश को जरासन्ध गया क्योंकि राजा था इससे देव और मनुष्यों ने सहायता की यह सूचित होता है । राजाओं द्वारा समझाने से देखा कि अब भी लड़ने के लिए सामग्री है यों समझने के बाद देश को गया ।

कारिका—निकटे सम्भृतिं कृत्वा प्रगल्भवचनैः सह ।
　　　गच्छन् पुनर्भगवता निगृहीतो भविष्यति ।।

कारिकार्थ—थोड़े ही समय में सेना का भरण पोषण कर सेना तैयार करली सेना को लेकर गर्व के वचन कहते हुए तथा युद्ध के लिए मथुरापुरी जाते हुए फिर भगवान् पकड़ लेंगे।

सुबोधिनी—इत्याहशङ्कयाह उपेक्षितोभगवतेति। भगवतः स्थाने यद्यप्युक्तम्, यद्यपि भगवत्त्वाच्च जानाति, तथापि तानि वाक्यान्यनादृत्योपेक्षामेव कृतवान्। भगवत्त्वादग्रिनकार्यमेव विचारयति, न तु नोतिविरोधम्। उपेक्षया सुतरां दुर्मना जातः। तत्त्वे अवगतेऽपि मागधत्वान्न शरणमागतः। नापि तूष्णों स्थास्यति। मागधत्वादेव मागधान् ययौ ॥३५॥

व्याख्यार्थ—जरासन्ध ने यद्यपि अभिमान के ऐसे शब्द भगवान् की सीमा में ही कहे, भगवान् होने से वे यों ही समझते हैं, तो भी भगवान् ने उन वचनों का आदर न कर उसकी उपेक्षा की, कारण कि भगवान् होने से आगे हमें क्या करना है उसका ही विचार करते हैं। अतः उपेक्षा को, यों करना नीति के विरुद्ध भी नहीं है, भगवान् ने उपेक्षा की, अतः अतिशय उदास होने लगा, यद्यपि इसका आशय समझा, तो भी शरण न आया, कारण कि मगध देश में उत्पन्न होने से उसकी वैसी नीच बुद्धि हो गई थी और नीच बुद्धि वाला होने से चुप करके भी न बैठेगा मागध होने से मागध देश को ही गया ॥३५॥

आभास—तस्य स्वगृहप्राप्तिमुक्त्वा भगवतोऽपि परमवैभवेन मथुराप्रवेशमाह मुकुन्दोऽपीति पञ्चभिः।

आभासार्थ—उसका अपने घर जाने का वर्णन कर भगवान् ने भी परम वैभव से मथुरा में प्रवेश किया, जिसका वर्णन पाँच श्लोकों में कहते हैं।

श्लोक—**मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।**
विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः ॥३६॥

श्लोकार्थ—मुक्ति देने वाले भगवान् ने भी शत्रुओं की सेना रूप बड़े समूह को पार कर अपनी अक्षत सेना को साथ में लेकर, देवताओं ने फूलों की वर्षा की थी जिससे मार्ग फूलों से छाया हुआ था तथा देवता अनुमोदन कर रहे थे उस समय, मथुरा में प्रवेश किया ॥३६॥

सुबोधिनी—न क्षत वल यस्य । एकोपि न हतः । यद्यपि मोक्षदाता तानपि मारयित्वा मुक्ति दद्यात्, जरासन्धं वा मोचयेत् । न हि भगवान् जयहेतुः, किन्तु मोक्षहेतुः । लीनाः केचन पुनरायास्यन्तीति शङ्काभावार्थमाह । निस्तीर्णः नितरामुत्तीर्णः अखिलरूप एवार्णवो येन । अर्णवो हि नान्यत्र समायाति । महत्त्वेन पौरुषं पुनरागमनाभावश्च निरूपितः । ततः कुसुमैः विकीर्यमाणः, त्रिदशैरनुमोदितो जातः । अन्यथा अनन्तवधे तदधिष्ठातृदेवानां दुःखं भवेदित्याशङ्क्येत । देवार्थमेतत्कृतमित्यपि सूचितम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—जिनकी सेना का एक भी सैनिक घायल न हुआ था वैसे मुक्ति दाता भगवान् उनको भी मारकर मुक्ति दे, वा जरासन्ध को छुड़ा दे, भगवान् की जय के कारण नहीं है, किन्तु मोक्ष के कारण हैं, कितनेक सैनिक छिप गए होंगे, वे फिर लड़ने आ गए ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते है, कि शत्रु सेना रूप समुद्र को अतिशय पार कर लिया है, अर्थात् कोई सैनिक छिपा नही है क्योंकि समुद्र दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता है अतिशय पार करने का कहने से भगवान् का महत्व तथा पौरुष भी दिखा दिया, जिससे यह भी निरूपण कर दिया कि अब जो सेना आई इनमें से कोई शेष बचा नहीं, जो फिर आ सके । पश्चात् जिस मार्ग पर पुष्प बिखरे हुए, उस मार्ग से पधारते हुए देवों से भी अनुमोदित हुए । यदि देवता अनुमोदन नहीं करते, तो यह शंका उत्पन्न होती कि अनन्त वध के कारण उनके अधिष्ठाता देवों को दुःख हुआ है, जिससे उन्होंने अनुमोदन नहीं किया है, किन्तु अनुमोदन से यह शंका भी मिट गई इससे यह भी सूचित किया, कि यह कार्य देवों के लिए ही किया गया है ॥३६॥

आभास—ततो मानुषैरप्यनुमोदित इत्याह माथुरैरिति ।

आभासार्थ—पश्चात् मनुष्यों ने भी अनुमोदन किया जिसका वर्णन "माथुरं" इन दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—माथुरैरुपसंगम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः ।
उपगीयमानविजयः सूतमागधबन्दिभिः ॥३७॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः ।
वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥३८॥

श्लोकार्थ—सन्ताप रहित होने से, आनन्दित अन्तःकरण वाले मथुरा निवासी सूत मगध और बन्दीजनों के साथ मिल कर आपकी विजय गान गाने लगे । उस

समय शंख और नौबत बजने लगी तथा वीणा, वेणु और मृदंग बजाए जाने लगे जिस समय भगवान् ने नगर में प्रवेश किया ॥३७, ३८॥

सुबोधिनी—दुर्गमुद्घट्य सर्वे समागताः । यतो विज्वराः मरणशङ्कारहिताः । ज्वरो हि समागत एव मरणशङ्कामुत्पादयति । तेषां स एव ज्वरः प्राप्त इति । कालदेहादिधर्मास्तु पूर्वमेव निवारिताः । किञ्च, बहिर्बुद्धयापि मुदितात्मनो जाताः । ततः सूतमागधबन्दिभिः उपगीयमानविजयो जातः । शङ्खदुन्दुभयश्च नेदुः । ततः शनैः गमनसूचनाय । वीणावेणुमृदङ्गान्यपि वादितानि । यतः प्रभुः पुरं प्रविशतीति । लौकिकमेतदिति सूचितम् ॥३७-३८॥

व्याख्यार्थ—किले का फाटक खोल कर सब आए क्योंकि मरने की जो मनमें शंका थी वह मिट गई, जिस शंका से ही ज्वर आ गया था, शंका मिटते ही ज्वर भी उतर गया उनके काल और देह आदि के धर्म का तो पहले ही निवारण कर दिया था अतः शंका के मिटने से बुद्धि खिल गई, जिससे बाहर प्रसन्न अन्तःकरण देखने में आने लगे पश्चात् सूत मागध और बन्दीजनों ने भगवान् की विजय का गान गाया शङ्ख तथा नौबत बजने लगी अनन्तर प्रभु धीरे-धीरे पधार रहे हैं, इसकी सूचना देने के लिए वीणा, वेणु और मृदङ्ग भी बजाने लगे क्योंकि प्रभु पुर में प्रवेश करते हैं यह लौकिक है यों सूचन किया ॥३७, ३८॥

आभास—अन्तः पुरं वर्णयति **सिक्तमार्गामितिद्वाभ्याम् ।**

आभासार्थ—मथुरा पुरी के भीतरी भाग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलंकृताम् ।
निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥३९॥
निचीयमानो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः ।
निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥४०॥

श्लोकार्थ—नगर के सर्व मार्ग सुगंधि पदार्थों से युक्त जल से सींचे हुए हैं, सर्व जनता हर्ष में मगन हो रही है, नगर पताकाओं से सुशोभित है, वेद के मन्त्रों की ध्वनी जोर से हो रही है अद्भुत प्रकार के तोरण बन्धे हुए हैं, ऐसी पुरी में प्रवेश करते समय, नारियों ने दही, अक्षत, पुष्प और अंकुर भगवान् के ऊपर बरसाए तथा प्रीति से प्रफुल्लित नेत्रों द्वारा स्नेह सहित उनका दर्शन किया ॥३९,४०॥

सुबोधिनी–सिक्ताः सर्वे मार्गा यस्याम्, गन्धोदकैः सेकः। हृष्टा जना यस्याम् । पताकाभिः जयलेखाङ्किताभिरलङ्कृतामिति । अधो मध्ये उपरि च शोभा निरूपिता। नितरां घुष्टा ब्रह्मघोषेण वेदपाठेनेति। प्रत्यागाशिषो मन्त्राः प्रवेशे पठनीया इति पुरप्रवेशे तदर्थमेव ब्राह्मणैः ब्रह्मघोषः पठितः। वैश्यानां विशेषचेष्टामाह। कौतुकैरावद्धानि तोरणानि यस्यामिति। सर्वाभिरेव नारीभिः माल्यादिभिः विकीर्यमाणो जातः। दध्यक्षताः विकीर्णाः, यवाङ्कुराश्च। एवं तासां क्रिया भगवति निरूपिता त्रिविधा । ज्ञानमपि तथा निरूपयति निरीक्ष्यमाण इति। स्नेहो बन्धुभावेन। प्रीतिः पुरुषभावेन। उत्कण्ठा कामभावेनेति। एवं त्रिस्वभावैर्लोचनैर्निरीक्ष्यमाणो जातः। स्नेहः पृथक् कृतो लौकिकदोषाभावाय ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—जिस पुरी के सर्व मार्ग सुगन्धित जल से सिञ्चित हैं, समस्त जन हर्षित हैं जय जय शब्दों से अंकित पताकाओं से अलंकृत पुरी है, इससे यह बताया है, कि नीचे का, मध्य का और ऊपर का तीनों भाग उसके शोभायुक्त हैं। प्रवेश के समय आशीर्वाद के मंत्र पढने चाहिए, अतः ब्राह्मण वेद के मंत्रों का घोष कर रहे थे।

व्यापारियों ने जो विशेष नगर को सजाया था उसका वर्णन करते हैं, उन्होंने आश्चर्य मे डालने वाले अजीब तोरण लगाए थे। नगर की नारियों ने भी भगवान् का दधि, अक्षत, पुष्प अंकुरों से सत्कार किया अर्थात् पुष्प आदि सौमंगल्य सूचक पदार्थों की भगवान् के ऊपर वृष्टि की। यों क्रिया करने से उन्होंने भगवान् का तीन प्रकार से सत्कार किया, उसी प्रकार ज्ञान का भी निरूपण करते हैं, तीन प्रकार के अपने भाव वाले नेत्रों से भगवान् के दर्शन किए (१) बन्धुभाव से दर्शन कर स्नेह प्रदर्शित किया, (२) पुरुष भाव से दर्शन कर प्रीति प्रकट की और (३) कामना भाव से दर्शन कर उत्कण्ठा दिखाई है, स्नेह प्रथक् कह कर लौकिक दोष उस में नहीं है यह सिद्ध कर दिखाया है ॥ ३९, ४० ॥

आभास—ततः प्राप्तधनस्य राजन्येव विनियोगं वदन् स्वस्य तदाज्ञया युद्धादिकरणं सूचयति, तद्दुःखाभावाय, आयोधनगतमिति।

आभासार्थ—लड़ाई से प्राप्त धन को राजा में ही विनियोग करते हुए उसकी आज्ञा से युद्धादि करना सूचित करते हैं उसके दुःख के अभाव को मिटाने के लिए जिसका वर्णन "आयोधनगतं" श्लोक में करते हैं।

श्लोक—आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् ।
यदुराजाय तत्सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—लड़ाई के मैदान में जो वीरों के आभूषण रूप अनन्त धन पड़ा था, वह सब लाकर भगवान् ने यदुराज के आगे धरा, क्योंकि प्रभु हैं ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी—आयोधनं युद्धभूमिः, तत्र योधैरानीतं द्रव्यमाभरणादिप्रकारेण। अनन्तं बह्वेव। बहव एव हता इति। अनन्तत्वे हेतुमाह वीरभूषणमिति। यावदाहृतं तत्सर्वं यदुराजाय प्रादिशत् प्रकर्षेण बोधितवान्। रक्षास्थापनादिकं तु स्वकृत्यमेवेति निवेदनमात्रं राज्ञे निरूपितम्। प्रभुत्वात् न सह गतानां यथेष्टं द्रव्यविनियोगः ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—संस्कृत में युद्धभूमि को आयोधन कहा गया है, वहाँ योद्धाओं से जो आभरणादि कार से धन लाया गया वह असीम था, कारण कि सैनिक बहुत थे, उनके मरने से उनके आभूषण रणभूमि में पड़े थे जिससे वे आभूषण भी बहुत थे, वहाँ जो भी पड़े हुए थे वे सब लाए गए थे, वे सब यदुराज को भेट किए। रक्षा आदि करने का कार्य तो आप ही करते थे, इसलिए निवेदन मात्र ही राजा को किया, यों निरूपण किया, प्रभु होने से साथ में युद्ध के लिए जो चले थे उनको अपनी इच्छा से द्रव्य का विनियोग नहीं किया ॥ ४१ ॥

आभास—एवमेकप्रकारेण भगवतो जयं निरूप्य जयान्तरेष्वपीमं प्रकारमतिदिशति एवं सप्तदशकृत्व इति।

आभासार्थ—यों एक प्रकार भगवान् की जयका वर्णन कर अन्य जयों मे भी यही प्रकार दिखाते हैं, वैसे १७ बार युद्ध हुआ यह "एवं सप्तदश" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः।**
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥ ४२ ॥
अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा।

श्लोकार्थ—मगध के राजा ने इसी प्रकार उतनी ही अक्षौहिणी सेना सत्रह बार ला कर कृष्ण से पालित यादवों से युद्ध किया, यादवों ने श्रीकृष्ण के तेज से सारी सेना को मार डाला ॥ ४२½ ॥

सुबोधिनी—अनेनापि सह सप्तदश। एकः सप्तदशधा आवृत्त इति सर्वसाम्यत्वाय कृत्वसुच्प्रत्ययः। देशदोषात् न विवेक उत्पद्यते इति मागध इत्युक्तम्। सम्पत्तिस्तु राजत्वात्। अन्यत्रापि भगवान् न स्वयं युयुधे। तथा सति लोकप्रतीत्या सर्वदा क्लेश एव भवेत्, किन्तु कृष्णरक्षितैर्यदुभिः सह युयुधे। अत एव च तद्बलमक्षिण्वन्। न केवलं रक्षार्थमेव भगवद्विनियोगः, किन्तु निराकरणार्थमपीत्याह कृष्णतेजसेति।

व्याख्यार्थ—इसके साथ भी सत्रह वार लड़े एक युद्ध को सत्रह वार आवृत्ति हुई, सब समर एक सरीखे हो थे, यह जताने के लिए "कृत्व" पद पर सुच् प्रत्यय दिया है, दूसरी लड़ाईओं में भी भगवान् स्वयं नहीं लड़े हैं, यों होवे तो, लोक प्रतीति से सर्वदा क्लेश ही होवे, इस प्रकार का क्लेश न हो तदर्थ ही कृष्ण से रक्षित यादवों के साथ ही लड़ाई की है, इस कारण से ही जरासन्ध की सेना मारी गई, यह कार्य कृष्ण के तेज द्वारा ही हुआ, श्रीकृष्ण का तेज यादवों में केवल रक्षा के लिए नहीं प्रकटा है, किन्तु शत्रु बल के निराकरण के लिए भी उत्पन्न हुआ है ॥ ४२½ ॥

आभास—पुनः पुनः तस्यापि गमनं वाक्यैरधिकैरावेशेन चेति वक्तुमाह हतेष्विति ।

आभासार्थ—जरासन्ध फिर फिर आते तो पृथक् प्रकार से ही आते थे जैसे कि कभी विशेष बड़बड़ाता था कभी बहुत आवेश से आता था, यह वर्णन करने के लिए "हतेषु" श्लोक कहते हैं--

श्लोक—हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तऽयादरिभिर्नृपः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ—जब अपनी सेना मर गई तब जरासंध शत्रुओं से त्यागा हुआ चला गया ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—यतो नृपः । राज्ये हृते हि स निवृत्तो भवेत् । तद्भगवान् न करोतीति स निवर्तत इत्यर्थः ।

व्याख्यार्थ—राज्य जीता जाए तो राजा भी जीता गया यों माना जाता है । उसको वन्दी बनाया जाता है, भगवान् यों नही करते हैं इसलिए वह लौट जाता है, क्योंकि नृप है मनुष्यों का पालन करता है ॥ ४३ ॥

आभास—ब्रह्माण्डे हि प्रजापतिरध्यक्षः, स कालात्मा यज्ञात्मा च, स सप्तदशो भवति, स पराजित एव । अतः परं प्रमाणरूपाः ब्राह्मणा अवशिष्यन्ते । शिवश्च वेद-रूपः । उभयबलमाश्रित्य अष्टादशे पर्याये समागमिष्यतीत्याह अष्टादशम इति ।

आभासार्थ—ब्रह्माण्ड का अध्यक्ष प्रजापति है, वह काल रूप तथा यज्ञरूप है, वह सत्रह प्रकार का होता है, उसका पराजय हो ही गया, इसके बाद प्रमाणरूप ब्राह्मण

बचते हैं शिव वेद रूप है, इन दोनों के बल का आश्रय ले कर अठारवीं बार आएगा, जिसका वर्णन "अष्टादशम" श्लोक में करते हैं-

श्लोक — **अष्टादशमसंग्राम आगामिनि तदन्तरा ।**
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥
रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ।
त्रैलोक्ये चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वात्मसंमितान् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ—अठारवीं बार भी जरासन्ध आने वाला था, उसके 'बीचमें" पहले ही नारदजी का भेजा हुआ वीर यवन देखने में आया, उसने तीन करोड़ म्लेच्छों के साथ आकर मथुरापुरी को घेर लिया, तीन लोक में इसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था अर्थात् इसके साथ लड़ने वाला नहीं था. इसने सुना था कि मेरे जैसे शूरवीर तो यादव ही हैं अतः उनसे लड़ने के लिए घेरा डाला ॥ ४४, ४५ ॥

सुबोधिनी—एवं पुराणान्तरे कथा । बहुधा सर्वैः संप्रार्थितोऽपि सप्तदशे पर्याये पराजितः पत-स्तपसु गतः । तत्र समाराधितः शिवः । पश्चात् प्रसन्नेन शिवेन ब्राह्मणसमाराधनार्थं निरूपितः । ब्रह्मण्यः कृष्णो न ब्राह्मणवाक्यमन्यथा करिष्य-तीति । ततः स्वनगरीं समागत्य ब्राह्मणानाहूय सिंहासने उपवेशितवान् । ततः प्रीतैर्ब्राह्मणैः पुन-स्तस्मै सिंहासनं दत्वा वरोपि दत्तः, 'शत्रु जेष्य-सी'ति । 'अजेयश्च त्रैलोक्यस्य भविष्यसो'ति । एतत् ज्ञात्वा नारदः मध्ये कालयवनं च प्रेषित-वान् । सोऽपि सर्वयादवनिराकरणार्थं प्रतिज्ञां चक्रे । स चेत्पश्चादागच्छेत्, द्वारकां गच्छेदिति । तस्य तत्र निराकरणं मर्यादापालकेनाशक्यमिति उभयमेकहेलया निर्वहत्विति मध्ये देवगुह्यकर्ता नारदो यवनं प्रेषितवान् । स हि वृद्धगर्गस्य पुत्रः । महायवनो ह्यप्रज आसीत् । तेन पुत्रार्थं प्रार्थितो वृद्धगर्गः तद्भार्यायां पुत्रमधात् । 'अजेयश्च तव पुत्रो भविष्यती'त्याह । ततः कालान्तरे यदुस-भायां स एव वृद्धगर्गो यदुभिरुपहसितः स्वपुत्रं प्रार्थितवान् 'यादवा मारणीया' इति । एवं वैरे सिद्धे नारदेन तेषु प्रविष्ट एवं सन्धिकालोऽयम्, शीघ्रं गम्यतामिति तं प्रेषितवान् । तदाह । आगामिनि अष्टादशमे सङ्ग्रामे तदन्तरा नारदेन प्रेषितो यवनः वीरत्वाद्युद्धरसाभिनिविष्टः प्रत्य-दृश्यत प्रतिकूलतया समागतो दृष्टः । तस्य प्रति-कूलतामाह रुरोधेति । स्वयं समागत्य म्लेच्छको-टिभिः मथुरां रुरोध । तत्र कारणमाह त्रैलोक्ये अप्रतिद्वन्द्वः । चकारादनुभावेनापि । वृष्णींश्च आत्मसम्मितान् तुल्यान् श्रुत्वा नारदात् तदसह-मानो रुरोधेति सम्बन्धः ॥ ४४, ४५ ॥

व्याख्यार्थ—अन्य किसी पुराण में कथा है, कि अठारवीं वार हार जाने के बाद जरासन्ध को वहुतों ने प्रार्थना की, कि फिर राजधानी में चल कर राज्य करो और फिर तैयारी करो, किन्तु वह प्रार्थना स्वीकार न कर तपस्या करने चला गया, वहाँ शिवजी की अच्छी तरह आराधना की,

जिससे शंकर भगवान् प्रसन्न हुए, प्रसन्न हो के जरासन्ध को कहने लगे कि ब्राह्मणों की सेवा करो, ब्राह्मण प्रसन्न हो कर जो कुछ तुझे वरदान देंगे उसको कृष्ण अन्यथा नहीं करेंगे क्योंकि वह ब्रह्मण्य हैं, ये श्री शंकर भगवान् के वचन शिरोधार्य कर अपनी नगरी में आ के जरासन्ध ने ब्राह्मणों को बुलाया और उनको सिंहासन पर बैठाया, जिससे ब्राह्मणों ने प्रसन्न हो कर राज्य लौटा कर इन को दिया और वर भी दिया, "शत्रु को तूं जीतेगा" तथा 'तीन लोक में तू अजय होगा इस प्रकार जब वर प्राप्त किया, तब इसकी खबर नारदजी को पड़ गई, जिससे नारदजी ने उसके आने से पहले ही, कालयवन को मथुरा को विजय करने के लिए भेज दिया, क्योंकि उसने भी यादवों को नाश करने की प्रतिज्ञा की थी, यदि अब वह न आवे तो उसको यादव नाशार्थ द्वारका जाना पड़ेगा, वहाँ इसका निराकरण हो नहीं सकेगा, क्योंकि वहां कृष्ण मर्यादा पालक रूप में विराजेंगे, अतः अब यहाँ दोनों का एक ही से कार्य पूर्ण करें, इस विचार से देवताओं के गुप्त कार्य को सिद्ध करने वाले नारदजी ने यवन को बीच में ही भेज दिया। क्योंकि वह यवन वृद्धगर्ग का पुत्र है, महायवन का पुत्र नहीं था, उसने पुत्र प्राप्ति के लिए वृद्धगर्ग को प्रार्थना की उसकी स्त्री में पुत्र को धारण कराया, और यह वरदान दिया कि यह पुत्र किसी से भी जीता नहीं जाएगा. किसी समय यादवों की सभा में उस वृद्धगर्ग का यादवों ने उपहास किया. जिससे वृद्धगर्ग ने अपने पुत्र कालयवन को प्रार्थना की, कि "यादव मारने योग्य हैं" अर्थात् यादवों का तूं नाश कर इस प्रकार कालयवन की यादवों से शत्रुता हुई, नारदजी उसमें प्रविष्ट हो कर अर्थात् उनके पास जाकर यह बीच का समय है अतः आपको उनकी पराजय करने का अच्छा अवसर है शीघ्र जाओ, यों कहकर उसको रवाना किया। अठारवीं बार होने वाली लड़ाई के बीच में, ही नारदजी से भेजा हुआ यवन शूरवीर होने से, युद्ध के रसपान करने की इच्छा वाला था देखा गया कि वह प्रतिकूल हो कर लड़ने के लिए आया है वह प्रतिकूल है यह कैसे जाना, तो कहते है स्वयं आकर करोड़ों म्लेच्छों से मथुरा को घेर लिया, कारण कि तीन लोक में उसके समान कोई योद्धा नहीं है जो उससे लड़ सके "च" शब्द से बताया है, कि प्रभाव से भी वह बड़ा वीर देखने में आता था, और नारदजी से सुना था कि यादव आप जैसे शूरवीर हैं इस बात को सहन न कर सके, इस लिए भी अपना शौर्य प्रकट दिखाने के लिए मथुरापुरी को घेर लिया ॥ ४४. ४५ ॥

आभास—तदा भगवान् तत्स्थानपरित्यागार्थं निरोधं चिन्तयामासेत्याह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—तब भगवान् उस स्थान का परित्याग ही हेतु, जिसका वैसे निरोध का, चिन्तन करने लगे जिसका वर्णन "तं दृष्ट्वा" आगे श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तं दृष्ट्वाचिन्तयत्कृष्णः संकर्षणसहायवान् ।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण उसको देखकर सहायता करने वाले संकर्षण से मिल विचार करने लगे ॥ ४५॥ ॥

सुबोधिनी—इदं तु प्रकटचिन्तनम्। अतो गूढाभिप्रायेणैव चिन्तयति। अभिप्रायस्तु स्थानात् परित्याजनीयाः ये निरोद्धव्याः यथा बृहद्वनात् निष्कासिताः, तथा मथुरातोऽपि निष्कासनीयाः। यदि देशान्तरं न गच्छेयुः, तदा निरुद्धा एव न भवेयुः, लोके तथा दर्शनात्। अतो भगवानेतानन्यत्र नेतुं विचारयति। तत्संमतिव्यतिरेकेण नयने मन्त्रभेदः स्यादिति मर्मज्ञान बलभद्रेण सह मन्त्रयामास। यतोऽयं कृष्णः, निरोधार्थमेव प्रवृत्तः। अन्यथा सदानन्दः तेषां न भवेत्, बहिश्चित्तत्वादिति। संकर्षण एव सहायो यस्येति। अतस्तेन सह चिन्तनम्।

व्याख्यार्थ—यह विचार तो प्रकट रीति से करते हैं इस कारण से गूढ अभिप्राय से ही विचार करते हैं, वह अभिप्राय है मथुरापुरी से इनको निकालना है कारण, इनका निरोध करना है जैसे निरोधार्थ वृहद्वन से निकालना वैसे इनको यहाँ से निकालना चाहिए, जो दूसरे देश नहीं जायेंगे तो इनका निरोध सिद्ध न होगा, लोक में यों ही देखा जाता है, अतः भगवान् इनको दूसरे स्थान पर ले जाना चाहते हैं, इसलिए विचार करते हैं मर्म को जानने वाले वलभद्रजी से सलाह करने लगे, क्योंकि इनके साथ विचार करन के सिवाय, ले जाने का पता सब को लग जायगा, जो हितकारक नहीं है। ऐसा क्यों करते हैं ? इस के उत्तर में कहते हैं, यह कृष्ण निरोध करने के लिए ही प्रकटे हैं, निरोध न होगा तो, यह उनका सदानन्द नहीं रहेगा, अर्थात् निरोध के सिवाय भक्त सदैव आनन्द में मग्न नहीं रहेंगे, क्योंकि उनका चित्त बाहिर इधर उधर फिरता रहेगा, संकर्षण से परामर्श क्यों किया ? दूसरे किसी से क्यों नहीं किया, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि वह संकर्षण ही आपके सहायक हैं दूसरा कोई नहीं, अतः उसके साथ ही विचार किया ॥ ४५॥ ॥

आभास चिन्तनवाक्यान्याह अहो इत्यादिसार्धैः त्रिभिः।

आभासार्थ—"अहोयदूनां" श्लोक से ३॥ श्लोकों से परामर्श के वचन कहते हैं।

श्लोक—अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महान् ॥४६॥
यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः।
मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वागमिष्यति ॥४७॥
आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः।
बन्धून्हनिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली ॥४८॥
तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम्।
तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे ॥४९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण विचार कर संकर्षणजी को कहने लगे, आश्चर्य है कि यादवों को यह दुःख दोनों तरफ से अचानक कैसे प्राप्त हुआ ? आज तो महाबली यवन ने हमको घेर लिया है और जरासन्ध भी आज, कल या परसों आ जायगा उस समय हम यवन से लड़ते रहेंगे, उसको छोड़ कर जरासन्ध से लड़ना भी नहीं हो सकेगा, अतः वैसी दशा में आया हुआ वह चतुर मागध हमारे वसुदेवादि को मारेगा, अथवा उनको बान्ध कर अपने देश को ले जायगा तो उनको छुड़ाने के लिए फिर बहुत परिश्रम करना पड़ेगा इस कारण से, आज ही ऐसा दुर्ग बनाया जाए जिसमें मनुष्य जा नहीं सके अपने यादवों को लेकर ऐसे किले में आज ही पहुँचा कर आज ही यवन को मारेंगे ॥४६--४६॥

सुबोधिनी—अहो इत्याश्चर्ये । कथमयमकस्मादागत इति, कथं वा सन्धिकालं ज्ञातवानिति । यदूनां वृजिनं दुःखमुभयतोऽपि प्राप्तमिति प्रतिज्ञा । तां निरूपयति । महान् यवनोऽयमद्य निरुन्ध इति । अस्मानिति तैः सहाभेदः कार्यार्थं निरूपितः । स्वरूपतोऽपि महान् महाबलश्च । अत्र महाबल इति उभयोर्ब्राह्मणवाक्यं बलमिति सूचितम् । यावज्जरासन्धो नायाति, तावदनेनैव निरुद्धा इति । तर्हि जरासन्धस्थाने अयमेव जातः, को विशेष इति चेत्, तत्राह मागध इति । मागधोऽप्यद्य वा- यास्यति । तर्हि तद्बुद्धिः प्रेरणीया, यथाद्य नायास्यतीति चेत्, तत्राह श्वो वा समागमिष्यतीति । तर्ह्यन्तर्यामी वक्तव्यः, श्वोऽपि नानेतव्यः, तत्राह परश्व इति । तर्हि कालो वक्तव्य इत्याशङ्क्य त्र्यधिकपर्याये कोऽपि वक्तुं न युक्त इति वाशब्दं प्रयुक्तवान् । किमद्य श्वो वञ्चनेन आगमिष्यतीत्यत्र तु न सन्देहः । अत उपाय एव कर्तव्य इत्यर्थः । तर्हि उभावपि मारणीयाविति चेत्, तत्राह आवयोर्युध्यतोरिति । उभावजेयौ, अतः प्रधानपरिहारेण केवलबलहनने विलम्बो भवतीति यवनेन सह आवयोर्युध्यतोः सतोः, प्रक्रान्तस्य त्यागायोगात्. यदि मध्ये जरासन्धः चतुरः समागच्छेत, तदा अस्मानन्यत्रासक्तान् विहाय बन्धून् वसुदेवादीन् हनिष्यति । स्वपुरं वा बद्ध्वा नेष्यति । पश्चान्मोचनार्थं बहु कर्तव्यं पतेत । मारयितुमशक्य एवेत्याह बलीति । एवं सति यत्कर्तव्यं तदाह तस्मादिति । द्विपदानां मनुष्यमात्रस्य दुर्गमं दुर्गं विधास्याम इति । नन्वेतावदलौकिकं यः करोति स तानेव कथमन्यथा न करोति, किमिति स्थानं त्याजयतीति चेन्न ? नैवम् । द्वारकादिनिर्माणे न काचिन्मर्यादा बाध्यते अन्यत्र तु ब्राह्मणवाक्यानि बाध्यन्ते । एतदर्थमेव द्वारिकानिर्माणमिति न तत्र ब्राह्मणवाक्यं प्रभविष्यति । सर्वत्राधिकप्रयत्नः साधारण्यं निराकरोतीति । अत एव पूर्वं बलीति पदम् अत्र च द्विपदमिति । अतो ब्राह्मणा अपि द्विपदा एवेति तेषामपि स दुर्ग एव । पश्चान्निर्भये स्थाने ज्ञातीन् वसुदेवादीन् समाधाय यवनं घातयामहे, तदा विलम्बो न बाधक इति । अन्यथा भगवत्यन्यत्र गते मुचुकुन्दगुहायाम्, वसुदेवादयो भीताः खेदं प्राप्नुयुः ॥४९॥

व्याख्यार्थ—आश्चर्य है कैसे यह अचानक आ गया और इसको इस संधिकाल * का ज्ञान कैसे हुआ यादवों को दोनों तरफ से सकट प्राप्त हुआ है, इस अपने पक्ष का संकर्षण के आगे निरूपण करते हैं। इस महान् यवन ने हम लोगों को आज घेर लिया है "हम लोगों को" कह कर यह बताया है कि हमारा यादवों के साथ कार्य के लिए अभेद है वह यवन स्वरूप से भी महान् है और बलवान् है 'अद्यमहाबल' कह कर यह सिद्ध किया है कि जरासन्ध तथा यवन दोनों महावली हैं. कारण कि दोनों को ब्राह्मणों के आशीर्वाद से बल प्राप्त है, जरासन्ध नहीं आया है तो इसने ही पहले रोक लिया है अर्थात् घेरे में ले लिया है, यदि यों है तो जरासन्ध के स्थान पर इसको समझ कर इससे युद्ध कर इसको नाश करदो तो पता पड़ जाएगा कौन विशेष है, इसके उत्तर में कहते हैं कि मागध भी आज ही आजाएगा जो यों है तो उसकी बुद्धि में ऐसी प्रेरणाकर दो जैसे आज न आ सके यों करेंगे तो कल वा परसों तो अवश्य आ जाएगा, तो उसके आने का निश्चित समय कहिये ? तो कहते हैं कि तीन से अधिक कोई नहीं बता सकता है इसलिए "वा" शब्द कहा है, अच्छा यदि आज, कल परसों वा कभी ठगी से आएगा इसमें संशय नही है, तो उसका उपाय ही करना चाहिए ? यदि कहो कि दोनों मारने योग्य हैं, इस पर कहते हैं कि दोनों जीतने जैसे नहीं है, अतः मुख्य को छोड़कर केवल सेना को मारने में समय लगता है, तथा हम यवन से लड़ाई में लगे रहे उस समय वह चतुर आ जाय और हमको यवन से लड़ाई में तत्पर देखे तो उसको हम छोड़ भी नहीं सकते, यह एसा अवसर देख हमको छोड़ वसुदेवादि बान्धवों को मारेगा अथवा उनको बान्धकर अपनी नगरी में ले जाएगा तो पीछे छुड़ाने में वहुत परिश्रम करना पड़ेगा, जरासन्ध भी बली होने से मारा नहीं जा सकता है जब यों है तब क्या करना चाहिए ? वह कर्तव्य बताते हैं, जहाँ मनुष्य नहीं जा सके वैसा दुर्ग बनाएँगे जब ऐसा अलौकिक दुर्ग जो बना सकता है। तब वह उनको ही अन्यथा क्यों नहीं करता है ? क्यों अपना देश छुड़ाता है ? किसी प्रकार को मर्यादा का बाध नहीं होता है उनको निर्बल बनाने में ब्राह्मणों में मर्यादा बाध करती है जैसा कि दी हुई आशीर्वाद का उल्लंघन न करना पड़ेगा इसलिए ही द्वारका बनाने का सुयोग्य विचार किया है जिसमें ब्राह्मण वाक्य उल्लंघन न होगा तथा उस कार्य पर ब्राह्मणों के वचनों का प्रभाव भी न होगा. सब ठिकाने अधिक प्रयत्न, साधारण श्रम का निराकरण करता है।

"बली" शब्द पहले आया है और इसलिए यहाँ "द्विपद" देकर यह बताया है, कि जो भी दो पैर वाले यादवों के नाश के लिए आना चाहेंगे वे नहीं आ सकेंगे भले वे ब्राह्मण भी होवें, दुर्ग बना के अनन्तर उसमें वसुदेव आदि ज्ञातिवालों का वहाँ अच्छी तरह बिठावेंगे यों करने के बाद निश्चिन्त हो के यवन को मारेंगे इसमें विलम्ब बाधक न होगा नहीं तो मुचुकन्द की गुफा में भगवान् के जाने पर वसुदेवादि डरकर दुःखी होंगे ॥४६—४७॥

---

* जरासन्ध चढ़ाई करने वाला है इसके पहले आक्रमण करूँ ऐसे बीच के समय में।

आभास—एवं निर्धारिते मन्त्रे यदासीत्, तदाह इति संमन्त्र्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार परामर्श करने से जो सलाह निश्चित् हुई उसका वर्णन "इति संमन्त्र्य" श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—इति संमन्त्र्य दाशार्हो दुर्गं द्वादशयोजनम् ।
अन्तःसमुद्रे नगरं कृष्णोद्भुतमचीकरत् ।।५०।।
दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।
रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम् ।।५१।।
सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।
हेमश्रृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः ।।५२।।
राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलंकृतैः ।
रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैर्महामरकतस्थलैः ।।५३।।
वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वलभीभिश्च निर्मितम् ।
चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत् ।।५४।।

श्लोकार्थ—ऐसी सलाह कर भक्त रक्षक श्रीकृष्ण ने समुद्र के मध्य में बारह योजन में अद्भुत किला रूप नगर तैयार किया ।।५०।।

जहां भगवान् ने सर्व प्रकार की कारीगिरी की थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन होता था, वस्तु शास्त्रों के अनुसार राजमार्ग, चौहट, गलियां इस प्रकार बनाई थी जो आने जाने में अड़चन न होवे तथा किसी मकान की वायु धूप आदि न रुके ।।५१।।

जहां देवता सम्बन्धी वृक्ष लताओं सहित उद्यान तथा उपवनों से सुशोभित घर एवं मार्ग थे, अति ऊँची स्फाटिक मणियों से निमित अटारियां तथा दुर्ग के फाटक आकाश को छूते हुए सोने के सींगों से युक्त कलशों से सुशोभित थे ।।५२।।

चांदी और पीतल से बने कोठे सोने के कलशों से लस रहे थे, अमूल्य मरकत मणि के स्थल वाले सुवर्ण से बने घरों के शिखर माणिक आदि रत्नों से बनाये गए थे ।।५३।।

चारों तरफ लोकपाल तथा दुर्गा आदि देवों के स्थान थे और मध्य में भगवान् का मन्दिर सुशोभित था सारी नगरी के घर पर छज्जे भी लगा दिए थे। वह दुर्ग चारों वर्णों के मनुष्यों से भरा पड़ा था ॥५४॥

सुबोधिनी—यतो दाशार्हो भक्तरक्षकः। अनेन क्लिष्टकरणदोषोऽपि परिहृतः। ननु कालादिभिरनिर्मितं कथं निर्मास्यति, तथा सति कालादयो वा कथं न प्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह तद्दुर्गमेव करिष्यति। जलादिदुर्गाः प्रसिद्धाः। अतो नालौकिकं करिष्यति। किञ्च, कालहितमपि करिष्यतीत्याह द्वादशयोजनमिति। द्वादशात्मा हि कालः। प्रतिपक्षतया वा करिष्यति। अलौकिकत्वाच्चतुरस्रं तत्र। सर्वापेक्षया विशेषं वक्तुं तत्रत्यं गुणत्रयमाह। अन्तःसमुद्र इति समुद्रमध्ये। न सा पृथिव्यां तिष्ठति, किन्तु भूमिवत् नगर्यप्यन्तरिक्षे समुद्रमध्ये जलोपरि तिष्ठति। अन्यथा नीचे स्थिता भवेत्। तत्र वैलक्षण्यं संभविष्यतीति तन्निराकरणार्थं नगरमिति। तत्रापि विशेषः अद्भुतमिति। कृष्ण इति। सदानन्दः। तेन कृतं स्थानं तत्प्रापकं भविष्यतीति ज्ञापितम्। अचीकरदिति। स्वयमेव चकार। विश्वकर्मणा कृतमित्येके, त्वाष्ट्रमिति पदात्। वस्तुतस्तु विश्वकर्मणो यावन्नपुण्यम्, तावदत्र भगवतैव निर्मितमिति। स हि जले कर्तुं न शक्नुयात्। अन्यथा इतो भगवति क्रमेण षड्गुणेष्वपि गतेषु सप्तमे दिवसे तं न प्लावयेत् समुद्रः, विश्वकर्मणो विद्यमानत्वात्। अस्तु वा विश्वकर्मणा कारितमिति। अचीकरद्विश्वकर्मणेति करण वा।

यत्र नगरे त्वाष्ट्रं विज्ञानमनेकचातुर्ययुक्तं दृश्यते। शिल्पे नपुण्यं यस्मात् विज्ञानादिति ज्ञानप्रमायां हेतुरुक्तः। किञ्च, रथ्याचत्वरवीथीभिः सहितम्। यथावास्तु वास्तुशास्त्रसहितम्। विशेषेण निर्मितम्, चित्रादिरहितेपि सामान्यनिर्माणेपि वैशिष्ट्ययुक्तम्। दैविकं लौकिकं शास्त्रीयं च ज्ञानं तस्मिन् नगरनिर्माणे प्रतिष्ठितमिति वर्णनावधित्वं निरूपितम्।

विशेषतो वर्णयति। सुरद्रुमाः पारिजातादयः। ते उद्यानेषु यत्र। उद्यानं पुष्पप्रधानम्। उपवनं फलप्रधानम्, तैरन्वितमिति सर्वत उभयेषां सबन्ध उक्तः। अन्तर्नगरे वैशिष्ट्यमाह हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिरिति। एकविंशतिगृहोपरि सुवर्णशृङ्गाणि सुवर्णकलशस्य परितः स्थापितानि। अत एव दिवं स्पृशन्ति। तत्र निदानप्रस्तरानाह स्फाटिकेति। स्फाटिकैरेव निर्मिताः अट्टालाः गोपुराणि च।

दुर्गत्वादन्नसङ्ग्रहार्थं रजतैरारकूटैश्च निर्मितानि कोष्ठानि रजतारकूटशब्दादण्। हेमकुम्भैश्च सर्वतः अलङ्कृतम्। घृतदध्याद्यर्थं राजतानि कोष्ठानि। अन्नार्थं तु पैत्तलनिर्मितानि। सर्वधातूपलक्षणमारकूटपदम् आद्यन्तयोः रजतसुवर्णयोरुपादानात्। उपरिशोभातिशयमुक्त्वा मध्ये शोभामाह रत्नकूटैर्गृहैर्हेमैरिति। सर्वत्र गृहाः रत्ननिर्मितपदकवत् सौवर्णाः। भूमिश्च मरकतशिलाभिः निर्मितेत्याह। महामारकतानि स्थलानि येष्विति ॥५३॥

अनुपयुक्ता अपि धर्मसाधकाः कौतुकसाधकाश्च गृहाः सन्तीत्याह। वास्तोष्पतीनां वास्तुदेवताधिपतीनामिन्द्रादीनाम्। वस्तून्यस्मिन्निति वास्तुदेवता भूमिः, तस्याः पतयः सर्वे लोक-

पालाः। चकारात् दुर्गादीनामपि। अनेन मध्ये भगवतः परित आशापालानां गृहा इत्युक्तं भवतिः वलभीभिरिति सर्वत्र छजानिर्माणम्। अनेनाग्रे निर्माणक्रिया कापि नापेक्षितेति सूचितम्। किञ्च, चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णम्। चातुर्वर्ण्यजनैः पूर्वमेवाकीर्णम्,। तेन ते भगवत्कृता एव जना निरूपिताः। अन्यथा इतो गतानां वंद्यामिव पातो भवेत्। ते इदानीमपि तिष्ठन्ति। अतस्तत्सन्निधानेन सर्वदा विद्यमानत्वसाम्यात् भगवद्गृहमाह यदुदेवगृहेण उल्लसदिति। मध्ये भगवद्गृहम्, चतुर्दिक्षु वर्णचतुष्टयानाम्। आकीर्णमिति। किर्मीरितत्वं निरूपितम् ॥५४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् को समुद्र के मध्य में दुर्ग अर्थात् द्वारकापुरी बनाने में श्रम हुआ होगा ? आप अक्लिष्टकर्मा है फिर वैसा परिश्रम वाला कर्म क्यों किया ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा है कि "दाशार्हे" भक्तरक्षक हैं अर्थात् भक्तों की रक्षा के लिए आप सब कुछ करने में हिचकते नहीं हैं, उनके वास्ते जो भी कार्य चाहें वह क्लेशदायी हो तो भी करते हैं किन्तु इससे उनको कुछ भी क्लिष्टता मालूम नहीं होती है अतः इसके बनाने से उनको क्लिष्ट करने का दोष स्पर्श भी नहीं करता है जो कालादिक नहीं बनाते हैं उसको आप कैसे बनाएंगे यदि उनके सिवाय आप बनाते हैं तो कालादिक क्यों प्रतिबन्धक न होंगे ? इस शंका को मिटाने के लिए ही "नगर" बनाना न कहकर "दुर्ग" बनाना कहा है, जलादि दुर्ग तो प्रसिद्ध ही हैं अतः अलौकिक नहीं करेंगे इसके बनने से काल का भी हित करेंगे इस लिए कहा, कि वह दुर्ग बारह योजन का होगा, क्योंकि "काल" "द्वादशात्मक" है अथवा प्रतिपक्षता से करेंगे अलौकिक होने से वह चौकाना बना था, वह दुर्ग सबसे विशेष उत्तम है यह बताने के लिए उसके तीन गुण कहते हैं (१) समुद्र के मध्य में है, जिससे यह पृथ्वी पर तैरी हुई नहीं है किन्तु पृथ्वी की भाँति अन्तरिक्ष में अर्थात् समुद्र के मध्य में जल के ऊपर है। नहीं तो नीचे चली जाए उसमें कुछ विलक्षणता होगी ऐसी शंका मिटाने के लिए दुर्ग को "नगरी" भी कहा है उसमें भी विशेप यह है कि वह "अद्भुत" है, अद्भुत क्यों और कैसे है ? इस पर कहते हैं कि इसके निर्माता कृष्ण हैं जो सदानन्द स्वरूप हैं उनका बनाया हुआ स्थान उनसे मिलाने वाला होगा श्लोक में "अचीकरत्" पद दे कर कहा है कि स्वयं ने बनाया है कोई कहते हैं कि "त्वाष्ट्" पद से समझा जाता है कि यह विश्वकर्मा की बनाई हुई नगरी है सचमुच तो विश्व कर्मा जैसी इसमें निपुणता दीखती है जिससे यह शंका उत्पन्न होती है किन्तु भगवान् ने ही यहाँ बनाई है क्योंकि विश्वकर्मा जल में ही बना सकता है। जो भगवान् ने नहीं बनाई होती तो, भगवान् के पधारने से उनके गुण भी क्रम से पधारने लगे जिससे ही समुद्र ने सातवें दिन उसको डूबो दिया। यदि विश्वकर्मा की बनाई हुई होती तो विश्वकर्मा के विद्यमान होने से समुद्र न डुबोता अथवा मान लिया जावे कि विश्वकर्मा द्वारा बनाई गई है तो भी विश्वकर्मा केवल "करण" है अर्थात् बनाई भगवान् ने है विश्वकर्मा केवल करण था जैसे कर्ता कुम्हार है चाक आदि उपकरण होते हैं।

जिस नगरी में अनेक चतुराई वाला त्वष्टा का विज्ञान दीखता है जिस विज्ञान से कारीगरी में निपुणता का ज्ञान होता है और जहाँ बड़े-बड़े मार्ग तथा चौराहे हैं, वास्तु शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बनाई हुई है, वह चित्रकला के न होते हुए भी, सामान्य प्रकार से बने होने पर भी उत्तमता

तथा विलक्षणता से युक्त थी उस नगर के निर्माण में दैविक लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञान काम में लाया गया है इन तीन प्रकार के ज्ञान से यह बताया है, कि इससे विशेष वर्णन हो नहीं सकता है, अर्थात् इससे उत्तम नगर नहीं बन सकता है।

विशेष प्रकार से वर्णन करते हैं, जिस नगर के उद्यानो में सुगन्धित पुष्प वाले पारिजात आदि देव वृक्ष लगे हैं, पुष्प ही जिसमें विशेष हो, उसको उद्यान कहा जाता है तथा उपवन थे जिनमें फलों के पेड़ अधिक लगे हुए थे, नगरी के चारों ओर उपवन थे जिनसे नगरी को विशेष शोभा हो रही थी।

नगर के भीतर गृहों की शोभा का वर्णन करते हैं इक्कीस भार वाले गृहों के ऊपर जो सोने के कलश रखे गए थे उनके चारों ओर सोने के शृंग लगाए गए थे जो आकाश को स्पर्श कर रहे थे, अब जिन पत्थरों से अटारियाँ और नगर के फाटक बने थे उन पत्थरों को कहते है कि "स्फाटिकेरे-वनिर्मिता:" वे स्फाटिक प्रस्तरो (बिल्लोर) से बनाए गए थे।

दुर्ग था इसलिए अन्न आदि पदार्थों के रखने के लिए बड़े बड़े पात्रों की आवश्यकता थी, उन का वर्णन करते हैं कि चाँदी तथा पीतल आदि के बड़े बड़े कोठे बनाए गए थे और वे सोने के घड़ों से अलंकृत किए गए थे घृत और दधि आदि स्निग्ध पदार्थों के रखने के लिए चांदी के कोठे बने हुए थे, अन्न के लिए पीतल के कोठे बने थे "आर कूट" शब्द सब धातुओं को बताने वाला शब्द समझना चाहिए, आदि और अन्त में चाँदी तथा सोना ही उपादान से काम में लिया गया था. ऊपर की शोभा का वर्णन कर बीच की शोभा का वर्णन करते हैं। सारी नगरी में जो घर बने हुए थे वे जैसे रत्नों से जड़ित पदक सोने का बना हुआ होता है वैसे सोने के बने हुए घर थे जिन पर रत्न जड़े हुहे थे। घरों की भूमि पर मरकत मणियों के फरश बान्धे गए थे ॥५३॥

लौकिक प्रकार से जो घर उपयोग में आने वाले नहीं थे तो भी वे धर्म को सिद्ध करने वाले थे, क्योंकि वे इन्द्र आदि लोकपालकों के थे, श्लोक में "च" शब्द इस आशय से दिया है कि दुर्गा आदि के भी घर थे इन घरों के बीच में भगवान् का घर था ये देवों के घर भगवान् के घर के चारों तरफ थे, लोकपालों के घर इस लिए बनाए गए थे कि वे भूमि के पति हैं।

सब घरों में छज्जे भी लगा दिए गए थे छज्जों का काम घर के सर्व प्रकार तैयार होने के बाद अन्त में किया जाता है, जिससे मालुम होता है कि निर्माण का सर्व कार्य पूर्ण हो गया है शेष कुछ भी कार्य करना रहा नहीं है यहाँ से जाने वाले मनुष्यों से पहले ही उसमें चारों वर्ण के जन का

भूमि पतियों के सिवाय प्रसन्न नही होती है, जहाँ पतियों का समादर होता है, वहाँ पृथ्वी प्रसन्न हो कर अपने बीजरूप में स्थित धान्यादि वस्तुओं को विशेष रूप से जन हितार्थ प्रकट करती है—

चारों दिशाओं में विस्तार हो रहा था, इससे सिद्ध है, कि वे जन भगवान् के ही प्रकट किऐ हुए हैं, यों न होता तो यहां से जाने वाले जनों का वन्दनीयों की भाँति पात हो जावे अतः उनके सामीप्य से सर्वता विद्यमान के तत्व से समानता होने के कारण वे जन निश्चय से अब भी हैं अतः यह नगर भगवान् के धन से विशेष शोभायमान था चारों दिशाओं में चारों वर्णों के घर थे और नगर के मध्य में भगवान् का घर था जैसे अनेक रंगों से चित्रित वस्त्र शोभा देता है वैसे ही यह नगरी अनेक प्रकार के घर तथा जनों से सुशोभित दीखती थी ॥५४॥

आभास—एवं भगवता स्थाने निर्मिते, विशेषतो निर्माणे कृते, पारिजातादीनामनग्यत्वप्रतिष्ठा गमिष्यतीति लोकपालाः सर्वे स्वस्वसमृद्धि प्रेषितवन्त इत्याह सुधर्मामिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जब द्वारका निर्माण कर दिया, तब विशेष निर्माण के लिए पारिजातादि वृक्षों की विशेष प्रतिष्टा होगी अतः सर्व लोकपाल अपनी अपनी सम्पादाएँ भेजने लगे, जिनका वर्णन "सुधर्मा" से तीन श्लोकों में कहते है–

श्लोक—सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः ।
यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥५५॥
श्यामैककर्णान्वरुणो हयान् शुक्लमनोजवान् ।
अष्टौ निधिपतिः कोशाँल्लोकपालो निजोदयान् ॥५६॥
यद्यद्भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ।
सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप ॥५७॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने भगवान् के लिए सुधर्मा सभा तथा पारिजात वृक्ष भेजे, जिस सभा में बैठने वालों को मृत्यु के धर्म जरा आदि किसी प्रकार का दुःख नही देते हैं ॥५५॥

वरुण ने श्वेत वर्ण वाले अश्व जिनके केवल एक कान काला था, चलने में मन जैसे वेग वाले थे वे भेजे, निधिपति (कुबेर) ने आठ कोश भेजे और लोकपालों ने अपने भंडार भेज दिए ॥५६॥

भगवान् ने इन्द्र आदि देवों को जो कुछ वे अपने धर्म से प्राप्त नहीं कर सकते वे पदार्थ कृपा कर दिए हैं, उनके पास जो कुछ पदार्थ है वे वास्तव में भगवान् के ही हैं अत: जब भगवान् भूमि पर प्रकट होते हैं तब देव वे पदार्थ भगवान् को समर्पण कर सदैव के लिए अपने पास रहे, यह सिद्ध करते हैं ॥५७॥

सुबोधिनी—यदग्रे पारिजातहरणम्, तन्मतान्तरभाषया निरूपितम्, तदग्रे विस्तरेण वक्ष्याम:। सुधर्मा देवसभा। नवरत्ननिर्मितेव भूमिरूपा काचित् देवता सुधर्मेत्युच्यते। यत्रोपवेशनमात्रेणैव धर्मो धर्मफलं च भवतीति। चकारादन्येऽपि सुरद्रुमा:। इन्द्र: सिंहासनादिकं च प्रस्थापितवानिति उभयोर्माहात्म्यं वर्णयति यत्र चेति। यत्र सुधर्मायाम्, चकारात् पारिजाता धर्मश्च। अनेन समीपे विद्यमान: सर्वदा नियतमरणधर्मापि त: स्वाभाविकै: मर्त्यधर्मै: न युज्यते। अनेन पूर्वदोषपरिहारोऽप्युक्त:। गुणास्तु सुधर्मापदेनैवोक्ता:। अन्यामपि सम्भृतिमाह श्यामैककर्णानिति। एक: कर्ण: श्याम: दक्षिण:। शिष्ट: सर्वोऽपि कुन्दसन्निभ:। उच्चै:श्रवस एतद्वैलक्षण्यम्। अयं स्वर्ग: कर्म चेति उभयबोधनार्थं प्रवृत्तिशास्त्रस्थाने श्यामता निरूपिता। ते चाश्वा: सैन्धवा एवेति ज्ञापयितुं वरुणेन प्रस्थापितमित्युक्तम्। अन्यत्र वर्णान्तरसम्भावना स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं शुक्ला इति। जव एव तेषां श्लाघ्य इति शुक्लाश्च ते मनोजवाश्चेत्युक्तम्। शुक्ले जवाभावमाशङ्क्य समास उक्त:। निधिपतित्वादष्टौ निधीन् प्रेषितवानिति गम्यते। अष्टौ लोकपालाश्च कोशान् भण्डारवस्तूनि। निजस्य स्वस्य स्वस्य अभ्युदयांश्च। ननु स्वयमनेकसुकृतेन प्राप्तं भोगसाधनमधिकारज्ञापकं च किमिति दत्तवन्त इत्याकाङ्क्षायामाह यद्भगवता दत्तमिति। न हि तानि वस्तूनि स्वधर्मोपार्जितानि, किन्तु भगवता दत्तानि। यतस्तदाधिपत्यम्, ईश्वरेणैव ह्याधिपत्यं दीयते। तथापि प्रतिदाने को हेतुरिति चेत्, तत्राह स्वसिद्धय इति। स्वस्य सिद्धये। अधिकारो हीश्वरेच्छयैव भवति। सा च ज्ञातुमशक्येति यथा तन्नियतं भवति, तथोपाय: कर्तव्य:, तद्भगवति दान एवाक्षयं भवति। अत: स्वस्य धनस्य अधिकारस्य वा सिद्धये सम्यङ्निष्पत्त्यर्थं सर्वं प्रत्यर्पयामासु:। ननु भगवता तत्कथं ग्राह्यमिति चेत्, तत्राह हरौ भूमिगत इति। भूमिरपि दत्ता ब्रह्मणे मनवे वा। पुनर्भक्तोद्धारार्थं स्वयमप्यागत:। तन्न्यायेन सर्वामपि समृद्धिं भक्तेभ्यो दातुं प्रदर्शयितुं वा अपेक्षितेति प्रत्यर्पणमुचितम्। एतदभिज्ञानाय नृपेति सम्बोधनम् ॥५५-५६-५७॥

व्याख्यार्थ—आगे जो पारिजात लेजाने की कथा की है वह मतान्तर भाषा से कही है, उसको आगे विस्तार से कहेंगे नवरत्नों से निर्मित जैसी भूमि रूप किसी देवता को "सुधर्मा" नाम से कहा जाता है जहाँ केवल बैठने से ही धर्म का फल होता है, अत: "सुधर्मा" शब्द से "देवसभा" समझी जाती है "च" कह कर यह बताया है कि पारिजात के सिवाय दूसरे भी देवद्रुम लाए गए थे।

इन्द्र ने सिंहासन आदि सामान भी भेजा था अब दोनों के माहात्म्य का वर्णन करते हैं जिस धर्म सभा में पारिजात और धर्म भी है, यह "च" शब्द से समझा जाता है इससे क्या लाभ है, वह

बताते हैं कि इनके पास रहने से जो निश्चय से मरने वाले हैं, उनको वह स्वाभाविक मर्त्य धर्म भी कुछ नहीं कर सकता है, अर्थात् मार नहीं सकता है, इससे प्रथम कहे हुए धर्मों के दोष का परिहार भी कह दिया है और गुण तो "सुधर्मा" पद से बता दिए हैं, दूसरी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं एक दक्षिण कर्ण श्याम था शेष सब शरीर कुन्द पुष्प के समान शुक्ल प्रकाश वाला है इन अश्वों को उच्चैश्रवा घोड़े से यह ही विलक्षणता है, स्वर्ग और कर्म दोनों प्रकार काम आने वाले ये अश्व हैं, वे अश्व सैन्धव (सिन्धु समुद्र से उत्पन्न हुए हैं) ही हैं इस बात को जताने के लिए कहा है कि ये वरुण देव ने भेजे हैं, इनका वाम श्याम कर्ण प्रवृत्ति शास्त्र रूप होने से स्वर्ग कहा है और दक्षिण कर्ण स्वर्ग का साधन रूप कर्म है, श्याम कर्ण के सिवाय अन्यत्र किसी भी दूसरे वर्ण की सम्भावना न हो इसलिए "शुक्ल" शब्द दे दिया है अर्थात् अन्य अंग श्वेत थे "शुक्लमनोजवान्" यह पद समास इस लिए दिया है कि होने से भी ये शीघ्र गामी थे निधियों के पति होने से आठों लोकपालों ने भण्डार में जो अन्न आदि वस्तुएं चाहिए वे भेजी थीं और अपने-अपने जो भी अभ्युदय हुए थे वे सर्व अर्पण किए थे।

लोकपालों ने अनेक पुण्यों से प्राप्त भोग साधन जिनसे उनके अधिकार का पता लगता था वे क्यों दिए ? इस शंका का निवारण करने के लिए कहते हैं, कि उनने जो वस्तुएँ दीं वे उनने अपने धर्म से इकट्ठी नहीं की थी, परमेश्वर ने दी थी। अतः उन पर वास्तविक आधिपत्य परमात्मा का है उनको अधिकार भी भगवान् ने ही दिया था जब मिला तब फिर लौटाने में क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "स्वासिद्धये" अपनी सिद्धि के लिए अधिकार ईश्वर की इच्छा से ही मिलता है वह इच्छा जानी नहीं जाती, अतः वह उपाय करना चाहिए जिससे वह अधिकारादि निश्चित हो जाए, वह अक्षय तब होता है जब भगवान् को अर्पण किया जाता है अतः अपने धन का और अधिकार का अक्षयपन हो तदर्थ सर्व प्रत्यर्पण किया है, दी हुई वस्तु भगवान् ने कैसे ली ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि भगवान् इसीलिए लेते हैं कि भगवान् को वे वस्तुएँ भक्तों को देनी हैं, भक्तों के लिए भगवान् सब कुछ करते हैं जैसे भगवान् स्वयं वैकुण्ठादि में विराजते हैं और भूमि ब्रह्मा तथा मनु को दे दी है, तो भी आप भक्तोद्धार के लिए भूमि का ग्रहण कर आप भूमि पर प्रकट होते हैं, इस न्याय से सर्व समृद्धि भक्तों को देने के लिए वा दिखाने के लिए भगवान् को अपेक्षित होती है, अतः लोकपालों का प्रत्यर्पण उचित है, इस को जताने के लिए "नृप" सम्बोधन दिया है ।। ५५-५६-५७ ।।

आभास—यदर्थमेतन्निर्माणं तदाह तत्रेति ।

आभासार्थ—जिसके लिए इसका निर्माण हुआ वह "तत्र" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः ।
प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ।।

निर्जगाम पुरद्वारात्पद्ममाली निरायुधः ॥५८॥

श्लोकार्थ—प्रजापालक बलरामजी से परामर्श कर दुःखहर्ता पद्मों की माला पहिने हुए भगवान् कृष्ण बिना शस्त्र, नगर के बाहिर निकले और सर्व मनुष्यों को योग प्रभाव से लेकर द्वारका में पहुँचा कर आप लौट आए ॥५८॥

सुबोधिनी—अणिमा यो हि योगस्य सहजफलानि। इदं तु वक्ष्यमाणं योगस्यानुभावस्य फलम्। यथा स्थितान शयानान् सर्वानिव तेषां दुःखनिराकरणार्थं तत्र द्वारकायां नीत्वा स्वयं पुनरागतः। तत्रत्यप्रजानां देशवासिनां दुःखनिवृत्त्यर्थं बलभद्रं निरूप्य प्रजापालने अङ्गीकृते तेन प्रजापालने वस्तुतोपि रामेण रत्युत्पादकेन कृष्णः स्वयं सदानन्दः नातः परमत्र मथुरायां स्थेयमिति ज्ञापयन्निव साधनानुमतिं गृहीत्वा फलरूपः ततो निवृत्त इत्याह निर्जगामेति। नितरां गमन नित्यसन्निधिरूपेणापि ततो निर्गत इति ज्ञापयितुम्। नित्यक्रियारूपेण तु वर्तते इति न काप्यनुपपत्तिः। पुरद्वारादिति निर्गमनं सर्वजनीन भवत्विति। निर्गच्छता भगवता द्वयं ज्ञापितमिति विशेषणद्वयमाह पद्ममाली निरायुध इति। ततः कीर्तिर्नीता, रक्षा तु कृतेति। एव निर्गमनस्य प्रयोजनमग्रे स्पष्टं भविष्यति ॥५८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धे
उत्तरार्धे प्रथमाध्यायविवरणम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—अणिमा आदि सिद्धियां जो योग का सहज फल है, यह जो यहाँ फल कहा जाता है, वह योग की सामर्थ्य का फल है जैसे ही सोये पड़े थे वैसे हीं उन सबको वहाँ पहुँचाकर आप लौट आए वहाँ लेजाने का कारण उनके दुःख का मिटाना था यहाँ रहने से वे संकट से दुःखी होते थे।

वहाँ की प्रजाओं के दुःख निवृत्ति के लिए बलभद्र को कहा रति के उत्पादक, उसने वह स्वीकार किया। कृष्ण भी स्वयं सदानन्द हैं. इसके अनन्तर यहाँ मथुरा में रहना नहीं चाहिए मानों यों जनाते हुए बलरामजी से साधन की अनुमति ले फल रूप कृष्ण मथुरा से पधारे। यद्यपि मथुरा में आपकी सदैव स्थिति है. तो भी आप पधारे किन्तु नित्य क्रिया रूप से तो यहाँ विराजते हैं। अतः इसमें किसी प्रकार अनुपत्ति (असंगत) नहीं है नगर के द्वार से बाहिर जाना प्रसिद्ध ही है, भगवान ने पधारते समय दो बात बताई (१) पद्मों की माला धारण कर पधारे, जिससे यह बताया कि हमने साथ कीर्ति भी ली है।

और (२) शस्त्रों के बिना जाते हुए भी रक्षा * की है। इस प्रकार निकलने का प्रयोजन आगे स्पष्ट होगा ।।५८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धानुसार ५० वाँ अध्याय- उत्तरार्ध १ अध्याय
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का राजस-साधन
अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय श्री सुबोधिनी अनुसार ४७ वाँ अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित, सम्पूर्ण ।

---

* इस प्रकरण की लीला प्रद्युम्न स्वरूप से की है, अतः बन्धुओं की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण किए हैं, किन्तु अब जो रक्षा की है, वह 'स्थानदान से" की है अर्थात् द्वारका में पहुँच कर रक्षा की है अतः आप बिना शस्त्र के पधारे है ।

राग मारू

श्याम बलराम जब कंस मारयो ।
सुनि जरासन्ध वृत्तान्त अस सुता से युद्धहित कटक अपनो हंकारयो ।।
जोरि दल प्रबल सो चल्यो मथुरापुरी सुन्यो भगवान जब निकट आयो ।
तब दुहुँ वीर दल साजिकै अपनो नगरते निकसि रणभूमि छायो ।।
दुहुँ दिशि सुभट बाँके निकट अति जुरे मनो दोउ दिशि घटा उमड़ि आई ।
सूर प्रभु सिंहध्वनि करत जोधा सकल जहाँ तहँ करन लागे लराई ।।

÷÷

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

द्वितीय अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४८ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५१ वां अध्याय

कालयवन का भस्म होंना तथा मुचुकुन्द की कथा

कारिका—निग्रहं प्रथमेऽध्याये निरूप्य हरिणा कृतम् ।
द्वितीयेऽनुग्रहं प्राह मुचुकुन्दाय तत्कृतम् ॥१॥

कारिकार्थ—पहले अध्याय में हरि ने जो निग्रह किया उसका निरूपण कर, दूसरे अध्याय में मुचुकुन्द पर किए हुए अनुग्रह को कहते हैं ॥१॥

कारिका—तामसी हननाख्या हि राजसी नगरोद्यमा ।
सात्विकी नयनाख्या च निर्गुणा निर्गमस्तथा ॥२॥

कारिकार्थ—हनन रूप लीला तामसी है, नगर रचना रूप उद्यम लीला राजसी है मथुरा वासियों को लेजाने की लीला सात्विकी है और मथुरा से निर्गमन की लीला निर्गुण है ॥२॥

कारिका—निर्गुणस्य निमित्तत्वं न तु कर्तृत्वमीर्यते ।
प्रबोधो भरणं चैव संवादश्च यथाक्रमात् ॥३॥

स्तुतिश्च निर्गुणा प्रोक्ता तदग्रे हि फलिष्यति ।
अतो निर्गुणलीलात्र द्वितीये विनिरूप्यते ।
क्रिया भगवतो द्वेधा गुणेषु स्वे यतः स्थिता ॥४॥

कारिकार्थ—निर्गुण स्वरूप निमित्त मात्र है न कि कर्ता है, जगना[1], मरण[2], संवाद[3], तथा स्तुति[4] है, वह निर्गुण है जिसका फल पीछे[5] होगा इस कारण[6] से दूसरे अध्याय[7] में निर्गुण लीला का विशेष निरूपण है, भगवान् की क्रिया लीला दो प्रकार की है क्योंकि लीला गुणों[8] में रहनी है अर्थात् गुणों द्वारा होती है, लीला अपने स्वरूप[9] में स्थिति है अर्थात् धर्मी स्वरूप से की जाती है ॥३-४॥

कारिका सम्पूर्ण

आभास—पूर्वाध्यायान्ते तत्त्वान् परित्यज्य केवलं तं व्यामोहयितुं कीर्तिमयीं वनमालां बिभ्रत् निर्गत इत्युक्तम्, कालयवनस्य मुक्त्यर्थं नारदोपदेशं गृहीतवतः साक्षात्कारः । ततस्तदनुसरणम्, ततो दृष्ट्या ज्ञानरूपेण ज्ञानाग्निना संघातनाशश्च निरूप्यते । निर्गुणक्रियाया मोक्षपर्यवसानात् । परं तस्य काल एव मुक्तिरिति निरूपयितुं द्वादशभिर्निरूप्यते तं विलोक्येति ।

आभासार्थ—प्रथम अध्याय के अन्त में कहा गया कि भगवान् बिना आयुधों[10] के केवल कमल माला धारण कर मथुरा से पधारे, यों भगवान् ने किया, उसका भावार्थ यह है, कि भगवान् के आयुध तत्वरूप हैं, अतः वे यहाँ ही छोड़ गए, जिससे वह मोहित हो, कि यह ऐसे निर्भय हैं, जो बिना आयुधों के गमन कर रहे हैं और इससे भगवान् को कीर्ति सम्पादित की, जिसका चिन्ह कमल माला धारण की थी, नारद से उपदिष्ट कालयवन को मोक्ष देने के लिए उसे दर्शन दिया, पश्चात् उसका अनुसरण करना, अनन्तर दृष्टि से एवं ज्ञान रूप ज्ञानाग्नि से उसके संघात के नाश का निरूपण

१-मुचुकुन्द का जागना, २-यवव का मरण, ३-भगवान् और मुचुकुन्द का वार्तालाप, ४-मुचुकुन्द की दी हुई भगवान् की स्तुति, ५-मुचुकुन्द की मुक्ति जन्मान्तर में होगी, ६-विशेष लीला न होने से पहले अध्याय का अर्थ चारों लीला में है, ७-दूसरे अध्याय का अर्थ निर्गुण लीला है क्योंकि मोक्ष लक्षण फल मिलेगा ।
(८) सगुण लीला, (९) निर्गुण लीला, (१०) हथियारों

किया गया है। निर्गुण-क्रिया का फल मोक्ष होता है, किन्तु वह फल उसको समय आने पर प्राप्त होगा इसका निरूपण 'तं विलोक्य" श्लोक में करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम्।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि, अतिशय सुन्दर श्याम स्वरूप पीले रेशमी वस्त्रों वाले उन श्रीकृष्ण को विशेष प्रकार वाले दूज के चन्द्र के समान बाहिर निकलते हुए देख कर उन्हें पकड़ने की इच्छा से पीछे दौड़ने लगा, छठे श्लोक से अन्वय है ॥ १ ॥

सुबोधिनी—तं विलोक्य वासुदेवोऽयमिति निश्चित्य, तं जिघृक्षुरन्वधावदिति षष्ठेन संबन्धः। तत्रादौ त्रिभिस्तद्दृष्टं रूपं वर्णयति। पञ्चदशकलापूर्णमिव तावद्भिर्विशेषणैः। अतः प्रथमतः चन्द्रदृष्टान्तेनैव निरूपयति। विशेषेण निष्क्रान्तम्, यथा उदयाद्रेश्चन्द्रः, न तु राहोर्मुखात्, नापि मेघेभ्यः। तथा भगवानपि न मारयितुं, नापि भयमुत्पादयितुं, भयेन वेति तदाह उज्जिहानमिति। प्रथमदर्शनापेक्षया द्वितीयदर्शने अधिककान्तियुक्तः प्रतीयत इति। ननु विशेषकान्तिप्रदर्शनं किमर्थमित्याशङ्क्याह उडुपमिवेति। चन्द्रो हि नक्षत्राणां रक्षकः। यदि तत्तन्नक्षत्रे न गच्छेत्, गत्वा वा तं न प्रकाशयेत्, स्वरूपतः फलतश्च, तदा नक्षत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यात्। तथा भगवान् नारदादीनां रक्षार्थं तदुपदिष्टेषु स्वानुभावं ख्यापयितुं प्रतिक्षणं रूपवैशिष्ट्यं प्रकाशितवानित्यर्थः। किञ्च, तस्मिन् दृष्टे युद्धार्थं समागतानां क्रोधः कदाचिद्भवेत्, ततश्चासन्नमत्या मोक्षो न भवेदिति भगवान्स्वस्वरूपं सुन्दरत्वेनैव प्रकाशितवानित्याह दर्शनीयतममिति। दर्शनीयोऽतिसुन्दरः। अत्याश्चर्यं हि परस्मै प्रदर्श्यते। स्वस्यापि पुनः पुनर्द्रष्टव्यो भवति। श्याममिति। रसात्मकता निरूपिता। सर्ववेदयुक्तत्वमाह पीतकौशेयवाससमिति। नग्नान्न मुक्तिरिति वैदिकः सिद्धान्तः। 'आद्यन्तमध्ये बद्धो हि वेदेनामृतमश्नुत' इति।

कच्छाशिखोपवीतानि बन्धनान्याह वेदतः।

पीतवर्णं कौशेयं वासो यस्येति। वेदो यज्ञो देवाश्च पदत्रयेण परिगृहीताः। छन्दोमयं पीतमिति। कौशेयं क्षौमम्। 'सौम्यं वै क्षौम'मिति श्रुतेः। सर्वदैवत्यं वास इति च। अन्यथा पीताम्बरमित्येव ब्रूयात्। भगवदीयं हि न प्राकृतप्रकृतिकं भवतीति विशेषणवैयर्थ्यं च ॥१॥

व्याख्यार्थ—उसको देख कर यह निश्चय किया कि यह वासुदेव है, उनको पकड़ने के लिए पीछे दौड़ने लगा। देखे हुए स्वरूप का तीन से वर्णन करते हैं, पन्द्रह कलाओं से पूर्ण की तरह, उतने ही विशेषण देकर वर्णन करेंगे। अतः पहले चन्द्रमा के दृष्टान्त से वर्णन करते हैं, जैसे राहु के मुख से वा

बादलों से नहीं, किन्तु उदयाचल से जो चन्द्रमा उदय होता है वह सर्व को आनन्द देता है, वैसे ही भगवान् भी मारने के लिए नहीं, न भय पैदा करने के लिए और न स्वयं भय से प्रकट हुए हैं, किन्तु आनन्ददानार्थ आविर्भूत हुए हैं इस लिए "उज्जिहान" पद दिया है। चन्द्रमा पहले दिन से दूसरे दिन विशेष प्रकाश वाला प्रतीत होता है, विशेष प्रकाश किस लिए ? इसका उत्तर देते हैं, कि चन्द्रमा नक्षत्रों का रक्षक है, यदि प्रत्येक नक्षत्र के प्रकाश द्वारा न पहुँचे और उस प्रकाश से उनको प्रकाशित न करे, स्वरूप और फल से विमुख करदे, तो नक्षत्रों का जन्म ही व्यर्थ हो जावे, वैसे ही भगवान् नारद आदि भक्तों की बात रखने के लिए उन्होंने जिसको उपदेश दिया है उसके आगे अपना प्रभाव प्रकट करने के लिए हरेक क्षण में अपने रूप की विशेषता प्रकट करने लगे ।उनके देखने पर युद्ध के लिए आए हुए शत्रुओं को कदाचित् क्रोध आ जाय तो असन्मति होने से, मोक्ष रुक जाएगा, इसीलिए भगवान् ने अपना स्वरूप अतीव सुन्दर बनाके दर्शन दिया, जिससे उनको न क्रोध आवे और न उनको असन्मति हो, तथा अपने विशेष सौन्दर्य से शत्रु को बहुत आश्चर्य में डाल देते हैं, अपने को भी बार बार देखने योग्य होता है क्योंकि वैसा ही आपका (श्याम) स्वरूप है, श्याम शब्द से अपने स्वरूप की रसात्मकता बताई, जैसे श्याम मेघ रसपूर्ण होते हैं, "पीत कौशेयवाससम्" पद से यह बताया है कि वेद, यज्ञ और देव ये तीनों मेरे भीतर हैं, कारण कि श्रुति कहती है कि ',आद्यन्तमध्ये बद्धो" वेदेनामृतमश्नुत" जो मनुष्य ऊपर, मध्य और नीचे वस्त्रयुक्त हैं वह वेद से अमृत पान कर सकता है, जो नग्न है उनका मोक्ष नहीं होता है, जैसे कि वेद में कहा है "कच्छाशिखोपवीतानि बन्धनान्याह वेदतः" नीचे का वस्त्र शिखा और उपवीत ये तीन बन्धन हैं, ये जिनको हैं उनका वेद वचनानुसार मोक्ष होता है, अतः भगवान् ने पीत रंग से वेद को, पटवस्त्र से यज्ञ को और निम्न वस्त्र बान्धने से देवताओं को धारण कर रखा है, यदि इन तीनों को धारण न किया हो तो "पीताम्बर" धारण किया है यों कहते थे, भगवदीय पदार्थ भी प्राकृतिक प्रकृति के नहीं होते हैं यह ही विशेषण का सामर्थ्य है ॥१॥

आभास—एवं धर्मरूपतां निरूप्य अर्थरूपतामाह श्रीवत्सवक्षसमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के धर्मरूपता का वर्णन कर अब अर्थरूपता का वर्णन "श्रीवत्स" श्लोक से करते हैं—

श्लोक— श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥२॥

श्लोकार्थ—छाती पर श्रीवत्स का चिन्ह धारण किए हुए देदीप्यमान कौस्तुभ मणि को कण्ठ में धारण किए हुवे मोटी और लम्बी चार भुजाओं वाले और नवीन कमल जैसे लाल नेत्र वाले "उन (भगवान्) को देखकर ॥२॥

सुबोधिनी—श्रीवत्सो वक्षसि यस्येति । दक्षिणावर्तरोमरेखायां सुवर्णरेखावत्तेजोविशेषः श्रीवत्सशब्देनोच्यते । वक्षसि जीवः सन्निहित इति तत्रैव भगवता अर्थः स्थापितः सुतराम् । दक्षिणः स्तनो धर्मो भवतीति धर्मप्रतिष्ठित एवार्थो भगवता परिगृहीतः । अत एव तत्र जीवप्रतिष्ठाम ह । भ्राजत्कौस्तुभेन मुक्ता कन्धरा यस्येति । 'पुरुषः काममय' इति कामस्तन्निरूपणेन निरूपितः । मोक्षस्तु स्वनैव दीयत इति प्रसङ्गादन्यदानमपि चतुर्भुजत्वेन निरूपयति पृथुदीर्घेति । पृथवो दीर्घाः चत्वारो भुजा यस्येति । कृपया ज्ञानमपि प्रयच्छतीति ज्ञापनार्थमाह नवकञ्जारुणेक्षणमिति । नवकमलवदरुणे ईक्षणे यस्य । नूतनत्वेन कालाग्रासः, कञ्जत्वेन सात्त्विकता, अरुणत्वेन राजसता च, ईक्षणस्य निरूपिता । तेन सरसा सदया ज्ञानदृष्टिर्भगवदीया भक्तिं साधयतीति पञ्चमोऽपि पुरुषार्थो निरूपितः ॥

व्याख्यार्थ—श्री अंग में दक्षिण तरफ वाली रोमों की रेखा में जो सुवर्ण की रेखा सकल विशेष तेज दृग्गोचर होती है उसको "श्रीवत्स" कहते हैं वह जिसकी छाती पर शोभायमान है, जीव छाती के निकट स्थित है, अतः भगवान् ने 'अर्थ' अतिशय कर वहाँ ही पर धारण किया है दक्षिण स्तन धर्म है, इसलिए धर्म में स्थित ही अर्थ भगवान् ने ग्रहण किया है अतएव वहाँ जीव की स्थिति कहते हैं, देदीप्यमान कौस्तुभमणि को कण्ठ में धारण कर यह दिखाया है कि मैंने "काम" को भी धारण किया है, कारण कि श्रुति कहती है. कि ' पुरुषकाममयः" इस श्रुति को चरितार्थ कर दिखाया है मोक्ष तो अपने आप ही देते हैं शेष अन्य दान भी प्रसंग आने पर देते हैं जिसको "चतुर्भुज" होने से निरूपण करते हैं कि आपकी चार भुजाएँ मोटी और लम्बी हैं, कृपा कर ज्ञान भी देते हैं, इसको जताने के लिए कहा है, कि आपके नेत्र नवीन कमल सदृश लाल हैं, नेत्रों की नवीनता से यह कहा है कि जिस पर आपकी कृपा दृष्टि पड़ती है उसको, काल अपना ग्रास नहीं बना सकता है, कमलपन से सात्विकता प्रकट की है अरुणपन से राजसता आविर्भूत की है, इससे यह कहा है, कि रस और दया से युक्त भगवान् की ज्ञान दृष्टि जिस पर पड़ती है, उसकी भक्ति सिद्ध हो जाती है अर्थात् वह जीव भक्त बन जाता है, इस प्रकार पाँचवा पुरुषार्थ भी निरूपण किया है ॥२॥

आभास—प्रार्थनावसर इति ख्यापयति नित्यप्रमुदितमिति ।

आभासार्थ—यह प्रार्थना का अवसर है यह "नित्यप्रमुदित" श्लोक से प्रकट करते हैं--

श्लोक—नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३॥

श्लोकार्थ—नित्य आनन्दयुक्त, शोभायुक्त, सुन्दर कपोल वाले, मनोहर मन्द मुसक्यान वाले, चमकीले मकर कुण्डलों वाले मुखारबिन्द को धारण किए हुए उनको देखकर ॥३॥

सुबोधिनी—एवं सर्वपुरुषार्थदातारं भगवन्तं निरूप्य, मुखारविन्दमपि पञ्चभिर्विशेषणैः, विशिष्टं पञ्चपर्वविद्यारूपं स्वतन्त्रभक्तिमार्गत्वेन निरूपयन्नाह श्रीमदिति । मुखारविन्दं बिभ्राण-मिति भगवद्विशेषणम् । स मार्गो भगवतैव स्थाप्यत इति ख्यापयितुम् । तदपि श्रीयुक्तं भवति परमसुन्दरम् । भगवानिव । सुष्ठु कपोले यस्येति । प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रकारेणापि रसानुभवस्थानयुक्तम् । शुचि शुद्धं स्मितं यस्मिन्निति । सेवनार्थमेव समीचीनं मोहं संपादयति, नान्यथेति निरूपितम् । स्फुरन्ती मकरसदृशे कुण्डले यस्येति । वहिर्निर्गमने ग्रासार्थं स्थापिताविव मकरतुल्यौ वेदौ निरूपितौ । मोक्षदित्सया गच्छन् भगवन्मार्गं भक्तिमार्गं च स्थापयतीति निरूपितम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सर्व पुरुषार्थों के देने वाले भगवान् का निरूपण कर, पाँच विशेषणों से युक्त पंचपर्वा विद्यारूप मुखारविन्द को भी स्वतन्त्र भक्तिमार्गपने से निरूपण करते हुए कहते हैं, कि वह स्वतन्त्र भक्तिमार्ग भगवान् ही स्थापन करते हैं, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि भगवान् का स्वतन्त्र भक्ति रूप मुखारविन्द भगवान् जैसा ही परम सुन्दर है उस मुखारविन्द के कपोल ऐसे सुन्दर हैं, जिनसे प्रवृत्ति निवृत्ति प्रकार से भी रसके आस्वादन का अनुभव किया जाता है, और उसकी शुद्ध मनोहर मुसक्यान भगवत्सेवन के लिए उपयोगी मोह उत्पन्न करती है अन्य प्रकार का मोह नहीं करती है, उस मुखारविन्द के कर्णस्थानों में भगवान् ने मकराकृति कुण्डल धारण किए है जो चमक रहे हैं जिसका आशय यह है, कि जो भक्ति मार्ग से बाहर निकलेंगे अर्थात् भक्ति मार्ग का त्याग करेंगे उनको यह वेद रूप मकर ग्रस लेंगे अर्थात् वे काल के आधीन हो जायेंगे, भगवान् मोक्षार्थ पधारते हुए भगवन्मार्ग तथा भक्ति मार्ग की भी स्थापना करते हैं, यों निरूपण किया है ॥३॥

आभास—एतादृशो भगवानेव भवतीति नारदशिक्षया ज्ञातवानित्याह वासुदेवो ह्ययमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार के तो भगवान् ही होते हैं यों नारद की शिक्षा से समझ लिया, जिसका वर्णन "वासुदेवो" श्लोक में करता है—

श्लोक—वासुदेवो ह्ययमिति पुमान् श्रीवत्सलाञ्छनः ।
चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री वत्स के चिन्ह वाले हैं, चतुर्भुज रूप हैं, कमल जैसे नेत्र वाले हैं, वनमाला भी धारण की है और अत्यन्त रमणीय हैं तथा पुरुष हैं अतः यह ही वासुदेव है ॥४॥

सुबोधिनी—सत्त्वे आविर्भूतः मोक्षदाता वा अयमेव वासुदेव इति निश्चयं कृतवान्। कथं निश्चय इत्याशङ्क्य असाधारणानि षड्गुणरूपाणि षड्विशेषणान्याह। इतीति निश्चयार्थः। यतः पुमान्, न तु प्रकृतिः। दिव्यदृष्ट्या पश्यतीति सर्वजगतः प्राकृतत्वं, भगवतः पुरुषत्वं च, दृष्टवान्। अनेनैश्वर्यमपि निरूपितम्। 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणी'ति वाक्यात् तेषां पुरुषरूपत्वं न बाधकम्, प्रत्युत मूलस्य पुरुषत्वे तेषां पुरुषरूपत्वमुपद्यत इति साधकत्वमेव। श्रीवत्सो लाञ्छनं यस्येति। क्रियाशक्तिः पूर्णा वीर्यत्वेन निरूपिता। भगवत्येव सा यतः। ततो यशो निरूपयन् सर्वपुरुषार्थदातृत्वे तद्भवतीति चतुर्भुजत्वमाह। ततो दृष्ट्यैव तापहारकत्व भक्तिप्रदत्वेन निरूपयन् श्रियं निरूपयति अरविन्दाक्ष इति। रविव्यतिरिक्तान् सर्वानेव द्यति खण्डयति। महातेजस्विनमेव स्थापयतीति तादृशमक्षि निरूपयन् श्रियं भक्तिं च निरूपितवान्। वनमालां अन्तः प्रवेश्य ज्ञानवत्तिष्ठतीति ज्ञाननिरूपणेन पूर्णता निरूपिता। अतिसुन्दरः सर्वथा कल्मषाभावात्। देशपरित्याग एव हि वैराग्यमिति। अतः कारणात् वासुदेव इति निश्चयः ॥४॥

व्याख्यार्थ—सतोगुण में आविर्भूत अथवा मोक्ष दाता यह ही वासुदेव हैं, यों निश्चय किया, निश्चय कैसे किया ? वह बताते हैं कि असाधारण जो छः गुण हैं उनको सिद्ध करने के लिए छः विशेषण कहते हैं। इति पद यहाँ निश्चय अर्थ में दिया है, क्योंकि पुरुष हैं, न कि प्रकृति है दिव्य दृष्टि से देखा, कि सारा जगत् प्राकृत है, एक यह भगवान् ही अप्राकृत पुरुष रूप हैं, यों कह कर भगवान् का 'ऐश्वर्य" धर्म प्रकट किया है "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि" अर्थ विष्णु के तीन रूप हैं, इस श्रुति के अनुसार उनके पुरुष रूप में किसी प्रकार बाधा नहीं है, बल्कि मूल में पुरुष रूप होने से इनका पुरुष रूप बन सकता है, यों साधकता है ही, जिसको श्रीवत्स का चिन्ह है जिससे पूर्ण क्रिया शक्ति दिखाई और इससे "वीर्य" धर्म कहा क्योंकि वह क्रिया शक्ति भगवान् में ही है, अनन्तर सर्व पुरुषार्थ दातापन होने से ही "यश" होता है उसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि चतुर्भुज हैं अतः चारभुजाओं से चार पुरुषार्थ सिद्ध करते हैं स्वस्वरूप से पाँचवां भक्ति पुरुषार्थ का भी कृपया दान करते हैं, अनन्तर "अरविन्दाक्ष" कमल नेत्र कहने से यह बताया है कि आपकी दृष्टि से कमलवत् विरह ताप का नाश कर भक्ति प्रद हैं, इससे आपका (श्री) गुण दर्शाया है, अरविन्दाक्ष का अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं, कि आपके नेत्र रवि (सूर्य) के सिवाय सर्व को खण्डन करने वाले हैं महातेजस्वी का ही स्थापन करते है, यों कह कर यह बताया है, कि नेत्र "श्री" और भक्ति देने वाले हैं वन माला धारण कर

यह बताया है, कि आप ज्ञान की भाँति अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर स्थिति करते हैं, इससे आपकी पूर्णता प्रकट की है, अति सुन्दर हैं, इससे आप में किसी प्रकार का कलमष नहीं है, यह सिद्ध किया है देश का परित्याग ही "वैराग्य" है। इस प्रकार षड़ गुण सयुक्त होने से निश्चय है कि ये ही वासुदेव है ॥ ४ ॥

श्लोक—लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।
निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥५॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने जो लक्षण कहे थे वे इसमें ही (इनमें) हैं, अत यह कोई दूसरे नहीं हैं, बिना आयुधों के पैदल जा रहे हैं इसलिए मैं भी इनसे बिना आयुध लिए लड़ूंगा ॥५॥

सुबोधिनी—किञ्च, लक्षणैरिति । नारदोक्तैः वासुदेवादन्यो भवितुं नार्हति । पुराणान्तरादत्र कथानुसन्धेया । गतो हि नारदः कालयवनमाह । यादवाः त्वत्सदृशाः इति, परं कृष्णो रक्षकः, स च सर्वथा ज्ञातुमेवाशक्यः, कुतो जयः । कथमशक्य इत्याकाङ्क्षायां नूतनान्यनेकानि रूपाणि संपादयतीत्युक्त्वाह न त्वं न ज्ञास्यसीति । ततो विशेषजिज्ञासायां लक्षणानि निरूपितवान् । स एकाकी निरायुधः अयुध्यमानः सर्वाभरणभूषितः पदातिर्निर्गमिष्यतीति । तं यः सायुधः अश्वाद्यारूढोनुगच्छेत्, तं पापं प्रसर्पदिति । कालयवनस्यापि स्वपापादेव भयं, नान्यत इति निरूपितम्. अतोऽस्मिन्नारदोक्तलक्षणानि वर्तन्त इति वासुदेवश्च । तर्हि किं करिष्यसीत्याशङ्कायामाह निरायुध इति । यतोऽयं निरायुधः पद्भ्यां च चलन् गच्छति, अतोऽहमपि निरायुध एव गमिष्यामि, पद्भ्यामेव चलन्, ततो योत्स्ये मल्लप्रकारेण । अनेन सह युद्धार्थमेव यतः समागतमिति । अहमपि निरायुधः, अयमपीति ॥५॥

व्याख्यार्थ—नारदजी के कहे हुए लक्षणों से निश्चित है कि यह ही वासुदेव है, अन्य हो नहीं सकते हैं, दूसरे किसी पुराण की कथा यहाँ विचार में लानी चाहिए, नारद ने आकर कालयवन को कहा, कि यद्यपि यादव तेरे समान हैं, किन्तु उनका रक्षक कृष्ण है और वह पहचानना कठिन है तब जय कैसे होगी ? वह क्यों नहीं पहचाना जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह अनेक नवीन रूप धारण करते हैं, अतः तू उनको जान नहीं सकेगा तब कालयवन ने उनके जानने की विशेष इच्छा प्रकट की तब नारदजी ने भगवान् के लक्षणों को कहा, कि वे अकेले बिना आयुध लिए पैदल जाते होंगे और सर्व आभरणों से भूषित होंगे तथा लड़ाई भी नहीं करते होंगे, जो घोड़े पर चढ़ हथियार ले उनके पीछे जाएगा, उसको पाप लगेगा यह सुनकर कालयवन को भी अपने आप

से ही भय था, न दूसरे से, यह कथा वहाँ कही है, अतः इनमें नारदजी के कहे हुए लक्षण हैं, जैसे विना आयुध सर्वाभरण भूषित हैं और उड़ते भी नहीं है तथा पैदल जा रहे हैं, तब क्या करना चाहिए यह विचार कर, निश्चय किया, कि जब ये निरायुध पैदल जा रहे हैं तो मैं भी विना आयुधों के पैदल जा के इनके साथ मल्ल युद्ध से लड़ूँगा, क्योंकि मैं इनके साथ लड़ने के लिए ही आया हूँ। मैं भी विना आयुधों के हूँ और ये भी वैसे ही हैं ॥८॥

श्लोक—इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।
अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥६॥

श्लोकार्थ—कालयवन इस प्रकार निश्चय कर, विमुख होकर भागते हुए उन कृष्ण को पकड़ने के लिए पीछे दौड़ने लगा जिनको योगी भी नहीं पकड़ सकते है॥६॥

सुबोधिनी—इतीति । एवं निश्चित्य पराङ्मुखमपि भगवन्तं प्राद्रवत् । नारदो हि हितप्रश्ने उक्तवान् । यथा भगवान् करोति, तथा कर्तव्यमिति, तदा ते जयः जीवनं च भविष्यतीति । तदनेनान्यथाबुद्धम् । भगवान् पराङ्मुखः, अयं भगवत्सम्मुखो भूत्वा सर्पणं कृतवानिति । वाक्याज्ञाने हेतुमाह यवन इति । जातिदोषात् न ज्ञातवानित्यर्थः । यदि गच्छति भगवति तूष्णीमय तिष्ठेत्, वलभद्रेण वा युद्धं कुर्यात्, तदा जयो भवेदपि, भगवांश्च सम्मुखमागच्छेत्, तथागमने प्रयोजनाभावात्, अतः पराङ्मुखमपि भगवन्तं प्राद्रवन्तं जिघृक्षुः सन्स्वयमन्वधावत् । ननु जिघृक्षया गमनमुचितमेवेत्याशङ्क्याह योगिनामपि दुरापमिति । अत्र प्रमाणं तमिति । तथैव प्रसिद्धम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार निश्चय कर विमुख भी भगवान् के पीछे तेज दौड़ने लगा, नारदजी ने तो इसको कल्याण होने का मार्ग बताया था कि जैसे भगवान् करे वैसे तू भी करना तब तेरी जय होगी तथा जीवन भी होगा, वह उनका कहना उसने अन्य प्रकार समझा, भगवान् विमुख थे और यह भगवान् के सम्मुख होकर दौड़ने लगा नारदजी का कथन इसने यवन जाति दोष होने से, पूरा न समझा, भगवान् के जाने पर, यह चुप होकर खड़ा रह जाता उनके पीछे दौड़ता नहीं, तो अथवा बलभद्रजी से युद्ध करता तो इसकी जीत भी होती और भगवान् सम्मुख भी आ जाते हैं, वैसे जाने के लिए कोई प्रयोजन नहीं था, विमुख भगवान् के भी पीछे दौड़ा, क्योंकि उनको पकड़ने की इसकी इच्छा थी, पकड़ने के लिए पीछे तेजी से जाना तो योग्य ही था इस पर कहते हैं, योग्य नहीं था, कारण कि जिनको पकड़ने के लिए शीघ्रता से जा रहा था, उनको योगी भी नहीं पहुँचते है तो इसकी क्या शक्ति है, कि उनको पकड़ ले इसमें प्रमाण क्या ? इसलिए श्लोक में "तं" शब्द देकर यह बताया है कि यह तो प्रसिद्ध ही है ॥६॥

आभास—**ननु कियद्दूरं** गत्वा **अप्राप्तौ कथं न निवृत्त** इति चेत्, तत्राह हस्तप्राप्तमिवेति ।

आभासार्थ—कितनीक दूर जाने पर लौटकर क्यों न आया ? इसका उत्तर "हस्तप्राप्तमिवा" श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे ।
नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् पद-पद पर यों दिखाते थे, कि अभी पकड़ में आया, यों करते हुए उसको ऐसे दूर ले गए जैसे वह यवनेश पर्वत की कन्दरा में पहुँच गया ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—स हि हरिणा नीतः । तर्हि वञ्चयतीति कथं न ज्ञातवान्, तत्राह । पदे पदे हस्तप्राप्तमात्मानं भगवन्तं मन्यमान इति । हस्तमात्रगमनानन्तरं भगवान प्राप्य इति स जानन् गतः । नहि कश्चिद्धस्तमात्रादुदासीनो भवति । अत आकांक्षा न निवृत्ता । यदा हि प्राणी क्रियया आत्मानं प्राप्स्यामीति मन्यते, स हि भ्रान्त एव भवति । ननु भगवता वा किमर्थं नीत इति चेत्, तत्राह हरिणेति । स हि हरिः । तस्याप्यविद्या हर्तव्या, मुचुकुन्दस्य च निद्रेति । भगवान् हि यः स्वात्मानमनुसरति, तत्रोपेक्षत इति, पदे पदे तथा बुद्धिमुत्पादितवान् । तदाह दर्शयतेति । पदे पदे आत्मानं हस्तप्राप्तं दर्शयता । उभयत्रापीदं वाक्यं युज्यते । अतो गन्तुर्नेतुश्च इच्छाया अनिवृत्तत्वात् दूरं नीतः । ततः अद्रेः कन्दरा यत्र तत्स्थानमपि नीतः । नन्वेतावत्यपि दूरे अप्राप्तिश्चेत्, तदा नीतिशास्त्रविचारेणापि 'शिथिलाश्च सुबद्धाश्चे'ति न्यायेन कथं न निवृत्त इति चेत्, तत्राह यवनेश इति । दुष्टानां स्वामी न नीतिज्ञः । मथुरातो दशयोजनान्ते धवलपुरमिति प्रसिद्धमिदानीम्, पूर्वं तु आसीत् मुचुकुन्दगुहा ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—कालयवन लौटा क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि उसको निश्चय हरि स्वयं ले गए, उसने क्यों नहीं समझा, कि मुझे ठगते हैं इस पर इसको यह ठगने की बात समझ में ही नहीं आई, क्योंकि इसने देखा कि दूर नहीं है, अभी पकड़ लेता हूँ, यों समझ कर जाने लगा, कोई भी इस प्रकार समझे कि केवल हाथ जितना फासला है, तो कोई उदासीन हो कर लौटता नहीं है, इसलिए चाह मिटी नहीं, जब मनुष्य समझता है, कि यों क्रिया करने से भगवान् को पा लूंगा तब समझना चाहिए ऐसा समझने वाला बिलकुल भूला हुआ है, भला भगवान् इसको क्यो ले जा रहे थे ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वे सब की अविद्या का हरण करने वाले है, जिससे आप का नाम यहाँ "हरि" कहा है इसकी भी अविद्या नष्ट करनी है और मुचुकुन्द की निद्रा भी हरण

करनी थी, आप भगवान् हैं, अतः जो आपके पीछे चलता है उसकी उपेक्षा नहीं करते है, इस प्रकार पद पद में उसमें ज्ञान पैदा करने लगे, कैसे ? तो कहते हैं कि पद पद में अपने को हाथ में आया यों दिखा कर ज्ञान देने लगे, यह वाक्य दोनों तरफ लग सकता है. अत. यवन पकड़ने की इच्छा से पीछे जा रहा था उसकी इच्छा थो, कि मैं इनको पकड़ लूं वह इच्छा इसकी पूर्ण नहीं हुई थी, वैसे लेजाने वाले भगवान् की, इच्छा थी कि इसको उसके द्वार में ले चलूं जहाँ मुचुकुन्द सोया हुआ है, इस प्रकार दोनों की इच्छाएँ पूरी नही हुई थी इस लिए भगवान् इसको दूर लेजा रहे थे, अतः वह पर्वत को गुफा जहाँ इसका स्थान था वहाँ वे गए इतनी दूर ले जाने पर भी जब पकड़ में नही आए तब नीति शास्त्र के 'शिथिल और सुबुद्ध'' इस न्यायानुसार क्यों नही लौटाया ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि "यवनेशः" दुष्टों का स्वामी है, अतः नीति नहीं जानता है। मथुरा से चालीस कोस पर, अब प्रसिद्ध धवल "धोल" पुर नगर जहाँ है वहाँ पहले वहाँ मुचुकुन्द की गुफा थी ॥ .॥

आभास—क्रियया प्राप्त्यभावमाशङ्क्य, जयादिनेव वचनाद्भगवान् प्राप्तव्य इति मत्वा, मध्ये वचनमप्युक्तवानित्याह पलायनं यदुकुल इति ।

आभासार्थ—जब पीछे जाने की क्रिया से भगवान् नहीं प्राप्त हुए तब जय आदि की भाँति वचनों से भगवान् को प्राप्त करना चाहिए यों मान कर, बीच-बीच में वचन भी कहने लगा वे वचन "पलायनं" श्लोक में कहते है ।

श्लोक—पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।
इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ।।८।।

श्लोकार्थ—यदुकुल में आविर्भूत आपको इस प्रकार भागना योग्य नहीं है, ऐसे तिरस्कार के वचन कहता हुआ पीछे जा रहा था, परन्तु उनको पा न सका, कारण कि इसके पाप अभी तक नाश नहीं हुए हैं ।।८।।

सुबोधिनी—यदुर्हि धर्मात्मा । अन्यथा अस्मत्सदृशत्वेन कथमुक्तो भवेत । तादृशवंशे जातस्य सर्वागम्यस्यापि अवतारधर्मानुसरणमुचितमिति पलायनमनुचितमित्यर्थः । ननु भगवान् कथमेतद्वाक्यं न गृहीतवान्, तत्राह इति क्षिपन्ननुगत इति । स हि न यथार्थतया वदति, किन्तु तिरस्कारार्थं वदतीति । यदुकुले तस्य श्रद्धाभावात् किं तस्याग्रे यदुकुलप्रतिष्ठारक्षणेनेति युक्तमेव भगवतस्तद्वाक्यानङ्गीकरणम् । अत एव नैनं प्राप । अन्यथा भगवदनुगमने भगवान् प्राप्तः स्यात् । तेन वचनेन पापमपि जातमित्याह अहताशुभ इति । यतः

अशुभमपि न निवृत्तम्, अतो न प्राप। पूर्वाशुभमिति केचित्। तद्भगवद्दर्शनेनानुगमनेन च निवर्त्येत एवेत्युपेक्षणीयम्। आहतः अशुभेनेति वा। वाक्यजनितपापेन पृष्ठतस्ताडितः न भगवन्तं प्रापेत्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ—यदु धर्मात्मा थे, यदि धर्मात्मा न हुए होते तो, हमारे सरीखे उनको श्रेष्ठ कैसे कहे, वैसे धर्मिष्टवंश में पैदा हुए और सबसे अगम्य का भी अवतार धर्म का अनुसरण करना योग्य है किन्तु भागना अयोग्य है, जब यवन ने यह वचन कहें तब भगवान् ने इन वचनों को क्यों नहीं माने ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह यवन यह वचन बोलता हुआ पीछे जा रहा था, भगवान् ने इस लिए नहीं माना. कि ये वचन तिरस्कार करने के लिए बोल रहा था, अतः वे वचन मानने के योग्य नहीं थे. उसकी यदुकुल में श्रद्धा नही थी, इस लिए उसके आगे यदुकुल को प्रतिष्ठा रखने से क्या लाभ ? अतः भगवान् ने उसके वचन अंगीकार नही किए वह योग्य ही किया है, इसलिए वह भगवान् को पा न सका, नही तो भगवान् के अनुशरण करने से, भगवान् मिलही जावे उस वचन से इसको पाप भी लगा इस लिए कहा कि "अहताशुभः" इसके पाप नष्ट नही हुए जिससे, भगवान् को प्राप्त न कर सका, कोई कहते हैं कि अगले अशुभ थे इस लिए प्राप्त नहीं कर सका यदि वे पाप पूर्वजन्म के होते तो भगवान् के दर्शन और अनुगमन करने से मिट जाते अतः इस सिद्धान्त की उपेक्षा करनी चाहिए अथवा अशुभ से नष्ट हुआ यों अर्थ करना चाहिए कहे हुए वचनों से उत्पन्न पाप से पीछे से ताड़ित हुवा इस लिए ही भगवान् को प्राप्त हुआ ॥८॥

आभास—भगवान् पुनर्वराहो हिरण्याक्षवाक्यमिव सर्वसमर्थोऽपि, कार्यगौरवं मन्यमानोऽपि, न निवृत्त इत्याह एव क्षिप्तोऽपीति ।

आभासार्थ—फिर वराहावतार में हिरण्याक्ष के वाक्यों की भाँति यहाँ सर्व समर्थ होते हुए भो भगवान् कार्य गौरव मानते हुए न लौटे जिसका वर्णन "एवं क्षिप्तोऽपि" श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—एवं क्षिप्तोऽपि भगवान्प्राविशद्गिरिकन्दरम् ।
सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥६॥

श्लोकार्थ—ऐसे तिरस्कृत होते हुए भी भगवान् गिरि की कन्दरा में प्रविष्ट हुए वह भी अन्दर गया, वहाँ दूसरे सोए हुए पुरुष को देखा ।

सुबोधिनी—'वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे वधः स्मृत' इति वधानुकल्पमेव कर्तुं गिरिकन्दरं प्राविशत् । एतावानेव भगवद्व्यापारः निर्गुणो हि फले निमित्तमिति ज्ञापयितुं निरूपितः । तद्भगवति फलितमित्याह सोऽपि प्रविष्ट इति । यदा भगवान् गिरिकन्दरं प्राविशत्, तदा सोऽपि प्रविष्टः । प्रवेशानन्तरं तस्य भ्रमो जात इत्याह तत्रान्यं शयानं नरं ददृश इति । नरत्वमेव तत्र प्रतीतम्, न त्वन्यद्वै लक्षण्यम् । यद्यपि ससामग्रीकः शेते, तथापि पूर्वमेव शयनार्थं सामग्री प्रेषयित्वा पश्चादागत्य शयनं कृतवानिति तस्य बुद्धिः ॥९॥

व्याख्यार्थ—यदि कोइ भक्त का द्रोह करे, तो उसको वध जैसा सामान्य दण्ड देना चाहिए, यदि भगवान् का द्रोह करे तो वध का दण्ड देना चाहिए अथवा भगवान् का द्रोह करे तो वध जैसा सामान्य दण्ड देना चाहिए और भक्त का द्रोह करे तो वध का दण्ड देना चाहिए इस वाक्य के अनुसार "वधानुकल्प" वध से कुछ कम दण्ड-ही करने के लिए पर्वत की गुफा में प्रवेश कर गए, इस प्रकार ही निर्गुण भगवान् की क्रिया फल में निमित्त कारण है, यों जताने के लिए निरूपण किया है, अर्थात् भगवान् गुफा मे गए उसका फल जो वध होना था, वह फल यवन को मिला क्योंकि यवन भी गुफा में गया, जाने के बाद उसको भ्रम हुआ, क्या भ्रम हुआ ? भ्रम यह हुआ, कि उसने वहाँ एक दूसरे पुरुष को सोया हुआ देखा, उसको वहाँ केवल पुरुषपने की ही प्रतीति हुई। उसमें जो विलक्षणता थी उसको प्रतीत न हुई, यद्यपि वह पुरुष सकल सामग्री सहित सो रहा था किन्तु इसकी बुद्धि यों हुई कि अपनी सकल सामग्री पहले ही भेज दी है क्योंकि इनको सोना था ऐसा उसकी बुद्धि में भ्रम हुआ ॥९॥

आभास—ननु भगवान् शयनार्थं चेदागतः, तदा तवागमनमनुचितमिति सुतरामतिक्रमोऽनुचित इत्याशङ्क्य, तस्य भ्रान्तस्याभिप्रायमाह नन्वसाविति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् सोने के लिए ही आए हैं तो तेरा आना योग्य नही है, इस लिए अतिक्रम करना अयोग्य हैं ऐसी शंका कर उस भूले हुए का अभिप्राय "नन्वसौ" श्लोक में करते हैं–

श्लोक—**नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् ।**
इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—कालयवन मन में कहने लगा, कि यह मुझे इतना दूर लाकर आप साधु की भांति सो रहे हैं अच्युत को यों समझ उस पुरुष को लात मारी ॥१०॥

सुबोधिनी—स्वयमागच्छतु नाम. कथं नोक्तवान् शयनार्थं गच्छामीति, युद्धं वा न करिष्यामीति । यो हि यमनुधावति, तस्यानिषेधे 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेन दूरे गत्वा युद्धं करिष्यतीत्यभिप्रायो भवति । निकटे ससहायो बलवान् भवतीति । तस्मादेवं श्रमं जनयित्वा एतावद्दूरमानीय, युद्धमप्यकृत्वा, साधुवत् शेते । यो हि वञ्चयति, स न साधुः । असाधोरनिद्राणस्योत्थापनं न दोषायेति दुर्बुद्धिः शयानं भगवन्तं मत्वा पदा समताडयत् । पादयोर्व्यथा जनितेति, महांश्चातिक्रमो भवत्विति । शयानोद्बोधनं पादताडनमतिक्रमार्थमच्युतबुद्धिश्चेति त्रयो दोषाः । ननु महानयं महतश्चोपदेशं प्राप्य कथमेवं दुर्बुद्धिर्जात इति चेत्, तत्राह मूढ इति । स्वभावतो मूढः । अच्युत इति तद्बुद्धया ताडितत्वान्महतोऽपि पादप्रहारे न राज्ञः कश्चिदपकारो जात इति सूचितम् ।।१०।।

व्याख्यार्थ—यवन कहने लगा, आप आजाते, मुझे क्यों ले आए ? कह देते, कि मैं सोने के लिए जा रहा हूँ और लड़ूंगा नहीं, जो कोई किसी के पीछे दौड़ता है तो उसको आने के लिये यदि रोका न जाए तो समझा जाता है, कि इसकी आने में सम्मति है, यह वहाँ दूर चल कर लड़ाई करेगा ऐसा इसका अभिप्राय है यों समझा जाता है, क्योंकि वहाँ निकट में वह शत्रु बलवान् और उसकी सहायता करने वाले भी हैं दूर कोई नहीं होगा इस प्रकार श्रम पैदा कर इतना दूर लाकर अब आप युद्ध भी न कर, साधु की भाँति सो रहे हैं जो इस प्रकार ठगते हैं वह साधु नहीं हैं, असाधु को और जो नीन्द में नहीं है, उसको जगाने में कोई दोष नहीं है, इस प्रकार की दुर्बुधि से उस सोए हुए को भगवान् समझ कर लात लगा दी, पादों के लगने से व्यथा हुई और महान् अतिक्रम है, सोए हुए को जगाना, लात मारना, अतिक्रम के लिए, अच्युत की बुद्धि. ये तीनों ही दोष है यह कालयवन महान् है और महान् नारदजी का इसको उपदेश मिला है फिर इसकी बुद्ध ऐसी कैसे हुई ? इसके उत्तर में कहा है, कि "मूढ" स्वभाव से मूख है; यह अच्युत है इस बुद्धि से लात मारी जिससे राजा का कुछ भी उपकार न हुआ ।।१६।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह स उत्थायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह "स उत्थाय" श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने ।
दिशो विलोकयन्पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम् ।।११।।

श्लोकार्थ—बहुत दिनों से सोया हुआ, वह उठकर धीरे धीरे आँखों को खोल कर चारों तरफ देखते हुए बाजु में खड़े हुए को देखा ।।११।।

सुबोधिनी—पादप्रहारेण चिरं सुप्तोप्युत्थाय सर्वा दिशो विलोकयन् पार्श्वे तं कालयवनमद्राक्षीत्। स तु प्रथमतः तत्प्रतिकूलां दिशं दृष्टवान्, ततः क्रमेण दृष्टिं प्रसारयन् द्वितीयपार्श्वे अवस्थितमुत्थितं पश्चाद्ददृशे ॥११॥

व्याख्यार्थ—बहुत समय से सोया हुआ भी लात मारने से जगकर सब दिशाओं को देखते हुए समीप में उस कालयवन को देखा वह तो पहले ही उसके प्रतिकूल दिशा को देख रहा था, पश्चात् क्रम से दृष्टि को फैलाते हुए दूसरी तरफ जैसे स्थित था, वैसे उसको पश्चात् उठा हुआ देखा ॥१४॥

आभास—ततः कोऽयमिति प्रश्नात्पूर्वमेव दर्शनमात्रेणैव स भस्मसाज्जात इत्याह स तावत्तस्य रुष्टस्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् वह कौन है ? इस प्रकार पूछने से पहले ही केवल दर्शन होते ही यवन भस्म हो गया इसका वर्णन "स तावत्" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।
देहजेनाग्नि दग्धो भस्मसादभवत्क्षणात् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! क्रोधित हुए उसके दृष्टि पड़ने से, उस कालयवन की देह से अग्नि प्रकट हुई जिससे जल कर वह क्षण में भस्म हो गया ॥१२॥

सुबोधिनी—निरपराधस्ताडित इति तस्य क्रोधः। अतो रुष्टस्य तस्य दृष्टिपातेन निमित्तेन कालयवनदेहस्थित एवाग्निः काष्ठस्थितो वह्निर्वह्निस्पर्शेनेव प्रादुर्भूतः। ततो देहजेनैवाग्निना दग्धः सन् क्षणमात्रेणैव भस्मसादभवत्। बहिःस्थितोऽग्निः दवानल इवाल्पमेव दहेत्, पलायनं वा कुर्यात् । अन्तःस्थितोग्निरिति सर्वव्यापारं दूरीकृत्य भस्मसादेव कृतवान् ॥१२

व्याख्यार्थ—बिना अपराध के उस सोए हुए को लात मारी, इसलिए वह क्रुद्ध हुआ, क्रोधित हुए उसकी दृष्टि पड़ने से कालयवन की देह में ही स्थित अग्नि जैसे काष्ठ में स्थित अग्नि के स्पर्श से प्रकट होती है, वैसे ही प्रकट हो गई, पश्चात् देह से उद्भूत अग्नि से जल कर क्षण में राख हो गया, बाहिर की अग्नि वन की अग्नि की भाँति थोड़ा ही जलावे, वा भाग जावे, भीतर की अग्नि ने तो सर्व प्रकार के व्यापार को दूर कर भस्म ही कर दिया ॥१२॥

आभास—प्रकृते भगवता यवनोऽयं यथाकथञ्चिन्मारित इति विवक्षितत्वाद्विशेषं न कथयिष्यतीत्याशङ्क्य सावधानं च शृणोतीति ख्यापयितुं राजा तं पृच्छति को नामेति।

आभासार्थ—चालू प्रसंग में भगवान् ने इस यवन को किसी प्रकार मारा, यों विवक्षित होते हुए भी विशेष न कहेंगे यों शंकित हो कर और सावधानता से सुनता है इसको प्रसिद्ध करने के लिए राजा उसका प्रश्न "को नाम" श्लोक से करता है।

राजोवाच—

श्लोक—को नाम स पुमान्ब्रह्मन्कस्य किंवीर्य एव च।
कस्माद्गुहां गतः शिश्ये किंतेजो यवनार्दनः ॥१३॥

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित कहने लगा कि हे ब्रह्मन् उस पुरुष का नाम क्या था? किस वंश का था? उसका पराक्रम कैसा था? जिससे कालयवन को भस्म कर डाला, वह गुफा में किस लिए जा कर सो रहा था?

सुबोधिनी प्रसिद्धया अज्ञानं वारयति। 'अन्य'मिति पुल्लिङ्गात् पुंस्त्वं ज्ञातमेव। अन्ये पञ्चार्था ज्ञातव्याः।

व्याख्या—प्रसिद्धि से अज्ञान का निवारण करते हैं नवें श्लोक में "अन्यं" शब्द पुल्लिग देकर बता दिया कि यह पुरुष है, यों तो जान लिया है, शेष पांच अर्थ जानने हैं वे पांच अर्थ कारिका में कहते हैं।

कारिका—नामसंबन्धरूपाणि निमित्तं शयने तथा।
दाहकत्वं दृष्टिमात्राद्ब्रह्मविज्ज्ञास्यते परः ॥१॥

कारिकार्थ—(१) नाम, (२) सम्बन्ध, (३) रूप, (४) सोने का कारण और (५) देखने से ही जलना ये पाँच अर्थ जानने हैं। श्लोक में "ब्रह्मन्" विशेषण देकर यह कहा है कि पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी सब जानते हैं अतः परीक्षित शुकदेवजी को कहता है, कि आप यह सब मुझे बताओ ॥१॥

सुबोधिनी—कस्य संबन्धी, किं वीर्यं यस्य, अन्यथा एकाकी सिंहादिसम्भाविते देशे कथं शयीत । कस्माद्वा हेतोः उत्तमस्थानेषु विद्यमानेषु गुहां गत. शेते । किं वा तस्य तेजः । किं तेजो यस्येति किं तेजाः । यतो यवनादना जातः । अग्निसूर्यादीनामपि नैवंविधं तेजः सम्भवति । यवनपदेन तस्यापि महत्त्वमुक्तम् । विशेषतो वक्तव्यैवैषा कथेति ।।१३।।

व्याख्यार्थ—किसका यह सम्बन्धी है ? इसका पराक्रम क्या है ? यदि विशेष पराक्रम न होता तो अकेला जिस प्रदेश में सिंह आदि हिंसक पशुओं के आने की संभावना है, वैसे प्रदेश में कैसे आ कर सोवे ? अथवा उत्तम स्थानों के होते हुए भी गुफा में किस कारण से सोता है ? उसका तेज कैसा है ? कैसे तेज वाला है ? जिस तेज से यवन जनकर भस्म हो गया अग्नि सूर्य आदि का तेज भी ऐसा नहीं होता है. और जिसको जलाया है वह भी "महान्" है इस लिए हो उसको "यवन" कहा है इस लिए यह कथा मुझे विशेष रूप से कहनी चाहिए ।।१३।।

आभास - **एतदर्थमेव भगवानागत इति तस्य विशेषमाह स इक्ष्वाकुकुल इति सप्तभिः ।**

आभासार्थ—भगवान् इसीलिए ही आए है इससे उसका विशेष वर्णन "स इक्ष्वाकुकुले" श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—स इक्ष्वाकुकुले जातो मांधातृतनयो महान् ।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।।१४।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि--वह इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न, मानधाता राजा का पुत्र था, ब्राह्मणों का भक्त और सत्य ही जिसकी लड़ाई है वैसा मुचुकुन्द नाम वाला बड़ा प्रसिद्ध हुआ था ।।१४।।

सुबोधिनी—भगवत्त्वमग्रे तस्य भविष्यतीति भगवत्कथैवैषेति ज्ञापयितुं च । अन्यथा भगवद्व्यतिरिक्तकथा न श्रोतव्येति श्रोतॄणां विरक्तिः स्यात् । इक्ष्वाकोः कुले जातः । मनोः पुत्राणां मध्ये मुख्य इक्ष्वाकुः मान्धाता चायोनिजः, केवलपुंसवनजलाज्जातः । अप्राकृतबीजजोऽपि स्वरूपतोऽपि महान् । कुलोत्कर्षः पितुरुत्कर्षः स्वरूपोत्कर्षश्चोक्तः । तस्य नामोत्कर्षमाह मुचुकुन्द इति ख्यात इति । तस्य वैदिकं सहजं च धर्ममाह ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गर इति । ब्राह्मणानां हितश्चेत्सर्वोऽपि वैदिको धर्मः सेत्स्यति । सत्यः सङ्गरो युद्धं यस्य ।।१४।।

व्याख्यार्थ--यह भगवत्कथा ही है यह जताने के लिए कहा है कि उसका भगवत्व आगे प्रकट होगा, यदि यों न कहते तो श्रोता समझते कि यह भगवत्कथा नही है तो इससे उनकी विरक्ति हो जाती, इक्ष्वाकु के कुल में जन्मा है, मनु के पुत्रो में मुख्य इक्ष्वाकु है, मान्धाता तो योनि से उत्पन्न नहीं केवल पुंसवन के संस्कृत जल से उत्पन्न हुआ है, अलौकिक बीज से जन्म होने के कारण से भी तथा स्वरूप से महान् हैं कुल, पिता और स्वरूप इन तीनों से मानधाता महान् होने से ही विशेष उत्कर्ष वाला है, अब चौथा उसके नाम का उत्कर्ष कहते हैं कि वह मुचुकुन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ उसमें वैदिक धर्म स्वाभाविक था वह कहते हैं कि १–ब्रह्मण्यः, ब्राह्मणों का हितकारी था, उनका हित हुआ तो सम्पूर्ण वैदिक धर्म सिद्ध होगा,सत्यसंगरः सत्य हो जिसका युद्ध है, अर्थात् सत्यकार्यों को रक्षा के लिए लड़ाई करता था ॥१४॥

श्लोक—स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे ।
असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—दैत्यों से डरे हुए, इन्द्र आदि देवों ने अपनी रक्षा के लिए उससे प्रार्थना की थी, अतः उसने उनकी रक्षा बहुत समय तक की ॥१५॥

सुबोधिनी—एवं षड्गुणयुक्त इति इन्द्राद्यै-रात्मरक्षणे स याचितः । अनेन भगवत्तुल्यतैव निरूपिता । स्वरूपतो लोकतः कार्यतश्च गुणाना-मुत्कर्षो निरूपितः । संसाराद्भीताः महापुरुषमिव प्रार्थितवन्तो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह-असुरेभ्यः परित्रस्तैरिति । ये हि देवानपि मारयन्ति, तानपि मारयित्वा, रक्षां कृतवानित्याह तद्रक्षामिति । दैत्यानां पलायने पुनरागमनशङ्का भवतीति चिर-कालं रक्षामकरोत् । यावदिन्द्रादयोऽतिपुष्टाः । क्षत्रियस्यायमेव धर्मः यज्ञादेरप्यधिक उक्तः ॥१५॥

व्याख्यार्थ – इस प्रकार वह षड् गुण युक्त था, अतः इन्द्र आदि देवों ने अपनी रक्षा के लिए उसको प्रार्थना को, इससे उसकी भगवान् से समानता दिखाई, स्वरूप से लोक से, और कार्य से गुणों का उत्कर्ष दिखाया, संसार से भयभीत मनुष्य जैसे पुरुषोत्तम को प्रार्थना करते हैं, वैसे ही देवों ने भी की होगी इस पर कहते हैं कि नहीं, वे तो असुरों से डरे हुए थे, जो असुर, देवा को भी मारते हैं उनको भी मार कर देवों की रक्षा की, दैत्य हार कर भाग गए किन्तु फिर न आ जावें, इस शंका से, बहुत समय तक उनकी रक्षा करता रहा, तब तक रक्षा की, जब तक इन्द्रादि देव शक्तिमान् न बने थे उनके शक्तिमान् हो जाने के अनन्तर अपने स्थान पर लौट आया, क्षत्रियों का रक्षा करना ही धर्म है यज्ञादि से भी विशेष है ॥१५॥

आभास—सा च रक्षा पर्यवसानपरा जातेति रक्षाया अवधित्वं निरूपयन्नाह लब्ध्वा गुहमिति ।

आभासार्थ—वह रक्षा हद वाली–समाप्तिवाली–हुई, यों रक्षा की अवधि का निरूपण "लब्ध्वा गुहं" श्लोक में करते हैं–

श्लोक—लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।
राजन्विरमतां कृच्छ्राद्भवान्नः परिपालनात् ॥१६

श्लोकार्थ—वे देवता अपनी रक्षा करने वाले कार्तिकेय को प्राप्त कर मुचुकुन्द को कहने लगे कि हे राजन् ! आप हमारे पालनरूप कष्ट से अब विराम करिए ॥१६॥

सुबोधिनी—कार्तिकेयश्चे दुत्पन्नः, पश्चात्तारकादयो हता इति तस्य सेनापतित्वे जाते पश्चाद्विरामं प्रार्थयामासुः । अनेनास्य रथिन्यायेन स्वार्थभावः सूचित. । अथ स्वस्थाः सन्तः भिन्नप्रक्रमेण राजानमब्रुवन् । पूर्वं भीताः, इदानीं संतुष्टा इति भिन्नप्रक्रमः । तेषां वाक्यान्याह राजन्निति । क्रियमाणमादौ व्यावर्तयन्त । नोऽस्माकं परिपालनरूपात् कृच्छ्रात् विरमतामिति । यद्यपि स्वर्गे स्थितः, तथापि भोगाभावात् सर्वदा युद्धकरणाच्च क्लेश एव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—कार्तिकेय उत्पन्न हुए, पश्चात् तारक आदि मारे, तब वे सेनापति हो गए, यों होने के अनन्तर, देवता राजा को विराम करने की प्रार्थना करने लगे इससे इसका "रथिन्याय से" स्वार्थ का अभाव सूचित किया, पश्चात् स्वस्थ अर्थात् शक्तिमान् एवं संतुष्ट होने पर अन्य प्रकार से राजा को कहने लगे, पहले डरे हुए थे, अब प्रसन्न हैं अतः यह कहने का पृथक् नमूना है, उनके वचन कहते हैं, हे राजन् ! हमारे पालनरूप कष्ट से अब विराम पाओ यह कहकर पहले यह बताया, कि आप जो अब तक हमारी रक्षा के लिए कष्ट कर रहे हो उस कष्ट का त्याग कर अब आराम कीजिए, यदि कहो, कि मैं तो स्वर्ग में बैठा हूँ जो सुख का स्थान है, तो उसके लिए कहते हैं, कि यद्यपि स्वर्ग में स्थित हो तो भी आप भोग तो भोगते नहीं क्योंकि सर्वदा युद्ध करने से कष्ट ही उठा रहे हो ॥१६॥

आभास—न केवलं देहक्लेशः अस्मत्परिपालने, किन्तु सर्वस्वमपि तव नष्टमित्याहुः नरलोकं परित्यज्येति द्वाभ्याम् ।

अभासार्थ—आपको हमारी रक्षा करने से केवल देह का क्लेश नहीं हुआ है, किन्तु आपका सर्वस्व भी नाश हो गया है, जिसका वर्णन "नरलोक परित्यज्य" दो श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—नरलोकं परित्यज्य राज्यं च हतकण्टकम् ।
अस्मान्पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः ॥१७॥
सुता महिष्यो भवता ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः ।
प्रजाश्च तुल्यकालीना नाधुना सन्ति कालिताः ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! पृथ्वी का निष्कंटक राज्य छोड़, हमारी रक्षा करने हेतु आपने सर्व कामनाएँ छोड़ दीं ॥१७॥

इतना समय आप हमारी रक्षा करते रहे, पीछे पृथ्वी पर आपके पुत्र, रानियाँ, बन्धु, हाथी, मन्त्री और उस समय की जो प्रजा थी वे सब काल के ग्रास हो गए हैं अब एक भी शेष नहीं रहा है ॥१८॥

सुबोधिनी—भोगो भोगसाधनानि च गतानीति। जन्मभूमिः सहजा च सर्वेषां सुखदा। अतो नरलोकपरित्यागोऽपि दुःखहेतुर्भवति। हतकण्टकं च राज्यमिति। शूरत्वात् अज्येष्ठत्वेऽपि एतदधीनमेव राज्यमित्यस्मिन्नेव भोगः प्रतिष्ठितः। एवं सर्वथाऽनिषिद्धं भोगं परित्यज्य अस्मानेव पालयतः ते सर्व एव कामा उज्झिताः त्वया सर्वेऽपि कामास्त्यक्ताः। तत्र हेतुः वीरेति। वीररसप्रधानः नान्यं कामं सुखत्वेन मन्यत इति। एतत्कीर्तनं महानुपकारः त्वयास्मासु कृत इति ज्ञापनार्थम्। दैहिका अपि निवृत्ता इत्याह सुता महिष्य इति। दिवसस्य स्वर्गे वर्षात्मकत्वात् तस्य कालाज्ञानम्, यथा ब्रह्मसभायां गतस्य रैवतस्य। अतो ज्ञापयन्ति। महिष्यः स्त्रियः, ज्ञातयो भ्रात्रादयः, आमात्याः सेवकप्रभवः, मन्त्रिणश्च। एते राज्यसंबन्धिन उभये तुल्यकालीनाः। प्रजा मित्राणि। अधुना ते तव न सन्ति, यतः कालिताः कालेन भक्षिताः। अनेन तत्र गन्तव्यमिति शङ्का निवर्तिता ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भोग और भोग के सर्व साधन गए, जन्म भूमि सबको स्वाभाविक सुख देने वाली है, अतः उस भूमि का त्याग भी दुःख का कारण है, तथा राज्य त्याग भी दुःखदायी है, फिर भी निष्कंटक होने से विशेष दुःखद है, शूरवीर होने से बड़ा नहीं था, तो भी राज्य इसके आधीन था जिससे उसका भोग यही करता था, जिसका निषेध नहीं है वैसे राज्यों के भोग सर्व प्रकार त्याग कर हमारा ही पालन करते हुए आपको सर्व ही कामनाएं छूट गई, क्यों छोड़ी ? क्योंकि

"वीरः" वीर था, वीर पुरुष को युद्ध में जो रस प्राप्त होता है उसकी ही वह कामना करता है, अन्य सब कामनाएँ सुखरूप नहीं समझता हैं, यों कहने का तात्पर्य यह है, कि आपने हमारे ऊपर महान् उपकार किया है। आपके देह सम्बन्धी सुख भी इस कारण से गए हैं, आपको काल का ज्ञान हुआ ही नहीं, क्योंकि स्वर्ग में एक दिन (यहाँ के) एक वर्ष के समान होता है, जैसे ब्रह्म सभा में गए हुए रेवत को कालका ज्ञान नहीं हुआ था, वैसे ही आपको भी युद्ध रस में मग्न होने से, कालका ज्ञान न हुआ. इतने समय में हमारे राज्य में क्या हुआ ? उसका पता ही नहीं है. अब देवता बताते हैं, स्त्रियाँ, भाई बन्धु, अमात्य से लेकर सर्व सेवक और मन्त्री गण तथा प्रजा एवं मित्र, ये सब राज्य सम्बन्धी सामान काल के थे, अर्थात् जब आप यहाँ आए तब ये सब थे, अब वे वहाँ नहीं है, क्योंकि काल ने उनका भक्षण कर लिया है इससे यह मन में विचार लाना व्यर्थ है, कि अब मैं अपने राज्य को जाऊँ ॥१७, १८॥

आभास—तर्हि भवद्भिः कथं तेषां रक्षा न कृता, देवा ह्यायुषः प्रभवो भवन्तीत्याशङ्क्याह कालो बलीयानिति ।

आभासार्थ—यदि यों हुआ तो आपने उनकी रक्षा क्यों नहीं की ? देव आयु देने वालेहोते हैं, यदि यों शंका करते तो उसका उत्तर "कालो" इस श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—कालो बलीयान्बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।
प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥१९॥

श्लोकार्थ—जैसे ग्वाल, पशुओं को खेलाता हुआ ले जाता हैं वैसे ही बलियों में बलवान्, ईश्वर, अव्यय, भगवान् काल भी क्रीडा करते हुए प्रजाओं को ग्रस लेते हैं ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—बलिनां वाय्वासन्यगुणानां मध्ये । ततोऽपि बलीयान् । तत्र हेतुर्भगवानिति । ननु धर्मे क्रियमाणे अक्लिष्टकर्मा भगवान् भक्षितवानित्याशङ्क्याह ईश्वर इति । महीश्वरे नियमोऽस्ति । तर्हि भगवान् भक्तस्य कथमेव कृतवानित्याशङ्क्याह अव्यय इति । अक्षरात्मा सः । न तु पुरुषोत्तमात्मा । तेन न तस्य भक्तपक्षपातः । पक्षपातेऽपि अव्ययमेव पदं दास्यतीति पुत्रादीन् दूरीकृतवान् । तस्यायमेव स्वभाव इत्याह । क्रीडन्नपि प्रजाः कालयत इति । स हि यतस्ततः विक्षिप्तान् स्वस्मिन्नानयति, स्वगृहे रोधयति । तस्मिन् दोषबुद्धिर्भविष्यतीति दृष्टान्तमाह पशुपालो यथा पशूनिति । बहिःस्थिताः पशवोपि व्याघ्रादिभिर्हन्यन्त इति । तथा कालो-

ऽपि बहुकालं बहिःस्थिताः उत्पथा भविष्यन्तीति बहिर्न स्थापयति । अतः अशक्यप्रतिकारात्ते गताः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—वायु और आसन्य प्राण जो बलवान् गुण वाले हैं उनसे भी यह काल बलवान् हैं, उसमें कारण बताते हैं—१–भगवान् है, धर्म का कार्य करते हुए भो अक्लिष्ट कर्मा भगवान् ने हमारे जनों का कैसे भक्षण किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि "ईश्वरः", ईश्वर है, इसलिए उसके लिए कोई नियम नहीं है, तो भी भगवान् के भक्त की यह दशा कैसे की है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अव्यय.' अक्षर स्वरूप हैं, जिससे वह दया नहो करता है, दया करना पुरुषोत्तम स्वरूप का कार्य है, इससे अक्षर स्वरूप भक्त का पक्षपात नहीं करता है, यदि पक्षपात करेगा, तो अन्य प्रकार से करेगा, जैसे कि पुत्र आदिकों का झंझट छुड़ा कर अव्यय पद देगा, उस अक्षर स्वरूप का यह हो स्वभाव है, खेलते हुए, प्रजाओं को निगल जाते हैं, वह जहाँ तहाँ से विक्षिप्तों को अपने में ला कर अपने घर में रहते है, यों करने से उनमें दोष बुद्धि होगी, इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे ग्वाला अपने पशुओं को व्याघ्रादि पशुओं से बचाने के लिए ले जाकर, गोष्ठ में रखता है, वैसे ही काल भी, क्योंकि वह समझता है, कि संसार में बहुत रहने से विपरीत पथ पर चलने लगेंगे, इसलिए इनको बाहिर संसार में रहना अच्छा नहीं है, अतः उनका कोई उपाय नहीं था, इसलिए वह ले गया ॥१६॥

आभास—तस्य मनःसन्तोषार्थं वरं वरयेत्याहुः ।

आभासार्थ—उसके मन के सन्तोषार्थं कहते हैं, कि "वरंवरय" वर मांग लो ।

श्लोक—वरं वरय भद्रं ते ऋते कैवल्यमात्मनः ।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान्विष्णुरव्ययः ॥२०॥

श्लोकार्थ—आपका कल्याण हो, हमसे मोक्ष के सिवाय अन्य वर मांग लो क्योंकि मोक्ष देने में एक ही भगवान् अव्यय विष्णु समर्थ हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—ननु कालश्चेन्मामपि ग्रहीष्यति, तदा किं वरेणेत्याशङ्क्य अप्रार्थितमपि कालाग्रासं तुभ्यं दास्याम इति सूचयन्त आहुः भद्रं त इति । ते भद्रमेव, न कालग्रासोऽनिच्छत इत्यर्थ । तर्हि-कालजयानन्तरं मोक्षो दीयतामित्याशङ्क्याहुः ऋते कैवल्यमिति । वयं हि संघातस्वामिनो देवास्तत्त्वांशाः । अतोऽस्माकं नात्मन्यधिकारः । कैवल्यं चात्मनः, देहादेस्तु कैवल्यमपुरुषार्थत्वादप्रार्थ्यम् । यद्यप्याधिदैविकाश्चेत्सर्वे निवृत्ता भवेयुः, तदा केवलता सिध्यतीति, कैवल्यमपि देवाधीनमेव, प्राणिनां दुःखनिवृत्तिरभिप्रेता, न परमा-

नन्दप्राप्तिः आत्मलाभान्न परं विद्यत' इत्यादिश्रुतिभिश्च सिद्धत्वाच्चात्मनः प्राप्ताप्राप्तविवेकेन स्मृतिन्यायेन कैवल्यमपि देवाधीन भवति । तथापि भगवदाज्ञया प्रवृत्तिस्वभावा एवैते, प्रवृत्तावेव यथाभिलषितं दातुं समर्थाः । नतु स्वतो निवृत्तो । तथा सतीश्वरस्यापराधो भवेत् । भगवदानन्दो वा रूढ्या कैवल्यं आनन्दाभिव्यक्तिर्वा । अत कैवल्यव्यतिरिक्तं प्रार्थनीयम् । आत्मपदाच्चात्महितातिरिक्तं च प्रार्थनीयमिति सूचितम् । तर्हि कैवल्यसिद्धिः कथमित्याशङ्कच तत्प्रभुं निर्दिशन्ति एक एवेति । तस्या मकैवल्यस्य एक एव प्रभुः । सर्वं सर्वेभ्यो दत्वा आत्मार्थं तत्स्थापितवानिति । यतो भगवान्, स्वतः सिद्धान्यैश्वर्यादीनीति । ननु तमसः परस्तात्पुरुषोत्तमो विद्यमानः अनधिकारित्वात् कथमात्मार्थं तत्स्थापितवान् । तथा सति कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याशङ्कयाह विष्णुरिति । स एवात्र मोक्षं दातुं विष्णुरिति प्रसिद्धः । ततो विष्णोर्भगवत्त्वमधिकाररूपत्वं भगवत्वं चेति द्वयमुक्तम् । तेन कालातिक्रमोऽपि भवतीति सूचयितुमाहुः अव्यय इ त । स व्ययरहितः । अ न तस्य निरपेक्षतापि सूचिता । अनेन पालनाधिकारेऽपि निवृत्तिमपि कारयिष्यतीति बोधितम् । तेन देवानां कैवल्यादाने तस्य च कैवल्यदाने हेतुरप्युक्तः । अनुक्तमप्यत्रापेक्षितमर्थादुक्तं ज्ञातव्यम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यदि काल वैसा समर्थ है, तो वह मुझे भी ले लेगा, तो फिर वर लेने से क्या लाभ ? यद्यपि आप माँगते नहीं हो, तो भी हम आपको वर देंगे जिससे काल आपको ले न सके, इसकी सूचना देने के लिए पहले कहते हैं कि, आप का भला हो, अर्थात् इच्छा के बिना आपको काल नहीं लेगा यदि यों काल की जय करली है. तो अब मोक्ष दीजिए, इस प्रकार मुचुकुन्द कहे, तो प्रथम ही कह देते हैं, कि मोक्ष के सिवाय अन्य वर माँग लो, कारण कि, हम देवता तत्वांश हैं, अतः संघात (देह) के स्वामी हैं, इस लिए हमारा आत्मा (जीव) पर अधिकार नहीं है, मोक्ष तो जीव का होता है, देहादिका मोक्ष तो पुरुषार्थ नहीं है, अतः उसके लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए यद्यपि सब आधिदैविक जब निवृत्त हो जावे , तब मोक्ष सिद्ध होता है, इस लिए मोक्ष भी देवाधीन है, इससे प्राणियों को दुःख की निवृत्ति अभिलषित होती है, परमानन्द अभिप्रेत नहीं होता है, "आत्मालाभान्न परं विद्यते" इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध है कि आत्मा का, प्राप्त, अप्राप्त विवेक से तथा स्मृति न्याय से कैवल्य भी देवाधीन है, तो भी भगवान् की आज्ञा से, ये देवता प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं प्रवृत्ति मार्ग की कोई भी इच्छित वस्तु देने में समर्थ हैं, न कि अपने आप निवृत्त में समर्थ हैं, यदि यों करे तो भगवान् के अपराधी बनेंगे ।

अतः भगवदानन्द अथवा रूढि से कैवल्य, अर्थात् आनन्द की अभिव्यक्ति "प्राकट्य" इस के अतिरिक्त जो चाहिए वह माँगिए "आत्म" पद से यह सूचित किया है, कि आत्मा के हित के सिवाय अर्थात् मुक्ति के सिवाय अन्य माँगिए, आप देव भी यदि यों कहते हो, तो फिर मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, उस मोक्ष के देने वाला एक ही भगवान् है अन्य सब देने की शक्ति अन्यों को दे दी है, किन्तु केवल मोक्ष देना अपने हाथ में रखा है, क्योंकि वे भगवान् हैं,

उनके सर्व ऐश्वर्य आदि षड् गुण स्वतः सिद्ध हैं, पुरुषोत्तम तो तमस् से परे हैं, अनधिकारित्व से वह अपने पास कैसे रख लिए ? यदि मोक्ष उनके हाथ में है, तो फिर मोक्ष किसी का भी न होगा, कारण कि, वहाँ तक कोई पहुँच न सकेगा, इस शका का समाधान करते हैं कि "विष्णु" वह ही यहाँ मोक्ष देने के लिए "विष्णु" स्वरूप तथा नाम से प्रसिद्ध है, उससे विष्णु का भगवत्व तथा मोक्षाधिकारत्व दोनों कहा गया है, अर्थात् विष्णु मोक्षदाता तथा षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् भी हैं, इससे कालका अतिक्रम भी होता है, इसकी सूचना देने के लिए 'अव्यय' कहा है अर्थात् वह व्यय रहित हैं इससे उनकी निरपेक्षता भी बताई है और यह भी बता दिया कि पालन करने के अधिकार समय में मोक्ष भी कराएँगे, इससे देवता "कैवल्य" नहीं दे सकते हैं और विष्णु मोक्ष दे सकते हैं उसका हेतु भी कह दिया जो कुछ नहीं कहा है, वह भी यदि अपेक्षित हो तो समझ लेना चाहिए कि वह भी कहा गया है ।।२०।।

आभास—तत्र स विष्णुः कथं प्राप्तव्य इत्याशङ्कायाम्, सोऽवतरिष्यति मोक्षमेव दातुम्, तदा तस्य अनुवृत्तौ तदाज्ञाकरणे वा मुक्तिर्भविष्यतीति प्रतिवचने: कदा अवतरिष्यतीति पुनर्जिज्ञासायाम्, अष्टाविंशतितमे युगे अवतरिष्यतीत्यभिज्ञाय, तावत्पर्यन्तं तूष्णींस्थितो कामादयः क्षुत्पिपासादयश्च बाधका भविष्यन्तीति, समाधावप्येतद्दुःखमिति, सुषुप्तिसमाध्योः तुल्यश्चानन्दानुभव इति, फलदाता विष्णुरेवेति योगादीनामप्रयोजकत्वात्, प्रयत्नाधिक्येन क्लेशसम्भवाच्च, सुषुप्तिमेव प्रार्थयामास । ततो देवाः स्वकीयां निद्रां ददुः । ते ह्यस्वप्नाः । अर्थात्सुषुप्तिरेव भवतीति वरत्वेन निद्रां प्राप्य, तत्र विघ्नकर्ता दर्शनमात्रेणैव भस्मसाद्भविष्यतीत्यपि वरं प्राप्य अष्टाविंशतियुगपर्यंतं निद्रां कृतवानित्याह अशयिष्टेति ।

आभासार्थ—मुचुकुन्द ने यह शंका की, कि वह विष्णु कैसे प्राप्त करना चाहिए जिसके उत्तर में देवताओं ने कहा, कि वह मोक्ष देने के लिए अवतार लेंगे जब आप उनकी आज्ञा पालन करोगे, वा उनका अनुसरण करोगे तब मुक्ति होगी, यों जब देवों ने कहा, तब पूछा कि कब अवतार लेंगे ? जिसके जवाब में कहा, कि २८ युग में अवतार लेंगे, यह सुन कर अचम्भे में पड़ कर कहा, कि तब तक चुपकर बैठने पर

+ अनधिकारित्व का तात्पर्य यह है कि मोक्ष आदि सर्व तमस् के अन्दर है आप उससे परे हैं अतः यहाँ के कार्य आपके करने के नहीं हैं।

काम आदि तथा क्षुधा और प्यास बाधा करेगी, समाधि में यह दुःख होता है सुषुप्ति और समाधिका आनन्द समान है फल का देने वाले तो विष्णु हैं योग आदि तो अप्रयोजक हैं, विशेष प्रयत्न करने में क्लेश अधिक होता है, यह विचार कर देवों को "सुषुप्ति" देने की प्रार्थना की, पश्चात् देवों ने अपनी निद्रा इसको दे दी, वे देवता स्वप्न रहित होते हैं, अर्थात् वह निद्रा स्वप्न रहित होने से "सुषुप्ति" है, इस प्रकार वैसी निद्रा को वर में प्राप्त कर दूसरा वर भी उसके साथ यह प्राप्त किया कि यदि कोई निद्रा में रुकावट करेगा, तो केवल आपकी दृष्टि पड़ने पर वह भस्म हो जाएगा इस प्रकार वर प्राप्त कर २८ युग तक निद्रा लेने लगे जिसका वर्णन "एवमुक्तः श्लोक मे करते हैं।

श्लोक—एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः।
अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब देवों ने कहा तब उनको नमस्कार कर गुफा में जाकरनींद में सो गया ॥२१॥

सुबोधिनी—गुहायां शीतवाताद्युपद्रवाभा- / वात् तत्राविष्टः अशयिष्ट निद्रां कृतवान् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—ठंड तथा वायु का उपद्रव गुफा में नहीं होगा, इस लिए गुफा में जा कर नींद लेने लगा। २१॥

आभास—एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमाह यवन इति।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रासंगिक कह कर, अब प्रारम्भ किए हुए विषय को "यवने" श्लोक में कहते हैं–

श्लोक—यवने भस्मसान्नीते भगवान्सात्वतर्षभः ॥
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥२२॥

श्लोकार्थ—कालयवन के भस्म हो जाने के अनन्तर, सात्वतों (भक्तों) के स्वामी भगवान् ने बुद्धिमान् मुचुकुन्द को दर्शन दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—देवानामभिवन्दनं तत्प्रत्याशया स्थितत्वं भगवन्माहात्म्यश्रवणेन श्रद्धा चेति गुणत्रयं तस्य दृष्ट्वा, भक्तहितमपि प्रसङ्गात्तत्कृतं ज्ञात्वा, यवने भस्मसाद्भीते, भगवान् सर्वज्ञः सर्वसमर्थश्च सात्वतानामृषभः स्वामी तादृशाय चेत् कृपां न कुर्यात्, तदा भक्तानां दुःखमपि भवेदिति भक्तहितकारित्वं स्वतन्त्रत्वं चावलम्बितवानित्याशयेनाह सात्वतर्षभ इति। तत्र प्रथमं हितचर्यामाह आत्मानं दर्शयामासेति। ननु प्राकृताय सर्वसाधनं परित्यज्य निद्राणाय कथमात्मानं दर्शितवानित्याशङ्क्याह मुचुकुन्दायेति। सर्वत्र उकारः दोषाभावसूचकः। मकारः पुरुष आनन्दः, मुदं (मुद्) वा परमानन्दः। चुशब्देन निर्दुष्टं चैतन्यम्। कुशब्देन निर्दुष्टः। सच्चिदानन्दरूपं पूर्णं ज्ञानादिद्वारा लोकेभ्यो दत्तवानिति तादृशाय स्वरूपं प्रदर्शनीयमेव। ज्ञापनं नापेक्ष्यत इति, विरुद्धं वा न मंस्यत इत्यत आह धीमत इति। स हि बुद्धिमान्। पूर्वोपदेशमपि स्मरतीत्ययि सूचितम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—देवों का अभिवादन, उनके प्रति आशा से स्थित रहता और भगवान् के माहात्म्य श्रवण से उत्पन्न हुई श्रद्धा, उसके ये तीन गुण देख कर और प्रसंग से उसका किया हुआ भक्तों का कार्य भी जान कर, तथा यवन भी भस्म हो गया, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, भक्तों के स्वामी भगवान् ऐसे पर भी यदि कृपा न करें तो भक्त दुखी होने लगे, इसलिए भगवान् ने भक्त हितकारीपन तथा स्वतन्त्रता का आश्रय लिया, इस आशय को प्रकट करने के लिए आपको यहाँ "सात्वतर्षभ" कहा है, इनमें से जो प्रथम हित किया उसका वर्णन करते हैं, "आत्मानं दर्शयामास" अपने दर्शन दिए, शंका होती है, कि प्राकृत पुरुष को जिसने कोई साधन दर्शन के लिए नहीं किए हैं केवल नींद ले रहा है, वैसे को कैसे दर्शन दिए ? इस शका का समाधान करने के लिए कहते हैं, कि वह "मुचुकुन्द" है, जिसके नाम में जो सर्वत्र उपकार है, वह प्रकट करता है कि वह निर्दोष है, पहला अक्षर "मु" आनन्द प्रकट है, तथा मु से द जोड़ने से "मुद" होता है अर्थात् परमानन्द है "चु" शब्द से जताता है कि दोष रहित चैतन्य है और "कु" शब्द से बताया है, कि सदंश भी निर्दोष है, पहले इसने सच्चिदानन्द रूप ज्ञान आदि द्वारा लोकों को दिया है अतः ऐसे को अपना स्वरूप दिखाना ही चाहिए यहाँ केवल ज्ञापन की अपेक्षा नहीं है यों भी नहीं है कि वह इस दर्शन से विरुद्ध मानेगा क्योंकि बुद्धिमान है, पहला मिला हुआ उपदेश भी इसको स्मरण है, यह बुद्धिमान कह कर सूचित किया है ॥ २२ ॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह तमालोक्येति चतुर्भिः।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह "तमालोक्य" श्लोक से ४ श्लोकों में करते है--

श्लोक—तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥२३॥

चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२४॥
प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम् ।
अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—मेघ के समान श्यामवर्ण, पीले रेशमी वस्त्र, धारण किए हुए छाती पर श्रीवत्स धारण किए हुए देदीप्यमान कौस्तुभमणि से विराजित, चतुर्भुज वैजयन्ती माला से सुन्दर, मनोहर, प्रसन्न मुखारविन्द चमकते मकराकृति कुण्डलों से युक्त त्रिलोकी को देख योग्य स्नेह युक्त मन्दहास सहित ईक्षण करने वाले अति मनोहर अवस्था वाले मत्तसिंह के समान उदार पराक्रम वाले, उनको देख कर (पूछने लगा) ॥२३, २४, २५॥

सुबोधिनी—तमालोक्य पर्यपृच्छदिति चतुर्थेन संबन्धः । तस्य कालातिक्रमेण मोक्षसिद्ध्यर्थं भगवन्तं वर्णयति त्रयोदशधा, तावद्भिर्विशेषणैः । घनश्याममित्यादिभिः । केवलरसात्मकत्वे दुःखसहितसुखं न पुरुषार्थत्वायेति घनश्यामता निरूपिता । मेघवत् श्यामः, स हि तापहारको भगवान् फलरूपो निर्दिष्टः । संसारं निवर्तयन् कर्म च सफलं कुर्वन् परमानन्ददाता । पीतकौशेयवासमिति व्याख्यातम् । एवं प्रमेयप्रमाणरूपं निरूप्य तेनैव मोक्षधर्मौ सूचयित्वा अर्थकामावाह श्रीवत्सयुक्तं वक्षो यस्य, भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितश्च ॥२३॥

एवं चतुर्विधपुरुषार्थरूपं निरूप्य तद्दातृत्वमप्याह चतुर्भुजमिति । सेवमानेभ्यस्तान् प्रयच्छतीति । प्रथमतः प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं कीर्तेरुपयोगमाह वैजयन्त्या मालया रोचमानमिति । कीर्त्या रुच्यत्पादकः । वैजयन्तीपदेन कीर्तेः सानुभावत्वमुक्तम् । एवं सोपपत्तिकं सर्वपुरुषार्थदातृत्वं निरूप्य भक्तिदातृत्वमाह । चारु प्रसन्नं वदनं यस्य । अत्रापि चारुत्वं मनोहरत्वम्, प्रसादः फलसाधकः, साधनफलसहिता भक्तिरत्र निरूपिता । स्फुरन्मकरकुण्डलमिति । पूर्ववत्तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रे अङ्गभूते निरूपिते ॥२४॥

एवं शास्त्रीयोत्कर्षमुक्त्वा लोकोत्कर्षमाह प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्येति । लोको हि दृष्टमेव मन्यते, लौकिकः, त्रिलोकस्यापि स एव प्रेक्षणीय इति नान्यः केनचित्स्वीकर्तव्यः । तेषां दृष्ट्या प्रवृत्तौ फलसिद्धिमाह सानुरागस्मितेक्षणमिति । अनुरागपूर्वकं स्मितपूर्वकमीक्षणं यस्येति । अनुरागेति सकलं (सफलं) काम्यं कर्म, स्मितमित्यल्पमोहा भक्तिः । ईक्षणं ज्ञानम् । तेन वितयमपि भगवान् प्रयच्छतीति सूचितम् । पुरुषाणामेवं साधनफलान्युक्त्वा स्त्रीणामाह अपीच्यवयसमिति । प्रियः स्त्रीणामपीच्य इति परमप्रीतिविषयं वयो यस्य । तेन तासां प्रवृत्तिरुक्ता । फलमाह तत्तमृगेन्द्रोदारविक्रममिति ।

मत्तो यो मृगेन्द्रः सिंहः । न हि सिंहाक्रान्तं सिंह-गृहं कश्चित्प्रवेष्टुमर्हति । न केवलं संबन्धमात्रेण पाति, किन्तु उदारः यथेष्टं मनःपूर्तिपर्यन्तं विक्रमः पराक्रमः तासामभीष्टो यस्य । उदारत्वात् मोक्ष-पर्यवसायित्वमपि सूचितम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—उनको देख कर पूछने लगा, यों चतुर्भुज श्लोक से सम्बन्ध है उसके काल के अतिक्रमण से मोक्ष की सिद्धि के लिए तेरह प्रकार से भगवान् का वर्णन करता है अतः तेरह विशेशण हैं १-मेघ के समान श्याम केवल श्याम न कह करके मेघ के समान श्याम कहने का आशय यह है, कि वह ही ताप को मिटाते हैं क्रिया के फल को देने वाले हैं और आनन्द दे तृप्ति करने वाले हैं यों कह कर बताया कि यह तीन गुण सहित रस रूप भगवान्, फल रूप हैं केवल रसात्मक दुःख सहित सुख रूप होने से, पुरुषार्थ नहीं है, अतः घनश्याम कहा है, तथा भगवान् ने पीले, रेशमी वस्त्र पहिने हैं जिसका भाव है, कि आप १—संसार से निवृत्त करते हैं, २—कर्म सफल करते हैं और ३—परमानन्द देते हैं, इस प्रकार इन विशेषणों से प्रमाण तथा प्रमेय का निरूपण कर, उससे ही मोक्ष तथा धर्म को सूचित किया है, अब दो विशेषणों से 'अर्थ' और 'काम' कहते हैं, जिसका वक्षस्थल श्रीवत्सयुक्त है, इससे, 'अर्थ' कहा और चमकती कौस्तुभमणि से विराजित हैं इससे 'काम' कहा ॥ २३ ॥

इस प्रकार चतुर्विध पुरुषार्थों का निरूपण कर उनके दाता भी आप है इसका वर्णन "चतुर्भुज" श्लोक से करते हैं ।

जो भक्त आपकी सेवा करते हैं, उनको वे पुरुषार्थ देते हैं, पहले प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए आप वैजयन्ती माला से सुन्दर हुए हैं यह माला कीर्तिरूप है, जिस कीर्ति से अपने में भक्तों की रुचि (प्रेम) बढाते हैं, वैजयन्ती पद से कीर्तिका सानुभाव पन + कहा है, इस प्रकार इस विशेषण से हे[illegible]र्वक युक्ति से सर्व पुरुषार्थ दाता भगवान् है निरूपण कर अब पञ्चम पुरुषार्थ भक्ति के दाता भी आप है इस लिए 'चारु' "प्रसन्नवदनं" विशेषण दिए हैं, मनोहर और प्रसन्नवदन वाले हैं, 'मनोहर' से साधना बताई और 'प्रसन्न वदन' से फलरूप कृपा बताई है अर्थात् आप साधन फल सहित भक्तिदाता हैं, कर्ण में मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं जिनसे बताया कि प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्र पूर्व की भाँति भक्ति के अङ्गभूत हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार नव विशेषणों से दो श्लोकों में शास्त्रीय उत्कर्ष कहकर अब "प्रेक्षणीयं" श्लोक में लौकिक उत्कर्ष बताते हैं ।

+ मनोगत भावों को प्रकट करने वाले भाव को "अनुभाव" कहते हैं वैसे भाव से युक्त भाव, "सानुभाव" है अर्थात् भगवान् वैजयन्ती माला पहन कीर्ति द्वारा अपने भाव के प्रति प्रकट करते हैं ।

लोक तो प्रत्यक्ष देखे हुए को ही मानते हैं, वह लौकिक है तीन लोकों में यदि कोई सबसे सुन्दर रूप देखने योग्य है तो यह एक ही है, कोई दूसरा भी दर्शनीय है, वैसा कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता है।

उनकी दृष्टि से ही प्रवृत्ति में फल की सिद्धि होती है इसको बताने के लिए "सानुरागस्मितेक्षणम्" विशेषण दिया है, अनुराग और मन्द मुसक्यान वाला ईक्षण (अवलोकन) है, इससे यह सिद्ध किया, कि अनुराग से काम्यकर्म की सफलता करते हैं, मन्दमुसक्यान से अल्प मोहवाली भक्ति देते हैं और ईक्षण से ज्ञान प्रदान करते हैं, इससे यह बताया कि तीन "कर्म, ज्ञान और भक्ति" का दान भी भगवान् ही करते हैं इस प्रकार पुरुषों का साधन और फल भगवान् ही है यह कहकर अब स्त्रियों के भी आप ही हैं वह बताते हैं, क्योंकि आपके शरीर की अवस्था अत्यन्त सुन्दर होने से परम प्रीति का विषय है, इससे उनकी प्रवृत्ति कही, अर्थात् इस प्रकार की सुन्दरता देख स्त्रियों के मन की प्रवृत्ति भी भगवान् की तरफ होती है, मद युक्त सिंह जैसे उदार पराक्रम वाले हैं, सिंह जिस गुहा में बैठ जाता है उसमें अन्य कोई जा नहीं सकता है, किन्तु आपका पराक्रम उदार है, जिससे आप केवल सम्बन्ध मात्र से पालन नहीं करते हैं, किन्च जब तक उनके मन की इच्छा की पूर्ति हो तबतक वह पराक्रम करते ही रहते हैं यह हीं स्त्रियों को अभीष्ट (प्रिय) है, उदार कहने से यह बताया है कि मोक्ष को कामना हो तो वह भी आप पूर्ण करते हैं ॥२५॥

आभास—एवं वैदिकलौकिकैः सर्वैरेव विशेषेण मृग्यः भगवानेक एव फलसाधनः रूप इति तादृशं दृष्ट्वा, प्रपत्यर्थं संवादेन परिचयं कृत्वा, पश्चाद्भजनीय इति प्रथमतः पृच्छति पर्यपृच्छदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सब वैदिक लौकिक उपायों से, फल तथा साधन रूप एक ही भगवान् को विशेष प्रकार से खोजना चाहिए वैसे भगवान् के दर्शन कर, उनकी शरण लेने के लिए संवाद द्वारा परिचय प्राप्त कर अनन्तर भजन करना चाहिए इसलिए पहले "पर्यपृच्छत्" इस श्लोक में पूछता है।

श्लोक—पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः ।
शङ्कितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा ॥२६॥

श्लोकार्थ—उनके तेज से पराभूत, महाबुद्धि मुचुकुन्द शङ्कित होने से, तेज से मानो पहचानने में जो नही आते हैं, वैसों से पूछने लगा ॥२६॥

सुबोधिनी—नन्वेवंभावः कथं वर्ण्यते, अज्ञात्वव लौकिकन्यायेन कथं न पृष्टवानित्याशङ्कयाह महाबुद्धिरिति। महती तस्य बुद्धिरतिचतुरः। एतदर्थमेव सुषुप्तिं साधयित्वा स्थितः। किञ्च। तेजसा तस्य धर्षितः। भगवत्तेजसा पराहतः। स ह्यात्मानं जानाति, इन्द्रादिभ्योऽप्यधिकतेजस्विनम्। स चेत्तस्य तेजसा तिरस्कृतः, तदा कथं (न) जानीयादयं पुरुषोत्तम इति। तस्मात्परिचयार्थं प्रश्नः। ननु प्रश्नोऽपि शङ्कां प्राप्तवानेव। तथापि समागतो भगवानित्यल्पं धाष्टर्यमवलम्ब्य शनैरपृच्छत्। किञ्च। राजा नीतिमपि जानाति। महांश्च राजसगुणोऽपि तस्य धाष्टर्ये सहाय इति केचित्। तेजसा दुर्धर्षमिवेति। भगवन्तं दृष्ट्वा राजत्वेऽपि तत्तेजसा दुर्धर्ष इति शनैरेवोक्तवान्, विज्ञापनापूर्वकम्। आयुधानि सेवकाः सामग्री च न दृष्टेति। स्वयमपि राजेति इवेत्युक्तम्। अन्यथा-पादयोरेव पतेत्। भगवान् वा तथा सन्देहविषयमात्मानं प्रकाशितवानितीवशब्दः॥ २६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार का भाव कैसे वर्णन किया जाता है ? जैसे लोक में अनजान बनकर सामने वाले से उसकी पहचान के लिए पूछते हैं वैसे क्यों नहीं पूछा ? इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं, कि यह बुद्धिमान हैं अर्थात् बहुत चतुर है इस कारण से सुषुप्ति को सिद्ध कर इतना समय स्थित रहा है, परन्तु भगवान् के तेज से परास्त हो गया है, इन्द्र आदि देवों से भी अधिक तेज वाले परमात्मा को जानता है, यदि वह उसके तेज से तिरस्कृत हो गया है, तो कैसे न जाने, कि यह पुरुषोतम है, फिर भी शङ्कित होने से प्रश्न करने लगा। भगवान् से प्रश्न करना यह भी ढीटाई है, अतः पुरुषोत्तम से पूछता है, आप कौन हैं ? यों पूछना बन हो नहीं सकता है, इस पर कहते हैं कि हिचकिचाता हुआ धीरे धीरे पूछने लगा, भगवान् पधारें हैं, इसलिए थोड़ी ढीठाई कर धीरे धीरे पूछा और राजनीति भी जानता है, आप राजा होने से महान् हैं, इसलिए उसकी ढीटाई करने में राजस गुणों ने भी सहायता की है इस प्रकार का आशय कोई कहते हैं। भगवान् का दर्शन कर राजा होते भी उनके तेज से दब गया अतः धीरे धीरे विनय पूर्वक प्रार्थना रूप से पूछने लगा, आयुध, सेवक एवं अन्य सामग्री कुछ नहीं देखी मुचुकुन्द स्वयं भी राजा है, इसलिए श्लोक में "इव" पद दिया है। यदि राजा न होता तो भगवान् के चरणों में पड़ता, अथवा 'इव" का भावार्थ यह है, कि भगवान् ने अपने को सन्देह का विषय बनाके प्रकाशित किया है॥२६॥

आभास—प्रश्नमाह को भवानिति अष्टभिः।

आभासार्थ—को भवान्-श्लोक से आठ श्लोकों में प्रश्न कहते हैं।

मुचुकुन्द उवाच—

श्लोक—को भवानिह संप्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके॥२७॥

श्लोकार्थ—आप कौन हैं ? पर्वतों से गहरे अरण्यों में कैसे आए हैं ? कमल के पत्तों के समान कोमल पांवों से, जबर्दस्त कांटों में क्यों घूम रहे हैं ? ।।२७।।

सुबोधिनी—भगवतोऽपि स्ववृत्तान्तकथनार्थम् । अष्टैश्वर्यं भगवति सिद्धम् । तथा सति विशेषाज्ञाने प्रतिपत्तिरयुक्तेति, स्वयं च फलार्थी न भवतीत्यष्टभिः प्रश्नः । प्रश्नत्रयं निरूपयति, स्वरूपक्रियाप्रकाराणाम्. तत्र विरोधख्यापनार्थम् । एतादृशं रूपं सहजं भवत्येव, कृत्रिममन्येषामपि भवतीति को भवानिति स्वरूपप्रश्नः । अस्तु वा विशेषः । एतादृशे विपिने अरण्ये, तत्रापि गिरिसंबन्धेन गह्वरे स्थाने, कथं संप्राप्त इति क्रियाप्रयोजनः प्रश्नः । पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यामिति प्रकारप्रश्नः । इयं हि भूमिरसंस्कृतेति उरूणि कण्टकानि भवन्ति । पलाशपत्रादपि कोमलाभ्यां पद्भ्यां तादृशस्थाने विचलनं महत्कार्यव्यतिरेकेण न भवतीति किं तादृशं महत्कार्यमिति प्रकारप्रयोजनप्रश्नः ।।२७।।

व्याख्यार्थ— प्रश्न क्यों करता हूँ, उन कारणों को कहता है, यदि कारण न कहे, तो कृत्रिमता को शंका होवे. भगवान् भी अपना वृत्तान्त कहे, इसलिए मुचुकुन्द अपना वृत्तान्त भी कहता है, आठ ऐश्वर्य भगवान् में सिद्ध हैं यों होने पर विशेष अज्ञान में हेतु पूर्वक युक्ति देना उचित नहीं है और वह स्वयं फल की चाहना वाला नहीं है इसीलिए आठ श्लोकों से प्रश्न करता है, उनमें से यहाँ तीन प्रश्नों को कहता है १–स्वरूप का २–क्रिया का और ३–प्रकार का "नमूने का" वहाँ विरोध प्रसिद्ध करने के लिए वैसा रूप स्वाभाविक होता ही है, कृत्रिम (बनावटी) दूसरों का भी होता है, इसलिए पूछना पड़ा, कि आप कौन हैं ? यह स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न है अथवा विशेष हो. पर्वतों के सम्बन्ध से गहरे वन (अरण्य) में कैसे आए हैं ? यह क्रिया के प्रयोजन का प्रश्न है, तथा तीसरा नमूने का प्रश्न है, कि कमल के पत्ते जैसे कोमल पाँवों से, बहुत काँटों वाली भूमि पर घूम रहे हैं, यह आपका क्या प्रकार है ? यह भूमि साफ नहीं की गई है जिससे यहाँ बड़े बड़े कांटे बिखरे पड़े हैं उन पर ऐसे कोमल पाँवों से घूमना, यह कोई घूमने का ढंग है ? कमल के पत्तों से भी कोमल पाँवों से ऐसे विकट दुःख देने वाली भूमि पर सिवाय किसी महान् कार्य के नहीं चला जाता है, तो बताईए वैसा कौनसा महान् कार्य आपको यहाँ करना है ? यों प्रकार के प्रयोजन का प्रश्न किया है ।।२७।।

आभास - प्रश्ने हेतून् वदति अन्यथा कृत्रिमत्वमाशङ्क्येतेति । स्ववृत्तान्तमपि कथयति । तर्केण जानीहीत्याशङ्कायां तर्कानाह किंस्वित्तेजस्विनामिति द्वयेन ।

अभासार्थ—यदि कहो, कि इस बात को तर्क से जानलो, तो इसलिए "किं स्वित्तेजस्विनां" दो श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—किं स्वित्तेजस्विनां तेजो भगवान्वा विभावसुः ।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥२८॥
मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।
यद्बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥२९॥

श्लोकार्थ—क्या आप तेजस्विओं का तेज भगवान् अग्नि हैं अथवा सूर्य चन्द्रमा महेन्द्र वा कोई लोक पाल हैं ? जैसे दीपक अपनी प्रभा से गुहा के अन्धकार को नाश करता है वैसे ही हृदय रूप गुहा के अज्ञान रूप अन्धकार को नाश करते हैं अतः तीन देवोत्तमों में आप श्रेष्ठपुरुष हैं ॥२८, २९॥

सुबोधिनी—आदावहमेव वितर्के । सर्वेषामेव तेजस्विनां तेजः एकीभूतमेतदिति । अथवा । यत्पूर्वं कारणत्वेन तेजः सृष्टं 'तत्तेजोऽसृजते' ति, तद्वा तेजो भगवान् । जगत्कारणत्वात् तस्य भगवत्त्वम्, तेनाप्यापः सृष्टा इति । अथवा । त्वं विभावसुरग्निः मूर्तीभूतः । सर्वस्यापि तेजसः एकीभावे कारणाज्ञानात द्वितीयः पक्षः । ततो मूलभूतस्य अत्रागमनासम्भवात् तदधिष्ठातृदेवताप्रश्नः । एवमाधिभौतिकादिभेदेन विकल्पत्रयम् । त्रितयमप्येतत् राजसमिति । सात्त्विकं त्रितयमाह सूर्यः सोमो महेन्द्रो वेति । एक एव सूर्यो देवतेति 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चे'ति 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायण' इति च सूर्यो भवितुमर्हति । चतुर्भुजत्वदर्शनात् । ततोऽपि शीतरश्मिरमृतमयः सुन्दर इति सोमः । ततोऽप्यैश्वर्यदर्शनान्महेन्द्रो भविष्यसि । एवं सात्त्विकभेदानुक्त्वा मनुष्याकृतिमिव पश्यन् तृतीयं गुणं कल्पयन्निव तत्रोत्तमं सम्भावनया निरूपयति अपरो वा लोकपाल इति । (अग्नि) वायुवरुणादीनामन्यतमः । ते हि लोकरक्षार्थं परिभ्रमन्ति । वेत्यस्य पक्षस्यानादरे । एवं कार्यकारणरूपाणि सम्भावयित्वा तान् पूर्वपक्षे निधाय परमकारणरूपं पुरुषोत्तमं तं सम्भावयति मन्ये त्वामिति । देवानामपि देवानां ब्रह्मविष्णुशिवानां मध्ये पुरुषर्षभं विष्णुं त्वां मन्ये । तेषां वा पुरुषर्षभः । तेषां पुरुषः स्वराट् नारायणः । तस्याप्यृषभः पुरुषोत्तम इति वा । श्रद्धयैव कल्पयतीत्याशङ्क्य तत्र साधिकामन्यथानुपपत्तिमाह यद्बाधस इति । गुहान्धकारः न केनापि दूरीकृतः, उत्पत्तिशिष्टः सः । यो हि व्यवधायकं न मन्यते, तेन दूरीकर्तुं शक्यः । अतः पूर्वोक्तानां भगवत्तेजःसहितानामपि नात्र पराक्रमः । मूर्तीभूतानां तु बहुधा समागतानां गुहाध्वान्तनिराकरणं न दृष्टमिति, य एवास्माभिर्न दृष्टः पूर्वम्, स भगवान् भवितुमर्हतीति निश्चीयते । किञ्च । प्रदीपोऽप्यग्निर्भगवत्सहितो प्येवंविधप्रभायुक्तो न भवति । एकैव हि तत्र भगवच्छक्तिः । दीपे तु शक्तिद्वयम् । अतएव कारीषदारुमयाच्च दीपस्य प्रभा महती, स्नेहाग्निस्थानाग्निसंयोगैः । 'वर्तिका अग्निस्थानं अग्नेस्तूषाधान'मिति श्रुतेः । 'एतद्वा अग्नेस्तेजो यद्घृत'मिति घृतमपि तथा । अग्निश्च तत्र संयुक्त इति । अतस्तस्य प्रभा कलिकामात्रस्यापि सर्वगृहव्यापिनी भवति । तथा भवत्तेजः गुहाभ्यन्तरस्थानं यत्कदापि न दृष्टं तद्दर्शयतीति पुरुषोत्तम

एव भवितुमर्हसि । उत्कृष्टप्रभा व्यवहार्या दृष्टान्तत्वेनाभिमतेति दीपो दृष्टान्तः । अथवा । त्वमेव प्रकृष्टो दीपः, यतः स्वया प्रभया ध्वान्तं बाधस इति । अदृष्टपूर्वत्वेन पुरुषोत्तमत्वसिद्धिः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—आदि में, मैं ही आश्चर्य में पड़ गया हूँ, इस लिए तर्क से प्रश्न कर रहा हूँ, क्या यह सर्व तेजस्विओं का तेज एकत्रित हुआ है ? अथवा "तत्तेजो ऽसृजत" इस श्रुति में कहे हुए प्रथम कारणरूप से उत्पन्न तेज है ? अथवा यह तेज भगवान् है, कारण कि, वह जगत् के कारण होने से उसमें भगवत्व है, उससे भी "आप"–जल" उत्पन्न हुए अथवा आप मूर्तिमान अग्नि हैं, सर्व तेज के एकी भाव होने में जो कारण है उसके अज्ञान से दूसरा पक्ष कहा है, मूलभूत स्वरूप का यहाँ पधारना असम्भव है अतः उसके अधिष्ठाता देव का प्रश्न करता है, आधिभौतिक आदि भेद से तीन विकल्प होते हैं, ये तीन भो राजस हैं, अत्र सात्विक तीन कहते हैं, सूर्य, सोम वा महेन्द्र हो ? एक ही सूर्य देवता है जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि "सूर्य आत्मा जगतः १–तस्थुषश्च" ध्येयः सदा सवितृमण्डल[२] मध्यवर्ती नारायणः" इस लिए आप सूर्य हो सकते हैं, कारण कि आपकी किरणें शीत एवं अमृत मय हैं. इससे आप सोम हो अथवा उससे भी ऐश्वर्य के दर्शन होने से आप महेन्द्र होंगे, इस प्रकार सात्विक भेदों को कह कर आपकी मनुष्य जैसी आकृति देख तीसरे गुण की मानों कल्पना कर कहता है कि मनुष्यों में भी उत्तम मनुष्य की सम्भावना होने से लोकपाल हो वा वायु-वरुणादि लोकपालों में से कोई एक हो, कारण कि वे लोक रक्षा के लिए फिरते रहते हैं, "वा" पद से इस पक्ष में भी अरुचि प्रकट करता है, इस प्रकार कार्य कारण रूपों को बनाकर कहा और उनको पूर्व पक्ष में धर कर परम कारण रूप उस पुरुषोत्तम की सम्भावना करता हुआ कहता है, कि देवों के भी जो देव ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं उनमें से आपको विष्णु समझता हूँ, अथवा उनमें से भी श्रेष्ठ नारायण वा उस स्वराट् नारायण से भी उत्तम पुरुषोत्तम हो, यों समझता हूँ ।

यदि कोई कहे कि यह आपकी कल्पना केवल श्रद्धा के कारण है, तो उसके उत्तर में कहता है कि नहीं, मैंने जो कहा है वह केवल श्रद्धा से नहीं कहा है, किन्तु उपपत्ति से कहा है, जैसे कि अन्तःकरण रूप गुहा का अज्ञानान्धकार इनके सिवाय अन्य कोई भी दूर करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह अज्ञानान्धकार संसार को बढाने वाला है, अतः जिसको कोई आच्छादन नहीं कर सकता है वह ही इस अन्धकार को दूर कर सकता है, इस कारण से, भगवान् के तेज वाले भी जो आगे कहे गए हैं, उनका पराक्रम भी यहाँ काम नहीं करता है, बहुधा जो मूर्तिमान हो कर आते हैं, वे तो इस गुहा के अज्ञानान्धकार को नाश करते हैं, ऐसा देखने में नहीं आया है, अतः जो हमने पहले कभी नहीं देखा है वह "भगवान्" ही हो सकते हैं यों निश्चय किया जाता है और विशेषता यह है कि, जलती हुई एवं भगवत्तेजसहित अग्नि भी इस प्रकार की प्रभा से युक्त नहीं होती है, अग्नि में एक

१—चेतना और जड़ की आत्मा सूर्य है २—सवितुमण्डल के मध्य में विराजमान सदा ध्यान करने योग्य हैं ।

ही भगवत् शक्ति है, और दीप में दो शक्तियाँ हैं। दीप की प्रभा विशेष है कारण कि घृत वर्तिका (दीवे की वत्ती) और अग्नि इन तीनों का संयोग होने से यों श्रुतियों में भी कहा है इस दीप को पतली सील पट की प्रभा समस्त गृह में प्रकाश फैलाती है वैसे ही आप (भगवान्) का तेज अन्तः-करण रूप गुहा में जो कभी नहीं देखा अब देखा, वह बताता है, कि आप पुरुषोत्तम ही हैं, उत्तम प्रभा व्यवहार योग्य है, दृष्टान्त से सिद्ध करने के लिए दीप का दृष्टान्त दिया है, किन्तु आप ही सबसे उत्तम दीप हैं जो अपनी प्रभा से अज्ञान का बाध करते हो, प्रथम कभी दर्शन नहीं हुए हैं इसलिए आप पुरुषोत्तम ही हैं, यह निश्चय से सिद्ध है ॥२९॥

आभास—तर्हि ज्ञात्वा कथं प्रश्न इति चेत्, तत्राह शुश्रूषतामिति ।

आभासार्थ—जान कर भी प्रश्न क्यों करते हो ? यदि यों कहते हो तो "शुश्रुषतां" श्लोक में इसका उत्तर देते हैं–

श्लोक—**शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव ।**
स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे नर श्रेष्ठ ! सुनने की इच्छा वाले हमको अपना जन्म, कर्म और गोत्र कहना यदि पसन्द हो तो कहिए. हम इसलिए सुनना चाहते हैं. कि हमने जैसा समझा हैं, वैसा तो झूठा नहीं है ॥३०॥

सुबोधिनी—व्यलीकं सन्देहः, तद्रहितं यथा भवति तथा श्रोतुमिच्छास्माकम् । असमानत्वान्न स,भाष्यस्त्वमित्याशङ्क्याह नरपुङ्गवेति । नराकृतिर्दृश्यत इति । संव्यवहार्या नरा इति वयमपि संव्यवहार्याः । नराकृतित्वं च सहेतुकं प्रतिभातीति विशेषान् पृच्छति स्वजन्म कर्म गोत्रं वेति । स्वस्य जन्म किंरूपं, कथं प्रादुर्भूत इति कारण-प्रश्नः । कर्मेति प्रयोजनप्रश्नः । गोत्रमिति कस्मिन्वंशे प्रादुर्भाव इति वंशप्रश्नः । वेति अन्यदपि वक्तव्यमित्यभिप्रायसूचकम् । एवं गुणत्रयस्वभावमिव पृष्ट्वा स्वस्य नियोजकत्वाभावायाह कथ्यतां यदि रोचत इति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—आपका जन्म, कर्म और गोत्र जैसा सत्य है वैसा सुनने की हमारी इच्छा है, यों आप न समझना कि मैं असमान होने से भाषण के योग्य नहीं हूँ आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हो, क्योंकि आपकी आकृति नर के समान दीखती है, मनुष्य मनुष्य से ही संभाषण के व्यवहार के योग्य है, अतः हम मनुष्य हैं, इसलिए हमसे आप भाषण कर सकते हैं, आपका मनुष्यत्व हेतु वाला भासता है इसलिए प्रकारों को पूछा जाता है ? आपका जन्म, अर्थात् क्या रूप है और कैसे प्रकटे, यह कारण

प्रश्न है, कर्म, इससे प्रयोजन प्रश्न किया है, अर्थात् किस लिए प्रकटे हैं, गोत्रं, किस वंश में प्रकट हुए हो, यह वंश ज्ञान का प्रश्न है, "वा" शब्द से यह सूचित किया है कि अन्य भी कहने योग्य हो तो वह भी कहना, इस प्रकार तीन गुण के स्वभाव की भाँति पूछ कर, बताते हैं कि मैं आपका नियोजक नहीं हूँ अर्थात् आपको आज्ञा करने वाला नहीं हूँ अतः यदि आपको रुचि (इच्छा) हो तो कहिए ॥३०॥

आभास—नरत्वेऽपि तुल्या एव संभाष्या इत्याशङ्क्य स्वजन्मकर्मगोत्राणि निरूपयति त्रिभिः ।

आभासार्थ—मनुष्य होने पर समानों से ही भाषण किया जाता है, इसका उत्तर देते हुए अपना जन्म, कर्म तथा गोत्र "वयं च" श्लोक से तीन श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—वयं च पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः ।
मुचुकुन्द इति ख्यातो यौवनाश्वात्मजः प्रभो ॥३१॥
चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयोपहतेन्द्रियः ।
शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना ॥३२॥
सोपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना ।
अनन्तरं भवान् श्रीमांल्लक्षितोऽमित्रशासनः ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे पुरुषसिंह ! हम इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय हैं: प्रभु ! मैं यौवनाश्व का पुत्र और मुचुकुन्द नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥३१॥

बहुत जागरण से मैं थक गया था और निद्रा से इन्द्रियां शिथिल हो गई थी, जिस कारण से इस निर्जन वन में खूब सोया, किन्तु किसी ने अब मुझे जगा दिया ॥३२॥

उसके अपने पाप से ही उसको निश्चय भस्म कर छोड़ा, इसके पश्चात् शत्रुओं को नाश करने वाले आप श्रीमान् के दर्शन हुए ॥३३॥

सुबोधिनी—वयचेति । चकारोऽर्थविशेषे । वयमपि नात्यन्तं हीना असम्भाष्याः । किन्त्वैक्ष्वाकाः इक्ष्वाकुषु जनपदेषु आविर्भूताः । जनपदशब्दादत्यञ् दांडिनायनेति निपातनादुकारलोपः । अतो देशेन कुलेन च प्रसिद्धरुक्ता । पुरुषव्याघ्रेति । पुरुषश्रेष्ठो मन्यत इति लौकिकन्यायेनापि विश्वासार्थमुक्तम् । क्षत्रबन्धव इति गवपरिहारः । पितृपितामहयोः स्वस्य च नामाह मुचुकुन्द इति ख्यात इति । प्रसिद्धिरपि सत्कीर्तिमत्त्वेन निरूपिता । युवनाश्वः पितामहः, यौवनाश्वो मान्धाता पिता, तस्यात्मज इत्यौरसः । प्रभो इति सवाधनं नियन्तरि अन्यथाकथनाभावाय । तादृशस्यात्रागमने हेतुं वदन् स्वपौरुषमपि ख्यापयति चिरप्रजागर इति । वहुकालं देवरक्षार्थं चिरप्रजागरो जातः । ततः श्रमोऽपि जातः । ततो निद्रयोपहतानीन्द्रियाणि च जातानि । अतो निद्रोपभोगार्थं विजनेऽस्मिन् स्थाने शये यथा न केनापि उत्थाप्येत । अयं देवदत्तनिद्रया शयन करोमीति न कथयति । तथा सति घ्यानतपःप्रभृति सर्वं परित्यज्य तामस्यवस्था किमत्यङ्गीकृतेत्युपालभ्यः स्यात् । तदर्थं स्वखेदमेव वर्णयति । अतः कामं यथेष्ट शये । अत्रापि कश्चिदागत्योत्थानं कारितवानित्याह केनाप्युत्थापितोऽधुनेति । स्वापराधशान्त्यर्थं यदज्ञानकथनम् । तस्य च दण्डो मया न कृतः, किन्तु स्वपापेनैव जात इत्याह सोऽपि भस्मीकृत इति । आत्मीयेनैव स्वकृतेनैव पापेन । 'न शयानं प्रबोधये'दिति निषेधोल्लङ्घनेन भस्मीकृतः । नूनमिति नात्र कोऽप्यस्मदपराध इति निरूपितम् । तदनन्तरमेव भवद्दर्शनं जातमित्यतोऽपि हेतोः न ममापराधः । अन्यथा तव दर्शनं न स्यात् । एतदर्थमेव पुनर्भगवन्तं वर्णयति श्रीमानिति । सर्वसौन्दर्ययुक्तः लक्ष्मीवांश्च । अमित्रशासन इति । शत्रुमारकस्त्वमेवेति त्वयैवायं प्रायेण मारितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—"च" शब्द अर्थ विशेष में है, हम भी अत्यन्तहीन नहीं हैं जो भाषण के योग्य न होवें, किन्तु इक्ष्वाकु के देश तथा कुल में उत्पन्न हुए हैं, इस इक्ष्वाकुवंश के क्षेत्रिय नाम से प्रसिद्ध हैं, आप पुरुषसिंह अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ हैं अतः लौकिक न्याय से भी आप विश्वास करोगे, "क्षत्रबन्धवः" पद देने का भाव यह है, कि मुचुकुन्द ने अपनी नम्रता दिखाई, कुल वा क्षत्रियत्व का गर्व प्रकट न किया, पिता, पितामह और अपना नाम कहा, युवनाश्व पिता का नाम मान्धाता पितामह का और मुचुकुन्द अपना नाम बताया, तथा "ख्यातः" प्रसिद्ध है यों कहने से सत्कीर्ति वाले हम हैं यह दिखा दिया क्योंकि प्रसिद्धि सत्कीर्ति से ही होती है "आत्मज" पद से "औरस+" पुत्र हूँ यह कहा है, "प्रभो" सम्बोधन देने से यह बताया कि नियन्ता अर्थात् स्वामी के सामने कभी झूठ नहीं बोला जाता है, वैसे मैं किस कारण यहाँ आया हूँ वह भी बताता हूँ कि मैंने कितना पुरुषार्थ किया है उसका भी इस कहने से आप समझ जाएँगे, देवताओं की रक्षा बहुत दिन रात करते हुए अतिशय जागरण करना पड़ा जिससे थकावट भी हुई तथा नींद से आँखें भी भर गई इसलिए नींद लेने के लिए इस शून्य स्थान में आकर सो गया जिससे कोई उठावे नहीं, यह बात नहीं कहो कि निद्रा देवों ने दी है जिससे इतनी नींद ली है, यों प्रकट करें तो यह उपालम्भ मिले, कि ध्यान, तप आदि त्याग कर

+ विवाही हुई स्त्री से उत्पन्न ।

यह तामसी अवस्था क्यों ली ? इसलिए वह कहीं नहीं, इस वास्ते अपना खेद ही प्रकट करता है कि इतनी मन पसन्द नींद लेली, किन्तु न जाने ऐसी नींद से किसी ने आके अब जगा दिया, मेरा उसने अपराध किया किन्तु मुझे गुस्सा नहीं आया क्योंकि मैंने समझा इसने यह कार्य अज्ञान से किया है, इसलिए मैंने उसे दण्ड नहीं दिया, किन्तु अपने पाप से ही वह स्वयं भस्म हो गया, वह कौन सा पाप था जिससे भस्म हुआ ? शास्त्र में कहा है "शयानं न प्रबोधयेत्" सोये हुए को जगाना नहीं चाहिए, इस शास्त्राज्ञोल्लंघन रूप पाप से भस्म हुआ है, इसमें मेरा कोई भी अपराध नहीं है, मेरा दोष होता तो आपके दर्शन न होते, इसलिए भगवान् का वर्णन करता है, कि आप समस्त सौन्दर्य से युक्त और लक्ष्मीवान हो तथा शत्रुओं का मारने वाले आप ही हैं इसलिए आपने ही वहुत करके इसको मारा है ॥३१-३२-३३॥

आभास—तर्हि यथैतावन्निर्णीतम्, तथा जन्मकर्माण्यपि योगबलेनैव कथं न निर्णीयन्त इत्याशङ्क्याह तेजसा तेऽविषह्येणेति ।

आभासार्थ—तो जैसे इतना निर्णय किया वैसा जन्म और कर्मों का भी योग बल से क्यों नहीं निर्णय करते हैं ? इसका उत्तर "तेजसा तेऽविषह्येण" श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः ।
हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—आपके असह्य तेज से विशेष समय वा अच्छे प्रकार से बार बार आपको देख नहीं सकते हैं, कारण कि आपके इस तेज से हमारा बल नष्ट हो गया हैं, आप देहधारियों में मान देने योग्य हो ॥३४॥

सुबोधिनी—अविषह्येण निकटेऽपि स्थातुमशक्येन ते तेजसा भूरि पुनः पुनः द्रष्टुमपि न शक्नुमः । तस्य निदानजिज्ञासा दूरापास्तेति । अन्तर्दृष्ट्या द्रष्टव्यमित्याशङ्क्याह हतौजस इति । हे महाभाग ते तेजसैव हतं ओजः मनःशक्तिर्येषाम् । अतो दूरापास्तैव योगेन चिन्तनकथा । अन्यज्ज्ञातमस्तु न वा, द्वयं ज्ञायत इत्याह । हे महाभाग देहिनां च त्वं माननीय इति । त्रैलोक्यादधिकं भाग्यं दृश्यते । अत एव देहग्रहणमात्रेणैव अवश्यमिष्टमपेक्षितमिति सर्वेष्टपूरकः त्वं सर्वेषामेव माननीयः पूज्यः सेव्यश्चेत्यर्थः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—आपका ऐसा असह्य तेज है, जिसके पास में खड़ा रहना भी जब अशक्य है, तब बार-बार कैसे देखा जा सकेगा ? अर्थात् ऐसे तेज के कारण जब हम आपको देख नहीं सकते

हैं, तो आप कौन हो ? इत्यादि का कारण कैसे जान सकेंगे, यदि यों नहीं देख सकते हो तो अन्तर को दृष्टि से देखिए, इसके उत्तर में कहते हैं, कि हे महाभाग ! आपके तेज से जब मन की शक्ति नष्ट हो गई है तब योग से उसका चिन्तन करना तो दूर हो रह गया, दूसरा कुछ जानता नहीं, किन्तु दो बात जो जानी हैं, १ - देहधारियों से तो आप मान देने योग्य हो, अर्थात् देह धारी आपका सन्मान करें यह उनका कर्तव्य है। २—आपका "भाग्य" तीन लोकों से अधिक है, अतएव केवल देह के ग्रहण से ही, यह समझ में आता है, कि अवश्य कुछ "इष्ट" की अपेक्षा है, सबकी इष्टपूर्ति करने वाले आप को ही सब मान देते हैं, पूजते हैं तथा सेवन करते हैं, क्योंकि आप ही मान्य, पूज्य ओर सेव्य हैं ॥३४॥

आभास—एवं तस्य विज्ञापितमाकर्ण्य तदर्थमेव समागत इति तत्रोत्तरमुक्तवानित्याह एवं संभाषित इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसकी प्रार्थना सुनकर इसलिए ही आया हूं, यों उत्तर दिया जिसका वर्णन "एवं संभाषितो" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं संभाषितो राज्ञा भगवान्भूतभावनः ।
प्रत्याह प्रहसन्वाण्या मेघनादगम्भीरया ॥३५॥

श्लोकार्थ—भूत भावन भगवान् से जब राजा ने इस प्रकार प्रश्न किए तब हँसते हुए भगवान् मेघ नाद के समान गम्भीर आवाज से कहने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—सम्यक् भाषितः । राज्ञेति सोऽपि महान्, राजप्रश्ने चावश्यमुत्तरं देयमिति निरूपितम् । भगवांश्च निरूपित एवोत्तरे तस्य कृतार्थता भविष्यतीति जानाति । अतस्तथोत्तरं दत्तवान् । यद्यपि प्रकारान्तरेणापि तदुद्धारं कर्तुं शक्तः, तथापि तत्कृपयापि तथोक्तवानित्याह भूतभावन इति । प्रहसन्निति विशेषेण मोहितवान् । तर्हि हितकारी स्यादित्याशङ्क्याह मेघनादादपि अधिकगम्भीरया सर्वथा तापनाशिकया ॥३५॥

व्याख्यार्थ—राजा ने श्रेष्ठ रीति से प्रश्न किए वह भी महान् हैं, अतः राजा के प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना चाहिए, इससे यह निरूपण किया । मुचुकुन्द ने भगवान् के जन्मादि का तो निरूपण किया ही है किन्तु भगवान् इसका उत्तर देकर समर्थन करेंगे तब उसकी सफलता होगी, यों वह समझता है, अतः वैसा उत्तर दिया यद्यपि अन्य ढङ्ग से भी उद्धार के करने में प्रभु समर्थ हैं, तो भी उस पर कृपा है इसलिए वैसे कहा, क्योंकि आप भूतभावन हैं, हँसने का कारण मुचुकुन्द

को विशेष मोहित करना था, यदि मोहित करते हैं तो शत्रु हुए, क्योंकि हँसकर अहित कर रहे हैं, इसके उत्तर में कहते हैं, कि नहीं, उसके ताप (दुःख) को नाश करने वाले हैं, इसलिए मेघों के नाद के समान गंभीर वाणी से बोले हैं अर्थात् जैसे मेघ गर्जते हुए मेघ ताप नाश करते हैं वैसे ही आप भी इस वाणी मात्र से ताप नाश करते हैं ॥३५॥

आभास—भगवद्वाक्यान्याह—जन्मेति अर्धाधिकाष्टभिः ।

आभासार्थ—भगवान् के वचन "जन्म-कर्म" श्लोक से आठ श्लोकों में कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच—

श्लोक—जन्मकर्माभिधानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।
न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि–हे अङ्ग ! मेरे जन्म, कर्म और नाम हजारों हैं अर्थात् अनन्त हैं इसलिए इनकी गिनती मैं भी करने में असमर्थ नहीं हूँ यह निश्चय है ॥३६॥

सुबोधिनी—तदुक्तं भगवानर्धमेव फलं तस्य दास्यामीति ज्ञापितवानिति । आदौ यत्नेन पृष्टं 'जन्मकर्माभिधानानि वदे'ति, तत्र कानि वक्तव्यानीत्याकाङ्क्षामिव वदन् आदौ जन्मनामसङ्ख्यातत्वमाह मे जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्तीति । नन्विदानीन्तनेषु पृष्टेषु किमिति व्यधिकरणमुत्तरं दत्तवान्, ततश्चायं प्रतारक एव, न भगवानिति शङ्का च स्यादिति चेत् । सत्यम् । भगवान् प्रथमतः स्वरूपे ज्ञाते जन्मकर्माभिधानानि ज्ञातव्यानीति मन्यते । अतः स्वरूपं वदन् स्वभावं जन्मान्याह । ब्रह्मेति स्वरूपं वक्तव्यम् । तस्य कथं जन्मेत्याकाङ्क्षायां भक्तिप्रतिपादकोऽपि स भवतीति भक्तिसिद्ध्यर्थं कर्माणि करिष्यन् भक्तिपरिपालनार्थं कर्माणि च करिष्यन् बहून्येवावतरणानि करोतीति वक्तव्यम् । तस्मिन्ननुक्ते तस्य बोधनार्थमुक्तमप्यनुक्तं स्यात् । अतः सुष्ठूक्तं मे जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्तीति । अङ्गेत्यप्रतारणाय संबोधनम् । सन्तीत्यनेन सर्वेषामेव विद्यमानता निरूपिता । सर्वद्वीपेषु विद्यमानानां वा सहस्रत्वमुच्यते । तर्हि भक्तिसाधकत्वात्तानि कथयेत्याशङ्क्याह न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमिति । आनुपूर्व्येण संख्यातुं मयापि न शक्यन्ते ॥३६॥

व्याख्यार्थ – भगवान् ने ८ श्लोकों में आठ प्रश्नों का उत्तर देकर फल दान करने के लिए आधा श्लोक कहा, जिसका तात्पर्य यह है, कि भगवान् ने जता दिया, कि उसको आधा ही फल दूंगा। पहले जो यत्न से पूछा कि अपने जन्म, कर्म और नाम कहो, वहाँ कौन से कहने चाहिए ऐसी आशंका होने पर प्रथम उनके सङ्ख्या के विषय में कहते हैं कि मेरे जन्म, कर्म और नाम हजारों हैं अर्थात् अगणित हैं, आपके जन्म आदि पूछे हैं फिर आप उल्टा क्रम विरुद्ध उत्तर क्यों देते हैं ? इससे तो यों समझ में आएगा कि यह छली हैं, भगवान् तो नहीं है, इसके उत्तर में कहते हैं कि, सत्य है पहले भगवान् स्वरूप का ज्ञान होने पर, जन्म, कर्म और नाम जानने चाहिए, ऐसा मानते हैं, अतः स्वरूप का वर्णन करते हुए स्वभाव[1] प्रकट करने के लिए जन्म[2] कहते हैं "ब्रह्म" हैं, यह स्वरूप कहना चाहिए, यदि ब्रह्म है तो उनके जन्म कैसे होंगे ? इस शंका के समाधान के लिए कहते हैं कि, भक्ति का प्रतिपादन करने वाले भी वे ही हैं, अतः भक्ति का सिद्धि करने के लिए कर्म करते हुए और भक्तों को पालना के वास्ते कर्म करते हुए बहुत ही अवतार धारण करते हैं इस प्रकार कहना चाहिए, यों यदि न कहा जाएगा तो उनके ज्ञान के लिए कहा हुआ भी न कहने के समान होगा। अतः सुन्दर कहा है, कि मेरे जन्म कर्म आदि अनेक हैं। "अङ्ग" यह सम्बोधन देकर उसको[3] कहा है कि तुमसे कपट नहीं करता हूँ 'सन्ति" क्रिया देकर यह सिद्ध किया है, मेरे सर्व अवतार अब ही विद्यमान हैं, सब द्वीपों में वे विराजमान हैं, वे अनेक ही हैं, यदि हैं तो वे भक्ति को सिद्ध करने वाले होने से कहने चाहिए. उनको कहिए, जिसके उत्तर में कहते है, कि उनकी गणना करना असम्भव है, पूरी गणना मैं भी नहीं कर सकता हूँ ॥३६॥

आभास – तदेवासङ्ख्यातत्वेनोपपादयति, अज्ञानव्यावृत्त्यर्थम्, क्वचिद्रजांसीति ।

आभासार्थ—अज्ञान मिटाने के लिए "क्वचिद्रजांसि" श्लोक से अज्ञान मिटाने के लिए उसका असंख्यापन प्रतिपादन करते हैं ।

श्लोक—**क्वचिद्रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः ।**
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ॥३७॥

श्लोकार्थ—बहुत जन्म लेकर कदाचित् पृथ्वी के रजःकण गिने जा सकें किन्तु मेरे गुण, कर्म, नाम और जन्म कोई नहीं गिन सकता है ॥३७॥

१—अनन्त रूप से प्रकट होना। २—जन्म भी अनेक । ३—मुचुकुन्द को।

सुबोधिनी—कदाचित्पार्थिवान्यपि रजांसि कश्चिद्विममे। अहं वा। उरुजन्मभिरपि विमानं संभवत्यन्यस्य। यद्येक एव ब्रह्मपर्यायेण सर्वेषु ब्रह्माण्डेष्ववतरति, तदा तत्रत्यानां परमाणुनां सृज्योपयोगित्वेन गणनां करोति। अन्यथा अव्यवस्था स्यात्। ततश्च ब्रह्मणा गणयितुं शक्याः। मयापि सृष्ट्यादौ ज्ञानपूर्वकं सृजामीति गणितुं शक्या एव। कचिदिति। सृष्टिविशेषे। गुणकर्माभिधानानि मदीयानि तु कदाचिदपि गणयितुमशक्यानि। एकस्मिन् जन्मनि कोटिशः कर्माणि नामानि च भवन्ति। एकस्मिन् दिवसे ब्रह्माण्डकोटिषु द्वीपादिदेशविशेषेषु कोटिशो जन्मानि भवन्ति। अतः अपरिमितत्वात् जन्मादीनां परिगणनाभावो युक्तः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—किसी समय कोई, अथवा मैं पृथ्वी के रजःकण गिन सकूँ बहुत जन्म लेकर भी उसकी गणना सम्भव हो सकती है, यदि एक ही भगवान, ब्रह्म के पर्याय से सब ब्रह्माण्डों में अवतार लेते हैं, तब वहाँ की रचना के योग्य परमाणुओं की गणना करते हैं, यदि न करें तो व्यवस्था नष्ट हो जावे, इस कारण से ब्रह्म उनको गिन सकते हैं तथा मैं भी आदि में सृष्टि की ज्ञान पूर्वक रचना करता हूँ इस लिए वे गिने जा सकते हो हैं, किन्तु वह गणना कभी विशेष सृष्टि के समय में हो सकती है, अन्यथा नहीं, किन्तु मेरे गुण, कर्म और नाम तो कभी भी नहीं गिने जा सकते हैं, कारण कि, एक ही जन्म में, करोड़ कर्म तथा नाम बताते हैं एक ही दिन में करोड़ों ब्रह्माण्डों में विशेष अलग २ द्वीपों के देशों में करोड़ों जन्म होते हैं, अतः अनगिनत होने से उनकी गिनती नहीं हो सकती है ॥३७॥

आभास – **बहुभिर्मिलितैर्गणना भविष्यतीत्याशङ्क्याह कालत्रयोपपन्नानीति।**

आभासार्थ—बहुत मिल कर गणना कर लेंगे, जिसका उत्तर "कालत्रयोपपन्नानि" श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे नृप! तीन काल में युक्ति युक्त मेरे जन्म और कर्म गिनते हुए बड़े बड़े ऋषि भी अन्त पा नहीं सकते हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—भूतान्येव बहूनि वर्तन्ते, भविष्याणि च। स इति ब्रह्मणः। जीवो हि परिच्छिन्नः, एकदा एकस्मिन् देशे एकं देहं गृह्णाति, स देहः शतवर्षाणि तिष्ठति। भगवतस्तु देहाभा-

वास्वरूप यथासुख प्रदर्शयतीति एकस्मिन्नपि क्षणे बहुभिर्बहुधा दृश्यत इति अनेकरूपाणि भवन्ति। चलने च मायाजवनिकायाः स्थलान्तरे उद्गमस्य भिन्नत्वाच्चलनमात्रेणैवानेकानि रूपाणि भवन्ति। स ह्याकाशशरीरः सर्वतःपाणिपादान्तत्वेन, मूर्त्यानन्त्यात् अनन्तरूपत्वं युक्तमेव। अत आह भगवान्। कालत्रयोपपन्नानि मदीयानि अनुक्रमन्तः आनुपूर्व्येण गणनां कुर्वाणाः अन्तं न गच्छन्तीति। नृपेत संबोधन महत्त्वेन वञ्चनाभावाय। तत्रापि कालत्रयस्य योग्यानीति कर्मणामानन्त्यम्। कालत्रयस्य उपमर्दनसमर्थानि नामानीति कालत्रये उपपन्नान्यनन्तान्येव ॥३८॥

व्याख्यार्थ—भूत बहुत हो हैं और बहुत होंगे, 'में' पद का तात्पर्य है ब्रह्म के, क्योंकि जीव परिच्छिन्न हैं अतः एक ही काल तथा देश में एक देह धारण कर सकता है, वह देह सौ वर्ष तक रहती है भगवान् तो देह रहित होने से इच्छानुकूल सुखपूर्वक स्वरूप दिखाते हैं, एक ही क्षण में बहुत प्रकार से दर्शन करते हैं, इस प्रकार अनेक रूप होते हैं आपको मायारूप पड़दे के चलते रहने से दूसरे स्थल में उत्पन्न होने की भिन्नता से केवल चलने से ही अनेक होजाने हैं। उनका (भगवान् का) शरीर आकाश है, सब स्थान पर उनके पाणिपाद प्राप्त हैं, अतः मूर्ति की अनन्तता होने से आपका अनन्त रूप होना योग्य ही है, इस लिए कहा है, कि "भगवान्" हैं। मेरे ये जन्म तीन काल में उपयोगी हैं, आदि से लेकर यदि गणना की जाए तो अन्त हो न आवे, हे नृप! यह सम्बोधन दो बात प्रकट करने के लिए दिया है १- आप महान् हैं, यह बताने के लिए दूसरा आप से हम वञ्चना नहीं करते हैं यह जताने के वास्ते, इसमें भी मेरे कर्म तीनों कालों के योग्य हैं इससे कर्मों की अनन्तता सिद्ध की है, मेरे नाम तीनों कालों का उपमर्दन करने में समर्थ हैं, इस लिए तीनों कालों में योग्य हैं और अनन्त ही हैं ॥३८॥

आभास—एवं त्रिभिः स्वस्य ब्रह्मत्वं निरूप्य धर्माणामपि ब्रह्मत्वेनानन्त्यमुक्त्वा अवक्तव्यत्वमुपपाद्य तथापि राजकृपया राज्ञो दुर्ज्ञेयमपि वक्ष्यामीत्यभिप्रायेणाह तथापीति।

आभासार्थ—इस प्रकार तीन श्लोकों से अपने ब्रह्मत्व का निरूपण कर, और धर्म भी ब्रह्म रूप होते हुए अनन्त हैं, यों भी कह कर यह बताया कि वे बताने नहीं चाहिए तो भी राजा पर कृपा है अतः जो दुर्ज्ञेय हैं वह भी राजा को कहूँगा इस अभिप्राय से "तथापि" श्लोक कहते हैं—

श्लोक—तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम।
विज्ञापितो विरञ्च्येन पुराहं धर्मगुप्तये।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग तो भी अब के जन्म नाम आदि मैं कह रहा हूँ वे सुन, पहले ब्रह्मा ने धर्म की रक्षा और पृथ्वी पर भार रूप असुरों के नाश के लिए मुझे प्रार्थना की थी ॥३९॥

सुबोधिनी—अद्यतनानि जन्मकर्माभिधानानि शृणुष्व। यद्यपि त्वां प्रति न वक्ष्यामि, तथापि मे वदतः सतः त्वया सावधानतया श्रोतव्यम्। आदौ जन्महेतुमाह। स एव पृष्ट इति। पुरा विरञ्च्येन विज्ञापितः ब्रह्मणा प्राथितः सन् धर्मरक्षा कर्तव्येति। भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयार्थं च। अनेन द्वयं गृहीतम्। भूमिभारहरणमसुराणां क्षयश्चेति। चकाराद्भक्तिसिद्धयर्थं च ॥३९॥

व्याख्यार्थ—अब के मेरे जन्म, कर्म और नाम सुन ले यद्यपि तुमको नहीं कह रहा हूँ, तो भी कहते हुए मुझे, तू सावधान हो कर सुनले, प्रथम जन्म का कारण कहते हैं, क्योंकि वह ही पूछा है, पहले ब्रह्मा ने प्रार्थना की थी, कि आपको धर्म की रक्षा करनी चाहिए, और पृथ्वी पर भार बने हुए असुरों के नाश के लिए भी प्रार्थना की थी, इससे हमने दोनों प्रार्थनाएं स्वीकार करली (१) भूमि का भार उतारना और (२) असुरों का नाश करना, यों करने से धर्म की रक्षा हो जाएगी तथा "च" से यह बताया कि भक्ति की सिद्धि के लिए भी जन्म धारण किया है ॥३९॥

श्लोक—**अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः।**
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—यदुकुल में आनक-दुन्दुभि के गृह में, में प्रकट हुआ हूं, मुझे वसुदेव का पुत्र होने से "वासुदेव" नाम से बुलाते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—यदुकुले इति गोत्रमुक्तम्। आनकदुन्दुभेर्गृह इति विशेषोऽप्युक्तः। नामाह वदन्ति वासुदेवेति। सन्त्येव बहूनि नामानि, एकस्यापि नाम्नः बहून्येव निर्वचनानि सन्ति, तथापि एकं नाम एकप्रकारनिर्वचनं लोका वदन्ति। वासुदेवेति नाम। वसुदेवसुतमिति निर्वचनम्। हीति युक्तश्चायमर्थः। यतो मां वदन्ति। मया च तथा कृतमिति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—यदुकुल में जन्म कहने से, अपना गोत्र बताया है, आनकदुन्दुभि के घर में कहकर गोत्र में भी विशेष घर बता दिया है, अब नाम कहते हैं, कि मुझे "वासुदेव" कहते हैं, बहुत नाम

हैं एक ही नाम के बहुत अर्थ होते हैं, तो भी लोक एक नाम और उस एक ही अर्थ को कहते हैं, "वासुदेव" यह नाम, इसका अर्थ करते हैं कि वसुदेव का पुत्र है, इस लिए वसुदेव है "हि" शब्द का तात्पर्य है, कि यह अर्थ योग्य ही है, जिससे मुझे वासुदेव कहते हैं, मैंने भी यों ही किया अतः वसुदेव का पुत्र हुआ हूँ ।।४०।।

आभास—**कर्माण्याह कालनेमिर्हत इति ।**

आभासार्थ—कर्म का वर्णन करते हैं "कालनेमिर्हतः" श्लोक से--

श्लोक—**कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः ।**
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ।।४१।।

श्लोकार्थ—कालनेमि होने से मामा कंस को भी मारा, सत्पुरुषों के द्वेषी होने से प्रलम्ब आदि दैत्य नष्ट किए, इससे सत्पुरुषों की रक्षा हुई, हे राजन् तेरे तेज नेत्र से +

सुबोधिनी—कंसो मातुल इति तस्य हननं निषिद्धमिति पूर्वं स कालनेमिः स्थित इत्युक्तम् । प्रलम्बादयोऽपि हताः, यतस्ते सद्द्विषः । अनेन सद्रक्षार्थं प्रलम्बादयो हताः, न तु तेषां हनने स्वतन्त्र कार्यमस्तीति भावः । प्रकृतकृत्यं द्विरूपमाह अयमिति । तत्र यवनः ते तिग्मचक्षुषा बाण प्रायेण करणेन मयैव दग्धः । चकारः कर्तृ समुच्चयार्थः । राजन्निति संबोधनं तथैव सम्मत्यर्थम् ।।४१।।

व्याख्यार्थ—कंस मामा है इस लिए उनके मारने का शास्त्रों में निषेध है, किन्तु वह पूर्व जन्म में कालनेमि था कालनेमि का अवतार होने के कारण इसको मारा है सत्पुरुषों के द्वेषी प्रलम्व आदि का वध सत्पुरुषों की रक्षा के लिए किया है, उनके मारने के लिए अन्य कोई कारण नहीं था, चालू कृत्य दो तरह का है यद्यपि देखने में यवन तुम्हारे तेज चक्षु से दग्ध हुआ है वास्तव में उसको मैंने ही भस्म किया है तुम्हारा नेत्र तो केवल कारण है, जैसे योधे का बाण साधन होता है "च" से कर्ता का समुच्चय दिखाया है, हे राजन् ! यह सम्बोधन वैसी ही सम्मति के लिए है ।।४१।।

आभास—**द्वितीयं भक्तिलक्षणं धर्मलक्षणं वा प्रयोजनमाह सोऽहमिति ।**

+ यह वाक्य ४२ वें श्लोक के श्लोकार्थ में पूरा होगा ।

आभासार्थ—आने का दूसरा प्रयोजन भक्ति का व धर्म लक्षण का है वह "सोऽहं" श्लोक में कहते है--

श्लोक—सोऽहं तवानुग्राहार्थं गुहामेतामुपागतः ।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥४२॥

श्लोकार्थ- जिस मुझ भक्त वत्सल को तुमने बहुत पहले प्रार्थना की थी, वह मैं तुम पर कृपा करने के लिए इस गुफा में आया हूँ ॥४२॥

सुबोधिनी—अनेकार्थेऽवतीर्णो यतोऽहं अतस्तवाप्यनुग्रहः कर्तव्य इति एतां गुहामुपागतः । अन्यथा प्रकारान्तरेण भ्रममुत्पाद्य कालयवन एवात्रानीतः स्यात् । ततश्च स्वयमेव स भस्मीभवेत् । अतस्त्वदर्थमेवास्मिन् सङ्कटे देशेऽपि समागतः । तत्र हेतुः प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वमिति । बहुवारं पूर्वजन्मसु त्वयाऽहं प्रार्थितः । अनेन यत्सामर्थ्यं त्वयीदानीमुपलभ्यते, तत्केवलं मदनुभावेनेत्यपि ज्ञापितम् । तथापि स्वक्लेशेनाप्यागमने स्वस्यासाधारणं धर्ममाह भक्तवत्सल इति । अहं स्वभावतो भक्तवत्सलः ४२॥

व्याख्यार्थ—जिससे में अनेकों के लिए प्रकट हुआ हूँ अतः तुम पर भी अनुग्रह करना चाहिए, इसलिए इस गुफा में आया हूँ, अन्य प्रकार भ्रम पैदा कर कालयवन को ही यहाँ लाया जावे, पश्चात् वह स्वय भस्म हो जावे, अतः तेरे लिए ही इस कष्ट वाले देश में आया हूँ, ऐसे देश में तेरे लिए आने का कारण यह है कि तुमने बहुत बार पूर्व जन्मों में मुझे प्रार्थना की थी, यों कहकर यह भी मुचुकुन्द को सूचित किया है कि तुम से जो यह सामर्थ्य इस समय देखने में आती है वह मेरा ही प्रभाव है, यहाँ आने में जो कष्ट हुआ है, वह सहन कर भी जो आया हूँ उसका कारण मेरा असाधारण धर्म, भक्त वत्सलता है मैं स्वभाव से हीं भक्त वत्सल हूँ, अर्थात् भक्तों से प्यार करने वाला हूँ ॥४२॥

आभास—आगतस्य प्रयोजनमाह वरान् वृणीष्वेति ।

आभासार्थ—अपने आने का प्रयोजन "वरान्वृणीष्व" श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते ।
मां प्रपन्नोऽजनः कश्चिन्न भूयोर्हति शोचितुम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे राजर्षि वरों को मांग, हम तुझे सर्व कामनाएँ देते हैं, मेरी शरण आया हुआ कोई भी फिर शोक नहीं करता है, अन्य जन्म में मोक्ष भी पाता है ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—ये वरणीयाः तवाभीष्टाः तान् बहूनपि वृणीष्व । यतस्त्वं राजर्षिः राजा च ऋषिश्च राजधर्म वैदिक च धर्म कृतवानिति । अहं पुनः ते अस्मिन् जन्मनि सर्वानेव कामान् दास्यामि न तु मोक्षमिति भावः । तर्हि किं वरेणेत्याशङ्क्याह मां प्रपन्न इति । यस्तु शरणागतः, स भूयः शोचितुं नार्हति । यस्मिन् जन्मनि प्रपद्यते, तस्मिन् जन्मनि कश्चिच्छोचितुमर्हति, न सर्वः । अतः सर्वेषां शोकः प्रपत्तिमात्रेण निवर्तते, अजनश्च भवति । जनश्चेत् मदिच्छया, तथापि भूयः शोचितुं नार्हति । एष विकल्पः राज्ञ एवार्थे । अतः कामितं सर्वमेव दास्यामि, मुक्तिमपि एकजन्मव्यवधानेनेति भावः ।।४३।।

व्याख्यार्थ—जो तुमको वर लेने हों, वे वहुत से हों तो भी मांग लो, क्योंकि तुम राजा और ऋषि दोनों हो, राज धर्म और वैदिक धर्म दोनों धर्म पाले हैं, मैं इस जन्म में सब कामनाएँ जो भी तेरी होगी वे पूर्ण करूँगा, किन्तु मोक्ष के सिवाय । यदि मोक्ष नहीं देना चाहते हैं, तो वर लेने से लाभ क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो मेरी शरण आया है वह कभी भी फिर शोक नहीं करता है, अर्थात् वह सर्व प्रकार के शोकों से छूट जाता है, जिस जन्म में शरण लेता है उस जन्म में कोई कोई शोक करता है सब नहीं करते अतः सब का शोक शरण मात्र से निवृत्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है, यदि मेरी इच्छा से उसकी मुक्ति न भी होवे, तो भी वह शोकाकुल तो हो नहीं सकता है, यह विकल्प भी राजा के वास्ते ही है, अतः कामनाएँ तो सब दूंगा, शेष मुक्ति वह भी एक जन्म की रुकावट से दूंगा ।।४३।।

आभास—एवं वचनेन यदर्थं स्वयं स्थितः स एवायमिति निश्चित्य कर्तुमियेषेत्याह इत्युक्त इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गर्व के वचन मानकर, जिसके लिए मैं यहां स्थित हूँ, वह ही यह है, यह निश्चय कर, स्तुति करने को इच्छा करने लगा, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी "इत्युक्त" श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः ।
ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥४४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार जब भगवान् ने कहा तब प्रसन्न होकर मुचुकुन्द ने गर्गजी के वाक्य स्मरण कर उनको नारायण देव जान और उनको प्रणाम कर कहने लगा अर्थात् स्तुति करने लगा ॥४४॥

सुबोधिनी—भगवता वरं प्रार्थयेत्युक्तः स्तत्वैव वरः प्रार्थनीय इति तं प्रणम्य स्तुतिमाह । यतोऽयं मुचुकुन्दः प्रसिद्धः, मुदा चान्तरन्वितो जातः । भगवद्बाक्येन संतोषोऽप्येका भगवत्स्तुतिः । तदा गर्गवाक्यमनुस्मरन्, भगवद्वाक्येन तस्यापि स्मरणे जाते, नारायणोऽयमिति निश्चित्य, स्तोत्रं कृतवान् । अनेन नारायणः पुरुष एव ज्ञातः, न तु पुरुषोत्तमः । अथवा । पुरुषमेव पुरुषोत्तमं मन्यते । भगवद्वाक्यं गर्गवाक्यस्मारकत्वेन जातमिति न फलसिद्धिः । अनेनैवाभिप्रायेण भगवतापि 'कामान् ददामी'त्युक्तम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वरों को मांग, इतना कहा, यह सुनकर राजा ने विचार किया कि पहले स्तुति कर पश्चात् वरों की याचना करनी चाहिए, इस निश्चय से, उनको प्रणाम कर स्तुति करने लगा, जिससे यह मुचुकुन्द प्रसिद्ध है। अन्तःकारण में प्रसन्नता से युक्त हुआ, भगवान् के वचनों से सन्तोष हो जाना यह भी उनकी एक प्रकार की स्तुति है, तब गर्ग के वाक्य याद हो आए, इसके वाक्यों का स्मरण भी भगवान् के वाक्य श्रवण से हुआ अतः ये नारायण हैं यह निश्चय कर स्तुति करने लगा, इससे नारायण को पुरुष ही जाना, पुरुषोत्तम नहीं समझा, अथवा पुरुष को ही पुरुषोत्तम मानता है, मुचुकुन्द को फल की (मोक्ष की) सिद्धि न हुई जिसका कारण यह है, कि इसने भगवान् के वचनों का फल गर्ग के वाक्यों का स्मरण ही समझ लिया, इसी अभिप्राय को ध्यान में रख कर भगवान् ने भी "कामान् दास्यामि" कहा कि कामनाओं को दूँगा न कि मोक्ष को ॥४४॥

आभास—भगवन्तं स्तौति त्रयोदशभिः विमोहित इति ।

आभासार्थ—तेरह श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है ।

१५

मुचुकुन्द उवाच—

श्लोक— विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित्पुरुषश्च वञ्चितः ॥४५॥

श्लोकार्थ—मुचुकुन्द कहने लगा—हे ईश आपकी इस माया ने यह मनुष्य, स्त्री अथवा पुरुष को ठग लिया है, इसलिए अनर्थ संसार में ही ध्यान हो जाने से आपको नहीं भजता है, दुःख देने वाले घरों में सुख के लिए आसक्त है ॥४५॥

सुबोधिनी—अत्र द्वादशधा कालो निरूप्यते । तदतिक्रमार्थं च एकेन भगवत्प्रपत्तिरिति । तत्र कालेन सर्वे व्यामोहिता इति प्रथमं तामसराजससात्त्विकान् मुग्धान् गणयति त्रिभिः । तत्र प्रथमेन तामसमोहो निरूप्यते । अयं जनः त्वदीयया मायया विशेषेण मोहितः । ननु कालेनैव मोहितोऽस्तु, किं भगवन्मायाविमोहनेनेत्यत आह ईशेति । भवानेवेशः । तेन कालरूपो भूत्वा तान् विमोहयसीत्युक्तं भवति । अन्येनैतावत्कर्तुं न शक्यत इति । न ह्यन्यः भगवद्भजनं निवारयितुं शक्नोति । अपराधी स्यात् । अन्ये व्यामोहाः कालकृता भवन्तु नाम, भगवदभजनहेतुः कालो भगवानेव । तदाह यतस्त्वां न भजतीति । ननु परमानन्दे कथं विचारकाणामप्रवृत्तिरिति चेत्, तत्राह अनर्थदृगिति । अनर्थ एव दृष्टिर्यस्य । यद्धि पश्यति, तज्जानाति उभयं चेत्पश्येत्, तारतम्यं च जानीयात्, अयं त्वनर्थमेव पश्यति । ननु सर्वोऽपि दुःखान्निवर्तते, सुखार्थे प्रवर्तते, सुखदुःखे चात्मानुभववेद्ये, अतः कथमनर्थदर्शनमिति चेत्, तत्राह सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जत इति । प्रवृत्तिस्तु स्वसमानप्रकारज्ञानजन्यैव, परं तज्ज्ञानं भ्रान्तम्, तेन फले विपर्ययः । यद्दुःखस्थानम्, यतो दुःखमेवोत्पद्यते, तत्र सुखं भविष्यतीति, यतः प्रवर्तते, तत्राप्यासज्जते, तत्स्थानं निर्दिशति गृहेष्विति । दुःखप्रभवत्वमुपपत्त्योपपादयति योषित्पुरुषश्चेति । गृहे हि द्वयमेवास्ति । द्वयमप्यन्योन्यत सुखापेक्षम् । यद्येकस्मिन् सुखं भवेत्, तत्रापि पुष्कलम् तदा ह्यन्यस्मै प्रयच्छेत्, इतरेतराश्रयं कार्यं च न सिध्यत्येव । अतस्तयोर्दुःखमेव सहजम्, तदनुवृत्तौ दुःखमेव भवेत् । न हि नद्यामग्निः प्राप्यते । नन्वनुभूयते सुखं कथमिति चेत्, तत्राह वञ्चित इति । केनचिद्वञ्चितः सुखं मन्यते । न हि युक्तिबाधितं प्रमाणबाधितं च क्वचित्सुखं भवति । अनुभवस्तु भ्रान्तानुभवतुल्यः । अतो लौकिके युक्तिबाधितं न प्रमाणम्, वैदिके श्रुतिरेव प्रमाणमिति । अन्योन्यसुखापेक्षित्वेन प्रवृत्तेः सुखाभावस्तत्र सिद्धः । 'पन्नगात्मनो नरकात्त्रायत' इति व्याख्यानात् पुरुषशब्देन नरक उच्यते, योषिच्छब्देन च सुतरां नरकम्, 'शालावृकाणां हृदयान्येता' इति 'स सोमो नातिष्ठते' इत्यादिश्रुतिभिः स्त्रीणां निन्दाश्रवणात् । 'प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थ' इति उपासनार्थं निरूपितम् । लोकप्रसिद्धं दृष्टान्तीकर्तुं वा । आविर्भूते वा रसे तद्भवति ।

गृहत्वादेव परिच्छिन्नत्वान्न रसाविर्भावः । उभयोः परिगणनायां कृतत्वात्तत्रेतराभावः सिद्धः । यत उभयोः सुखं भवेत् । चकारात्तदपत्यानि च । ते च व्याघ्रवत्ताभ्यामेव सुखेप्सवः । अतो युक्तिप्रमाणाभ्यां बाधादन्योन्यप्रवृत्तौ वञ्चितं एवं । समुदाये च तां निराकर्तुं वञ्चित इत्येकवचनम् ।।४५।।

व्याख्यार्थ—मुचुकुन्द १३ श्लोकों से स्तुति करता है, जिसका कारण यह है, कि द्वादश प्रकार का काल है जिसका १२ श्लोकों से स्तुति कर अतिक्रमण करता है, और एक श्लोक से भगवान् की शरणागति कहनी है, काल ने सब को मुग्ध बना लिया है, इस लिए प्रथम तीन श्लोकों से तामस, राजस और सात्विक मूढों की गिनती करता है, उसमें भी प्रथम श्लोक से तामस मोह का निरूपण किया जाता है, यह मनुष्य आपकी माया से विशेष प्रकार से मुग्ध हो गया है, मेरी माया से क्यों कहते हो ? यह तो इस काल के कारण मोहित हुआ है. इसके उत्तर में कहता है, कि आप ईश हैं, इसलिए काल रूप बनकर उनको मोह में फँसाते हो. आपके सिवाय दूसरा कोई भी यों करने में समर्थ नहीं हैं. दूसरा कोई भगवद्भजन से विमुख नहीं कर सकता है, यदि करें तो अपराधी बनें, दूसरे मोह अर्थात् धन, स्त्री पुत्रादिकों का मोह भले कालकृत हो, किन्तु भगवान् के भजन न करने में कालरूप आप भगवान् ही हैं, जिससे आपका भजन नहीं करते हैं, यदि कहो कि विचार करने वालों की परमानन्द में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है ? तो इसके समाधान में कहा है, कि उनकी दृष्टि केवल संसार में ही है, इस लिए, वे संसार को ही जानते हैं, नियम है, कि जिसको देखा जाता है उसका ही ज्ञान होता है, जो संसार और परमार्थ दोनों को देखें तो दोनों में तारतम्य (भेद) क्या है ? कौन श्रेष्ठ है, और कौन हीन है ? यह तो अनर्थ (संसार) को देख रहा है, फिर शंका होती है, कि सब मनुष्य दुःख से निवृत्ति चाहते हैं और सुख में प्रवृत्त होते हैं सुख क्या है ? वा किस में है और दुःख क्या है ? एवं किसमें है ? यह अनुभव से जाना जाता है, अतः अनर्थ में ही दृष्टि कैसे ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि सुख की प्राप्ति के लिए उन पदार्थों में आसक्त होता है, जिन पदार्थों से दुःख पैदा होता है, मनुष्य की प्रवृत्ति तो अपने समान प्रकार वाले ज्ञान द्वारा होती है किन्तु वह ज्ञान भ्रम पूर्ण होता है जिससे उसका फल उल्टा होता है जो दुःख का स्थान है, वहाँ से दुःख ही प्राप्त होगा किन्तु भ्रम से समझता है कि सुख मिलेगा, जिस कारण से उसमें प्रवृत्त होता है और उसमें आसक्त हो जाता है वैसा स्थान + बताता है "गृहेषु" घरों में सुख समझता है किन्तु मिलता दुःख है, जिसको हेतु पूर्वक युक्ति से सिद्ध करता है "योषित पुरुषश्च" स्त्री और पुरुष ये दो ही घर में रहते हैं दोनों एक दूसरे से सुख चाहते हैं, जब एक दूसरे को प्रसन्न कर (तथा) बहुत सुख देवें, तब दूसरा उस सुख देने वाले को सुख देवे, इस प्रकार सुख का कार्य एक दूसरे पर आश्रित है, जिससे वह कार्य पूर्णतया सिद्ध नहीं होता है, अतः दोनों को दुःख ही, बहुत कर सरलता से प्राप्त होता है निश्चय है कि नदी में जैसे अग्नि की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही गृहों में सुख की प्राप्ति

+ जिससे मिलता तो है दुःख किन्तु समझता है यहाँ से सुख मिलेगा,

भी नहीं होती है, यदि कहो कि सुख का अनुभव कैसे होता है ? उस पर कहते हैं कि "वञ्चित:" किसी से ठगा जाने से समझता है, कि मैं सुख पाता हूँ वास्तव में वैसा सुख शायद ही मिलता है जिसका युक्ति व प्रमाण से बोध नहीं होता है आप यों कैसे कहते हो ? वह सुख नहीं है, सुख का तो अनुभव होता है। इस पर कहते हैं कि वह भ्रान्त अनुभव, जैसा है सत्य अनुभव नहीं है अतः लौकिक में जो युक्ति से वाधित है वह प्रमाण नहीं माना जाता है और वैदिक में श्रुति ही प्रमाण है, परस्पर एक दूसरे से सुख को प्राप्ति की अपेक्षा से जो सुखार्थ प्रवृत्ति की जाती है, उसमे सुख का अभाव अर्थात् दुःख की प्राप्ति ही सिद्ध समझनी चाहिए। "पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते" इस वाक्य से पुरुष शब्द से नरक का लक्ष्य किया है, "योषित्" शब्द तो सुतराम् नरक है ही, जिसमें प्रमाण देते हैं. "शाला वृकाणां हृदयानि एताः" स्त्रियां शालावृको (गीदड़, कुत्ता आदि) का हृदय है "स सोमोनातिष्ठते" इत्यादि श्रुतियों में स्त्रियों की निन्दा सुनी जाती है "प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थ" इस श्रुति से जननेन्द्रिय की उपासना बताई है अथवा लोक में माने हुए को दृष्टान्त रूप से बताने के लिए अथवा रस के आविर्भूत होने पर वह होता है, गृह होने से परिच्छिन्न है अतः रस का आविर्भाव नहीं होता है, दोनों की परिगणना करने से दूसरे का अभाव सिद्ध है, जिसमे दोनों को सुख होवे "च" शब्द से उनको सन्तान भी, उन दोनों स्त्री पुरुषों (माता पिता) से व्याघ्र की तरह सुख को चाहना करतो है अतः युक्ति तथा प्रमाण से वाधित होने के कारण परस्पर प्रवृत्ति में ठगे हुए ही हैं, समुदाय में उसका निराकरण करने के लिए "वचित" यह एक वचन कहा है ॥ ४५ ॥

आभास—एवं गृहासक्तस्य तामसस्य वञ्चनामुक्त्वा शास्त्रादिरतस्यापि विवेकिनोऽपि राजसस्य वञ्चितत्वमाह लब्ध्वा जनो दुर्लभमिति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार गृह में आसक्त तामस जन की वंचना कह कर अब "लब्ध्वाजनो" श्लोक में शास्त्र से दूसरे विवेक की राजस के वञ्चना प्रकार कहते हैं।

श्लोक—लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे निष्पापी ! मनुष्य इस लोक में बिना प्रयत्न किए किसी तरह सब इन्द्रियाँ और अंग सहित दुर्लभ, यह मनुष्य-देह प्राप्त करता है, तो भी जो

भगवान् के चरणारविन्द का भजन नहीं करता है, वह असत्य बुद्धि वाला है और पशु की तरह घर के अन्धकूप में गिरा हुआ है यों समझना चाहिए ॥४६॥

सुबोधिनी—विवेकसहितं मानुषमपि देहं प्राप्य कथञ्चिन्महता कष्टेन । अव्यङ्गं सर्वाङ्गसहितं सर्वेन्द्रियसहितं सर्वबुद्धिसहितं च महता शास्त्रप्रयासेन. जनत्वात्सर्वदा जायमानः, विशिष्टं कदाचिदेव प्राप्नोतीति । तादृशमपि प्राप्य भगवन्तं न भजतीति असन्मतिरेव । प्राप्तसामग्र्या अन्यथा उपयोगाभावात् । इन्द्रियाणामुपयोगोनुपयोगश्च पूर्वं निरूपितः । 'बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये' 'सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीत' इति च । अतो भगवत्पादारविन्दाभजने असन्मतिरेव भवति । असन्मतित्वाद्वा अभजनम् । अत एव गृहान्धकूपे पतति । उपर्युद्गमाभावात् । तत्र च पदार्थदर्शनाभावात् अन्धकूपत्वम् । विवेकी कूपेपि पतितः कदाचिदुपायेनोद्गच्छति । तदपि नास्तीति दृष्टान्तमाह यथा पशुरिति । पशुश्च तत्र व्याकुलोऽपि भवति । यतोऽधिकमेव दुःखं प्राप्नोति । निर्गमनोपायं च न वेद ॥४६॥

व्याख्यार्थ—महान् कष्ट से एक एक शास्त्र के प्रयास से, विवेक वाली मनुष्य देह को भी प्राप्त किया है, फिर भी कैसी ? जिससे सर्व अङ्गपूर्ण सर्व इन्द्रियाँ पुष्ट और सर्व प्रकार की बुद्धि वाली है एवं "जन" शब्द से यह बताया है, कि सर्वदा जन्मता है, किन्तु विशेष प्रकार से तो कभी प्राप्त करता है वैसी उत्तम प्रकार की देह भी प्राप्त कर यदि भगवत् भजन नहीं करता है तो समझना चाहिए कि वह असत् बुद्धि वाला ही है: क्योंकि यह सामग्री भगवान् के भजने के लिए मिली है वह सामग्री भगवान् के उपयोग में न लाकर लौकिक में लाना, असत् बुद्धि ही है, इस सामग्री का दूसरे में उपयोग नहीं होना चाहिए। इन्द्रियों का उपयोग कहाँ करना चाहिए तथा कहाँ न करना चाहिए वह पहले निरूपण किया है, जैसे कि कहाँ गया है, कि "बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये" "सावाग्यया तस्य गुणान् गृणीत" जो मनुष्य भगवान् के गुण नहीं सुनते हैं उनके कर्ण सर्प के बिल हैं, जिससे भगवान् के गुण गाए जाते हैं वह वाणी है. जो मनुष्य इस प्रकार भगवान् के गुणों का श्रवण और स्मरण नहीं करता है, वह असत् बुद्धि है, अर्थात् असत् बुद्धि होने से वह भजन नहीं करता है इस कारण से घरके अन्धेरे कूए में गिरा हुआ है। वह कूआ ऐसा है जिसमें से ऊपर निकल आने का ही अभाव है, क्योंकि अन्धेरे कूप कहने का तात्पर्य ही यह है कि वहाँ कुछ भी पदार्थ देखने में नहीं आता है, कूप में जो गिरता है वह यदि विवेकी होता है, तो निकल आता है किन्तु यह तो पशु है अर्थात् इसमें विवेक नहीं है, वहाँ व्याकुल होते हुए अधिक दुःखी होता है कारण कि अविवेकी होने से उसे बाहिर निकलने का उपाय नहीं आता है ॥४६॥

आभास—एवं राजसानां दूषणमुक्त्वा सात्त्विकानामपि स्वदृष्टान्तेन दूषणमाह ममैष काल इति ।

आभासार्थ—राजसी मनुष्यों के दूषण कहकर अब सात्विकों का भी दूषण अपने दृष्टान्त से "ममैष काल" इस श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४७॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! मेरा इतना काल व्यर्थ ही गया, कारण कि मैं राजा हूँ जिससे राजलक्ष्मी के मद से उन्मत हूँ और इस देह को आत्मा समझ कर इस के सम्बन्धी पुत्र, स्त्री आदि की चिन्ता से युक्त हूँ ॥४७॥

सुबोधिनी—एष इति पूर्वमनुभूतः । स सर्वोऽपि शोकेन पुर एवावतिष्ठते । अजितेति संबोधनम् । न कालेन भवान् जितः, वयं तु जिता इति स्वदुःखनिवेदनमप्युक्तम् । कालो हि पुरुषस्य पुरुषार्थसाधने हेतुर्भवति । तदभावे निष्फल एव गतः । ननु विवेकयुक्तो भवान्, कथमेवं वदतीत्याशङ्क्याह राज्यश्रियोन्नद्धमदस्येति । राज्यश्रिया परमोन्मादजनिकया उन्नद्धो मदो यस्य । ननु राज्यश्रियाः मदजनकत्वे को हेतुः, तत्राह भूपतेरिति । सर्वे हि दोषा भूमौ भवन्ति, न स्वर्गे, नापि पाताले । तस्याश्च पतिः तद्दोषेण दूषित एव भवति । अतो दोषसंबन्धात् सज्वरस्यान्नभोजनमिव श्रियापि बुद्धिनाश एव भवति । किञ्च । मर्त्यात्मबुद्धेरिति । मर्त्ये मरणधर्मके शरीरे आत्मबुद्धिर्यस्य । पापं तु भूपतित्वजनितमल्पम्, आत्मनोन्यथाज्ञानं तु महत्पापम् । 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति वाक्यात् । नित्यं चात्मानं बुद्ध्या मारयतीति मर्त्यपदेन वधदोषोऽपि सूचितः । किञ्च । सुतदारकोशभूषु आसमन्तात्सज्जमानोऽपि जातः । ममतामपि भवदीयेसु अकृत्वा पुत्रादिषु चतुर्षु कृतवान् । तत्राप्यासक्तिम्, तत्रापि तेषां तत्संबन्धेनात्मनश्च सहस्रचिन्तायुक्तः, तदीयान् पोषयिष्यामि, तच्छत्रून्मारयिष्यामीत्यादि दुरन्ता चिन्ता । यस्या अन्तोऽग्रिमफलं नरकपात इति । एवं त्रिदोषेण अहमपि मग्नः । आयुषो निष्फलता, मर्त्यात्मबुद्धिः, पुत्रादिष्वासक्तिश्चेति । एकैकमप्यनर्थायेति न्यायेन चतुष्टयमुक्तम् ॥४७॥

व्याख्यार्थ—जिस काल का मैंने अनुभव कर लिया है वह भी समस्त काल तो शोक से सामने ही खड़ा है अर्थात् इस काल में मैं शोक से ही घिरा हुआ हूँ, हे प्रभो! आप अजित हैं, अतः आपको काल जीत नहीं सकता है, हम तो काल से सवर्था जीते गए हैं, यों कहकर अपना दुःख भी सुना दिया । पुरुष के पुरुषार्थ को सिद्ध करने में काल ही हेतु है, उसके अभाव में वह निष्फल ही गया । आप तो विवेक वाले हैं (तो) यों क्यों कहते हो ? इसके उत्तर में कहा है कि विशेष मद को पैदा करने वाली, राज लक्ष्मी से मेरा मद विशेष बढ गया है, कारण कि "मैं राजा हूँ" वैसी बुद्धि हो

जाने से मद बढ़ा है, जितने भी दोष हैं, वे सब पृथ्वी पर होते हैं । न स्वर्ग में और न पाताल में भी होते हैं. उस भूमि का पति उसके दोषों से दूषित होगा ही, अतः दोष के संबन्ध के कारण लक्ष्मी से भी बुद्धि का नाश वैसे ही होता है जैसे ज्वर वाला मनुष्य अन्न (भोजन) रूप अपथ्य करे, तो उसका नाश होता है, और विशेष यह है, कि मेरी इस मरने वाली देह में अज्ञान से, आत्म बुद्धि है वह बुद्धि महापाप है यद्यपि राजापन से भी पाप होता है, किन्तु वह पाप है यह अज्ञान तो महा पाप है, जैसा कि शास्त्र में कहा है, कि जो आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा न समझ अन्यथा समझता है, उस आत्मा की चोरी करने वाले ने कौन सा पाप न किया ? अर्थात् उसने सर्वपाप किए । "मर्त्य' पद से यह भी सूचित किया है, कि वह बुद्धि से नित्य आत्मा का वध करता है, इससे उसको वध' दोष भी लगता है. देह में अपनी आत्म बुद्धि करने से उसके संबन्धो पुत्र, स्त्री, धन और पृथ्वी में पूर्ण आसक्तिवान हुआ हूँ जो समय भगवदभक्तों में करनी चाहिए उनमें न कर इन चारों में किया है । न केवल साधारण ममता की है, किन्तु आसक्ति करली है, उसमें भी उन सम्बन्धियों की और अपनी सहस्र चिन्ताओं से युक्त हूँ, इनको और इनके सम्बन्धियों को पालूँगा और इनके शत्रुओं का नाश करूँगा इत्यादि से अनन्त चिन्ताएँ हैं जिसका अन्तिम फल नरक में गिरना है इस प्रकार त्रिदोष में भी डूबा हुआ हूँ आयु व्यर्थ गई । नाशवान शरीर में आत्मा की बुद्धि, पुत्रादिकों में आसक्ति, एक एक भी अनर्थ देने वाली है (फिर) यहां तो चार हैं ॥४७॥

आभास—एवं त्रिविधानामपि मोहमुक्त्वा विशेषतः स्वस्य परमं दोषत्रयमाह कलेवरेऽस्मिन्निति त्रिभिः ।

आभासार्थ—यों तीनों का मोह कह कर विशेष रूप से "कलेवरेऽस्मिन" ३ श्लोकों में अपने तीनों दोष कहते हैं—

श्लोक—कलेवरेऽस्मिन्घटकुड्यसंनिभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैर्गां पर्यटंस्त्वाऽगणयन्सुदुर्मदः ॥४८॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥४९॥
पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥५०॥

श्लोकार्थ—घड़े और घर के समान साधन भूत इस शरीर में, मैं राजा हूँ ऐसा

अभिमान कर आपको भी न गिन कर, रथ, हस्ती, घोड़े, प्यादे आदि की सेना से घिरा हुआ मदोन्मत्त होके पृथ्वी पर घूम रहा हूँ ॥४८॥

ये ये कार्य अवश्य करने हैं, इस चिन्तन से प्रसन्न हुए प्रतिदिन विशेष लोभ वाले, विषयों में लालसा वाले को जैसे सुधा से गलाफों को चाटता हुआ सर्प चूहे को झपट लेता है वैसे (ही) कालरूप आप भी तुरन्त पकड़ लेते हैं ॥४९॥

प्रथम राजा ऐसा नाम धारण कर. जो देह सोने के रथ में बैठ एवं हस्तियों पर चढ कर फिरती है, वह ही देह, टालने पर भी जो न टले ऐसे काल मूर्ति, आपके पकड़ने पर तीन अवस्था वाली हो जाती है, जो खाई जाए तो "विष्ठा" होती है, जो यों ही पड़ी रहे तो "कीड़ा" हो जाती है और जो जल जाए तो भस्म बन जाती है ॥५०॥

सुबोधिनी—कालेन ग्रासोऽत्र निरूप्यते । तत्र कालस्य दोषाभावाय स्वदोषं निमित्तत्वेन निरूपयति कलेवर इति । अस्मिन् कलेवरे शरीरे निरूढमानः सन् सुदुर्मदो भूत्वा त्वामगणयन् जातोऽस्मि, तदा त्वं अन्तको भूत्वा अभिपद्यस इति द्वयोः संबन्धः । भगवतो ग्रासे षट् दोषाः अस्मदीया निमित्तभूताः । आदौ कलेवरं कले कलने कालभक्षणे वरमुत्कृष्टम् । कालः प्रथमतस्तदेव भक्षयति मृत्पाषाणादिभ्यः । अत एव प्रस्तरादयः चिरस्थायिनः, कलेवरमाशुतरविनाशि । न हि कालस्य भक्ष्ये तत्त्वेनैव कृते स्वस्याभिमानः सुखदायी भवति । किञ्च । अस्मिन्निति शयानः स्वकीयो देहः प्रदर्शितः । असंस्कृतो मृतप्रायः । अनेन स्वतोऽपि दोष उक्तः । परिच्छेदाचेतनत्वे निरूपयति । यथा घटः जलानयनार्थमुपयुज्यते, तच्च जलमन्यत्र विनियुज्यते, तथा कर्माणि संपाद्यन्ते, पुनस्तानि यत्र कचिद्विनियुज्यन्त इति । तादृशस्य केवलं कर्मसाधनभूतस्य आत्मतया स्वीकारः अत्यन्तं कुमतिफलम् । किञ्च । कुड्यसन्निभं भवेत । कुड्ये गृहे यथा कश्चित्तिष्ठति, तथा कियत्कालस्थित्यर्थं भगवता कृतम् । एवमधिकरणत्वेन करणत्वेन आत्मनो भेदे प्रतीयमानेऽपि पुनस्तत्र निरूढमानः नितरां रूढो मानोऽभिमानोऽहमेवेति यस्य । अयमेकः पञ्चपर्वात्मको महान दोषः । द्वितीयमाह नरदेवेति । नरत्वमेव सन्दिग्धम्, कुतोऽमेध्यभाण्डस्य देवत्वम् । नराणां देवः पूज्यो राजा । इतीति निश्चयार्थे । अहमित्यनुभवः प्रमाणम् । अतोऽत्र पर्वत्रयं निरूपितम् । तृतीयं दोषमाह रथ इति । रथादिभिश्चतुर्भिः सेनाङ्गैः सहितं यदनीकं सेना तेषां रक्षकैः सेनापतिभिः वेष्टितः । ते हि दुष्टाः घातुकाः । तैः सहित इति दुःसङ्गो निरूपितः । भूभाररूपं चतुर्थं दोषमाह । गां पर्यटन्निति । नतु भूमौ कश्चन पुरुषार्थः साध्यते किन्तु भूमिमेव परितः अटते । महान्तं दोषमाह पञ्चमं त्वामगणयन्निति । यदधीनं सर्वं स एव न गण्यत इति । सुष्ठु दुष्टो मदो यस्येति स्वाज्ञानमपि । एवं षड्भिर्दोषैर्व्याप्तं कालो भक्षयतीत्याह प्रम-

त्तमति । एते षट् दोषाः सहजाः । ते च मिलिताः शीघ्रं फलपर्यवमायिन्वदोषमुत्पादयन्तीति निरूप्यते । उच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रमादः । प्रवृद्धो लोभः । विषयलालसेति । तुल्यत्वाभावाय भगवतो दोषत्वयाभावश्च निरूप्यते । अप्रमत्तः क्षुल्लेलिहानः लोभरहितः विषयलालसारहितत्वाय सहसाभिपद्यस इति । यो हि विषयलालसः स कार्ये शिथिलप्रयत्नो भवति, भोगाभिनिवेशात्, क्रियाभोगयोर्विरोधात् । तस्य दोषाभावाय दृष्टान्तः प्रमत्तः असावधानः स्व र्थे । तत्र यद्यप्यज्ञानमपि हेतुः, तथापि दोपान्तरमप्याह उच्चैरितिकृत्यचिन्तयेति । इत्येतावन्निश्चयेन कर्तव्यमिति । एवं वा कर्तव्यमिति । उच्चैरति सर्वापेक्षया इदमेवावश्यकम् । तत्रापि यदि कार्यमुपस्थितं भवेत्, तदा दोषो वा न भवेत् । तदपि नास्तीत्याह चिन्तयेति । चिन्तामात्रमेव । अनेनान्तःकरणं तत्रैव व्यापृतमिति । भगवता आत्मार्थमन्तःस्थापितं बहिर्विनियुक्तमिति महानेवापराधो निरूपितः । अयमसिद्धार्थसाधनरूप इति सद्धार्थे भिन्नं दोषमाह । प्रकर्षेण वृद्धो लोभो यस्येति । उपभोगार्थं हि तस्य सम्पादनं तदपि कृत्वा स्थापयत्येव, नोपभुङ्क्ते । किञ्च । भुक्त्वापि तद्गतवैरस्यं ज्ञात्वापि पुनर्लालसो भवति । विषं यान्तीति विषयाः विषं हि मारक मृत्युमुखम्, तत्र स्वयं गच्छन्तः स्वभक्तमपि नयन्ति । एकोऽपि नयेत्, किं पुनर्बहव इति बहुवचनम् । यद्यपि भगवत इतिकृत्यचिन्ता वर्तते, अन्यथा न मारयेत्, तथापि न प्रमत्तः । अत एव हेतुर्वर्तत इति साध्यप्राप्तौ निषेधः । सहसेति । यदैव दोषत्रयोद्भवः, तदैव प्रतीकारकरणात् । पूर्वमेव क्वापि पलायनाभावायाभीति । कालस्य रूपमहिरिति । आखुश्च लीलाकर्ता, अन्यस्य भक्ष्यरूपं शरीरं गृहीत्वा सर्वदा सर्वापकाराय व्यापृतो भवति । ननु राज्ञोऽयं धर्मः परिपालनं कर्तव्यम्, तदर्थं शत्रवश्च मारणीयाः, तदर्थं चतुरङ्गबलसङ्ग्रहः, प्राणिनां हितार्थे धनग्रहणम्, कर्मफलभोगार्थं च विषयलालसेति गुणभूता एवैते किमिति दोषत्वेन गण्यन्ते इत्याशङ्क्याह पुरा रथैरिति । सत्यमेवं भवेत्, यद्ययं देहो देवो भवेत्, पूर्वं रथादिभिः चरन्नपि, राजत्वेन सम्मानितोऽपि, कलेवरो देहो विट्कृमिभस्मसंज्ञामेव लभते । मृतदेहस्य त्रिधा विनियोगः । काकादिभिर्भक्षिते विट्, शीर्णे सत् कृमयो वा भवन्ति, दाहे भस्म वा भवति । तामसराजससात्त्विकभावा निरूपिताः । अतः पर्यवसाने दुष्टत्वात् वृथाभिमानो दोषायैवेत्यर्थः ।।५०।।

व्याख्यार्थ—यहाँ यह देह काल का ग्रास होती है इसका निरूपण है ग्रास में काल का दोष नहीं है, यों सिद्ध करने के लिए अपने दोष उसके कारण हैं यह निरूपण करते हैं । इस शरीर में बैठा हुआ बहुत अभिमानी बनने से जब मैं आपको भी नहीं गिनता हूँ तब आप काल बनकर पकड़ लेते हैं, इस देह को भगवान् पकड़ लेते हैं इसमें हमारे छ दोष कारण हैं, पहला तो पृथ्वी पर जितने पाषाण आदि हैं उन सबसे यह शरीर, काल को भक्षण में श्रेष्ठ लगता है, इस लिए काल पहले इसे ही भक्षण करता है यही कारण है कि पत्थरों की आयु बड़ी होती है और शरीर शीघ्र नाश हो जाते हैं, क्योंकि काल के भक्षण करने पर वह तत्व "परमेश्वर" ने ही किया है इससे अपना किया हुआ मद सुखदाता नहीं है, और विशेष कहते हैं कि "अस्मिन्" पद से अपनी देह सोई हुई दिखाई है अर्थात् असंस्कृत होने से 'जिसका कोई सस्कार नहीं हुआ हो" मरी हुई जैसी है, इससे अपने

आप दोष कहा है यह देह परिच्छेद वाली और अचेतन (जड़) है वह निरूपण करता है। जैसे घड़ा जल लाने का साधन मात्र है, किन्तु वह जल दूसरों के काम आता है वैसे ही इस देह से केवल वह कर्म किए जाते हैं, फिर वे कर्म जहां तहां जोड़े जाते हैं केवल कर्मों की साधनभूत ऐसी देह को "आत्मा" रूप मान लेना कुमति का ही फल है यह देह घर के समान है अर्थात जैसे मनुष्य घर में कुछ समय रहता है वैसे ही यह देह भी रहने के लिए भगवान् ने बनाई है इस प्रकार यह देह रहने के कारण अधिकरण है और कर्म करने के साधन होने से करण है इस प्रकार आत्मा से भेद प्रतीत होने पर भी, फिर उसमें जो यह अभिमान है, कि "मैं हूँ" वह भी एक प्रकार का पंचपर्वात्मक[1] महान् दोष है। यहां तक एक देहाध्यास दोष के कारण दोष बताया, अब दूसरा दोष मद बताते हैं। मैं नरदेव हूँ अर्थात जहाँ मनुष्यत्व ही संदेह वाला है, वहाँ अपवित्र पात्र (देह) का देवपन कैसे हो सकेगा ? नरों का देव पूज्य राजा है "इति" शब्द से इसका निश्चय बताया है। "अहम्" शब्द से अपना अनुभव प्रमाणरूप कहा है, अतः यहाँ अविद्या के तीन पर्व बताए हैं इस प्रकार दूसरा दोष कह कर अब तीसरा दोष कहते हैं, रथ, गज, अश्व और प्यादे इस प्रकार की चतुरंगिणी सेना के रक्षक सेनापतियों से घिरा हुआ हूँ वे दुष्ट हैं, मरने वाले क्रूर हैं, इससे बताया है कि मुझे इस प्रकार दुःसंग भी है अब भ्रमण रूप चौथा दोष कहते हैं, पृथ्वी पर आकर कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं किया है, केवल पृथ्वी पर चारों ओर घूमा है अब पाँचवाँ बड़ा दोष कहते हैं, आपको भी अपने ध्यान में नहीं लाता हूँ अर्थात आपका भी तिरस्कार करता हूँ। देखिए, जिसके आधीन सकल जगत है, उसकी गणना नहीं करता हूँ, ऐसा मुझे विशेष मद है और अपने स्वरूप का अज्ञान भी है इस प्रकार छ दोषों से घिरे हुए को काल भक्षण करता है, क्योंकि "प्रमत्तं" प्रमत्त है इस लिए काल उसका भक्षण करता है। ऊपर दिखाए हुए छ दोष सहज हैं और छ दोष जब एक स्थान पर मिल जाते हैं अर्थात् एक किसी मनुष्य में छ ही दोष आविर्भूत हो जाते हैं तब शीघ्र फल देने वाले त्रिदोष को उत्पन्न कर देते हैं यह निरूपण किया जाता है "उच्चै" पद से इस प्रकार कृत्य करना है ऐसी चिन्ताओं से प्रमाद[2] होता है लोभ बढ़ता है विषयों की बहुत चाहना होती है, अपने दोष बतला कर भगवान् से तुल्यता[3] नहीं होने से उसमें तीन दोषों का अभाव निरूपण करते हैं अप्रमत:[1] आप प्रमत्त नहीं हैं, अतः अपने कर्तव्य को पूरी तरह जानते हैं और वैसे ही करते हैं २–लोभ से रहित हो जिनमें विषयों की बहुत चाहना नहीं हैं, वे ही कार्य शीघ्र कर सकते हैं विषय कार्य करने में शिथिल होते हैं, अतः आप झटपट प्राप्त हो जाते हैं विषय तो भोग में आसक्त होने से कार्य शीघ्र नहीं कर सकता है कारण कि कार्य और भोग का परस्पर विरोध है।

१— अविद्या पांच पर्व वाली है जिससे पांच दोष उत्पन्न होते हैं—

(१—देहाध्यास २—प्राणाध्यास ३—अन्तःकरणाध्यास ४—इन्द्रियाध्यास ५— स्वरूप विस्मृति,)

२—कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर करना इस प्रकार बेपरवाही है, ३–बराबरी

तो भी दूसरा दोष कहते हैं कि यह इतना तो अवश्य करना है, अथवा इस प्रकार करना चाहिए और यह कार्य तो सबकी अपेक्षा विशेष अधिक है। उसमें भी यदि कार्य आ पड़े तब तो दोष नहीं होवे वह भी नहीं है तो भी केवल चिन्ता ही है, इससे अन्तःकरण उसमें ही व्यावृत हो गया है। भगवान् ने जिस अन्तःकरण को अपने ध्यान व भक्ति के लिए भीतर बिठाया उसको बाहिर लौकिक कामों में लगा दिया, इस प्रकार महान् ही अपराध किया है, यह निरूपण कर बताया है यह महान् अपराध असिद्ध अर्थ का साधन रूप है, इसलिए सिद्ध अर्थ में जो भिन्न दोष है वह कहते हैं बहुत लोभ जैसे कि उपभोग के लिए धन कमा के इकट्ठा कर रखता है उपभोग में नहीं लाता है और विशेष भोग कर यह जान लेता है कि इसमें कुछ रस नहीं है तो भी फिर उसकी चाहना करता है, विषयों का स्वरूप वर्णन करते हैं कि विष मारने वाली मृत्यु का मुख है, उसमें स्वयं जाते हुए दूसरों को भी ले जाते हैं एक विषय ही लेजा सकता है, तो बहुतों का क्या कहना ? इसलिए बहुवचन दिया है, यद्यपि भगवान् की इस कृत्य की चिन्ता है इसलिए मारते हैं, नहीं तो नहीं मारे तो भी प्रमत्त (मतवाले) नहीं है, अतएव कारण है इसलिए साध्य (फल) की प्राप्ति में निषेध है, जब ही तीन दोषों का उद्भव हो जाता है तब ही उपाय करने से पहले ही कहीं भी भाग जाने के अभाव के लिए अभय है, सर्प काल का रूप है और वहाँ खेलने वाला है दूसरे का शरीर अपना भक्ष्य समझ कर सदा ही सर्व के अपकारार्थ व्यावृत रहता है यह तो राजा का धर्म है वह तो उसको पालन करना चाहिए ही इस धर्म के पालनार्थ शत्रु मारने चाहिए उनको मारने के वास्ते चतुरंग सेना भी इकट्ठी कर रखनी चाहिए प्राणियों के कल्याण के लिए 'कर' द्वारा धन भी ग्रहण करना चाहिए और कर्मों के फल भोगने के लिए विषयों की चाहना भी करनी योग्य है ये सब तो गुण रूप हैं इन को दोष रूप कैसे गिना जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि "पुरारथै:" यदि यह देह सचमुच देव होवे तो इस प्रकार आपका कहना सत्य हो सके किन्तु यह देह पहले रथादि में घूमती हुई, राजापने से सम्मानित होकर भी विष्ठा, कीड़े और भस्मी ही बनती है, मरी हुई देह तीन तरह काम में आती है, जब उसे कौवे आदि पक्षी खाते हैं तब विष्ठा हो जाती है यों ही पड़ी रहती है तो उस से छोटे छोटे कीड़े बन जाते हैं जलने पर भस्म बनती है, इस प्रकार तामस, राजस और सात्विक भावों का निरूपण किया, अतः अन्त में दुष्ट होने से झूठा अभिमान दोष के लिए ही है, इस प्रकार तात्पर्य है ॥५०॥

आभास—एवं फलतः दोषानुक्त्वा क्रियातोऽपि त्रैविध्यमाह निर्जित्य दिक्चक्रमिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार फल से दोषों को कह कर क्रिया से भी "निर्जित्य दिक्चक्रम" से लेकर तीन श्लोकों से तीन प्रकार बताते हैं।

श्लोक—निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः ।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥५१॥
करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठितो निवृत्तभोगस्तदपेक्षयाददत् ।
पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥५२॥
भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे इश ! सर्व दिशाओं के राज्यों को जीतकर जो युद्धों से स्वतन्त्र हो गया है, उच्च सिंहासन पर बैठ सब समान राजाओं से जो पूजित हो रहा है वह पुरुष भी मैथुन ही जिनमें सुख है ऐसे स्त्रियों के घरों में क्रीड़ा मृग के समान जहाँ तहाँ ले जाया जाता है अर्थात् बन्दर की तरह नचाया जाता है ॥५१॥

यह मनुष्य तपस्या में विश्वास रख कर सर्व भोगों से निवृत्त होकर राज्य मिलने की अपेक्षा से जो उसके पास होता है वह सब देता हुआ फिर में चक्रवर्ती हो जाऊँ इस प्रकार तृष्णा के बढ़ने से सुखी हो नहीं सकता है ॥५२॥

हे अच्युत ! भटकते हुए मनुष्य के जन्म का जब अन्त होता हैं तब सत्पुरुषों का संग मिलता है, इस प्रकार जब सत् पुरुष भक्तों का पूर्ण मिलाप होता है तब काल तथा कर्म आदि के ईश आप में बुद्धि लगती है ॥५३॥

सुबोधिनी—राजधर्माणां तामसत्वं, कर्मणां राजसत्वं, सत्सङ्गस्य सात्त्विकत्वमिति विविच्य कर्मस्वरूपकथने वस्तुविवेको निरूपित्तो भवति । साधनप्रतिपादकाश्चैते त्रयः । तत्र राजत्वस्य स्त्रीसेवकत्वं भवति इत्यघोगतिः फलत्वेन निरूपिता । साधारणानां स्त्री दास्यमपि करोति । राज्ञां तु तत्सम्भावनाभावात् स्वयमेव दासो भवतीति तुल्यगतिरपि नास्तीत्युक्तम् । आदौ दिक्चक्रं सप्तद्वीपवतीं भूमिं निर्जित्य वशीकृत्य, महता प्रयासेन तत्साधयित्वा, ततोऽपि महता कालेन अभूतविग्रहो भवति, न भूतः भवनयोग्यो विग्रहो यस्येति । ततः स्वस्थो भूत्वा वरासनस्थो भवति । ततः समराजभिः वन्दितः । एवं चतुर्धाप्युत्कर्षं प्राप्य चतुर्धापकर्षं प्राप्नोतीत्याह गृहेष्विति । योषितां गृहेषु बहुषु, एको बहुषु दासो भवतीति वैदग्ध्यम् । मैथुन्यपरेष्विति । आन्तरोऽपि व्ययः । क्रीडामृग इति बाह्य-

सर्वनिवेदनम् । मृग इति । विद्यमानादप्यधिकपदार्थसाधकत्वमिति । परलोकनाशश्च । स्वयं पुरुषः सर्वसमर्थः । ईशेति निवेदनार्थं संबोधनम् । ईयत इति । प्रमाणं नात्र तिरोहितं किञ्चिदित्यर्थः ॥५१॥

एवं लौकिकवैश्वर्यमुक्त्वा वैदिकवैश्वर्यमाह करोति कर्माणीति । यस्तु राज्यं प्राप्य विषयभोगं करोति, सोऽधम एव, ततोऽप्यधमो यस्तपः करोति, तत्रापि यत्तपः काम्यम्, पुनस्तादृशमेव राज्यं सम्पादयति । प्राप्तं राज्यं न समीचीनं क्षयिष्णिवति हि स प्रवर्तते । यदपि तेन कर्मणा साध्यम्, तदपि तादृशमेवेति प्राप्तं परित्यज्य कष्टेनापि तादृशं साधयन् भ्रान्त एव । नानाविधानि च कर्माणि करोति । तपस्सु नितरां स्थितः सन् तदर्थं निवृत्तभोगश्च । ननु ततोप्यधिकापेक्षया उत्कर्षापेक्षया वा करोतीति चेत्, तत्राह तदपेक्षयेति । ततोऽधिकस्याश्रुतत्वाददृष्टत्वाच्च रस एव न जायते । अतस्तदर्थमेव करोतीत्याह तदपेक्षया तदेवादददिति । सकृद्भ्रान्तस्य द्वितीयपर्याये भ्रमो निवर्तिष्यत इत्याशङ्क्याह पुनश्च भयेयमिति । वारंवारमपि राज्यं प्राप्य तदेव भूयेयमिति । कामनाया नियतत्वात् न सुखाय कल्पते । ननु सजातीयोत्कर्षः सर्वेषामेवापेक्षित इति तस्यैव कथमादानमिति चेत् । स्वराडिति । ब्रह्माण्डाधिपत्यमपि कामयन् प्रवृद्धतर्ष एव भवति । नहि तृष्णायां विद्यमानायां सुखमस्ति, आकाङ्क्षाया दुःखात्मकत्वात् । अत उत्कृष्टमपि वाञ्छन् सुखोपभोगार्थं न समर्थो भवतीत्यर्थः ॥५२॥

एवं कर्मफलं निन्दित्वा कामनाभावं स्तोतुं सात्त्विकस्य कर्मणः ग्राह्यत्वेन स्तुतिमाह भवापवर्ग इति । यदा भगवदिच्छया भवापवर्गो भवेत्, तदा ससाधनेच्छायां जनस्य सत्समागमो भवेत् । सद्भिः सह सम्यगागमः बोध्यबोधकभावसंबन्धः । भ्रमत इति नानाविधयोनिषु भ्रमणजनितक्लेशः भगवत्कृपायां हेतुरुक्तः । अथवा । भवापवर्गस्थानानि कानिचिज्जन्मानि सन्ति । योगिकुले महतां कुले वा जन्मानि । तत्रापि गतस्य न स्वत एव मुक्तिः, किन्तु सत्सङ्गादेव । शरीरसन्ताने सत्सङ्गसमानकालीन एव देहः अपवर्गशब्दार्थं इति मानुषदेहवत्तन्निरूप्यते । तद्व्याख्यास्यते 'दुर्लभो मानुषो देह' इत्यत्र । अत एव तर्ह्येव सत्समागम इत्याह तर्हीति । योग्यतायां वा । अच्युतेति संबोधनात् तदीयानां सतामभावेन न विलम्ब इत्युक्तम् । तस्य च सङ्गस्य दृष्टद्वारैव पुरुषार्थपर्यवसायित्वं वदन् आह सत्सङ्गमो यर्हीति । यर्हि सत्सङ्गमः, तदैव त्वयि मतिर्जायते । भगवानक्लिष्टकर्मेति न स्वार्थं कञ्चित्प्रवर्तयति । कालकर्मादयश्च बाधका एव । अतो भक्तव्यतिरेकेण न कोऽपि भगवन्मतिं सम्पादयति । तेषां तत्सम्पादनमावश्यकमित्यत्र हेतुमाह सद्गताविति । सतां स एव गतिरिति । ते साध्यत्वेन साधनत्वेन फलत्वेन च भगवन्तमेव जानन्तीति तत्सन्निधिमात्रेणैव भगवति मतिर्भवति । ततः किं स्यादत आह परावरेश इति । परे कालादयः, अवरे कर्मादयः, तेषां फलदाने स एव नियामक इति सर्वमेव फलं ततो भवतीत्यर्थः ॥५३॥

व्याख्यार्थ—राज धर्मों का तामसपन, कर्मों का राजसपन सत्संग का सात्विकपन का विवेचन कर अब कर्म के स्वरूप के कहने में वस्तु के विवेक का निरूपण ही किया जाता है, ये तीनों

साधनों का निरूपण करने वाले हैं. इनमें राजापन में स्त्री का सेवक बनना पड़ता है, जिसका फल अधोगति है, साधारण मनुष्यों की स्त्री तो दासी बनकर सेवा करती है, राजाओं का इस प्रकार होना असम्भव है किन्तु वे स्वयं दास बनते हैं इस प्रकार दोनों की बराबरी भी नहीं है। पहले सात द्वीपों वाली समग्र भूमि को भी जीत कर उसके राजाओं को अपने आधीन किया, इस कार्य में जब बहुत परिश्रम किया तब उसको साध सके, पश्चात बहुत समय तक जब युद्ध होने का कोई भय नहीं रहता है, तब निश्चित होके सुन्दर सिंहासन पर बैठता है, तब समान राजाओं से सत्कार पाता है इस प्रकार चार तरह से उत्कर्ष पाकर फिर चार प्रकार से अपकर्ष पाता है। स्त्रियों के घरों में स्त्रियां बहुत होती हैं आप एक हैं किन्तु इनका दास बनकर वहाँ रहता है जिससे वह व्याकुल होता है। विषय भोग से भीतर की शक्ति की भी समाप्ति होती है। उन स्त्रियों के पास खेल का मृग हो जाता है जिससे बाहिर का सब कुछ उनको भेट करता है, क्योंकि मृग हुआ है, जो पदार्थ विद्यमान हैं उनसे भी विशेष पदार्थों का साधकपना उसमें आता है जिससे उसका परलोक भी नाश हो जाता है। अपने आप पुरुष सर्व समर्थ है 'ईश' यह सम्बोधन निवेदन करने के लिए दिया है "ईयते" क्रिया से यह बताया है कि इसमें कोई प्रमाण छिपा हुआ नहीं है ॥५१॥

इस प्रकार लौकिक का व्यर्थपना कहकर वैदिक की व्यर्थता कहते हैं। जो राज्य प्राप्त कर विषयों का भोग करता है वह अधम (नीच) निन्दा के योग्य ही है उससे भी अधम वह है, जो तपस्या करता है यदि वह कामना के लिए तपस्या है। इस तपस्या से फिर वैसा ही राज्य प्राप्त करता है यह जानता भी है, कि जो राज्य मिला है वह उत्तम नहीं है क्योंकि नाशवान है तो भी उसकी पुनः प्राप्ति के लिए तप करता है जो कि उस कर्म से वह प्राप्त होता है जब वह वैसा ही है तब प्राप्त राज्य को छोड़ कर कष्ट से भी उसको प्राप्त करने के लिए कर्म करने वाला भ्रान्त (भूला हुवा) ही है. अनेक प्रकार के कर्म उसके लिए करता है, बहुत समय तक तपस्या में ही स्थित रहता है और उसके लिए सब भोग छोड़ देता है, ये सब कर्म इससे भी विशेष मिलने की इच्छा से तथा उत्कर्ष होने के लिए यह करता है यदि यों है तो, उसकी अपेक्षा कोई अधिक है, न सुना है और न देखा है, उसमें कोई रस भी उत्पन्न नहीं होता है। यदि कहो उसके लिए ही करता है और उसको प्राप्ति के लिए जो है वह भी दे दिया, एक बार भूले हुए का भ्रम दूसरी बार अनुभव होने से वह भ्रम मिट जाएगा इस लिए फिर फिर राजा बनूंगा, तब भ्रम मिट जाएगा, इस प्रकार जिसकी कामना निश्चित होगई है, वह सुख की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होता है, सजातीय उत्कर्ष तो सबको चाहिए वह कैसे दे दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं बहुत प्राप्ति के लिए अल्प का त्याग किया जाता है, अतः इसने चक्रवर्ती बनने की इच्छा से यह भोग छोड़े है, किन्तु यह भूल ही है ब्रह्माण्ड का भी स्वामीपन चाहे और वह मिल भी जाय तो भी तृष्णा बढ़ती ही जाएगी, जब तक तृष्णा है, तब तक सुख नहीं है, आशा ही दुःख रूप है, अतः कितने ही उच्च पद की इच्छा कोई करे, किन्तु वह सुख के उपभोग के लिए समर्थ नहीं होता है जब तक की तृष्णा का नाश न हुआ हो ॥५२॥

इस प्रकार कर्म फल की व्यर्थता दिखाते हुए उसकी निन्दा कर, सात्विक कर्म ही करने चाहिए इसलिए कामनाओं के अभाव की स्तुति करते हैं। जब भगवान् की इच्छा से जन्म का

अन्त होवे तव साधन करने की इच्छा उत्पन्न होते ही सत्पुरुषों का समागम होता है। वह समागम भी परस्पर मिलकर शंका निवृत्ति पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला होता है।

मनुष्य अनेक प्रकार की योनियों में घूमने से जो क्लेश पाता है वह क्लेश भगवान् की कृपा होने में हेतु है, अर्थात् भगवान्, मनुष्य ने घूमते हुए बहुत क्लेश पाए हैं, यह देख, दयार्द्र चित्त हो जाते हैं जिससे वे कृपा करते हैं जो जन्म का अन्त करने वाले भी कितने ही स्थान हैं, जैसे कि, योगियों के अथवा महत्पुरुषों के कुल में जन्म होना, ऐसे कुल में जन्म होने पर भी स्वतः ही मुक्ति नहीं होती है, किन्तु सत्संग मिलने से ही, जैसे उत्तम कुल में उत्पन्न मनुष्य देह, मुक्ति का द्वार वा हेतु है, वैसे ही शरीर में भी जो शरीर सत्संग के समय बनता है वह मोक्ष शब्द का प्रयोजन है अर्थात् सत्संगी शरीर ही मुक्त होता है इसकी व्यख्या "दुर्लभो मानुष देह" इस श्लोक में होगी अतः जब अन्तिम जन्म होता है तब ही सन्तोष का समागम मिलता है अथवा योग्यता होने पर सत्संग प्राप्त होता है। अच्युत इस सम्बोधन से यह कहा, कि जैसे आप अच्युत हैं, वैसे सत्पुरुष भी हैं जिसमे उनका अभाव नहीं है, अतः मिलने में भी देरी नहीं है उस सत्संग से प्रत्यक्ष ही पुरुषार्थ प्राप्ति देखी जाती है। जैसा कि जब सत्संग होता है, तब आप में चाह होती है। भगवान् अक्लिष्ट कर्मा है अतः किसी को अपने लिए प्रवृत्त नहीं करते हैं, काल और कर्म आदि बाधक है ही अतः भक्त के बिना अन्य कोई भी भगवत्सम्बन्धी बुद्धि नहीं देता है, उनका यों करना आवश्यक है क्योंकि सन्तों की वे ही गति है, वे सत्पुरुष साध्य, साधन और फल भगवान् को ही जानते हैं इसलिए उनके पास होने से ही भगवान् में चाह हो जाती है। चाह होने से क्या होना है, इसके उत्तर में कहते हैं, कि काल और कर्म आदि को भी फल दान करने में ये ही नियमक हैं अतः सर्व फल इनसे मिलता है ॥५३॥

आभास – अनेन अस्माकं सर्वाणि साधनानि सिद्धानीत्युक्तं भवति, साधनार्थं प्रवृत्त्यभावश्च सूचितः। अतो गर्गवाक्यप्रामाण्यादपि कृपा विधेयेत्यभिप्रायः साधनप्रकरणे निरूपितः। फलं निरूपयति त्रिभिः।

आभासार्थ—इससे यह कहा, कि हमारे सब साधन सिद्ध हुए इसलिए साधनों में अब प्रवृत्त होना नहीं है, कहने का यों तात्पर्य है, अतः गर्गजी के वचनों से भी अब कृपा करनी चाहिए, यह साधन प्रकरण में निरूपण किया, अब तीन श्लोकों से फल का निरूपण करते हैं–

श्लोक—मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः ।।५४।।

न कामयेऽहं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ।।५५।।

तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ।।५६।।

श्लोकार्थ—हे ईश ! यह जो अचानक मेरा, राज्य का बन्धन स्वतः छूट गया है, वह मेरे पर आपका ही अनुग्रह हुआ है, तब से अलग हो, वन में जाने की इच्छा वाले साधु वृत्ति वाले चक्रवर्ती भी स्वत, इसका त्याग नहीं कर सकते हैं किन्तु प्रार्थना ही करते हैं ।।५४।।

हे विभु ! मैं तो, निष्किञ्चन भक्त जिस आपके चरणारविन्द के सेवन की प्रार्थना करते हैं उससे उत्तम, किसी की भी कामना नहीं करता हूँ, हे हरि ! कौन ऐसा आर्य है, जो मोक्षदाता आपकी आराधना कर, आत्मा को बन्धन में डालने वाले पदार्थों का वर मांगेगा ।।५५।।

हे ईश ! इस कारण से रज, तम और सत गुणों से बन्धी हुई सब कामनाओं को पूर्णतया त्याग कर, निरञ्जन, निर्गुण, अद्वय, ज्ञानस्वरूप, पर पुरुष आपकी शरण आया हूँ ।।५६।।

सुबोधिनी—मन्य इति । फलं हि त्रिविधम्, राज्यं कामाः भगवांश्चेति । तत्र द्वयं निषेधति । तत्रापि राज्यस्य दोषरूपत्वं स्वानुभवसिद्धमिति दैवाज्जातां तन्निवृत्तिमभिनन्दति मन्य इति । सर्वस्य कारणं स भगवानेवेति । ते त्वया कृतः राज्यानुबन्धापगमः स्वतः एव राज्यसम्बन्धनिवृत्तिः ममानुग्रह एवायं भगवता कृत इत्यहं मन्ये । यदृच्छयेति । कारणाभावेनैव जात इति भगवत्कृत एव । भगवांश्च हितार्थमेव करोतीति निर्धारः । ननु राज्यस्य इष्टसाधनस्य निवृत्तिः कथं फलम्, अनिष्टानुबन्धित्वं तु स्वदोषात्, न तु स्वत एव राज्यमनिष्टहेतुः, अन्नमिव ज्वरितस्यैव तदनिष्टजनकम्, तथोद्धतस्यैव स्वभावतामसस्यानिष्टजनकमिति चेत्, तत्राह यः प्रार्थ्यत इति । साधवोऽपि राज्यं यतस्त्यजन्ति, अतो ज्ञायते राज्यं स्वभावदुष्टमिति । अन्यथा सतां

तेषां भगवद्भजनसाधनमपि राज्यं भवतीति तत्परित्यागेच्छा न स्यात् । किञ्च । प्रार्थ्यते सः । साधूनां कर्मसाध्योऽपि न भवति, अतोऽशक्यप्रतीकारः अत एतदर्थं भगवानेव प्रार्थ्यते । प्रार्थनापि न केवलं मानसी वाचनिकी वा, किन्तु कायिकीत्याह एकचर्ययेति । एकाकिचरणपूर्वकं वनं विवक्षद्भिः प्रार्थ्यते । सर्वं परित्यज्य एकाकी भूत्वा वनं प्रविशन्नपि राज्याद्बिभेति । विद्यमाने सम्बन्धे शत्रवः परलोकाधिकारिणो वा पीडयिष्यन्तीति । अल्पं राज्यमिति हीनतुल्यत्वात्कदाचित्परित्यागमाशङ्क्याह अखण्डभूमिपैरिति । अखण्डां भुवं पान्तीति सम्राट् पाधिपतयः । अतः संबन्धनिवृत्तिर्ममाभीष्टमेव ॥५४॥

कामनान्तरं व्यावर्तयति न कामयेऽन्यमिति । एकं कामये, यत्तव पादसेवनम्, एतत्साधकं च अन्यत्तु एतद्व्यतिरिक्तं एतदसाधकं वा न कामये । ननु को विशेषः, एकं शास्त्रस्तुतम्, अपरं च लोकप्रतीतिसिद्धम्, अत उभयोस्तुल्यत्वादत्याग्रहेणान्यनिषेधे को हेतुरिति चेत्, तत्राह अकिञ्चनप्रार्थ्यतमादिति । धनिनां कदाचिद्धनस्य विद्यमानत्वात् अन्यकाङ्क्षापि भवति । अकिञ्चनानां तु उभयाभावात् लौकिकत्वाद्धनापेक्षा-ऽभावश्च नियतत्वात् तत्परित्यज्य यत्केवलं चरणसेवैव प्रार्थ्यते । तदपि परमेष्ठित्वेन दीयमानमप्यन्यदगृहीत्वा, असाध्यमपि प्रार्थयन्त इति प्रार्थ्यतमत्वम् । क्लेशेनाप्रार्थितत्वं वारयति वरमिति । दातृसामर्थ्यादपि तथात्वं वारयति विभो इति । ननु ते भ्रान्ता भवन्तु, तेषां तथा वा रुचिः, तथापि विषये को दोष इति चेत्, तत्राह आराध्य कस्त्वामिति । त्वामाराध्य को वा वरं वृणीत । कर्मवशादागतं अनभिप्रेतमप्यनुभूयते, भगवन्तं त्वाराध्य दुर्लभमेव प्रार्थनीयम् । तत्रापि विरुद्धं कथं प्रार्थनीयमित्युभयथा विरोधमाह । अपवर्गदं भवन्तमात्मबन्धनं वरमिति । यो हि यं सेवते, स तत्सम्बन्धं लोकयोः प्राप्नोति । तत्र मोक्षात्मा भगवान्, अन्यत्संसारात्मकमिति । ननु तर्हि मोक्षो ज्ञानं वा प्रार्थनीयं स्यात्, न तु पादसेवनमिति चेत् । सत्यम् । ज्ञानं हि कैवल्यमेव साधयति । मोक्षोऽपि कैवल्यरूपश्चेत्, तथापि न पुरुषार्थः, भगवत्प्राप्तिरूपश्चेत्, तदा एकरसतामापन्नः भगवानेव भवतीति अस्य पृथगनुभवो न स्यात् । अतः परमानन्दः सन् योऽनुभूयते तदेकं चरणोपासनमेव । असाधनसाध्यं न सिध्यतीति साधनत्वेन वा प्रार्थनमित्येके ॥५५॥

अत उत्कृष्टप्रार्थनार्थं प्रथमतः शरणं गच्छामीत्याह तस्माद्विसृज्येति । हे ईश समर्थ, सर्वतः अन्तर्बहिः सर्वं विसृज्य, त्वां ज्ञप्तिमात्रं शरणं व्रजामि । सर्वेषां परित्यागार्थं त्रिगुणत्वमाह रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धना इति । रजःप्रभृतीनां बन्धकत्वाय गुणानुबन्धत्वमुक्तम् । अनिच्छतोऽपि बन्धहेतव इति तत्सम्बन्धमात्रेण तथात्वाय अनुपदप्रयोगः । ननु भगवानपि स्मार्तानां मते सोपाधिक इति तत्रापि रजःप्राप्तिरेवेत्याशङ्क्याह निरञ्जनमिति । अञ्जनमुपाधिः प्रकृत्यादिः, तद्रहितो निरुपाधिः । ततः क्रमत आह निर्गुणमिति । सोपाधिक एव सगुणो भवति ।, न तु निरुपाधिक इति । ननु भगवान् पूर्वं केवल एव स्वभोगार्थं स्वेच्छया प्रकृतिं गुणांश्चोत्पादितवान्, अतः कथं त्वदर्थेऽपि तन्न करिष्यतीत्याशङ्क्याह अद्वयमिति । द्वयरहितो भेदरहितः । यो हि भेदार्थं यतते, तं प्रति तथा सम्पादयति, अहं तु न तथेति मां प्रति न सम्पादयिष्यतीति भावः । स स्वतन्त्र इति वक्तुमाह परमिति ।

अन्यशङ्कां वारयति त्वामिति। ननु तथापि त्वं गुणमय इति त्वदधिकारानुसारेण तथैव करिष्यतीति चेत्, तत्राह ज्ञप्तिमात्रमिति। तादृशस्य शरणागमनं न सम्भवतीति पुरुषरूपतामाह। शरणमिति पाठे अर्थात् पुरुषरूपमेवेति त्वांपदात् ज्ञातव्यम्। पुरुषपदे तु त्वां व्रजामीत्यर्थात् शरणमिति ज्ञातव्यम् ॥५६॥

व्याख्यार्थ—फल तीन प्रकार के होते हैं १—राज्य, २—कामनाएँ, ३—भगवान्, इनमें दो फलों का निषेध करते हैं. उनमें भी राज्य दोष रूप है यह अपने अनुभव से समझ लिया है उससे निवृत्ति देव से हो गई है, अतः इसका अभिनन्दन करते हैं जो कुछ जगत में होता है, उसका कारण वह भगवान् ही हैं. मेरा राज्य से सम्बन्ध जो स्वतः छूटा है, वह कृपा आपने ही की है. यों मैं मानता हूँ, कारण के बिना आप ही छूट जाना, इससे निश्चय है कि यह भगवान् ने ही किया है। भगवान् जो कुछ करते हैं वह हित के लिए ही करते हैं यह शास्त्रादि से निश्चित निर्णय किया हुआ है जिससे इच्छित सुख मिलते हैं, वैसे राज्य का छूट जाना फल कैसे कहते हो ? राज्य अनिष्टों के बन्धनों में डालता है, यह कहना युक्त नहीं है वह अपने दोषों से होता है न कि राज्य अपने आप अनिष्ट का कारण है. ज्वर वाले को जैसे अन्न का भोजन अनिष्ट करने वाला है, यों स्वतः अन्न का भोजन अनिष्ट नहीं करता है. वैसे ही राज्य भी। इस पर कहते हैं, कि यदि आप यों कहते हो कि तामस स्वभाव से उद्धत राजा को ही राज्य अनिष्ट कारक है, तो यह कहना सत्य नहीं है, कारण कि, साधु राजा भी राज्य का त्याग करते हैं, इससे जाना जाता है कि राज्य ही स्वभाव से दुष्ट है. यों नहीं होता तो उन सत्पुरुष राजाओं को तो राज्य भगवान् के भजन का साधन भी हो सकता था, इसलिए उसके त्याग की इच्छा नहीं होनी चाहिए, किन्तु होती है जिससे, उससे छूटने की भगवान् को प्रार्थना करते हैं, साधुजन राज्य का त्याग कर्म द्वारा भी नहीं कर सकते हैं, उनके पास और भी कोई उपाय नहीं है, इसलिए भगवान् को ही प्रार्थना करते हैं प्रार्थना भी केवल वाणी एवं मन से नहीं करते किन्तु हम निर्जन वन में जाकर रहें, (कार्य को) ऐसी प्रार्थना भी करते हैं. सब त्याग कर, अकेले जाकर वन में रहते हुए भी राज्य से डरते हैं, राज्य से सम्बन्ध था इस कारण से भी शत्रु तथा परलोक के अधिकारी दुःख देंगे यदि यह शंका होवे कि छोटा राज्य होने से कोई महत्व नहीं इसलिए छोड़ते होंगे तो कहते हैं, कि नहीं, सात द्वीपों के स्वामी होते हुए भी छोड़ना चाहते हैं, अतः यह जो आपकी कृपा से राज्य से सम्बन्ध छूट गया है वह मुझे पसन्द ही है।

"न कामयेऽन्यं" इस पद से कहते हैं. कि मुझे दूसरी कोई कामना नहीं है केवल एक आपके चरण के सेवन की कामना है तथा वह जिससे सिद्ध हो उसकी कामना है इसके सिवाय एवं इसको सिद्ध न करने वाले की कामना नहीं है। इस आपकी युक्ति में क्या विशेषता है दोनों ही हैं, तो कामनाएँ एक की शास्त्र ने श्रुति की है और दूसरी लोक के प्रतीति से सिद्ध है अतः दोनों तुल्य होते हुए भी विशेष आग्रह से दूसरों का निषेध करने में क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि "अकिञ्चन प्रार्थ्य तमात्" धनवानों को धन होने से, कभी अन्य विषय-पुत्र राज्य आदि की

इच्छा भी होती है, किन्तु अकिञ्चनों को तो दोनों प्रकार की इच्छा नहीं है धन की अपेक्षा लौकिक और नियत होने से, उसका त्याग कर केवल चरणों की सेवा प्राप्त हो, वैसी प्रार्थना करते हैं उन अपने प्रिय अकिञ्चनों को अन्य धन, राज्य आदि प्रभु देते हैं तो भी उसको ग्रहण न कर जो सेवा प्राप्त होनी कठिन है उसको वार वार प्रार्थना करते हैं, वार बार प्रार्थना में तो क्लेश होगा, इस पर कहते हैं कि उसमें कुछ भी क्लेश नही है, किन्तु वह वर रूप है, 'हे विभो' सम्बोधन से भी यह सूचना देते हैं कि दाता सामर्थ्यवान हैं अतः कोई क्लेश नहीं है वे भ्रान्त होवे अथवा उनकी वैसी रुचि है तो भी विषय में कौनसा दोष है ? यदि यों कहते हो तो उत्तर देते हैं, आपकी सेवा पाकर ऐसा कौन अभागा होगा जो "वर" मांगे ? यदि कर्म वश से जिसकी चाहना नहीं है, वह भी प्राप्त हो जावे तो भोगना ही पड़ता है, भगवान् की आराधना करके तो जो दुर्लभ है उसकी ही प्रार्थना करनी चाहिए। वहाँ भी विरुद्ध की प्रार्थना कसे की जाय दोनों प्रकार विरोध कहते हैं, मोक्ष दाता आपसे वर मांगना आत्म बन्धन है। जो जिसकी सेवा करता है वह दोनों लोकों में उसका सम्बन्ध प्राप्त करता है उसमें भगवान् मोक्ष रूप हैं दूसरा सब ससार रूप है यदि यों है तो मोक्ष वा ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए न कि पाद सेवन की प्रार्थना करनी चाहिए। सत्य है ज्ञान केवल सिद्ध करता है यदि मोक्ष भी कैवल्य रूप है तो भी पुरुषार्थ नहीं है। यदि मोक्ष भगवत्प्राप्ति रूप होवे तो एकरसता को प्राप्त होके भगवान् ही हो जाता है फिर उसका पृथक अनुभव नहीं होता है, अतः परमानन्द होकर जो अनुभव किया जाता है वह एक चरणोपासन ही है जो साधना नहीं है वह साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है इसलिए साधनपन से प्रार्थना करनी, इस प्रकार कोई कहते हैं ॥५५॥

अतः श्रेष्ठ प्रार्थना के लिए पहिले शरण जाता हूँ यह "तस्माद्विसृज्य श्लोक में कहते हैं —

हे समर्थ ! अन्दर और बाहिर सर्व प्रकार की कामनाओं का त्याग कर ज्ञप्ति मात्र आपके शरण जाता हूँ सर्व के परित्याग के लिए इसका त्रिगुणपन कहते हैं, रज प्रभृति के बन्धकत्व के लिए गुणों का बन्धनपन कहा है, अनु पद का प्रयोग इसीलिए किया है, कि इच्छा न करने वाले के भी बन्धन के कारण हैं, केवल उनके सम्बन्ध से बन्धन हो जाता है। स्मार्तों के मत में भगवान् भी उपाधिवाला है, इससे वहाँ भी रज की प्राप्ति ही है ऐसी शंका कर उसका समाधान करते हैं, कि भगवान् निरञ्जन अर्थात् प्रकृति आदि उपाधियों से रहित हैं। उससे क्या हुआ ? तो कहते हैं कि निर्गुण हैं जो उपाधि वाला होता है. न कि बिना उपाधि वाला सगुण होता है।

भगवान् ने पहिले केवल अपने भोग के लिए ही अपनी इच्छा से प्रकृति और गुणों को पदा किया है, इस कारण से, तेरे लिए ही वैसा कैसे नहीं करेंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि "अद्वयं" भेद रहित है जो भेद के लिए प्रयत्न करता है, उसके प्रति वैसा करते हैं, मैं तो वैसा नहीं हूँ, इसलिए मेरे प्रति यों नही करेंगे, यह कहने का भाव है। वे स्वतन्त्र हैं, इसलिए कहा है, कि सबसे पर उत्तम है, वह कोई दूसरा पर नहीं है किन्तु आप ही है इसलिए "त्वां" कहा है, वे पर हैं

किन्तु तू तो गुण वाला है, अत: मेरे अधिकार के अनुसार वैसा ही करेंगे यदि यों कहो तो जिसका उत्तर है. कि आप "ज्ञप्तिमात्र" हैं अर्थात् आपको केवल जानना ही है जो ऐसा, उसके शरण जाना नहीं बन सकता इसका समाधान करते हैं, कि आप पुरुष रूप हैं "शरणम्" पाठ से यह कहा है कि आप पुरुष रूप हैं, "त्वां" पद से कहा कि आप ही जानने योग्य हैं इस प्रकार जानना चाहिए ।।५६।।

आभास—एवं शरणागतः स्वरक्षां प्रार्थयते चिरमिहेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शरण आया हुआ अपनी रक्षा की प्रार्थना "चिरमिह" श्लोक से करता है ।

श्लोक—चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै

र्वितृषषडमित्रो लब्धशान्तिः कथंचित् ।

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-

न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ।।५७।।

श्लोकार्थ—इस संसार में दुःखों से पीड़ित बहुत समय से अपने किए पश्चाताप से जल रहा हूँ जिनकी तृष्णा मिटी नहीं है, ऐसे इन्द्रिय स्वरूप छ शत्रु घेर रहे हैं तो भी शरण देने वाले प्रभु आपके चरणारविन्दों में आकर पडा हूँ जिससे कठिनाई से शान्ति मिली है अब हे परमात्मा ! हे ईश ! शरण आए हुए मेरी रक्षा करो. क्योंकि आपके चरणारविन्द अभय अशोक और अमृत देने वाले हैं ।।५७।।

सुबोधिनी—सङ्घातात्पीडितः असमर्थः तत्पीडापरिहाराय रक्षां प्रार्थयते । नत्वन्यस्मात्। तदर्थं बाधकानि गणयति । चिरं वृजिनैर्दुःखैरार्तः, अनुतापैस्तप्यमानोऽपि जातः । अनुतापा नियता आध्यात्मिकादयः । अन्येऽपि तापजनकान दोषानाह अवितृषषडमित्र इति । पूर्वप्रवाहे तु षडिन्द्रियाण्यमित्राणि, न वितृष्णानि । तस्मात शत्रुभिः पीडितः । ते भक्षयिष्यन्तीति शङ्कया प्रार्थना । नन्विन्द्रियोपरत्यभावे व्यर्थं सर्वमिति चेत्, रक्षितोऽपि यदीन्द्रियहितमेव कुर्यात्, तदा किं रक्षयेत्यत आह लब्धशान्तिरिति । कथञ्चिदन्तःकरणमुपरतमित्यर्थः । त्वं च शरणप्रदः. अहं च सम्यगुपेतः, तत्रापि त्वत्पदाब्जसेवकत्वेन । परात्मन्निति । जीवानां स्वामी भगवानिति शरणगमनं नायुक्तमिति भावः । गुणत्रयपीडितस्य पीडानिवारकं भगवति गुणत्रयमाह अभयमृतमशोकमिति । सत्त्वगुणाभावात् भयाभावः । अत एवान्यं च पालयितुं शक्तः ।

ऋतत्वात् रजस: अभाव:, रज:सम्बन्धेन शुद्धं भवतीति, ऋतता युक्तैव। अशोकमिति तमसा शोक: । आपन्नमिति रक्षायां हेतु: । ईशेति सामर्थ्यम् ॥५७॥

व्याख्यार्थ—संघात से पीड़ित और असमर्थ उस पीड़ा के मिटाने के लिए भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करते हैं–न कि दूसरों से, उसके लिए जो बाधक है, उनको गिनता हूँ बहुत समय से दु:खों से पीड़ित हुआ हूँ और नियत हुए आध्यात्मिक तापों से भी तप्त हो रहा हूँ इससे आगे भी ताप उत्पन्न करने वाले दोषों का वर्णन करते हैं कि जिनकी तृष्णा अब तक मिटी नहीं है वैसे इन्द्रिय रूप शत्रुओं से भी पीड़ित हो रहा हूँ वे शत्रु खा जायेंगे इस शंका से प्रार्थना करते हैं। जब तक इन्द्रियों में शिथिलता नहीं आई है तब तक सब व्यर्थ है यदि यों कहो तो और यदि रक्षा करने में भी इन्द्रियों का हित कर तो उस रक्षा से क्या लाभ ? इस कारण से कहते हैं "लब्धशान्ति:" किसी न किसी प्रकार अन्त:करण विषयों से। हट जाने से शान्ति प्राप्त हो गई है आप शरण देने वाले हैं और मैं अच्छी भाँति शरण आया हूँ शरण भी आपके चरण कमलों का सेवक बन कर ली है आप परमात्मा हैं अर्थात् जीवों का स्वामी भगवान् है अत: आपकी शरण लेना अनुचित नहीं हैं यह भाव है।

जो तीन गुणों से पीड़ित है, उसको पीड़ा के निवारक तीन गुण भगवान् में हैं, वे कहते हैं–१–अभय, २–अमृत, ३–अशोक–सतोगुण के अभाव से भय का भी अभाव है इस कारण से ही दूसरों को पालन करने में समर्थ है सत्यरूप होने से रजोगुण का अभाव है जिससे अमृतरूप ही सबको शुद्ध करने में शक्त हैं तमोगुण के अभाव से आप शोक रहित हो अर्थात् आनन्द रूप हैं, जिससे सब को आनन्द दे सकते हैं आप रक्षा करते हैं जिसका कारण शरणागति ही है, आप ईश हैं इस लिए आप में सर्व सामर्थ्य है ॥५७॥

आभास–ततो भगवान् वृथा शयनं कृतवानिति, तं तपसि प्रवर्तयितुं मर्यादारक्षार्थं च प्रार्थितदानमाह सार्वभौमेति षड्भि: ।

आभासार्थ—पश्चात्, भगवान् ने वृथा शयन किया ? उसको तपस्या में प्रवृत्त करने के लिए और मर्यादा की रक्षा के वास्ते, प्रार्थित दान को "सार्वभौम" श्लोक से लेकर छ श्लोकों में वर्णन करते हैं--

श्रीभगवानुवाच—

श्लोक—सार्वभौम महाभाग मतिस्ते विमलोर्जिता ।
वरै: प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यत: ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे चक्रवर्ती ! हे बड़भागी ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल तथा बडी उच्च है क्योंकि वरों के दान से ललचाये हुए की भांति वह बुद्धि कामनाओं से विचलित नहीं हुई है ॥५८॥

सुबोधिनी—सार्वभौमत्वेन तस्य भाग्याभिनन्दनमुक्तम् । महाभागेति अग्रिमसिद्धयर्थं च भाग्यमुक्तम् । तव मतिर्विमला ऊर्जिता च । सांसारिकधर्मनिवृत्त्या विमलत्वम्, भगवत्परत्वेन ऊर्जितत्वं चेति । भगवदाज्ञोल्लङ्घनं भगवान् कथं संतुष्ट इत्याशङ्कां निवारयितुमाह वरैः प्रलोभितस्यापीति । सर्वान् कामान् ददामीति यदुक्तम्, तत्केवलं लोभप्रदर्शनार्थम्, तेषु तव रुचिरस्ति नवेति, तदिदानीमवगतं नास्तीति, यतः कामैर्न विहता बुद्धिः । अत एव विमलत्वमूर्जितत्वमिति सम्बन्धः ॥५८॥

व्याख्यार्थ—चक्रवर्ती होने से सब के भाग्य की सहराहना की है और "महाभाग" पद से आगे का भी उसका मनोरथ सिद्ध होगा जिससे भी भाग्यवान् है तेरी बुद्धि शुद्ध तथा बहुत उच्च है तेरी बुद्धि में से संसार के धर्म सब निवृत्त हो गए हैं, इसलिए मल रहित हो कर शुद्ध हो गई है भगवान् के परायण होने से उच्च है जिससे भगवान् की आज्ञा का उलंघन किया है उस पर भगवान् कैसे प्रसन्न हुए ? इस शंका को मिटाने के लिए अपनी प्रसन्नता का हेतु बताते हैं कि वरों से उसको लोभ में फसाना चाहा तो भी फसे नहीं भगवान् ने तो वर मांगो कहा था वह केवल लोभ दिखा कर परीक्षा लेने के लिए, उन लौकिक पदार्थों में तेरी रुचि है या नहीं ? वह अब जानने में आ गया कि नहीं है क्योंकि कामनाओं से बुद्धि बदली नहीं, इस कारण से ही बुद्धि का निर्मलपन उच्चपन है इस प्रकार इसका यह सम्बन्ध है ॥५८॥

आभास—ननु स्वामिना कथमेवं प्रलोभ्यते, तत्राह प्रलोभित इति ।

आभासार्थ—स्वामी हो कर ऐसे कैसे प्रलोभन देते हैं ? वहां कहते हैं कि "प्रलोभित" अर्थात् इस श्लोक में यह स्पष्टीकरण करते हैं कि प्रलोभन क्यों दिया ? और उससे क्या हुआ ?

श्लोक—**प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् ।**
न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥५९॥

श्लोकार्थ—मैंने जो तुझे वरों का लालच दिया वह परीक्षा के लिए ही दिया था, यों समझ, मेरे ही जो एक भक्त है उनकी कभी भी वरों से बुद्धि मेरे चरणों से हटती नहीं है । ५६॥

सुबोधिनी—यदपि वरैस्त्वं प्रलोभितः, तदप्यप्रमादायैव, भगवदीयस्य कदाचिदिच्छा स्यात्, विषया न दृष्टा इति, तदन्यदत्तैर्विषयैः स्वाभाविकैर्वा इष्टं न भवतीति मयैव दीयन्ते, ततो विषयभोगः प्रमादाभावश्च सिध्यति । विद्धीति । नात्र सन्देहो विधेयः । हेत्वन्तरमप्याह न धीर्मय्येकभक्तानामिति । एकभक्ताः एकस्यैव भक्ताः, न मार्गान्तरप्रेप्सवः, किन्तु भक्ता एवेति वा । आशीर्भिर्वरप्राप्ताभिः तत्रापि भगवतः सकाशात् । क्वचिदित्यस्य पक्षस्याव्यभिचार उक्तः ॥५६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि तुम को जो वरों द्वारा लालच दिया. वह भी अप्रमाद के लिए ही दिया था भगवदीय को कदाचित् किसी काम की इच्छा होती है तो वह इच्छा वर द्वारा पूर्ण करके सन्तोष करें, किन्तु उनमें विषय है हो नहीं अथवा उन्होंने विषय कैसे होते हैं ये देखे ही नहीं है, इससे दूसरों को दी हुई अथवा स्वाभाविक विषयों से उनका मन प्रसन्न नहीं होता है इसलिए मैं ही देता हूँ उन विषयों से वे विषय सुख भोगते हुए भी उनमें विषय मदका अभाव रहता है । इसमें सन्देह मत जान, इस विषय की सिद्धि में दूसरा कारण देते है, मेरे जो अनन्य भक्त हैं. अर्थात् जो दूसरे मार्ग को चाह वाले नहीं है किन्तु भक्त ही हैं, वरों से प्राप्त आशीर्वादों से, बुद्धि बदलती नहीं है, क्योंकि वह भगवान् की दी हुई होती है "क्वचित्" शब्द से इस पक्ष का अव्यभिचार होना बताया है अर्थात् यह पक्ष निश्चित है इसलिए इस पक्ष में बुद्धि एक मार्ग को त्याग दूसरे मार्ग में नहीं जाती है जैसे कुलटा स्त्री एक पति से संग करती है वैसे भक्तों की बुद्धि अपने इष्ट के सिवाय दूसरे देवों अथवा कामनाओं से प्रेम नहीं करती है ॥५६॥

आभास—एवं भोगमोक्षावविरुद्धौ भगवन्मार्ग एव, नत्वन्यत्रेति वदन् पक्षान्तरं दूषयति युञ्जानानामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवन्मार्ग में ही भोग तथा मोक्ष विरुद्ध नही हैं दूसरे मार्ग में यों नहीं है अर्थात् अन्य मार्ग में तो दोनों परस्पर विरुद्ध हैं यों कहते हैं "युञ्जानानां" इस श्लोक से दूसरे पक्ष को दूषित करते हैं—

श्लोक—युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः ।

अक्षीणवासनं राजन्दृश्यते क्वचिदुत्थितम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जो मेरे भक्त नहीं हैं, वे अपने मन को प्राणायाम आदि से मुझमें निरोध करना चाहें तो भी, वह रुकता नहीं फिर भी वासनाओं में फस जाता है क्योंकि उनकी वासनाएँ पूर्ण रीति से नष्ट नहीं हुई हैं ॥६०॥

सुबोधिनी—भक्तिमार्गव्यतिरेकेण केवलानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनो यञ्जानानां मनोनिरोधार्थं यतमानानां क्वचिदुत्थितं दृश्यते, यथा सौभरिप्रभृतीनाम् तत्र हेतु: अक्षीणवासनमिति । राजन्निति सम्बोधनं वासनाक्षयाभावानुभवार्थम् । भक्त्या तु वासना क्षीयते । तत्र अलौकिकप्रकारं वारयितुं कामा दीयन्ते, तदुपद्रवाभावश्च संपाद्यत इति, भगवता भक्तिमार्गः स्तुतः ॥६०॥

व्याख्यार्थ—भक्ति मार्ग के सिवाय जो दूसरे मार्ग वाले हैं, अर्थात भक्त नहीं हैं, वे यदि प्राणायाम साधनों से मन को रोकने का प्रयत्न करते हैं तो भी उनका मन नहीं रुकता है, जैसे सौभरि प्रभृतियों का नहीं रुका था, उसमें कारण यह है कि उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, राजन् सम्बोधन से यह बताया कि आपको यह अनुभव है वासनाओं का क्षय नहीं होता है, जब तक कि भगवान् को भक्ति नहीं की है, भक्ति से ही वासना का क्षय होता है अन्य मार्गों में अलौकिक प्रकार को मिटाने के लिए कामनाएँ प्राप्त होती हैं उन कामनाओं से जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं उनका अभाव अन्य कोई नहीं कर सकता है केवल भक्ति ही उन उपद्रवों को और वासनाओं को मिटाने में समर्थ है, अतः भगवान् नें भक्ति मार्ग की बड़ाई की है ॥६०॥

आभास—**एवं स्तुत्वा तन्मार्गे प्रविष्टस्य भयाभावः सिद्ध एवेति वदन् कामविहारं बोधयति विचरस्वेति ।**

अभासार्थ—इस प्रकार प्रशंसा कर उस मार्ग में प्रविष्ट हुए को कोई भय नहीं है, यह सिद्ध ही है, यों कहते हुए "विचरस्व" श्लोक से इच्छा बिहार का बोध कराते हैं ।

श्लोक—**विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ।**
अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥६१॥

श्लोकार्थ—मुझ में मन को लगा कर अपनी इच्छा के अनुसार पृथ्वी पर विचरण करो, मुझमें तुझको अविचल भक्ति नित्य ही रहेगी ॥६१॥

सुबोधिनी—यतो महांस्त्वमतोऽन्यथा विहारः स्वत एव निवृत्तः। किञ्च। मय्यावेशितमानसः सन् विचरस्व। कीदृशी जगति भगवल्लीलेति जिज्ञासुरिव। चरणसेवामेव प्रार्थये, नान्यदिति यदुक्तम्, तत्राह अस्त्वेवेति। अत्र भक्तिदानं नापेक्ष्यते, त्वयि भक्तिः सहजैवास्ति। उत्कर्षोऽपि भक्तेः सहज एवेत्याह अनपायिनीति। नित्यदेति च। देशकालवस्तुपरिच्छेदा निवारिताः। अपायः स्वतो देशतश्च। यद्यपि कालनिषेधोऽप्यायाति, तथापि निषेधमात्रपरत्वाभावाय निमित्तभूतः कालः तव भक्तेरनुगुण इति ज्ञापनार्थं नित्यदेत्युक्तम्। तुभ्यमिति। सम्प्रदानत्वेनैव पूर्वं दानं सूचितम्। मय्यनपायिनीति वा। मद्विषयिणी मत्कृपया वा। अग्रेऽपि न निवर्तिष्यत इति वरदानम् ॥६१॥

व्याख्यार्थ—मुझ में मन को लगा कर पृथ्वी पर विहार करते रहो, क्योंकि तुम महान् हो· अतः अन्य प्रकार से विहार करना तो तुम्हारा आप ही निवृत्त हो गया है भगवान् ने जगत में किस प्रकार और कैसे लीला की है इसके जानने की इच्छा करने वाले की भाँति चरण सेवा की ही मैं प्रार्थना करता हूँ इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं माँगता हूँ इस प्रकार जो कहा है वह वैसे ही है अर्थात् तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर आशीर्वाद देते हैं कि यह इच्छा पूर्ण होगी। तुम्हारी प्रार्थना में भक्ति दान की अपेक्षा नहीं है कारण कि तुम्हारे में भक्ति सहज ही है भक्ति का उत्कर्ष भी स्वाभाविक ही है इसलिए कहा है कि "अनपायिनी" यों कहने से देश, काल और वस्तु के परिच्छेद मिटा दिए हैं, और अपने आप देश से विपत्ति अथक बुराईयाँ भी मिटादी हैं यद्यपि काल का निषेध भी आता है, तो भी केवल निषेध पर न होने से निमित्त भूत जो काल है वह तेरी भक्ति के अनुकूल है, यह जताने के लिए "नित्यदा" पद दिया है, "तुभ्यं" चतुर्थी विभक्ति सम्प्रदान कारक में देकर यह सूचित किया है कि पहले ही भक्ति का दान कर दिया है "मय्यनपायिनीतिवा" अथवा मेरे में रुकावट के बिना निश्चल भक्ति हो, अथवा मेरी कृपा से मेरे विषय की ही भक्ति होवे, यह भक्ति आगे भी निवृत्त न होगी, इस प्रकार का यह वरदान है ॥६१॥

आभास—ननु सायुज्यं कुतो न दीयत इत्याशङ्क्याह क्षात्रधर्मस्थित इति।

आभासार्थ—सायुज्य क्यों नहीं देते हो ? यह शंका कर "क्षात्रधर्मस्थितो" श्लोक में समाधान करते हैं ॥

श्लोक—क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदपाश्रयः ॥६२॥

श्लोकार्थ—क्षात्र धर्म में स्थित होकर, शिकार आदि में जीवों को मारा है उससे उत्पन्न पाप को तपस्या से एकाग्रचित्त होके, मेरा आश्रय लेकर नष्ट कर ॥६२॥

सुबोधिनी—क्षत्रियाणां धर्मः जातिप्रयुक्तो घोरो द्विविधः । युद्धे भ्रातरमपि हन्यात् । पापर्द्धौ पलायमानानपि मृगान् हन्यात् । अतस्तस्य दोषस्य परिहारः कर्तव्यः । जन्तूनिति । तेषामपराधाभावः सूचितः । आदिशब्देन श्रममुत्पाद्य मारणं, वागुरादिना वा तस्य निराकरणोपायमाह समाहित इति । जितेन्द्रियान्तःकरणः सन् तत्पापं तपसा जहि । ननु तपस्यपि पापं श्रूयते, कियान्वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण, 'मां चैवान्तःशरीस्थमित्यादिवाक्यैः, तत्राह मदपाश्रय इति । मामेवाश्रित्य तपःकरणे अन्तर्मत्क्लेशजननाभावात् न तपोदोषो भविष्यतीति भावः ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ—जाति से मिलित क्षत्रियों का धर्म दोनों प्रकार का घोर है, १–युद्ध में भाई को मारना, २–शिकार खेलते समय भाग जाते हुए भी मृगों को मारना इसलिए ये दो दोष मिटे वैसा उपाय करो, "जन्तून्" पद से बताया है कि उनका कोई अपराध नहीं है, निर्दोष प्राणियों का वध किया है और "आदि" पद देकर यह भी सूचित किया है कि तुमने उनको विश्वास देकर मारा है अथवा पास आदि से मारा है अब उस पाप के निवृत्ति का उपाय बताते हैं "समाहितः" इन्द्रिय आदि से हित अन्तःकरण को जीत कर उस पाप को तपस्या से नाश कर। शंका करते हैं, कि सुना जाता है, कि तपस्या में भी पाप होता है जिसमें अपना और पर का द्रोह करने वाला कर्म करना पडता है वैसी तपस्या से क्या है ? जैसा कि कहा है कि "मां चैवान्तः शरीरस्थं" मुझे और अन्तः शरीरस्थ को दुःख होवे वैसी तपस्या कैसे की जाए ? इसका उत्तर देते हैं कि "मदपाश्रयः" मेरा आश्रय लेकर तपस्या करने से भीतर मुझे कोई क्लेश न होगा तथा न तपस्या से किसी प्रकार का दोष होगा ॥६२॥

आभास—ततो यद्भाव्यं तदाह जन्मन्यनन्तर इति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो होने वाला है वह "जन्मन्यनन्तरे" श्लोक में कहते में–

श्लोक—**जन्मन्यनन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः ।**
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मापुपैष्यसि केवलम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—हे राजा ! दूसरे जन्म में तुम सर्व भूतों का बहुत सुहृद उत्तम ब्राह्मण हो कर निश्चय तुम केवल मुझे ही पाओगे ॥६३॥

सुबोधिनी—अनन्तरं जन्मनि त्वं द्विजवरो भविष्यसि, उत्कृष्टकुले जन्म प्राप्स्यसि । तत्रापि सर्वभूतसुहृत्तमो भविष्यसि, न तु प्रवृत्तिपरः । ततः केवलं मामुपैष्यसि । अन्यथा पुरुषेषु कालरूपे वा लयो भवेत् । लीलासहिते । ततो लीलार्थं पुनरागमने आगमनमपि स्यात् । केवले पुरुषोत्तमे तु आगमनशङ्काभावः । अस्य च प्रमाणे श्रद्धा महती स्थितेति पुष्टिमार्ग न योजितवान् । मर्यादायां ब्राह्मणस्यैव मुक्तिः । तत्रापि कैवल्यमिति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति सिद्धान्तान्न कोऽपि दोषः ॥६३॥

व्याख्यार्थ—दूसरे जन्म में तुम उत्तम ब्राह्मण होओगे, उच्च कुल में जन्म पाओगे वहाँ भी सब प्राणियों के विशेष हितकारी बनोगे, प्रवृत्ति के परायण नहीं होंगे, पश्चात् केवल मुझे पाओगे, यदि मुझे नहीं पाओगे तो पुरुषों में वा काल में, लय होवोगे. लीला सहित में उससे लीला के लिए फिर आने पर जन्म भी लेना पड़े । यदि केवल पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो गई तो फिर लौट आने की शंका ही नहीं है इसके प्रमाण में बहुत श्रद्धा है इसलिए पुष्टि मार्ग में नहीं जोड़ा है मर्यादा में तो ब्राह्मण की ही मुक्ति होती है उसमें भी केवल्य "ये यथा मां प्रपद्यन्ते[1]" गीता में कहे हुए इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी दोष नहीं है ॥६३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध ४८ वें अध्याय की
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी 'संस्कृत टीका'
राजस साधन अवान्तर प्रकरण, दूसरा अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

१—जो मनुष्य जिस प्रकार मेरी शरण लेता है उनको मैं उसी प्रकार भजता हूँ ।। गीता ।।

❀ राग सारंग ❀

बार सत्रह जरासन्ध मथुरा चढ़ि आयो ।
गयो सो सब दिन हार जात घर बहुत लजायो ।।
तब खिसिआइकै कालयवन अपने संग ल्यायो ।
हरिजु कियो विचार सिन्धु तट नगर बसायो ।।
उग्रसेन सब कुटुम्ब लै ता ठौर सिधायो ।
अमरपुरी ते अधिक सुख तहाँ लोगन पायो ।।
कालयवन मुचुकुन्दहि सों हरि भस्म करायो ।
बहुरि आइ भरमाइ अचल सब ताहि जरायो ।।
जरासन्ध वहँते बहुरि निज देश सिधायो ।
श्याम राम गये द्वारका सूरज यश गायो ।।

॥ श्रो हरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

तृतीय अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४६ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५२ वां अध्याय

द्वारका गमन, श्री बलरामजी का विवाह तथा रुक्मिणीजी का सन्देश

कारिका—पुरुषानुग्रहं पूर्वमुक्त्वा भगवता कृतम् ।
स्त्रीषु तं विस्तरेणाह रूपत्रयविभेदतः ॥१॥

कारिकार्थ—इस तीसरे अध्याय में पहले पुरुषों पर किए हुए भगवान् के अनुग्रह का वर्णन कर पश्चात् तीन रूप[1] से भेद वाली स्त्रियों पर किये अनुग्रह का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ॥१॥

कारिका—अनुग्रहः कालतुल्यस्ततो द्वादशधोदितः ।
तत्र मुख्या तु लक्ष्मीः स्यात्तस्यां त्रेधा हरेः कृपा ॥२॥

१—रुक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा रूप से ।

कारिकार्थ—अनुग्रह[1] काल के समान है इससे द्वादश प्रकार से कहा है. स्त्रियों में लक्ष्मी मुख्य है उस पर हरि की कृपा तीन प्रकार से हुई है ॥२॥

कारिका—**मानसेनाथ कायेन वेदेनेति निरूप्यते ।**
गान्धर्वो मानसः प्रोक्तो दूरत्वाद्वचनाभिधा ॥३॥

कारिकार्थ—१--मानसिक, २-कायिक और ३--वाचिक यों तीन प्रकार से निरूपण किये जाते हैं. मानसिक गान्धर्व कहा हैं, दूर होने से वाणी से है ॥३॥

कारिका—**कृष्णानुग्रहयुक्तानां कृतार्थत्वे ततः परम् ।**
स्त्रीणां मुक्तिर्निरूप्येति मुचुकुन्दतपःकथा ॥४॥

कारिकार्थ—कृष्ण की जिन पर कृपा हुई है, उनके कृतार्थ हो जाने के अनन्तर स्त्रियों की मुक्ति और मुचुकुन्द के तपस्या की कथा निरूपण कर ॥४॥

कारिका—**प्रसङ्गात्तामसानां हि वधो देवहिताय हि ।**
पलायनं लीलयैव सोऽप्यनुग्रह ईर्यते ॥५॥

कारिकार्थ प्रसंग से तामसों का वध किया है देवों के हितार्थ लीला से ही भागजाना वह भी अनुग्रह हो कहा जाता है ॥५॥

कारिका—**सात्त्विके राजसे चैव तामसे च हरेः कृपा ।**
इति दर्शयितुं राज्ञो वृत्तं लक्ष्म्याः शिवस्य च ॥६॥

कारिकार्थ—सात्विक, राजस और तामस पर भगवान् की कृपा हुई है यह दिखाने के लिए राजा, लक्ष्मी और शिव के चरित्र का वर्णन किया हुआ है ॥६॥

आभास—**तृतीयेऽध्याये अनुग्रहनिरूपणप्रस्तावेमुचुकुन्दस्य शिवस्य लक्ष्म्याश्च हितं कृतवानिति निरूप्यते । कायिकवाचिकमानसिकभेदेन । प्रथमं सात्त्विके भगवान् मुचुकुन्दे कृपां कृतवानिति तस्य भगवद्वाक्येन तपः करणमुच्यते इत्थमिति चतुर्भिः ।**

१—यह अनुग्रह काल की अपेक्षा वाला है इसलिए मुचुकुन्द ने १२ श्लोकों से प्रार्थना की है, १३ श्लोकों में पूर्ण गमन कर अपनी रक्षा चाही है।

आभासार्थ—तीसरे अध्याय में अनुग्रह के निरूपण करने के प्रकरण में, मुचुकुन्द, शिव और लक्ष्मी का कायिक वाचिक और मानसिक भेद से हित किया है।

पहिले भगवान् ने सात्विक मुचुकुन्द पर कृपा की है इसलिए भगवान् के वचनों से तपस्या करने लगा, जिसका वर्णन "इत्थं" श्लोक से चार श्लोकों में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः।
तं परिक्रम्य संनम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे अंग श्रीकृष्ण भगवान् ने इस प्रकार इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुवे मचुकुन्द पर जब कृपा की तब वह उनको साष्टांग प्रणाम तथा परिक्रमा कर गुफा से बाहिर निकला ॥१॥

सुबोधिनी—एवंप्रकारेण भगवता अनुगृहीतः मुचुकुन्दः तपोनिमित्तं गुहातो निर्गतः। भगवदनुग्रहव्यतिरेकेण भगवद्वाक्ये श्रद्धा न भवतीति भगवदनुग्रहः कारणत्वेनोच्यते। इक्ष्वाकुनन्दन इति। इक्ष्वाकुरत्यन्तं भक्त इति तद्वंश्योऽयमिति कृपाया हेतुत्वेनोक्तम्। ततस्तं भगवन्तं कृष्णं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य, ततः सम्यङ्नत्वा, साष्टाङ्गं प्रणम्य पूर्वमेव शयनस्थानात् गुहामुखे प्रकाशयुक्ते स्थित इति ततोऽपि निश्चक्राम ॥१॥

व्याख्यार्थ—इसी भाँति भगवान ने मचुकुन्द पर अनुग्रह किया जिससे वह तपस्या के लिए गुफा से बाहिर निकला भगवान के वचनों से मचुकुन्द की श्रद्धा होने का कारण भगवान् का अनुग्रह ही है क्योंकि भगवदनुग्रह होने के सिवाय उनके वचनों में श्रद्धा नहीं होती है भगवान् ने उस पर कृपा क्यों की? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि इक्ष्वाकु बडा भक्त था उसके वंश में यह पैदा हुवा है, इसलिए उसके नाते के कारण इस पर भी कृपा की है गुफा से बाहिर आने के बाद भगवान् कृष्ण को परिक्रमा कर अनन्तर साष्टांग प्रणाम कर जहाँ प्रकाश वाले गुहा के मुख पर शयन स्थान से उठकर आके खड़ा हुवा था फिर वहाँ से भी बाहिर निकल आया ॥१॥

आभास—ततस्तपः क्वचित्कर्तव्यमिति विचार्य, भारतखण्ड एव चतुर्युगधर्माणां

प्रवृत्तिरिति विरुद्धकालयुक्ते देशे तपो न कर्तव्यमिति वर्षान्तरं गन्तुं उत्तरदेशं गत इत्याह स वोक्ष्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् तपस्या किस स्थान पर करनी चाहिए यह विचार कर भरत खण्ड में चारों युगों के धर्म प्रवृत्त होते हैं इसलिए जहाँ तपस्या से विरुद्ध काम युक्त देश हो वहाँ तपस्या नहीं करनी चाहिए इस कारण से दूसरे भाग में जाने के लिए उत्तर दिशा में गया—

श्लोक—स वीक्ष्य क्षुल्लकान्मर्त्यान्पशून्वीरुद्वनस्पतीन् ।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ।।२।।

श्लोकार्थ—उसने देखा कि सब मनुष्य, पशु, लता और वनस्पति छोटे छोटे हो गए हैं जिससे जान गए कि कलियुग आ गया है, अतः उत्तर दिशा में चला गया ।।२।।

सुबोधिनी—स हि सत्ययुगे शयनं कर्तुं प्रवृत्तः, कलियुगे उत्थितः । यदैव भगवता मथुरा त्यक्ता, तदैव कलिः प्रवृत्त इति मुख्यः सिद्धान्तः । 'पञ्चविंशे वर्षे कलिरायास्यती' त्येव विनिश्चित्य, भरतखण्डं परित्यज्य, समुद्रमध्ये द्वारकां कृतवान् । ततो भगवति तत्र गते कलिः सम्यक् प्रविष्टः । कालाभिमानिनी देवता तु भगवति स्वस्थानं गते समायास्यति । अयं विचारो द्वादशे कर्तव्यः । कलिस्त्विदानीं प्रविष्टः । सन्ध्यासमयोऽयं वा । मध्यकाल एवाग्रे निर्णय इति कालस्य प्रवृत्तौ नयत हेतुं दृष्टवानित्याह । स मुचुकुन्दः क्षुल्लकान् अल्पप्रमाणान् कालेन ह्रासं प्राप्तान् मर्त्यान्मनुष्यान् । अनेन तेषां मरणमपि शीघ्रं कालेनेति सूचितम् । वीरुधः लतागुल्मादीन् वनस्पतीन्, वृक्षानपि चतुर्विधानल्पायुःप्रमाणाभ्यां ह्रासयुक्तान् विलोक्य, कलेरेवायं धर्म इति असाधारणत्वाद्विनिश्चित्य उत्तरां दिशं जगाम ।।२।।

व्याख्यार्थ—उसने सतयुग में सोना आरम्भ किया था और कलियुग में जगा, जब ही भगवान् ने मथुरा का त्याग किया तब ही कलि का प्रारम्भ हुआ यों मुख्य सिद्धान्त है । पच्चीस वर्ष के अनन्तर कलियुग आवेगा इस प्रकार ही निश्चय कर भरत खण्ड को छोड़ कर भगवान् समुद्र के मध्य द्वारका में जा कर विराजे । भगवान् के वहाँ जाने के पश्चात् कलियुग ने अच्छी तरह प्रवेश किया, काल का अभिमानी देवता तो भगवान् जब अपने धाम पधार जाएँगे तब आएगा, इसका विचार द्वादस अध्याय मे किया जाएगा । कलि तो अब प्रविष्ट हो गया है अथवा यह सन्धी का समय है अर्थात् मध्य काल ही है आगे निर्णय करने योग्य है इस प्रकार काल की प्रवृति में जो निश्चित हेतु देखें उनको कहता है वह मुचुकुन्द कलिकाल से छोटे मनुष्यों को देख समझ गया कि ये मरेंगे भी

जल्दी ही लता और झाड़ी आदि वनस्पतियों को तथा चारों प्रकार के वृक्षों को अल्प आयु प्रमाण वाले एवं जल्दि गिरने वाले हैं देखकर साधारण तरह यह कलियुग का ही धर्म है यों निश्चय कर उत्तर दिशा की तरफ गया ।।२।।

आभास—ततो विधानपूर्वकमिमं देशमतिक्रम्य गत इत्याह तपःश्रद्धायुत इति ।

आभासार्थ—पश्चात् विधि के अनुसार इस देश का उल्लघंन कर गया, इसका वर्णन "तपःश्रद्धा" श्लोक में करते हैं--

श्लोक—तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः ।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद्गन्धमादनम् ।।३।।

श्लोकार्थ—तपस्या और श्रद्धा से युक्त धैर्य वाला संग रहित एवं संशयों से मुक्त होकर श्रीकृष्ण में मन को अच्छे प्रकार स्थिर कर गन्धमादन पर्वत पर गया ।।३।।

सुबोधिनी—तपः सर्वेन्द्रियनिग्रहः, श्रद्धा च भगवद्वाक्ये, ताभ्यां युतः, दृष्ट्वापि विषयान् विघ्नत्वेन प्राप्तान्वा न व्यामुग्धः किन्तु धीर एव जातः । ततो गच्छन् राजेति यं कञ्चिदनुवर्तमानमपि परित्यज्य, निःसङ्ग एव सन् शरीररक्षादौ मुक्तसंशयः, इतस्ततो दर्शनाद्यर्थं विक्षिप्तमपि मनः कृष्णे समाधाय गन्धमादनपर्वतं प्रविशत । गरुडगङ्गातः उत्तरे भागे बदरिकाश्रमपर्यन्तं सर्वोऽपि पर्वतो गन्धमादनः ।।३।।

व्याख्यार्थ—तपस्या अर्थात् सब इन्द्रियों को अपने वश में कर लेना और भगवान् के वचनों में विश्वास करना इन दोनों गुणों से युक्त था, और विघ्न डालने वाले विषयों को देख कर भी उनके वश नहीं हुआ और उनसे डरता था अतः धैर्यवान था । जाते हुवे राजा के जो कुछ पीछे लगे रहते थे उनको भी त्याग कर संग रहित हो कर जाने लगा शरीर की रक्षा आदि कौन करेगा, वैसी शंकाओं से जिसका अन्तःकरण मुक्त हो गया है और यहाँ वहाँ दर्शन आदि के कारण विक्षिप्त मन को कृष्ण में जोड़ कर गन्धमादन पर्वत में प्रवेश किया, गरुड़ गंगा के उत्तर भाग में बदरिकाश्रम तक सारा पर्वत गन्धमादन है ।।३।।

आभास—ततस्तत्रापि बदर्याश्रममासाद्य, यत्र नरनारायणयोरालयं तत्र शीतादिबाधा महतीति तन्निवृत्त्यर्थं यत्नकरणे तपो न युज्यत इति तदर्थमाह सर्वद्वन्द्वसह इति ।

आभासार्थ—पश्चात् वहां से भी बदरिकाश्रम पहुँच कर तपस्या करने लगा, जहां श्री नर नारायण प्रभु का मन्दिर है वहां तो शीत आदि की बादा जबर्दस्त है उनके मिटाने की कोशिश करने में मन लगाने से तो तपस्या हो न सकेगी इस शंका के निवारण के लिए "सर्वद्वन्द्वसह" कहा है अर्थात् सर्व प्रकार के शीत आदि के दुःखों को सहन करने में समर्थ है–

श्लोक—बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् ।

सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाराधयद्धरिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—बदरिकाश्रम में जा कर नर नारायण के स्थान से सब प्रकार के सुख दुःख आदि द्वन्दों को सहन करता हुआ शान्त हो तपस्या से हरि की आराधना करने लगा ॥४॥

सुबोधिनी—अन्तरपि शान्तः । तपसा हरिमाराधयत् । हरिपदेन यथैव तस्य तपसा आराधनं सिध्यति, तथैव कृतवानिति लक्ष्यते ॥४॥

व्याख्यार्थ—अन्तःकरण भी शान्त था, तपस्या से हरि की आराधना करने लगा "हरि" पद से जिस प्रकार ही उसकी तपस्या, से आराधना सिद्ध होती है वैसे करने लगा यों जाना जाता है अर्थात् तपस्या में आने वाली रुकावटों को भगवान् हरण कर ऐसी प्रेरणा करते थे जिससे उसकी आराधना सिद्ध हो जाती थी ॥४॥

आभास—एवं तस्य व्यवस्थामुक्त्वा भगवतोऽपि द्वारकायां गमनमाह भगवानिति दशभिः ।

आभासार्थ - इस प्रकार उसकी अवस्था कह कर भगवान् के भी द्वारका गमन का वर्णन "भगवान्" इस श्लोक से दश श्लोकों में करते हैं–

श्लोक—भगवान्पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम् ।

हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥५॥

श्लोकार्थ—भगवान् फिर यवनों से वेष्टित मथुरापुरी में आकर म्लेच्छों की सेना को नष्ट कर उसका धन द्वारका ले गए ॥५॥

सुबोधिनी—मध्ये तामसस्य शिवस्य ब्राह्मणानां वाक्यं कृतवानिति निरूप्यते । यवनवधानन्तरं भगवान् पुनर्मथुरामाव्रज्य, यवनैर्वेष्टितां दृष्ट्वा, मथुरानिमित्तं म्लेच्छबलं हत्वा, तदीयं धनं हतानां मुकुटादिरूपं द्वारकां निन्ये ॥५॥

व्याख्यार्थ—बीच में तामस शिव के ब्राह्मणों का वचन किए, यह निरूपण किया जाता है । यवनों के नाश हो जाने के बाद भगवान् मथुरापुरी आके उस को यवनो से घिरा देख मथुरा लेने के लिए आए हुवे म्लेच्छों की सेना का नाश कर मरे हुवों के मुकुट आदि रूप धन को द्वारका लेजाने लगे ॥५॥

श्लोक—नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितः ।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् से प्रेरित मनुष्य तथा बैल सब धन ले जा रहे थे तब तेवीस अक्षोहिणी सेना को लेकर जरासन्ध आ गया ॥६॥

सुबोधिनी—नीयमाने इति । वृथैव धनं न परित्याज्यमिति, राज्ञे देयमिति, यवनधनं च न ग्राह्यमित्युभयं साधयितुं किञ्चिद्दूरं गृहीत्वा गतवानित्यर्थः । तत्कटकस्था एव वाहकाः पदातयो बलीवर्दाश्च । ते सर्वे भगवता प्रेरिताः जरासन्धस्य सुखार्थम् । जये हि किञ्चित्प्राप्यत इति तस्मै दानार्थं नीतवन्तः । एतस्मिन्समये भगवदिच्छयैव समागतो जरासन्धः त्रयोविंशत्यक्षौहिणी- । अधिकानयने सर्वोऽपि प्राकृतः क्षीणो भवेदिति । प्रकृतिं परित्यज्य प्राकृतं सर्वमेव गृहीत्वा समायातीति ख्यापनार्थं सर्वत्र त्रयोविंशत्यक्षौहिण्य उच्यन्ते ॥६॥

व्याख्यार्थ—धन को फिजूल छोड़ना नहीं चाहिए फिजूल जावे उससे वह राजा को देना चाहिए अर्थात् यों हीं पड़ा हुआ धन राजा का है और यह धन यवन का है वह ग्रहण करने के योग्य नहीं है अब भगवान् को दोनों बात सिद्ध करनी है इसलिए वह धन लेकर कुछ दूर गए भार उठाने वाले प्यादे और बैल उसकी सेना में ही स्थित थे वे सब जरासन्ध के सुख के लिए भगवान् के भेजे हुवे थे जीत होने पर कुछ मिलता ही है वह मिला हुआ धन उन भेजे हुवे को देने के लिए ही ले आए थे इस वक्त ही भगवदिच्छा से तेवीस अक्षोहिणी सेना को साथ ले कर जरासन्ध आ गया तेवीस ही क्यों लाया ? इसलिए इतनी लाया जो विशेष लाता तो समग्र प्रजा नष्ट हो जाती अतः प्रजा को न ला कर केवल प्राकृत ही लाए अतः सर्वत्र तेवीस अक्षोहिणी ही कहा है ॥६॥

श्लोक — विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ ।
मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन्दुद्रुवतुर्द्रुतम् ॥७॥

श्लोकार्थ—राम-कृष्ण शत्रुओं की सेना बड़ी वेग से जा रही है यह देख हे राजन् ! मनुष्य नाट्य किए हुवे वे दोनों जल्दी भागने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—ते च सर्वे लब्धवराः, पूर्वापेक्षयापि वेगवन्त इति । 'देवानां वाक्यं परिपालनीयं मनुष्यै'रिति मनुष्यचेष्टामापन्नौ, मनुष्यभावस्वीकारे हि ब्राह्मणवाक्यं शिववाक्यं च माननीयं भवति । भागवते चास्याकथनं लोकव्यामोहनार्थम् । राजन्निति स्नेहेन संबोधनं भ्रमानुत्पादनार्थम् । द्रुतं यथा भवति, तथा दुद्रुवतुः पलायितवन्तौ ॥७॥

व्याख्यार्थ—सेना में जो सैनिक आदि आ रहे थे उन सब को वर मिला था इसलिए पहिले की अपेक्षा अब वेग से आरहे थे जिसको देखकर दोनों जल्दी भाग गए कारण कि आप मनुष्य चेष्टा करने को उद्यत हुए हो और मनुष्य नाट्य स्वीकार करने पर देवताओं का वाक्य मनुष्यों को पालना चाहिए मनुष्य को ब्राह्मण के एवं शिव के वचन मान देने योग्य हैं । लोक को मोह में डालने के लिए भागवत में इसका कथन नहीं है राजन् ! यह सबोधन स्नेह से इसलिए दिया है कि इसमें राजा को भ्रम उत्पन्न न होवे जिससे जल्दी ही वैसे दोनों भागे ॥७॥

श्लोक — विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् ।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम् ॥८॥

श्लोकार्थ—बहुत मिले हुए धन को छोड़ कर निर्भय होते भी डरपोकों से भी डरे हुए की भाँति कमल के समान कोमल चरणों से बहुत योजन जाने लगे ॥८॥

सुबोधिनी—विहायेति । भारवाहकास्तु गन्तुमसमर्था इति तान्विहायैव, प्रचुरमपि वित्तं विहाय, अभीतावप्येतौ भीतेभ्योऽपि भीताविव रथाश्वादिकमपि यवनवधात्प्राप्तं विसृज्य, पद्भ्यामेव भूमिसुखार्थं पद्मपलाशतुल्याभ्यां बहुयोजनं चेरतुः, चित्रकूटमार्गेण गतौ ॥८॥

व्याख्यार्थ—भार ढोने वाले तो जल्दी जाने में समर्थ नहीं होते थे इससे उनको छोड़ कर ही, बहुत धन भी त्याग कर स्वयं डरे तो नहीं थे किन्तु डरपोकों से भी डरे हुए जैसे हो, यवनों के वध

से प्राप्त रथ और अश्व आदि भी वहीं छोड़ कर भूमि को सुख देने के लिए कमल के पत्तों के समान कोमल चरणों से बहुत योजन चित्रकूट के रास्ते से जाने लगे ॥८॥

आभास—ततो मागधोऽपि भगवल्लीलामज्ञात्वा वरेण दृप्तः पृष्ठतोऽनुगमदित्याह पलायमानाविति ।

आभासार्थ—पश्चात् मगध भी भगवान् की लीला को न जान कर वर प्राप्त करने से घमन्डी हुआ था अतः पीछे जाने लगे जिसका वर्णन "पलायमानौ" श्लोक में करते हैं--

श्लोक - पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन्बली ।
अन्वधावद्रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥६॥

श्लोकार्थ—उनको भागते हुवे देख सेना सहित वह हँसता हुवा शीघ्र जाने वाले रथों में बैठ उनके पीछे दोड़ा क्योंकि उन दोनों ईशों में कितनी शक्ति हैं इसको वहीं जानता था ॥६॥

सुबोधिनी—तौ रामकृष्णौ । ननु बहुवारं धृत्वा मुक्तः, तयोर्बलं जानन्नपि कथं तत्सङ्गं गत इति चेत्, तत्राह मागध इति । देशदोषेण नष्टमतिरित्यर्थः । ततः प्रहसन् बलसहितः सेनासहितः अन्वधावत्, रथानीकैः सहेति ये शीघ्रगामिनो रथास्तानारुह्य तादृशैः सह गत इत्यर्थः । अनेन रथानां सेनायाश्च महान् क्लेशो निरूपितः । स क्लेशः सार्थको भविष्यतीत्याशङ्क्याह ईशयोरप्रमाणविदिति । कृष्णरामयोः प्रमाणं सामर्थ्यमादरणीयत्वं वा । तौ हि ब्राह्मणादिवाक्यं प्रमाणीकृत्य भगवान् गच्छति, न त्वशक्तः सन् इति भगवत्प्रमाणं न ज्ञातवान् । ईशयोरिति पूर्णा शक्तिर्विभक्तेति एकस्याप्यनङ्गीकारे विप्रादीनां वाक्यमप्रमाणं भवेदिति उभाभ्यां तत्प्रमाणीकृतमित्यर्थ ॥६॥

व्याख्यार्थ—उसने राम और कृष्ण की शक्ति को क्यों नहीं जाना, जब कि कई बार उन्होने उसे पकड़ कर छोड़ दिया है ? इस शंका के मिटाने के लिए जरासन्ध न कह कर "मागध" कहा है, जिसका भाव यह है कि मागध देश वासी होने से इसकी बुद्धि नष्ट हो गई है इस कारण से हँसता हुआ सेना सहित पीछे दौड़ने लगा रथ और सेना सहित, जो रथ शीघ्र चलने वाले थे उनमें बैठ सेना के साथ गया इससे यह बताया कि रथ तथा सेना को बहुत कष्ट हुआ क्या वह कष्ट सफल होगा ? इस शंका का निवारण करते हुवे कहते हैं कि "ईशयोरप्रमाणवित्" राम कृष्ण के सामर्थ्य अथवा

उनके आदरणीयपन को नहीं जानता है, भगवान् क्यों जा रहे हैं ? भगवान् अशक्त हैं इसलिए डर कर नहीं जा रहे हैं किन्तु ब्राह्मण के वचनों को सत्य करने के लिए ही जारहे हैं इस रहस्य को उसने समझा नहीं "ईशयोः" दोनों में पूर्ण शक्ति विभक्त है इसको सिद्ध करने के लिए दोनों गए यदि एक जाते तो ब्राह्मण आदि के वाक्य पूर्ण प्रमाणित नहीं होते इसलिए दोनों ने जाकर उनके वचन सत्य प्रमाण किए ।।६।।

आभास—ततो रामकृष्णौ पर्वतेन प्रार्थितवरौ तत्प्रियार्थं तुङ्गं गिरिमारुहताम् । स हि पर्वतः सर्वदा शीतेन व्याप्तः, भगवन्तं शीतनिवृत्त्यर्थं विज्ञापयामास । तत्र हि न कदाचिदपि सूर्याग्निसम्बन्धः । मेघानां तत्प्रियं स्थानम् । अतो मेघाच्छन्न एव तिष्ठतीति न सूर्यसम्बन्धः । वर्षतीति नाग्निसम्बन्धः । ततो भगवान् पूर्वं तस्मै वरं दत्तवान् अहमागत्य ते शीतं निवारयिष्यामीति । ततो भगवतः अद्भुतकर्मत्वं प्रतिपादयितुं श्रान्तिमुक्त्वा पर्वत रोहणं वदति प्रद्रुत्येति ।

आभासार्थ—इस के बाद रामकृष्ण दोनों प्रवर्षण नाम वाले ऊँचे पर्वत पर उसके प्रिय मनोरथ पूर्ण करने के लिए चढ़ गए, उस पर्वत पर सदैव ठन्ड रहती है उसने भगवान् को शीत मिटाने के लिए प्रार्थना की थी उस पर्वत से कभी भी सूर्य अथवा अग्नि का सम्बन्ध नहीं होता था क्योंकि वह बादलों का बहुत प्रिय स्थान है अतः मेघों से ढका हुआ रहता है जिससे सूर्य का सम्बन्ध नहीं होता है और सदैव वहाँ वर्षा होती रहती है इसलिए अग्नि का सम्बन्ध नहीं होता है इस कारण से पहिले पर्वत ने भगवान् को शीत मिटाने के लिए प्रार्थना की थी भगवान् ने भी वर दिया था कि मैं आकर तेरा शीत निवारण करूंगा इस कारण से भगवान् अद्भुत कर्मा हैं इसका प्रतिपादन करने के लिए मुझे थकावट हुई है यों दिखा कर उसको मिटाने के लिए पर्वत पर चढ़ गए जिसका वर्णन "प्रद्रुत्य" श्लोक में करते हैं--

श्लोक—प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ।
प्रवर्षणाख्यं भगवान्नित्यदा यत्र वर्षति ।।१०।।

श्लोकार्थ—बहुत दूर तक दौड़ने से मानो थक गए तब प्रवर्षण नाम वाले ऊँचे पर्वत पर चढ़ गए जहां भगवान् स्वयं सदा ही वर्षते रहते हैं ।।१०।।

सुबोधिनी—न हि कश्चिद्दूरं प्रद्रुत्य तुङ्गं गिरिमारोहति । उच्चारोहणं ह्यश्रान्तमपि श्रमयति, भगवतः सहस्रोपायानां विद्यमानत्वात् निलीय स्थित्यर्थं किं पर्वतारोहणमुच्चस्थानमपेक्षते, प्रत्युत उच्चस्थितं सर्वोऽपि पश्यति, अतोऽत्र भगवत: अद्भुतलीला कथयन् विरोधप्रकारेण कथयति । दूरं प्रद्रुत्य धावनं कृत्वा सम्यक् श्रान्तौ जातौ । नहीशयोः शीघ्रगमनं श्रमो वा सम्भवति । तत्रापि तुङ्गमत्युच्चं गिरिं आरुहतां गुप्ततया । तत्रारोहणप्रयोजनमाह प्रवर्षणाख्यमिति । प्रकर्षेण वर्षणं यत्रेति । रूढिभ्रमव्युदासाय स्वमेव योगं प्रदर्शयति भगवान् 'नत्यदा यत्र वर्षतीति । तत्र हि सर्वदा भगवान् वर्षति । मेघा हि कदाचित् कचिद्वर्षन्ति. तेषामधिष्ठातृरूपो भगवान् विष्णुः । 'पर्वतानामधिपति'रिति श्रुतेः । स्वयमेव तत्र वर्षति, अन्यथा लोके वृष्टिप्रवृत्तिर्न स्यात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—कोई भी बहुत दूर दौड़ने के बाद थका हुआ ऊंचे पर्वत पर नहीं चढ़ सकता है, थका हुआ नहीं है उसको भी ऊँचे स्थान में चढने में श्रम होता है भगवान् तो छिप कर रहने वास्ते हजारों उपायों को जानते हैं उच्च स्थान पर्वत पर चढ़ने की क्या आवश्यकता थी बल्कि उच्च स्थान पर बैठे हुवे को सब देख सकते हैं यों है किन्तु यहाँ तो भगवान् की अद्‌भुत लीला कहनी है, इसलिए विरोधी तरीके से कहते हैं–

दूर दौड़ने से बहुत थक गए हालाकि जो ईश है सर्व समर्थ हैं उनके लिए शीघ्र जाना वा श्रम कुछ भी नहीं है उसमें भी गुप्त रीति से बहुत ऊंचे पर्वत पर चढ़ गए पर्वत पर चढ़ने का प्रयोजन वा प्रकार कहते हैं जिस पर्वत पर हमेशा वर्षा होती है जिससे उसका नाम "प्रवर्षण" है, वर्षा तो सब पर्वतों पर पड़ती है यह रूढि ही है यहाँ भी पड़ती है इसमें विशेषता क्या है ? इस रूढि के भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं कि इस पर्वत पर भगवान् स्वयं वर्षते हैं अन्य स्थानों पर मेघ वर्षा करते है वे कभी करते हैं कभी नहीं करते उनका "पर्वतों का" अधिष्ठातादेव विष्णु भगवान् है जैसा कि श्रुति में "पर्वतानामधिपति" कहा है अतः स्वयं विष्णु वहाँ वर्षते हैं यदि भगवान् आप वर्षा न करे तो लोक में वर्षा की प्रवृति हो न होवे ॥१०॥

आभास—ततो श्रान्तस्य जरासन्ध कृत्यमाह गिराविति ।

आभासार्थ—पश्चात् श्रमित हुवे जरासन्ध ने कुछ किया वह "गिरौ" श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप ।
ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! उनको पर्वत में छिपे हुवे जान कर वहाँ से आगे पद चिन्ह

नहीं गए हैं यों समझ कर काष्ठों से पर्वत के चारों तरफ आग लगाई जिससे वह पर्वत आग से जलने लगा ॥११॥

सुबोधिनी—पर्वतारोहणे कैश्चित् दृष्ट एव, तत्रापि अग्रे न गत इत्यत्र विचारमपि कृतवानित्याह नाधिगम्येति । ततः पर्वतादग्रे पदं गमनचिह्नं नाधिगम्य अप्राप्य । दाहे भगवता हेतुः सम्पादितः स सत्य एव जात इति वक्तुं तस्य निलीनाविति ज्ञानमुत्पादितम् । ततो दाहार्थमेव तथा प्रयत्नः कृत इति सत्यसङ्कल्पस्य भगवत इच्छया गिरिमेधोभिर्ददाह । सर्वत्र वृक्षान् छित्वा परितस्तृणादिना दाहं कारितवान् ॥११॥

व्याख्यार्थ—पर्वत पर चढ़ते हुए किन्होंने देखा ही किन्तु वहाँ से आगे नहीं गए इस विषय में विचार भी किए उससे ढूंडने से पता लगा कि पर्वत से आगे इनके चरण चिन्ह भी नहीं है, इस पर्वत को अग्नि जलावे जिसका हेतु तो भगवान् ने ही बताया है वह हेतु सत्य हुआ, यों तो यहाँ ही छिप गए है यों कहने के लिए इसको वैसा ज्ञान कराया इस प्रकार ज्ञान होने के बाद दाह के लिए ही प्रयत्न किया सत्य संकल्प भगवान् की इच्छा से काष्ठों से पर्वत को जलाया वृक्षों को तोड़ कर सब जगह चारों तरफ तृण आदि से आग लगा दी ॥११॥

आभास—ततो भगवान् पर्वतप्रार्थितं विधाय ततोऽग्रे गत इत्याह तत उत्पत्येति ।

आभासार्थ—अनन्तर पर्वत की प्रार्थना को पूर्ण कर भगवान् आगे गए जिसका वर्णन "तत" श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ ।
दशैकयोजनोत्तुङ्गान्निपेततुरधो भुवि ॥१२॥

श्लोकार्थ—आग लगाई किन्तु उस आग से पर्वत के किनारे सीलगना सुरू होते ही दोनों शीघ्र ही ११ योजन की बड़ी छलाँग से कूदकर पर्वत से दूर पृथ्वी पर ठहरे ॥१२॥

सुबोधिनी—तरसा शीघ्रमेव यावदग्निः प्रज्वलति, भगवति विद्यमाने अग्निः पर्वतं न दहेदिति । न तु दाहभयात् । दह्यमानाः तटाःयस्य । सर्वत्र दाहे उद्भूते उभौ पूर्णशक्तिर्भगवान् दशै-

कयोजनोत्तुङ्गादिति । एकादशयोजन स उत्तुङ्गः, तत उभावपि अधः पर्वतस्य प्रस्तरभागमपि परित्यज्य भूभागे निपेततुः । केचित्तु अतिदाहे पुनः पर्वतप्रार्थनायां तं भूमौ नेतुं उपर्युत्थाय पादपीडनेन तं भूमौ प्रवेशयन्नेव स्वयं दूरे गत इत्याहुः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अग्नि जले इससे पहिले ही शीघ्र दोनों ने ११ योजन की बड़ी छलाँग मारी जिससे वे पर्वत के पत्थर के भाग से दूर पृथ्वी पर खड़े हो गए इतनी जल्दी भगवान् ने इस लिए की कि भगवान् की विद्यमानता में अग्नि पर्वत को जला न सकती अर्थात् तापयुक्त न कर सकती उन्होंने जल जाने के भय से जल्दी नहीं की थी, अभी तो उसके किनारे किनारे अग्नि सिलगने लगी थी जब वह सर्वत्र प्रकट होने लगी तब पर्वत का मनोरथ पूर्ण देख आप इस प्रकार पधार गए ।

आचार्य आज्ञा करते हैं कोई इस प्रकार भी कहते हैं कि जब अग्नि जोर से जलने लगी तब पर्वत ने पुनः प्रार्थना की जिससे ऊपर उठकर पैरों के दबाव से उसको पृथ्वी में प्रवेश कराते हुवे आप दूर हो गए ॥१२॥

श्लोक—अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ ।
स्वपुरं पूनरायातौ समुद्रपरिखां नृप ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! यादवों में श्रेष्ठ वे दोनों शत्रुओं से न देखे गए अपंग अनुचरों सहित समुद्र की खाई वाली अपनी पुरी में फिर आए ॥१३॥

सुबोधिनी—ततः पुनरपि तस्य प्रवृत्तिः स्यादिति पूर्वमपि स्वेच्छयैव स प्रवृत्त इति ज्ञापयन् तेनालक्ष्यमाणावेव द्वारकां गतौ । तत्र न भगवता कश्चनाधिकः प्रयत्नः कृतः । स मा पश्यत्विति । किन्तु स्वदोषेणैव स न दृष्टवानिति ज्ञापयितुमाह रिपुणेति । दुष्टबुद्धचैव न दृष्टवान्, तत्सम्बन्धादन्यैरपि न दृष्टमिति सानुगेनेत्युक्तम् । ननु कार्यस्य सर्वस्यापि कृतत्वात् श्वेतद्वीपादावेव कुतो न गतौ, द्वारकागमने को हेतुरिति चेत्, तत्राह यदूत्तमाविति । अन्यथा यदुकुले अवतारं न कुर्यात् । अतो यादवहितार्थं स्वपुरं यातौ । पुनरायाताविस्यनेन पूर्वमुभावपि स्वयं गत्वा तान् स्थापितवन्ताविति विज्ञायते । तस्य भिन्नद्वीपत्वं कलिप्रवेशाभावाय निरूपयन्नाह समुद्रपरिखामिति । समुद्र एव परिखा यस्येति । विस्तारोऽप्यनेन सूचितः । नृपेत्यप्रतारणाय संबोधनम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—पहिले भी उसने अपनी इच्छा से ही प्रवृत्ति की थी, फिर भी वह प्रवृति करें यों जानते हुवे उसके लक्ष्य में न आवे इस प्रकार ही आप द्वारका गए, जाने में भगवान् ने कोई अधिक

परिश्रम नहीं किया, वह न देखे केवल इतना ही लेकिन उसने तो अपने दोष से ही न देखा इसको प्रकट करने के लिए कहते है कि "रिपुणा" शत्रु से अर्थात् शत्रु था इसलिए उसकी दुष्ट बुद्धि हो गई थी जिससे ही उसने न देखा इसका आशय यह है कि जो दुष्ट बुद्धि होता है वह ही भगवान् का शत्रु होता है अथवा भगवान् के शत्रु आसुरी संपत वाले होते हैं उनकी बुद्धि इसलिए दुष्ट ही होती है उस स्वयं ने तो न देखा किन्तु उसके अनुचरों ने भी न देखा क्योंकि इस दुष्ट बुद्धि के संग से उनकी बुद्धि भी वैसी हो गई थी जब भगवान् ने सब कार्य पूरे कर लिए तब श्वेतद्वीप आदि में क्यों न पधार के गए ? द्वारका में जाने का क्या कारण था यदि यों कहते हैं तो उसका उत्तर देते हैं कि "यदूत्तमो" यादवों में उत्तम है इसलिए उनकी रक्षा के वास्ते अपनी द्वारकापुरी में गए यों नहीं करते तो यदुकुल में अवतार क्यों लिया ? अर्थात् यादवों में अवतार लेकर उनका हित ही करना था इसलिए द्वारका पधारे फिर आए यों कहने का भाव यह है कि इनको द्वारका में पहिले स्थापित भी आपने ही किया था यह सिद्ध कर दिखाया है। आप द्वारका को भारत से जुदा द्वीप कहते हैं क्योंकि उसके चारों तरफ समुद्र रूप खाईयाँ हैं अतः भिन्न द्वीप है जिससे वहाँ कलि का प्रवेश नहीं हो सकता है इससे उसका विस्तार भी दिखाया है "नृप" सम्बोधन भुलावे में आपको नहीं डालता हूँ इसलिए दिया है ।।१३।।

आभास— तस्य च दुर्बुद्धिमाह सोऽपीति ।

आभासार्थ—"सोऽपि" श्लोक में उसकी दुर्बुद्धि का वर्णन करते हैं--

श्लोक— सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ ।
बलमाकृष्य सुमहन्मगधान्मागधो ययौ ।।१४।।

श्लोकार्थ— वह मागध भी उनको जला हुआ मान अपनी बड़ी सेना को खींचकर मगध देश ले आया ।।१४।।

सुबोधिनी—शब्ददोषपरिहाराय दग्धिशब्दः सप्तम्यन्तो ग्राह्यः । जरासन्धोऽपि दग्धिमध्ये प्रविष्टः। यथा भगवान् द्वारकायां प्रविष्टः, तथा सोऽपि दग्धि प्रविष्टः, परमसन्तापेन सन्तप्त इत्यर्थः। एतदपि ज्ञानकृतमेव तस्य, न क्रियया दाहो जात इति। अन्यथाग्रे पाण्डवानां यशो न स्यात्। इति मृषा मन्वानः बलकेशवावालक्ष्य। बलत्वात् ब्रह्मेशयोरप्यधिपतित्वाच्च तादृशो न तथाभूताविति मृषा मन्वानो वा। अथवा। स तु दग्ध एव। अतः परं पाण्डवकीर्त्यर्थं मृषाभूतः सकलितः, सीतावत्। ततो मृषा जरासन्धः बलत्वं केशवत्वं च मन्वानः सर्वांशेनापि नाशो भविष्यतीति विज्ञाय स्वस्य बलं सेनामाकृष्य मगधानेव ययौ। ननु स्वयं किल दग्धः, किं बलदाहेनेत्यत

आह सुमहदिति । सत्त्वेन महत्त्वेन च । तद्भगवदधिष्ठानमिति तत्स्थापनार्थं, ततो भगवतः अपगमनार्थं च, मगधानेव देशान् ययौ, यतः सोऽपि मागधः, देशदोषमात्रेणात्रशिष्ट । मत्वा तौ बलकेशवाविति पाठे स एवार्थः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—शब्द मे उत्पन्न हुए दोष को मिटाने के लिए यहाँ "दग्ध"[1] शब्द को सप्तमी विभक्ति भी माननी चाहिए यों मान कर इसका अर्थ करना कि वह जरासन्ध भी परम सन्ताप में वैसे प्रविष्ट हुआ जैसे भगवान् द्वारका में प्रविष्ट हुए यह उसका परिताप में प्रवेश ज्ञान से हुआ है, न कि क्रिया से दाह हुआ है. नहीं तो आगे पाण्डवों का यश नहीं बढ़ता बलरामजी और कृष्णचन्द्र को न देख कर जल गये, ऐसा जो उसने समझा वह उसका समझना झूठा था क्योंकि शक्तिमान होने से जो ब्रह्मा और शिव के अधिपति हैं वेसे आग से जल नहीं सकते हैं इसलिए इसने यह जलना झूठ ही समझा अथवा वह[2] स्वयं तो जला ही है इसके अनन्तर वह झूठा चिल्लाना सीता को तरह पाण्डवों के कोर्ति के वास्ते है इसके बाद जरासन्ध ने इनका 'बलपना' और 'केशवपना' झूठा समझा यों मान लिया कि इनका सर्व तरह नाश हो गया है, अतः अपनी सेना को लेकर मगध को गया जरासन्ध स्वयं तो सन्ताप से जला किन्तु सेना को जलाने से क्या ? इस शंका का निवारण करते हैं कि वह सेना बलशाली तथा महत्व वाली थी इसलिए उसको भी सन्ताप हुआ जिससे वह भी स्वयं सन्ताप से जलने लगी जरासन्ध मगध देश को क्यों गया ? मथुरा क्यों न आया और आकर लड़ाई से उस पुरी को नाश क्यों नहीं किया ? इस शंका का निवारण करते हैं कि भगवदिच्छा से उसकी बुद्धी ऐसी हो गई कि यह मथुरा भगवान् का रहने का स्थान है, वह कायम ही रहे और यहाँ भगवान् पधारे नहीं इसलिए मगध देश को चला गया क्योंकि वह भी मागध है उसमें देश का ही मात्र दोष रहा है ।

"मत्वा तौ बलकेशवौ" यदि श्लोक में पाठ लिया जावे तो भी यही अर्थ होगा ॥१४॥

आभास—एवं तामसस्य रुद्रादेः वाक्यपरिपालनं निग्रहं वा विधाय स्त्रीणामुद्धारार्थे कृपया विवाहादिकं कृतवानिति वक्तुं ज्येष्ठस्य बलभद्रस्य विवाहमाह आनर्ताधिपतिरिति ।

१—"दग्धौ" दग्ध शब्द सप्तमी और क्रिया पद दोनों हो सकते हैं ।

२—जरासन्ध संताप से जलगया ।

आभासार्थ—इस प्रकार तामस रुद्र आदि के वाक्य का पालन अथवा निग्रह कर स्त्रियों का उद्धार करने के लिए कृपा कर विवाह आदि किए, यह कहने के लिए पहिले बड़े भ्राता बलदेवजी का विवाह "आनर्त" श्लोक में कहते है।

श्लोक—**आनर्ताधिपतिः श्रीमान्रेवतो रेवतीं सुताम् ।**
ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद्बलायेति पुरोदितम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—आनर्त देश के स्वामी, श्रीमान् रेवत ने अपनी रेवती नाम वाली कन्या को बलरामजी को दी क्योंकि ब्रह्मा ने पहिले ही इसको आज्ञा की थी ॥१५॥

सुबोधिनी—आनर्तदेशः द्वारिकानिकटदेशः। तस्याधिपतिः रैवतः। श्रीमानिति। अमृत एव। रेवतीनाम तस्य कन्या, स हि पूर्वं ब्रह्माणं प्रष्टुं गतः। ततो ब्रह्मवाक्यात् कनिष्ठायापि रामाय दत्तवान् इति पुरा नवमस्कन्धे निरूपितम्। अस्य विचारस्तत्रैव कृतः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—द्वारका के समीप वाले देश को आनर्त देश कहा जाता है उसका स्वामी रेवत था "श्रीमान्" से बताया कि वह अमृत ही था उसका कन्या रेवती नाम वाली थी वह पहिले ब्रह्मा से पूछने गया कि मैं अपनी कन्या किस को दूँ ? तब ब्रह्मा ने कहा कि यह बलरामजी को दो इस लिए छोटा होते भी राम को दी यह आगे नवम स्कन्ध में निरूपण हुआ है इसका विचार वहाँ ही किया है ॥ १५ ॥

आभास—**भगवतो विवाहमाह भगवानपीति ।**

आभासार्थ—"भगवानपि" इस श्लोक में भगवान् का विवाह कहते हैं।

श्लोक—**भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह ।**
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे कुरुद्वह गोविन्द भगवान् ने भी स्वयंवर में लक्ष्मी की अंश रूप विदर्भ देश में उत्पन्न भीष्म की कन्या से विवाह किया ॥१६॥

सुबोधिनी—ननु स्वतःसिद्धलक्ष्मीकस्य निरिन्द्रियस्य प्रयोजनाभावात्किं विवाहेनेत्याशङ्क्य परिहरति । यद्यपि भगवान्, तथापि गोविन्द इति इन्द्रादिभिरिन्द्रत्वेनाभिषक्ति इति तेषां वाक्यसिद्ध्यर्थमुपयेमे, विवाहं कृतवान्, न तु गोपिकावत्परिग्रहमात्रम् । कुरूद्वहेति संबोधनं भगवत्स्वरूपज्ञानाय । ननु तथापि कर्मणा उत्पादिता कर्मफलरूपा तादृशकर्मकर्त्रैव विवाह्येति कथं भगवता विवाहः कृत इति चेत्, तत्राह वैदर्भीमिति । विदर्भदेशे सोत्पन्ना । अतो न कर्मजनिता । किञ्च । भीष्मकस्य सुता, भीष्मं भयानकं कं सुखं यस्येति । प्रलयकर्ता महादेव एवावतीर्णः, तस्य च सुता सीता पूर्वजन्मन्यप महादेवकन्यैव, सैवेदानीं भीष्मकाज्जाता । अतो विवाहः कर्तव्य एव । किञ्च श्रियो मात्रामिति । सा हि लक्ष्म्याः मात्रा भवति अंशः, नहि तामन्यो ग्रहीतुं शक्तः । सा ह्यवतरति यथा, यथा भगवानवतरति । 'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनी'त्यादिवाक्यात् । तत्रापि स्वयंवरे यदा सर्व एव राजान आहूताः, तदा भगवानप्याहूतः । यदा तया भगवान् वृतः, ततस्तदिच्छया विवाहं कृतवान् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—जिसके यहाँ लक्ष्मी स्वतः ही सिद्ध है और जो स्वयं इन्द्रियों से रहित है उसको विवाह करने का कोई प्रयोजन नहीं फिर उन्होंने विवाह क्यों किया ? हालांकि भगवान् है तो भी गोविन्द है, क्योंकि इन्द्र आदि ने आपका इन्द्रपन से अभिषेक किया है उनका वाक्य सत्य होवे इसलिए विवाह किया है नहीं कि गोपिकाओं की तरह केवल परिग्रह "अंगीकार" ही किया है, राजा को "कुरुद्वह" सम्बोधन से यह जताया कि आपको भगवान् के स्वरूप का ज्ञान है यह कर्म से उत्पन्न हुई है कर्मों का फल रूप यह है इसलिए इसका विवाह भी वैसे कर्म करने वाले के साथ ही होना चाहिए भगवान् से इसका विवाह कैसे ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि वह विदर्भ देश में उत्पन्न हुई है अतः इसका जन्म कर्म से नहीं हुआ है और भीष्मक की कन्या है और भीष्मक रूप में प्रलय कर्ता महादेव ने ही अवतार लिया है उसकी यह कन्या है सीता पूर्व जन्म में महादेव की कन्या थी वह ही अब भीष्मक की कन्या हुई अतः विवाह करना चाहिए और विशेष यह भी है कि यह लक्ष्मी का अंश भी है इसलिए इसको दूसरा कोई ले नहीं सकता है जैसे भगवान् अवतार लेते हैं वैसे ही यह भी अवतार लेती है "राघवत्वे भवत्सीता रुक्मिणी कृष्ण जन्मनि" जब भगवान् राम रूप से प्रकट होते हैं तब यह सीता रूप से प्रकट होती है और जब भगवान् कृष्ण रूप से प्रादुर्भूत होते हैं तब यह रुक्मिणी होती है उसमें भी स्वयंबर के समय में जब सब राजा जैसे बुलाए गए वैसे भगवान् भी बुलाए गए वहाँ भगवान् को रुक्मिणी ने स्वयं वरा अनन्तर उसकी इच्छा से विवाह किया ॥१६ ।

श्लोक—प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् ।

पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव ॥१७॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल और उसके पक्षपाती शाल्व आदि राजाओं का बध कर जैसे गरुड़ ने सुधा ली वैसे आप सर्व लोकों के देखते हुए रुक्मिणी को ले आए ॥१७॥

सुबोधिनी—किञ्च, प्रमथ्य तरसा राज्ञ इति। सर्वानेव शिशुपालादीन् प्रमथ्य मारयित्वा जयप्राप्तामिव तां नीतवान्। शाल्वादयोऽतिविरोधिना बलिष्ठाश्च। तैः सह युद्धे विशेषहेतुमाह चैद्यपक्षगानिति। 'स्वयंवरेऽपि शिशुपालाय यथा भविष्यति, तथा कर्तव्य'मिति रुक्मिवाक्यात् विवाहकर्तेव शिशुपालः समागतः। अतस्तद्धितार्थमपि शाल्वादयः प्रवृत्ताः। मुख्यो भगवद्विरोधो शिशुपालः। अन्येऽपि विरोधिनः यथाकथञ्चिद्भगवद्विरोधं सम्पादयन्तु तत्पक्षपातिनो जाता इति। किञ्च। प्रद्युम्नादयोऽप्युत्पाद्याः। अतः कामः सङ्कटे वर्तत इति तदुत्पत्त्यर्थमप्युपयेम इत्याह पश्यतां सर्वलोकानामिति। यथा मातुरापन्निवृत्त्यर्थं गरुडः अयुक्तेभ्योऽप्यमृतं दातुं प्रवृत्तः, तथा भगवानपि कामस्य दुःखनिवारणार्थं वैदर्भीं अयुक्तामपि स्वयं गृहीतवान्, मारितवांश्चान्यान्। यद्ययुक्तमेतद्भवेत्, तदा लोकाः साक्षिण इति तान् प्रमाणीकरोति। एवं सर्वप्रकारेण भगवतो विवाहो निरूपितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—और विशेष "प्रमथ्य तरसा राज्ञः" श्लोक में कहते हैं-कि शिशुपाल से लेकर सब को मार कर जीत कर प्राप्त की हुई वस्तु की भाँति उसको ले गए, शाल्व आदि राजा बहुत विरोधी तथा बलिष्ट भी थे उनके साथ लड़ाई करने में विशेष कारण है वह कहते हैं-"चैद्यपक्षगान्" वे शाल्व आदि शिशुपाल के पक्षपाती थे स्वयम्बर के समय में भी शिशुपाल के लिए जैसा योग्य होगा वैसे करना योग्य है अर्थात् करना चाहिए रुक्मी के कहने से शिशुपाल वर की भाँति आया अतः उसके हित करने के लिए भी शाल्व आदि प्रवृत हुए हैं।

भगवान् का मुख्य शत्रु शिशुपाल है दूसरे विरोधी भी भगवान् से कुछ विरोध करने के लिए उसके पक्षपाती बने हैं और विशेष यह है कि भगवान् को प्रद्युम्न आदि को उत्पन्न करना है इस कारण से तथा काम संकट में है उसके संकट को नष्ट करने के लिए उसकी उत्पत्ति करनी थी इस लिए भी आपने विवाह किया वह विवाह सर्व लोगों के देखते हुए किया, जैसे माता की आपदा मिटाने के लिए गरुड़ ने अयोग्यों को भी अमृत पिलाया वैसे भगवान् ने काम की पीड़ा को काटने के वास्ते अयोग्य भी वेदर्भी को आपने स्वीकार किया और दूसरों को मारा, जो यह अयोग्य हो तो ये सर्व लोक साक्षी हैं उनको साक्षी बना कर विवाह किया है यों कहने का आशय यह है कि विवाह अयोग्य नहीं यदि अयोग्य होता तो जनता उसकी निन्दा करती अथवा रुकावट डालती यों नहीं किया जिससे सिद्ध है कि विवाह अयुक्त नहीं है यों सर्व प्रकार भगवान् के विवाह का निरूपण किया है ॥ १७ ॥

आभास—तत्र राजा विवाहे पौरुषं श्रोतुं विशेषं पृच्छति भगवान् भीष्मक-सुतामिति ।

आभासार्थ—इस प्रसंग में राजा, भगवान् ने जो विशेष पौरुष दिखाया उसको सुनने के लिए "भगवान् भीष्मकसुतां" श्लोक में पूछता है।

राजोवाच

श्लोक—भगवान्भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् ।
राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने सुन्दर मुख वाली भीष्मक की कन्या रुक्मिणी से राक्षस नियमानुसार विवाह किया ऐसा सुना है ॥१८॥

सुबोधिनी—भगवतो विवाहः बहुधा पुराणेषु श्रुतः । ततो राजा स्वयंवरविवाहात्प्रकारान्तरेण श्रुतवान्, तत्र च पौरुषमधिकमिति, तद्भवति वा नवेति सन्देहनिवृत्त्यर्थं पृच्छति । भगवत्त्वान्नाज्ञानम् । भीष्मकसुतामिति पितुरपि बलिष्ठता । रुक्मिणीमिति भगवतो मुख्यभार्येति प्रसिद्धा । ततश्च 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृता'विति प्रथमो विवाहो धर्म्यः कर्तव्यः । अन्यो धर्मित्वार्थं राक्षस एव विवाहः भगवता कृत इति स एव त्वया वक्तव्य इत्याह राक्षसेन विधानेनेति । रुचिराननामिति तस्या मुग्धभावो निरूपितः । ततश्च राक्षसे विवाहे सा कथमनुगुणा अभीतागतेत्यपि सन्देहः । 'प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यत'इति विधिशब्दः परस्वहरणलक्षणदोषव्यावृत्त्यर्थः । यथा विवाहः दाने अदुष्टः, एवं हरणेऽपि क्षत्रियस्येतिज्ञापनार्थः । श्रुतमिति प्रमाणमुपन्यस्तम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ-पुराणों में सुना है कि भगवान् ने अनेक प्रकार से विवाह किए हैं इस कारण से राजा ने जसे स्वयंवर में विवाह हुवा उससे दूसरे नमूने के विवाह सुने हैं उसमें पराक्रम अधिक सुना, वह हुवा है वा नहीं हुवा है इस सन्देह को मिटाने के लिए राजा पूछता है षड्गुण सम्पन्न होने से भगवान् में अज्ञान भी नहीं है भीष्मक की कन्या है इसलिए पिता भी बलिष्ट है रुक्मिणी भगवान् की भार्याओं में से मुख्य भार्या है पहिला विवाह है तो धर्मानुसार करना चाहिए इस कारण से भगवान् ने पहिला विवाह अपना धर्म्मीपणा सिद्ध करने के लिए धर्मानुसार ही किया है यह हो आप मुझे बताना कि वह धर्म्य विवाह जो "राक्षस विधि" के अनुसार किया वह किस प्रकार किया क्षत्री के लिए गान्धर्व और राक्षस विवाह धर्म्मानुकूल है जेसा कि कहा है "गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ"

रुक्मिणी का विशेषण "रुचिराननाम्" देकर उसका मुग्द भाव प्रकट किया है राक्षस विवाह में वह निर्भय होकर कैसे आ गई ! यह भी सन्देह है "प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधिरुच्यते" जबरदस्ती से कन्या को हरण कर ले आना राक्षसों की विधि है दूसरे का धन वा स्त्री हरण कर लाना तो दोष है फिर भगवान् ने यह दोष कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि दोष नहीं है क्योंकि क्षत्रियों के लिए इस प्रकार कन्या हरण कर ले आना दोष नहीं है क्योंकि क्षत्रियों के लिए वह विधि है विधि होने से दोष नहीं है जैसे पराई कन्या से जो विवाह किया जाता है वह इसलिए दोष रहित है जो माता पिता विधिनुसार अपनी कन्या वर को दान कर देता है इस प्रकार हरण में भी क्षत्रि को दोष नहीं है "श्रुतम्" सुना है यह पुराण प्रमाण में दिया है ॥१८॥

आभास—अतस्तत्र प्रकारं पृच्छति भगवन् श्रोतुमिच्छामीति ।

आभासार्थ—अब राजा उस प्रकार "भगवन् श्रोतुमिच्छामि" श्लोक में पूछता है–

श्लोक— **भगवन् श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः ।**
यथा मागधशाल्वादीञ्जित्वा कन्यामुपाहरत् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे भगवान् जिनके तेज का अन्दाजा कोई नहीं लगा सकता वैसे श्रीकृष्ण के उस चरित्र को सुनना चाहता हूँ जिसमें मगध शाल्व आदि को जीत कर जैसे कन्या को वे ले आए ॥१९॥

सुबोधिनी—अनेनाग्रे वक्ष्यमाणा कथा अध्यात्म्यात्मिका न समाधिभाषेति सूचितम् । अन्यत्र श्रुतमेव कल्पान्तरीयमपि योगानुभावेन वक्तव्यमिति प्रश्नात्, अन्यथा स्वतन्त्रवक्तुः किं पूर्वश्रुतप्रकारकथनेनेति । अतः श्रोतुरनुरोधात्कल्पान्तरीयमपि गान्धर्व राक्षसगौधभेदेन त्रिधा त्रिभिरध्यायैर्वक्ष्यति । तेनात्र प्राप्तं दूषणत्रयं परिहृतं भविष्यति । भगवान् कपटेन गत्वा अदत्तां हृतवानिति, तस्या भ्रातुर्मुण्डनं कृतवानिति, बलभद्रेण बोधित इति रुक्मिण्याश्च लज्जाभावेनापरिचितभगवत्प्रार्थनेति । एवं सति रसात्मको विवाहो न भवेत् । भक्तिरसो हि शृङ्गारादीनामुपमर्दकः । अतः समाधिभाषाविवाहः स्वयंवर एव । अन्यस्तु मतान्तरीय इति निश्चयः । ननु अप्रस्तुतं किमिति वक्ष्यतीति चेत्, तत्राह श्रोतुमिच्छामीति । इच्छा पूरणीयेति तदर्थं वक्ष्यति । किञ्च, इयमपि कथा कृष्णस्य । अमितं तेजो यस्येति । पराक्रमाधिक्याच्च तद्वक्तव्यम् । क्षत्रियाणां हि क्षात्रप्रकारेण निरूपितं भगवच्चरित्रं मनोहारि भवति । तदाह यथा

मागधशाल्वादीनिति। मागधोऽपि जयं प्राप्त इति स निरूप्यते। शाल्वः सात्त्विको महांश्च। एवं जयेन स्वभावेन च महान्तौ आदिभूतौ येषामिति जयशीलवीरजयो भगवत्कृतः श्रोतव्य इति निरूपितम्। तत्राप्येक एव स्वयं तान् जित्वा स्वयं कुशलेन पुरं द्वारकामभ्यगादिति। तदप्येकस्मिन्कल्पे, तत्सर्वथा विरुद्धं मन्वानः शुको नोक्तवान्, तदा तु भगवानपि समाहूतो गतः। वरणात्पूर्वमेव बलात्तां हृत्वा सर्वान् विनिर्जित्य एकाकी स्वयं गृहं गत इति कथा भवति। तत्र यद्यपि पौरुषं महत्, तथाप्यत्यन्तं क्लिष्टकर्मत्वं भवतीति तन्नोक्तवान्। तामसकल्पे हि तथा कथा। अत एव शिशुपालो वक्ष्यति 'समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्त' इति। अक्लिष्टकर्मत्वं च वक्तव्यम्। अतो यावता तदुपयुज्यते, तावद्वक्तव्यमिति राक्षसो विवाह उक्तः, नत्वेकाकिहरणम्। अनेनेवं ख्यापितम्। पृष्टमयुक्तं चेत्, न वक्तव्यमिति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—यों कहकर यह बता दिया कि आगे तीन अध्यायों में जो कथा आने वाली है वह समाधि भाषा नहीं है क्योंकि प्रश्न ही इस प्रकार किया है हुई दूसरी जगह सुनी हुई दूसरे कल्प की भी योग के अभाव से कहिए यदि यों न होता तो स्वतन्त्र कहने वाले को यह कह देने की आवश्यकता ही नही थी कि पूर्व सुने हुवे प्रकार से कहिए अतः सुनने वाले के आग्रह से दूसरे कल्प को भी गान्धर्व राक्षस और वैदिक विधि के भेद से तीन प्रकार तीन अध्यायों से कहेंगे उससे यहाँ दिए हुए तीन दूषणों का भी परिहार हो जाएगा १—भगवान् कपट से जा कर जो पिता आदि ने दो न थी उसका हरण कर लाए २—बलभद्र के समझाने से उसके भाई का मुण्डन किया ३—और रुक्मिणी ने लज्जा त्याग कर बिना पहचान वाले भगवान् को पत्र द्वारा प्रार्थना की इस प्रकार होने से विवाह रस रूप नहीं होता है भक्ति रस श्रृंगार रस आदि रसों का उपमर्दन करने वाला है अतः समाधि भाषा विवाह स्वयं-वर ही है दूसरे प्रकार का विवाह अन्य मत के है यह निश्चय है जिसका प्रसंग ही नहीं है वह क्यों कहा जाएगा ? यदि ऐसा कहो तो उत्तर में कहते हैं कि सुनने वाले की जैसी इच्छा है सुनने वाले की इच्छा पूर्ण करनी चाहिए इसीलिए कहेंगे विशेष में यह कथा भी श्रीकृष्ण की ही है अधिक पराक्रम के कार्य होने से वह कहना चाहिए क्षत्रिय प्रकारानुसार वर्णन करने से भगवान् के क्षत्रिय चरित्र मन को हरण करने वाले होते हैं शिशुपाल ने बहुत युद्धों में जय पाई हैं शाल्व और सात्विक भी महान् है इस प्रकार जो जय से और स्वभाव से आदि में ही जैसे वीर हैं उनको जीतना यह भगवान् का किया हुआ चरित्र श्रवण योग्य है इसलिए निरूपण किया है इसमें भी आप अकेले वे बहुत उनको जीतकर आप कुशल पूर्वक अपने पुर द्वारका में आ गए वह भी एक ही कल्प में वह सर्वथा विरुद्ध जानकर शुकदेवजी ने नहीं कहा तभी तो भगवान् भी बुलाए हुवे गए थे वरण से पहिले ही बल पूर्वक उसका हरण कर सब को जीतकर अकेले आप ही घर गए यों कथा बनती है यद्यपि इसमें भगवान् का महान् पौरुष दिखता है किन्तु तो भी अत्यन्त क्लिष्ट कर्म होने के कारण शुकदेवजी ने नही कहा है यह ऐसी कथा तामस कल्प में हुई है इस कारण से ही जितना वह योग्य बन सकता है जितना ही कहना चाहिए इसलिए राक्षस विवाह कहा नहीं कि अकेले हर ले जाना इससे इस प्रकार प्रसिद्ध किया जो मैंने पूछा वह योग्य न हो तो मत कहिए ॥१८॥

आभास—ननु कथा भगवतो महती वक्तव्या, ततश्च अत्यावश्यककथैव श्रोतव्येति चेत् तत्राह ब्रह्मन् कृष्णकथा इति ।

आभासार्थ—भगवान् की कथा तो वह कहनी चाहिए जो उत्तम होवे और जो अति आवश्यक सुनने जैसी हो वह ही सुननी चाहिए यदि यों कहो तो उसका उत्तर "ब्रह्मन् कृष्ण कथाः" श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**ब्रह्मन्कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः ।**
को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् भगवान् कृष्ण की कथाएँ पवित्र मधुर और जगत के मल को दूर करने वाली है तथा नित्य नवीन है इसलिए जो सुनकर उसके तत्व को जान लेता हे वह सुनते हुवे तृप्त नहीं होता है अर्थात् कथा के सार रूप रस को जानने वाला कौन ऐसा है जो तृप्त होवे ? कोई नहीं ॥२०॥

सुबोधिनी—ब्रह्मन्निति ज्ञानमुक्तम् । कृष्णकथात्वात् कीर्तने श्रवणेऽपि वैराग्याभाव उक्तः । किञ्च । प्राणिनो हि धर्मार्थकाममोक्षेप्सवः । तत्र कृष्णकथाश्चतुर्णां प्रतिरूपा इत्याह । पुण्या इति धर्मरूपाः । माध्वीरिति कामरूपाः । लोकानां मलं दारिद्र्यवत् कश्मलरूपं हरन्तीति लोकमलापहाः । एवं त्रिवर्गरूपा इति तदभीप्सुः को नु तृप्येत । नु इति वितर्के । न कोऽप्यत्र विरक्त इति भावः । तर्हि कथं सर्वे न प्रवर्तन्त इति चेत्, तत्राह शृण्वान इति । सकृच्छ्रुत्वापि निवर्तन्त इति चेत् । श्रुतज्ञ इति । वर्तमानप्रयोगेण निरन्तरश्रवणे प्राप्तेऽपि श्रवणरसिकोऽत्र मुख्य इति श्रुतं जानाति । रसिकत्वे नेति श्रुतज्ञ उक्तः । रसज्ञ इति पाठे तु स्पष्ट एव । किञ्च । नित्यनूतनाः अयातयामाः कालग्रासरहिताः । तेन मोक्षरूपा अपीत्युक्तम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन से यह बताया कि आप ज्ञानवान हो इस तत्व को जानते हैं कि यह कथा "ज्ञान" रूप है श्रीकृष्ण की कथा होने से इसके कीर्तन में और श्रवण में किसी को भी वैराग्य नहीं होता है, अर्थात् सब प्रकार के देवी जीव सुनने की इच्छा करते हैं, क्योंकि प्राणी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ को अभिलाषा वाले होते हैं और कृष्ण की कथाएँ चारों पुरुषार्थो की ही मूर्ति हैं, "पुण्याः" विशेषण से उसका धर्म रूप कहा है "माध्वी" विशेषण से काम रूप है जैसे अर्थ दरिद्रता मिटाता है, वैसे ये कथाएँ लोकों के कश्मल रूप दारिद्र्य को मिटाती है अतः अर्थ रूप है इस प्रकार त्रिवर्गरूप हैं, इनकी इच्छा वाला कौन ऐसा है जो तृप्त

होगा अर्थात कोई भी इससे विरक्त न होगा, यदि यों है तो सब क्यों नहीं इसमें प्रवृत होते हैं ? एक बार सुनकर निवृत हो जाते है यदि यो कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि वे निवृत हो जाते है जो सुने हुवे चरित्र के रस को नहीं समझते और जो समझते हैं वे विरक्त नहीं होते हैं उनकी ही इसमें प्रवृत्ति बनी रहती है इसलिए कहा है "श्रुतज" वर्तमान प्रयोग देकर यह बताया है कि यदि निरन्तर श्रवण का अवसर प्राप्त होते हुवे भी वह श्रवण का रस जानने वाले ही मुख्य श्रोता होता है इन कथाओं को काल अपना ग्रास नहीं बना सकता इसलिए मोक्ष रूप भी है ॥२०॥

आभास—एवं राज्ञः श्रवणोत्सुक्यं दृष्ट्वा स्वयोगबलेनैव दृष्टमिति अन्यतः श्रुतत्वमनुक्त्वापि कथामेवारभते राजासीदिति ।

अभासार्थं—इस प्रकार राजा को श्रवण की उत्सुकता देख कर अपने योगबल से ही जो देखा वही कथा प्रारम्भ करते हैं दूसरे से सुनी हुई नहीं कहते है "राजसीत्" श्लोक से प्रारम्भ करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—राजासीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान् ।
तस्य पञ्चाभवन्पुत्राः कन्यैका च वरानना ॥२१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि विदर्भ देश का महान् राजा भीष्मक नाम वाला था जिसके पांच पुत्र और एक सुन्दर कन्या थी ॥२१॥

सुबोधिनी—आसीदित्येषा पुरावृत्तकथेति निरूपितम् । भीष्मक इति नाम प्रसिद्धयर्थे । तस्यान्यत्र स्थित्यभावाय तुल्यधर्माः सर्वे त एवेति निर्दिशति विदर्भाधिपतिरिति । महानिति महत्त्वेन सत्यादयो गुणाः एकचत्वारिंशदतिदिष्टाः । अयमर्थः पूर्वस्माद्विशिष्टः । 'अभ्रातृमती न विवाह्ये'ति तदर्थं भगवतः पञ्चपर्वाविद्यायाः पञ्च देवाः मायाकार्यरूपाः लक्ष्म्या अप्यग्रे उत्पन्ना इति तान् निरूपयति तस्य पञ्चाभवन्पुत्रा इति । 'मायया मे विनिर्मिता' इति । 'रमापि रूपं वव्रे द्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति माया' मिति लक्ष्म्या मायारूपत्वात् मायाकार्यत्वाच्चाविद्यायाः तत्सहिता माया तत्र प्रादुर्भूता । अतएव सा जीवमेव व्याप्नोतीति मायामपि जीवपरां कर्तुं रुक्मी विचारितवान् । अत एव रुक्मिण्या रुक्मिप्रभृतिषु पक्षपातः, भगवत्कृते अपरितोषश्च । स्वरूपाज्ञाने निराकृते पश्चान्निरोधः फलिष्यतीति । भगवदीयेषु तस्य प्रतिष्ठाभावाय मुण्डितवान् । तस्य भीष्मकस्य पञ्च पुत्रा अभवन्, एका च कन्या । वराननेति । लोके सौन्दर्यं प्रशस्तमिति सौन्दर्यं मुग्धभावं च निरूपयन्नाह । दया च मुग्धभावे निरूपिता ॥२१॥

व्यायार्थ--"आसीत्" क्रिया पद से बताया कि यह पूर्व समय की कथा है "भीष्मक" नाम प्रसिद्धि के लिए दिया है वह दूसरे स्थान[1] पर नहीं रहते थे उसके साथ वाले सर्व तुल्य धर्मा हैं, इसलिए विदर्भ देश का स्वामी कहा है "महान्" विशेषण से यहाँ दिखाया है कि इसमें सत्य आदि ४१ गुण हैं यह अर्थ[2] पहिले से विलक्षण है, "अभ्रातृमती न विवाह्या" जिस को भाई न हो उससे विवाह नहीं करना चाहिए इस कारण से भगवान् के पञ्चपर्वात्मक अविद्या के माया कार्य रूप पांच देव लक्ष्मी से प्रथम उत्पन्न हुए यों उनका निरूपण करते हैं उसको पांच पुत्र हुए "मायया मे विनिर्मिता:" इस वाक्य के अनुसार रमा ने भी मानो दूसरा रूप धारण किया जिसको "माया" कहते हैं इस प्रकार लक्ष्मी माया रूप है और माया का कार्य अविद्या है, उस समेत माया वहाँ प्रकट हुई है, इस कारण से ही वह जीव को पकड़ती है, इसलिए रुक्मि ने माया रूप का जीव से सम्बन्ध कराने का विचार किया अत: रुक्मिणी का रुक्मी आदि में पक्षपात था और भगवान् के लिए सन्तोष नहीं था जब रुक्मिणी का अपने स्वरूप का अज्ञान मिटा कर ज्ञान होगा तब निरोध फलेगा भगवदीयों में रुक्मी की प्रतिष्ठा का अभाव हो इसलिए उसका मुण्डन किया उस भीष्मक को पांच पुत्र हुए और एक कन्या हुई वह ऐसी सुन्दर थी जो लोक में उसके सुन्दरता की प्रशंसा करते थे तथा "दया"[3] पद से उसके मुग्ध भाव का भी निरूपण किया है ।।२१।।

आभास—तान् नामतो निर्दिशति रुक्म्यग्रज इति ।

आभासार्थ—उन पांचों पुत्रों के नाम "रुक्म्यग्रजो" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः ।
रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती ।।२२।।

श्लोकार्थ—सबसे बड़े भाई का नाम रुक्मी फिर रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और पांचवा रुक्ममाली था इनकी बहिन सती रुक्मिणी थी ।।२२।।

१—भीष्मक महादेव का अवतार है जिससे उसका कर्म से सम्बन्ध नहीं है तथा उसके साथी भी कर्म सम्बन्ध रहित हैं इसलिए वह अन्यत्र नहीं रहता है ।

२—पहले का विवाह समाधि भाषा है यों कह कर वहाँ "वैदर्भी" नाम देने से बताया कि उसके पिता भीष्म का कर्म से सम्बन्ध नहीं है यह उसकी महानता विशेष रूप से दिखाई है ।

३—बहिन दया की मूर्ति है इस उक्ति के अनुसार भ्राताओं के निरूपण के साथ बहिन का निरूपण करने मे उसका "दयारूप" कहा ।

सुबोधिनी कलेः स्थानं पञ्चात्मकं सुवर्णमिति तन्नामानः सर्व एव। अत एवाग्रे भगवान् वक्ष्यति 'तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ती'ति। अग्रजो ज्येष्ठः रुक्मी सुवर्णसदृशः, वस्तुतो नाम तथा योगं नापेक्षते। रुक्मरथ इति द्वितीयः। रुक्मबाहुस्तृतीयः। अनन्तर इति त्रयाणामेकप्रकृतिकत्वम्, अन्येषां रुक्मिणासहितानां भिन्नप्रकृतिकत्वमिति त्रयाणां निरूपणानन्तरमुक्तम्। अनन्तरमिति सर्वत्र सम्बध्यते। रुक्मकेशश्चतुर्थः। रुक्ममाली पञ्चमः। एतेषां योगानुसारेणाप्यर्थः स्वयमूह्यः। एषां स्वसा एकमातृका प्रियभगिनी च रुक्मिणी। यथैते दुष्टाः, तथा सापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह सतीति ॥२२॥

व्याख्यार्थ – कलि के रहने का स्थान स्वर्ण है, वह पञ्च रूप होता है, अतः ये पांच भी उसके नाम वाले। इसलिए भगवान् आगे कहेंगे कि 'तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति" इसी कारण से बहुत कर धनवान् मेरा भजन नहीं करते हैं।

प्रथम जन्मा हुआ बड़ा रुक्मी सुवर्ण के समान है, सचमुच जैसा नाम है वैसे योग की अपेक्षा नहीं करता है, रुक्मरथ यह दूसरा रुक्मबाहु तीसरा ये तीन ही एक प्रकृति वाले हैं शेष दो दूसरी प्रकृति वाले हैं इसीलिए अनन्तरं पद दिया है उन एक प्रकृति वाले तीनों के नाम देने के बाद इन दो का और रुक्मिणी का प्रथक् नाम कह कर बताया है कि इनकी दूसरी प्रकृति है, रुक्मकेश चौथा और रुक्ममाली पांचवा था इनका योग के अनुसार अर्थ आप ही समझ लेना चाहिए इनकी प्यारी बहिन रुक्मिणी भी एक ही माता से उत्पन्न हुई है, अतः वह भी उन जैसी दुष्ट होगी ? इस शंका को मिटाने के लिए इसका विशेषण "सती" देकर इसकी दुष्टता का निषेध किया है॥२२॥

आभास—एवं तस्या उत्पत्तिमुक्त्वा, तस्यां भगवतः, भगवति तस्याश्च, गान्धर्वं विवाहं वक्तुं स्नेहं निरूपयति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी की उत्पति कह कर अब दो श्लोकों से भगवान् का उसमें स्नेह है उसका भगवान् में स्नेह है इसको गान्धर्व विवाह करने में हेतु वर्णन करते हैं।

श्लोक—सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः।

गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥२३॥

तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणान्विताम् ।
कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ।।२४।।

श्लोकार्थ—वह रुक्मिणी घर में आये हुए विद्वान ब्राह्मण आदि से गाए हुए श्रीकृष्ण के रूप, वीर्य, गुण और वैभवों को सुन उनको ही अपने योग्य पति समझा ।। २३ ।।

इसी प्रकार भगवान् ने भी उसको "रुक्मिणी को" बुद्धि के लक्षण, उदारता, सुन्दर रूप और शील तथा गुणों से युक्त जान अपने योग्य समझा उससे ब्याह करने का मन में निश्चय कर लिया ।।२४।।

सुबोधिनी—सोपश्रुत्येति । सा रुक्मिणी मुकुन्दस्य मोक्षदातुः स्वस्यापि पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं भगवद्गुणानेव शृणोति । कन्याया अपेक्षित रूपम्, वीर्यं क्षत्रियाणाम् । विद्यास्थानीयं यशः । कुलस्थानीयां श्रीः लक्ष्मीः शोभा च । तेन धनसमृद्धिः सर्वसमृद्धिश्च सूचिता । एवं वरे योग्यानि पञ्च रूपाण्युक्तानि । अन्तपुरस्थायाः कन्यायाः कुत एतावच्छ्रवणमित्याशङ्क्याह गृहागतैर्गीयमाना इति । य एव ब्राह्मणाः विद्ययोपजीविनो वा साधवो वृद्धाः सर्वत्राप्रतिहतगतयः तैः गीयमानाः श्रुत्वा, तमेव भगवन्तं आत्मनः सदृशं पतिं मेने ।।२३।।

भगवानपि तां सदृशीं भार्यां मेने । तत उद्वोढुमपि मनो दधे । तस्या अपि पञ्च गुणाः । एकविकलापि न ग्राह्या भवति । आदौ बुद्धिमती अपेक्ष्यते । अन्यथा गृहं विनश्येत् । स्त्रीलक्षणरहिता तु सामुद्रशास्त्रविरोधिनी भाग्यरहितैव भवति । औदार्याभावे लुब्धा सर्वमेव पुरुषार्थं नाशयेत् । रूपाभावे व्यर्थो विवाहः । शीलाभावे अधर्मं जनयेत् । अतः एते पञ्चापि गुणाः लोके प्रसिद्धिमापन्नाः यस्यां भवन्ति, सा विवाह्या । अन्वयः अव्यभिचारिसम्बन्धः । कृष्णश्चेति चकारः सदृश्यार्थं भगवानपि तादृश इत्याह । अत एव सदृशी । सम्यगुद्वाहः आहूय कन्यादानरूपः । स हि शोभाकरो भवति ।।२४।।

व्याख्यार्थ—वह रुक्मिणी, मैं फिर जन्म के चक्कर में न फसूं, इस इच्छा से मोक्षदाता भगवान् के गुणों को ही सुनती है वर में जो गुण कन्या चाहती है, वे सर्व श्रीकृष्ण में हैं ऐसा उसने सुना, १—कन्या को वर पसन्द है जिसका रूप सुन्दर होके यदि क्षत्री होवे तो वीर्य चाहिए विद्या के स्थान पर यश चाहिए और कुल के स्थान पर "श्री" लक्ष्मी चाहिए इससे बहुत धन तथा

सर्व प्रकार की समृद्धि की सूचना दी इसी प्रकार वर में जो पांच रूप चाहिए वे इनमें है यह भी बता दिया कन्या तो अन्तःपुर में भीतर ही रहती है उसने श्रीकृष्ण के गुण कहां से और कैसे सुने ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा कि "गृहागतैर्गीयमानाः" घर में जो ब्राह्मण विद्या से आजीविका करने वाले आते थे और साधु तथा वृद्ध आते थे क्योंकि उनको कहीं भी चले जाने की रुकावट नहीं थी और वे श्रीकृष्ण के गुण गान करते थे उनसे सुनती थी, गुणों के सुनने से उसने भगवान् को ही अपने योग्य पति समझा।

भगवान् ने भी उसको अपने योग्य पत्नी समझा इसी कारण से उससे विवाह करने में मन लगाया उसमें भी पांच गुण थे यदि इन पांचों से एक भी कम हो तो वह कन्या ग्रहण करने योग्य नहीं है पहिले बुद्धि वाली चाहिए यदि सयानी नहीं हो तो घर का नाश हो जाता है स्त्री लक्षणों से जो रहित है वह सामुद्रिक शास्त्र में कहे हुए गुणों से रहित होने से भाग्यहीन ही होती है स्त्री में उदारता का गुण भी चाहिए यदि वह गुण उसमें नहीं है तो लोभिन होने से सर्व पुरुषार्थों को नाश करेगी, यदि रूप नहीं है तो विवाह व्यर्थ है यदि चरित्र अच्छा नहीं है तो अधर्म को उत्पन्न करेगी अतः ये पांच गुण जो लोक में प्रसिद्ध हैं वे उसमें हो तो उससे विवाह करना चाहिए, जिसमें उपरोक्त पांच गुण मिले हुए हैं उसमें किसी प्रकार व्यभिचारि सम्बन्ध नहीं होगा "च" पद का भावार्थ यह है कि कृष्ण भी पांचों गुणों से युक्त होने से वैसा ही योग्य है अतः यह भी समान ही है उस विवाह को उत्तम विवाह कहा जायगा कन्या का पिता बुला कर कन्यादान कर देवे वह ही शोभा बढ़ाने वाला विवाह है ॥२४॥

आभास—तन्न जातमित्याह वन्धूनामिच्छतां दातुमिति ।

आभासार्थ—बान्धवों की इच्छा थी कि वहिन, कृष्ण को दी जावे किन्तु वैसा नहीं हुआ जिसका वर्णन "बन्धूनामिच्छतां दातु" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप ।
ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे राजा सब भाई तो अपनी बहिन कृष्ण को देनी चाहते थे, किन्तु कृष्ण के बैरी रुक्मी ने उससे फेर कर चैद्य राजा को देनी मंजूर की ॥२५॥

सुवोधिनी—बान्धवाः पित्रादयः कुलसम्बन्धिनः दातुमिच्छतां सताम्, यतः कृष्णः सदानन्दः, अन्ये गुणाः फलसाधकाः, अयं तु साक्षादेव फलरूप इति । तत्र रुक्मी वरत्वेन भगवन्तं निवार्य, चैद्यं शिशुपालमेवामन्यत । स्वरूपाज्ञानेन हि स्वकार्यं साधनीयम् । तत्र पूर्वजन्मनि

सीतार्थमेव रावणो हतः । तस्यामभिनिविष्टचित्त एव प्राणान् जहौ । अतो लोकविचारेण तस्मै देयेति भवति । भगिनीत्वादस्य प्राबल्यम् । नृपेति सम्बोधनं राज्ञे राजकन्या देयेति तस्याभिप्रायस्त्वया ज्ञायत एवेत्येतदर्थम् । ततो हेतोः कृष्णाद्वा निवार्य, यतः कृष्णद्विट् । न हि तस्य स्वरूपनाशको भगवान् हितो भवति । अतः शत्रूणां मध्ये मुख्य इति चैद्य एव वरत्वेन स्वीकृतः । अनेन सर्वेषामेव तत्र सम्मतिरपि जातेति सूचितम् । राजा कुलीनः, सोऽपि महानिति ॥२५

व्याख्यार्थ—पिता आदि से लेकर सब कुल के सम्बन्धी भी कृष्ण को देने की इच्छा वाले थे क्योंकि कृष्ण सदानन्द है दूसरे गुण फलों को सिद्ध करने वाले हैं ये तो साक्षात् ही फल रूप है वहाँ रुक्मी ने भगवान् वर हो यह न मान कर शिशुपाल को वररूप मान लिया, स्वरूप के अज्ञान से ही अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए वहाँ पूर्व जन्म में सीता के लिए ही रावण को मारा था उसमें पूर्ण रीति से आसक्त चित्त होने से ही रावण मरा अतः लोक विचार से उसको देनी चाहिए यों होता है। रुक्मिणी का बड़ा भाई है इस लिए उसकी प्रबलता है, हे नृप ! सम्बोधन से यह सूचित किया है कि राजा को कन्या राजा को देनी चाहिए यह इसका अभिप्राय आप जानते हो हैं इस कारण से रुक्मी ने कृष्ण से सगाई टाल कर शिशुपाल को सगाई स्वीकार करली क्योंकि रुक्मी कृष्ण का द्वेषी था उसके स्वरूप का नाश करने वाले भगवान् मित्र नहीं हो सकते हैं अतः शत्रुओं में यह मुख्य है यों समझ कर चैद्यको वरपन से स्वीकार किया, इस प्रकार कहने से सर्व की इसमें सम्मति हो गई यह भी सूचित कर दिया कि राजा कुलीन तथा महान् है ॥२५॥

आभास—तद्रुक्मिण्या अनभिप्रेतमिति स्वात्मानं भगवद्गामिनं कर्तुमियेषेत्याह तदवेत्येति ।

आभासार्थ—शिशुपाल मेरा वर हो यह रुक्मिणी को पसन्द नहीं था इसलिए अपने को भगवान् ग्रहण करे ऐसी मनमें इच्छा की और उसके लिए प्रयत्न किया जिसका वर्णन "तदवेत्यासितापाङ्गी" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम् ।
विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित्कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जब रुक्मिणी ने यह जान लिया तब वह श्याम कटाक्ष वाली रुक्मिणी बहुत उदास हुई विचार कर किसी विश्वास पात्र ब्राह्मण को कृष्ण के पास जल्दी भेज दिया ॥२६॥

सुबोधिनी—आदौ तन्निश्चित्य भृशं दुर्मना जाता । नन्वग्रे भगवत्प्रापकाणि कर्माणि कृत्वा भगवन्तं प्राप्स्यति, किमित्युद्वेग इति चेत् । तत्राह वैदर्भीति । नास्यां कर्माण्युत्पद्यन्त इति । किञ्च । असितापाङ्गी परमसुन्दरी, परमसुन्दर एव युक्ता भवति, न तु जीवे कुरूपे । अतः आदौ दुर्मना भूत्वा पश्चादुपायचिन्तायां मित्रेणैवैतत्कार्यं कर्तव्यमिति विचार्य, सर्वस्य मित्र गौर्ब्राह्मणो देवश्चेति, तत्रापि गौरज्ञा साधारणी च नात्यन्तं भगवत्पक्षपातिनी. अतो ब्राह्मण एवाप्तोऽस्मिन् कार्ये भवतीति विचिन्त्य, कञ्चिदाप्तं द्विजं गूढार्थसाधकं द्रुतं शीघ्रमेव कृष्णाय प्राहिणोत् । अर्थात् सन्देशानुक्त्वा पत्रिकां वा दत्वा ॥२६॥

व्याख्यार्थ—पहिले सुनी हुई बात का पूर्ण रीति से निश्चय कर बहुत उदास मन वाली हो गई, उदास क्यों हुई ? भगवान् के प्राप्ति को सिद्ध करने वाले कर्म कर भगवान् को वर बना लेगी चित्त की व्याकुलता करने से क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैदर्भी" है अर्थात् विदर्भ देश में उत्पन्न होने से जैसे उस देश में दर्भ उत्पन्न नहीं होते हैं, वैसे इसमें कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं और विशेष यह परम सुन्दरी है इसलिए जो परम सुन्दर हो उससे ही विवाह करना योग्य है, कि कुरूप जीव के साथ योग्य है अतः पहले उदास हुई पश्चात् विचार करने लगी कि क्या उपाय करूं ? उपाय का विचार करते ध्यान में आया कि यह कार्य तो मित्र ही कर सकेगा उससे ही कराना चाहिए यों निश्चय कर मित्र को ढूंढने लगी सब के मित्र तीन होते हैं गौ, ब्राह्मण और देव इनमें गौ तो अज्ञ है और साधारण है, भगवान् को बेहद पक्षपात करने वाली नहीं है इस कारण से इस कार्य में सत्यवक्ता विश्वास पात्र ब्राह्मण ही इस कार्य करने में सहायक होगा क्योंकि ब्राह्मण भगवान् के बेहद पक्षपाती है यों पूर्ण विचार कर किसी आप्त गुप्त कार्य को सिद्ध कर देने वाले ब्राह्मण को शीघ्र ही भगवान् के पास भेजा अर्थात् सन्देश देकर अथवा पत्र देकर उस ब्राह्मण की रवानगी की ॥ २६ ॥

आभास—तस्य बहिःकार्यमाह द्वारकां स समभ्येत्येत्यादिदशभिः ।

आभासार्थ—उस ब्राह्मण का बाहिर के कार्य का वर्णन "द्वारकां स" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः ।
अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने ॥२७॥

श्लोकार्थ—वह ब्राह्मण द्वारका में पहुँचा और दरवानों से अन्दर भेजा गया वहां सोने के सिंहासन पर विराजमान आद्य पुरुष के उसने दर्शन किए ॥२७॥

सुबोधिनी स हि निर्गुण सगुणं च कार्यं कृतवानिति स शीघ्रमेव द्वारकां समभ्येत्य, पूर्वमेव भगवदुक्तैः प्रतीहारैरन्तः कृष्णसन्निधौ प्रवेशितः, कार्यं साधयितुमागतः, मध्ये स्वपुरुषार्थमपि साधितवानित्याह अपश्यदिति। ननु दर्शनमवान्तरकार्यमेव कुतो न भवेत्, तत्राह आद्यं पुरुषमिति। सर्वस्यापि पतिदर्शनं पुरुषार्थः, तत्रापि परमः पतिः भगवान्, सर्वे प्रकृतिरूपा इति पूर्वमवोचाम। तादृशो भगवान् कार्यार्थं समागतः व्यग्र एव भविष्यतीति कथं कार्यद्वयमपि सिध्येदित्याशङ्क्याह काञ्चनासने आसीनमिति। उपविष्टत्वादव्यग्रता। सुवर्णासने चोपविष्ट इति विषयपरिग्रहः। तेन कार्यद्वयसिद्धिरिति भावः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—उस ब्राह्मण ने सगुण तथा निर्गुण दोनों कार्य किए, वह जल्दी ही द्वारका में पहुँच कर पहिले ही भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर ड्योढी वालों से अन्दर भेजा गया क्योंकि कार्य सिद्ध करने के लिए आया है। बीच में अपने पुरुषार्थ भी सिद्ध करने लगा प्रथम जाते ही दर्शन किए दर्शन करना बीच का कार्य क्यों न समझाया जाय? इसके उत्तर में कहते हैं कि "आद्य पुरुषं" दर्शन आद्य पुरुष का किया, वह सर्व के पति हैं, पति का दर्शन सब के लिए पुरुषार्थ है उसमें भी मुख्य पति भगवान् ही है अन्य सर्व प्रकृति रूप है यों आगे कह दिया है वैसे भगवान् तो कार्य के लिए आए हैं इसलिए कार्य में वहुत फसे होंगे, तो दोनों कार्य कैसे सिद्ध होंगे इसके उत्तर में कहते हैं कि वे कार्य में व्यग्र नहीं है, इसलिए स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान हैं, सोने के सिंहासन पर विराजमान् से यह भी सूचित किया है कि सर्व विषयों को भी स्वीकार किए हैं, इससे दोनों कार्य की सिद्धि होगी ॥२७।

आभास—ततस्तस्य सन्माननमाह दृष्ट्वा ब्राह्मण्यदेव इति।

आभासार्थ—अनन्तर उसके आतिथ्य सत्कार को "दृष्ट्वा" श्लोक से कहते हैं।

श्लोक-**दृष्ट्वा ब्राह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात्।**
उपवेश्यार्हयांचक्रे यथात्मानं दिवौकसः ॥२८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ब्राह्मण को देख कर अपने आसन पर से स्वयं नीचे उतर कर उसको बिठाकर वैसे उसकी पूजा करने लगे जैसे देव लोग आपकी करते हैं॥२८॥

सुबोधिनी—प्रश्नानन्तरं सन्माननायां स्त्री निमित्तं भवेत्। आर्षज्ञानेन पूजायामपि कृत्रिमत्वसम्भावना स्यात्। ततश्च तद्दोषनिवृत्तिधर्मान्तरमेवाह ब्रह्मण्यदेव इति। ब्रह्मण्यश्चासौ देवश्चेति ब्राह्मणानां हितः समर्थश्च। अतो ब्राह्मणस्य अवरुह्य देवस्येव पूजां कृतवान्।

तं प्रकारमाह । निजासनादवरुह्य, तत्र ब्राह्मण-मुपवेश्य, अर्हयामास । प्रकारविशेषजिज्ञासायां स्वधर्ममतिदिशति । दिवौकसो देवा यथा भगवन्तमिति । भगवति गृहमागते इन्द्रः स्वासने भगवन्तमुपवेश्य यावती स्वसमृद्धिः तया सर्वयैव पूजयति । एवं भगवानपि सर्वसमृद्ध्या पूजितवान् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—यदि ब्राह्मण से आने का कारण पूछ पीछे सत्कार करते तो वह सम्मान स्त्री के कारण समझा जाता यदि आर्ष ज्ञान से जानकर पूजा की होती तो वह कृत्रिम पूजा बनती इन दोषों को मिटाने के लिए दूसरा धर्म बताते हैं कि भगवान् ब्राह्मण देव हैं इसलिए भगवान् ब्राह्मण को घर में पधारते देख आसन से नीचे उतर कर देव के समान उसको पूजा करने लगे, वह प्रकार बताते हैं जब ब्राह्मण आया तब भगवान् स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान थे उसको देखते ही आसन पर से उठे और ब्राह्मण के पास जाकर उसको लेके अपने आसन पर बिठाया बादमें उसकी पूजा की विशेष जानने की इच्छा में धर्म प्रकट कर दिखाते हैं "दिवौकसो देवा यथा भगवन्तं" देव जैसे भगवान् को पूजा करते हैं जैसे कि जब भगवान स्वर्ग में पधारते हैं तब इन्द्र भगवान् को अपने घर पधारते देख अपने आसन पर भगवान् को विराजमान कर जितनी अपनी समृद्धि पास है उससे भगवान् को पजा करता है इस प्रकार भगवान् ने भी सर्व समृद्धि से ब्राह्मण का पूजन किया ॥२८॥

आभास—ततस्तस्य राज्ये प्रायेण धर्मो नास्तीति स्वदर्शनफलं तस्य ज्ञानमुपदिशतीत्याह तं भुक्तवन्तमिति ।

आभासार्थ—उसके राज्य में बहुत करके धर्म नहीं है इसलिए उसको अपने दर्शन का फल, ज्ञान का उपदेश कर देते हैं ।

श्लोक—तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः ।
पाणिनाभिमृशन्पादावव्यग्रस्तमपृच्छत ॥२९॥

श्लोकार्थ—जब उसने भोजन कर लिया और मार्ग की थकावट दूर हुई तब सत्पुरुषों की गति भगवान् उसके पास जाके हाथ से पांवों को चांपते हुए धैर्य से पूछने लगे ॥२९॥

सुबोधिनी--भोजनपर्यन्तं सर्वे उपचाराः कृताः। ब्राह्मणो हि मुख्यो भोजनप्रियः। ततो भोजनश्रमापनोदनादनन्तरं उपगम्य निकटे गत्वा। नन्वेवं ब्राह्मणमात्रे किमिति करोतीत्याशङ्क्याह सतां गतिरिति। लोकशिक्षार्थमेवं करोतीत्यर्थः। ततः पाणिना पादावभिमृशन् संविमण्यामासक्तिररित ततो व्यग्रः प्रश्नं करिष्यतीत्याशङ्क्य अव्यग्रस्तमपृच्छतेत्याह ॥२६॥

व्याख्यार्थ—भोजन पर्यन्त सब प्रकार की सेवा की ब्राह्मण को सबसे प्रिय भोजन है भोजन के श्रम के निवृत होजाने के पश्चात् समीप जाकर हाथ से पादों को चाँपते हुवे क्षुब्ध न हो के धीरज से पूछने लगे, भगवान् होकर भी साधारण ब्राह्मण का भी वैसा सत्कार क्यों करते हैं ? इसके समाधान में कहते हैं कि भगवान् सत्पुरुषों की गति हैं, और लोगों को शिक्षा देने के लिए यों करते हैं ॥२६॥

आभास ज्ञानमुपदिशति कच्चिद्द्विजवरेति पञ्चभिः।

आभासार्थ—"कच्चिद्द्विजवर" श्लोक से पांच श्लोकों में ज्ञान का उपदेश करते हैं।

श्री भगवानुवाच—

श्लोक—कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसंमतः।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा ॥३०॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे ब्राह्मण श्रेष्ठ वृद्ध पुरुषों के समान धर्म पर तू चल रहा है उसमें कोई रुकावट तो नहीं है सदा संतोषयुक्त मन से उसमें प्रवृत हो रहे हो न ? ॥३०॥

सुबोधिनी—चतुर्भिस्तस्य, एकेन तद्राज्ञः। चत्वारः पुरुषार्था ब्राह्मणस्य, राज्ञः अर्थकामौ नियतौ, मोक्षो नास्त्येव, धर्मः संदिग्धः। अतः स एव पृच्छ्यते। आदौ तस्य धर्मं पृच्छति कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ इति। द्विजवराणां मध्ये श्रोत्रियाणां मैत्री क्रियत इति श्रेष्ठत्वम्। अतः सर्वेषां मित्रभूतत्वात् तथा सम्बोधनम्। यद्यप्ययं धर्मो वर्तत एव, तथापि वृद्धसम्मतोऽपि परम्परया समागतः श्रौतः स्मार्तः वर्तते कच्चित्। किञ्च। स्वपरपीडया क्रियमाणः शुद्धो धर्मो न भवतीति उत्तरकाण्डानुरोधमप्यङ्गीकृत्याह नातिकृच्छ्रेणेति। अतिकृच्छ्रेण धर्मोऽपि धर्मो न भवतीति। तत्रापि शुद्धमनस एव धर्मो भवति, ब्राह्मणानां मनःशुद्धिः संतोष एवेति तं पृच्छति सदा संतुष्टमनस इति। सदा संतुष्टं मनो यस्य ॥३०॥

व्याख्यार्थ—चार श्लोकों से ब्राह्मण का, एक से राजा का धर्म कहते हैं ब्राह्मणों के लिए चारों ही पुरुषार्थ हैं, राजा के लिए दो अर्थ—"अर्थ और काम" मोक्ष नहीं है और धर्म सन्देह वाला है अर्थात् होवे वा न भी होवे अतः ब्राह्मण ही पूछा जाता है, प्रारम्भ में उसका धर्म पूछते हैं आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं क्योंकि आप वेदज्ञ विप्रों से मैत्री करते हैं, इस कारण से वह प्राणी मात्र के मित्र हैं जिससे वैसा सम्बोधन दिया है, यद्यपि यह धर्म तो होता ही है तो भी वह वृद्धों की राय के अनुसार परम्परा से चलता आया श्रौत और स्मार्त भी कुछ होता रहता है कि नहीं ? जिस धर्म में अपने को वा दूसरे को पीड़ा होवे वह किया हुआ धर्म शुद्ध नहीं होता है उत्तर काण्ड के अनुरोध को भी अंगीकार कर कहते हैं कि "नातिकृच्छ्रेण" बहुत क्लेश देने वाला धर्म भी धर्म नहीं है अर्थात् जिस धर्म के करने से अपने को तथा दूसरों को क्लेश होवे वह धर्म नहीं है उसमें भी जो शुद्ध मन से अर्थात् शान्त तथा सन्तुष्ट मन से किया हुआ धर्म हो धर्म है. ब्राह्मणों के मन की शुद्धि का लक्षण "सन्तोष" ही है इसलिए उससे पूछते हैं कि आप सदैव संतोष युक्त मन से धर्म पालन करते हो कि नहीं ? ॥३०॥

आभास—अर्थं पृच्छति यर्हि वर्ततेति ।

आभासार्थ—"संतुष्टो यर्हि" श्लोक में दूसरे पुरुषार्थ 'अर्थ" को पूछते हैं ।

श्लोक—संतुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् ।
अहीयमानः स्वधर्मात्स ह्यस्याखिलकामधुक् ॥३१॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही संतोष रखे संतोष के लिए अपने धर्म से न डिगने पर वह सन्तोष ही इसकी सर्व कामनाओं को पूर्ण करता है ॥३१॥

सुबोधिनी—संतोष एव ब्राह्मणानां धनं कामधेनुः, नतु लोकप्रसिद्धं धनम् । येन केनचिदिति । कर्मवशादवश्यं जीवनार्थं प्राप्यत एव । किञ्च । तावता चेत् संतुष्टः, कर्मफलदाता संतुष्टो भवतीति । असन्तोषेऽपि क्रियमाणे नाधिकं प्रयच्छति । असन्तुष्टश्च भवतीति तत्सन्तोषार्थं स्वधर्मादहीयमानः सर्वमेव स्वधर्मं कुर्वन् यर्हि वर्तेत । अनेनेयं स्थितिर्दुर्लभेति सूचितम् । स एव सन्तोषः अस्य अखिलानेव कामान् दोग्धि ॥३१॥

व्याख्यार्थ—सन्तोष ही ब्राह्मणों का कामधेनु के समान धन है लोक में प्रसिद्ध जो धन है वह ब्राह्मणों का धन नहीं है कर्म के अनुसार जीवन के लिए अवश्य जिस किसी से प्राप्त होता ही है

उससे जो सन्तुष्ट रहता है तो उस पर कर्म फल देने वाला परमेश्वर उस पर प्रसन्न होता है यदि ब्राह्मण असन्तोष प्रकट करेगा तो भी विशेष तो नही देंगे, किन्तु वह परमात्मा उस पर अप्रसन्न होंगे इसलिए उस सन्तोष के लिए अपने धर्म से न डिग कर यदि समस्त अपना धर्म पालन करता रहे तो वह सन्तोष ही उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करता है इस प्रकार सन्तोष रख कर अपना धर्म पालन न करना, ऐसी स्थिति दुर्लभ है यह भी इससे सूचित किया है ॥३१॥

आभास—**कामं पृच्छति असतुष्ट इति ।**

आभासार्थ—'असंतुष्ट" श्लोक से तीसरा पुरुषार्थ 'काम' पूछते हैं

श्लोक—**असंतुष्टोऽसकृल्लॅशानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः ।**
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ॥३२॥

श्लोकार्थ—जो असन्तोषी है वह इन्द्र भी बन जावे तो भी सदैव क्लेशों को प्राप्त होता है जो गरीब होते भी सन्तोषी है तो उसको किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता है वह सुख से नींद लेता है ॥३२॥

सुबोधिनी—कामो हि ब्राह्मणानां बाधकः, तदभावकाम एव पुरुषार्थरूपः । एवं भावे हेतुमाह असतुष्टः असकृदेव क्लेशान्प्राप्नोति । विषयाभावादिति चेत् । तत्राह सुरेश्वरोऽपीति । इन्द्रो हि परमैश्वर्यं प्राप्तवान् । कामे परमा काष्ठा । तादृशोऽपि यद्यसन्तुष्टः, क्लेशानेव प्राप्नोति । अत्रानुभवः प्रमाणम् । श्रुतिश्च 'प्रजापत आशया वै श्राम्यसी'ति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारं वदन् व्यतिरेके अनुभवमाह अकिञ्चनोऽपीति । किमपि माऽस्तु । सन्तुष्टश्चेत्, अत्यन्तं सुखी । कथमित्याकाङ्क्षायां हेतुमाह शेत इति । सुखात्मिका हि निद्रा । उभयवादिसिद्धो हेतुर्वक्तव्यः । तत्र संतुष्टः शेते, नासन्तुष्टः, प्राप्यापि राज्यम् । जागरणेऽपि हेतुमाह । सर्वाङ्गे विगतो ज्वरो यस्येति । असन्तोषे चिन्ता भवति । चिन्तायां सर्वाङ्गे तापः प्रसिद्धः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मणों की सच्ची उन्नति एवं सत्य आनन्द प्राप्ति में काम ही बाधा डालने वाला है तृष्णा का अभाव रूप काम ही पुरुषार्थ रूप है ऐसा होने में हेतु कहते हैं कि जिसको सन्तोष नहीं वह निरन्तर क्लेशो को ही पाता है यदि कहो कि धनादि न होने से सन्तोष नही होता है तो कहते है कि ऐसा नहीं है यदि तृष्णा बनी रहती है तो इन्द्र हो जावे अर्थात् इन्द्र जितनी वा इन्द्र की भी सम्पति प्राप्त हो जावे तो भी असन्तोषी ही रहता है जिससे क्लेशों को ही पाता है इसमें अनुभव

प्रमाण है "प्रजापत आशया वेश्राम्यसि" इति, अन्वय और व्यतिरेक दोनों से व्यभिचार कहते हुए, व्यतिरेक में अनुभव करते हैं कुछ भी पास न होवे तो भी यदि सन्तोषी है तो वह अत्यन्त सुखी है वह कैसे सुखी है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि, निद्रा सुख रूप है इसलिए उसे वह सुख रूप निद्रा आ जाती है जिससे वह आनन्द से नींद लेता है दोनों प्रकार के वादियों से सिद्ध हेतु कहना चाहिए इस पर कहते है कि जो सन्तोषी है वह नींद लेता है और जिसको सन्तोष नहीं है उसको राज्य भी मिल जाय तो भी शान्ति न होने से सुख की नींद नहीं आती है प्राय: वह जागता ही रहता है वह क्यों जागता रहता है इसमें कारण बताते हैं कि नीद उसको आती है जिसके अंगों में ताप नहीं होता है असन्तोष होने पर चिन्ता होने से सब शरीर में ताप रहता है जिससे नींद नहीं आती है ॥३२॥

आभास—अनेनैव ब्राह्मणानां सहज मोक्षो भवतीति कैमुत्यन्यायेनाह विप्रान्स्वलाभसंतुष्टानिति ।

आभासार्थ—सन्तोष से ही ब्राह्मणो को सहज मोक्ष मिल जाता है यह कैमुतिक न्याय से "विप्रान्स्वलाभसन्तुष्टान्" श्लोक में कहते है ।

श्लोक—विप्रान्स्वलाभसन्तुष्टान्साधून्भूतसुहृत्तमान् ।
निरहङ्कारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसासकृत् ॥३३॥

श्लोकार्थ- जो ब्राह्मण स्वयं जो कुछ मिल जावे उसमें ही सन्तुष्ट प्रसन्न हो कर रहते हैं सदाचार वाले हैं जीवों का हित ही चाहते हैं अहंकार रहित हैं, शान्तचित्त हैं वैसे ब्राह्मणों को मैं बार बार शिर से प्रणाम करता हूँ ॥३३॥

सुबोधिनी—मोक्षे आत्मलाभो ज्ञानात्मको विशेषः । साधून् सदाचारान् । भूतसुहृत्तमानिति । ब्राह्मणानां सहज आन्तरो धर्मः सर्वसौहार्दम्, अहङ्काराभावश्चाधिकः । शान्तिर्बुद्धेः । एवं पञ्चधर्मयुक्तानहं शिरसा नमस्ये, गुरुत्वेन मानयामि व्यवहारे । किञ्चित्पठित्वा तथा करोतीति पक्षं वारयति असकृदिति । सर्वदैवमित्यर्थः । यत्र मोक्षदाता एवं मन्यते, तत्र मोक्षे कः सन्देह इत्यर्थः । विशेषेण पूरका इति । षड् गुणा वा भगवत्तुल्यत्वाय निरूपिताः । ऐश्वर्ये तु न नियमेन विशेषपूरकत्वं सर्वत्र, वीर्ये न स्वलाभः, यशसि न समा दृक्, श्रिया न सर्वथा भूतसौहृदम्, ज्ञाने कचिदहङ्कारोऽपि, वैराग्ये विक्षेपोऽपि क्वचित्सम्भवतीति षण्णामप्युत्तमत्वात् स्वत एव भगवत्त्वं च सिद्धमिति नमस्य इत्यविरुद्धम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ–मोक्ष में सबसे विशेष ज्ञानात्मक आत्मा का लाभ है सदाचारी ब्राह्मणों का स्वाभाविक आन्तर धर्म सर्व भूतों से सौहार्द है अधिक अहकार का अभाव चित्तवृत्ति में शान्ति इस प्रकार से पाँच धर्मों से युक्त ब्राह्मणों को मै शिर से वार बार सदा ही नमस्कार करता हूँ व्यवहार में उनको गुरूपन से मानता हूँ कुछ पढ़कर वैसे करते हैं इस पक्ष का निवारण करते कहते हैं कि एक वार नहीं किन्तु बार बार नमन करता हूँ जहाँ मोक्ष देने वाले ब्राह्मणों को इस प्रकार मानते हैं वहां उनके मोक्ष प्राप्ति में कौनसा संदेह है ? कोई नहीं है उनमें विशेष कर पूरक छः गुण कहे हैं अथवा ये छः गुण उनकी भगवान् से समानता वतलाने के लिए कहे हैं ऐश्वर्य में तो नियम से सर्वत्र विशेष पूरकत्व नहीं है. वीर्य में अपना लाभ नहीं है यश में समान दृष्टि नहीं होती है श्री होने पर सर्व प्रकार भूतों में सौहार्द नहीं होता है ज्ञान में कभी अहंकार भी हो जाता है वैराग्य में कुछ विशेष भी कभी होता है ये छः गुण उत्तम होने से अपने आप ही भगवत्व सिद्ध होता है अतः मै नमस्कार करता हूँ इसमें कुछ भी विरुद्ध नही है ॥३३॥

आभास—तद्राज्ञः कुशलं पृच्छति कच्चिद्वः कुशलमिति ।

आभासार्थ—"कच्चिद्वः कुशल" श्लोक में राजा से तो आपको कोई तकलीफ नहीं है उसकी तरफ से सब कुशल है यह पूछते हैं ।

श्लोक—**कच्चिद्वः कुशलं ब्रह्मन्राजतो यस्य हि प्रजाः ।**
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे **ब्रह्मन्** आप राजा की तरफ से प्रसन्न हैं ? जिस राजा की प्रजा अपने राज्य में सुख से रहती है और अच्छी तरह जिस राजा से पाली जाती है, वह राजा मुझे प्यारा लगता है ॥३३॥

सुबोधिनी—वो युष्माकं राजतः कुशलं कच्चित् । ब्रह्मन्निति अपकारेऽपि स्वतस्तूष्णींभावाय । अतिक्रमे नाशाय वा । करोति चेद्राजा सुख किं तस्य स्यादित्याशङ्क्य, तादृशस्य फलमाह. यस्य हि प्रजाः सुखं वसन्ति, तेन परिपाल्यमानाः, स मम प्रियो भवति । अनेन सर्वमेव तस्य हितं सिध्यतीत्युक्तं भवति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—तुम लोगों का राजा की तरफ से तो कुशल है न ? हे ब्रह्मन् ! संबोधन अपकार होने पर भी चुप रहते हो इस गुण को दिखाने के लिए अथवा उलटा कार्य होने पर नाश के

लिए दिया है यदि राजा प्रजा को सुखी करे तो क्या होता है ? ऐसे राजा को जो जो फल मिलता है और उससे प्रजा अच्छी तरह पाली जाती है, वह राजा मुझे प्यारा है, इससे उसका सर्व प्रकार का हित सिद्ध होता है यों कह बतलाया है ॥३४॥

आभास—एवं कुशलं पृष्ट्वा प्रस्तुते त्वदुक्तं करिष्यामीत्यभिप्रायेण तत्सान्त्वनमाह यतस्त्वमागत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कुशलता पूछ कर, जो आप कार्य कहोगे वह हम करेंगे इस अभिप्राय से उसको "यतस्त्वमागतो" श्लोक से सान्त्वना देते हैं ।

श्लोक—यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया ।
सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत्किं कार्यं करवाम ते ॥३५॥

श्लोकार्थ—जिस कारण से और जिस इच्छा से आप इस दुर्ग को पार उतर कर यहां आए हैं, वह यदि गुप्त न हो तो सर्व कहिए जो कार्य करना हो वह कहदो तो आपका वह कार्य हम करें ॥३५॥

सुबोधिनी—दुर्गं सर्वमेवातिक्रम्य यस्माद्धेतोः त्वमागतः, तच्चेदगुह्यं तदा सर्वं ब्रूहि । किञ्चित्कार्यं साधनीयमिति चेत्, तत्किं कार्यमिति प्रश्नः । सर्वस्यापि जगतो मोक्षो देय इति चेत् । तत्राह ते कार्यं करवामेति । तव सर्वं कार्यं करिष्यामः, नान्यस्येति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सारे दुर्ग का उलंघन कर जिस हेतु से आप आए हैं वह यदि गुप्त न होवे तो सब कहो, यदि कुछ कार्य करना है तो वह कौन सा कार्य है ? यदि समस्त जगत को मोक्ष देना है तो भी आपका कार्य हम करेंगे, आपका सर्व कार्य करेंगे दूसरे का नही ॥३५॥

आभास—एवं पृष्टः स्वाभिप्रायं निवेदयति एवं संपृष्टेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूछने पर अपना अभिप्राय कहता है यह इस "एवं" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं संपृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना ।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—लीला से वपुधारी भगवान् ने जब इस प्रकार ब्राह्मण से प्रश्न किया तब ब्राह्मण ने भगवान् को सर्व वर्णन कर बताया ॥३६॥

सुबोधिनी—एवं संपृष्टाः संप्रश्नाः यस्मै । ब्राह्मण इति निष्कपटः । परमेष्ठिना च । ब्रह्मणोऽपि पिता । तादृशः कथमत्रागत इत्याशङ्क्याह लीलागृहीतदेहेनेति । लीलया गृहीतः प्रदर्शितो देहाकारो येन । अतो ज्ञाततत्त्वायैव तस्मै सर्वमेव वृत्तान्तमवर्णयत् । बन्धूनामिच्छतां दातुमित्यादि ॥३६॥

व्याख्यार्थ—जिस ब्राह्मण से वैसे प्रश्न किए हैं वह निष्कपट है, अतः ब्राह्मण ने जो ब्रह्मा का भी पिता है और जिसने लीला से यह देहाकार दिखाया है तथा जिसने आने का सब कारण जान ही लिया है, उनको वहाँ का सारा समाचार वर्णन कर बताने लगा ॥३६॥

आभास—शिष्टं सर्वमुक्त्वा रुक्मिणीवाक्यानि स्वतः पत्रिकातो वा निरूपयति श्रुत्वा गुणानिति सप्तभिः ।

आभासार्थ—योग्य सब समाचार कह कर रुक्मिणी के वाक्य अपने मुख से अथवा पत्र द्वारा निरूपण करता है 'श्रुत्वा गुणान्'' इस श्लोक से सात श्लोकों में ।

रुक्मिण्युवाच—

**श्लोक—श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे।३७।**

श्लोकार्थ—हे भुवन सुन्दर सुनने वालों के कानों के छिद्रों से भीतर जाके अंगों के ताप को हरण करने वाले आपके गुणों को और नेत्र वालों के नेत्रों को सर्व प्रकार के अर्थ लाभ देने वाले रूप को सुन कर हे अच्युत ! आप में यह मेरा निर्लज्ज चित्त प्रवेश करता है ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी—षड्गुणाः भगवांश्च। एते चेत्प्रार्थ्यन्ते तदा निष्प्रत्यूहं कार्यं भवतीति सप्तभिर्विज्ञापना। आदौ भगवन्तं धर्मिणं विज्ञापयति श्रुत्वा गुणानिति। त्वयि चित्तं विशतीति मनोवृत्तिं निरूपयति। आत्मा तु त्वदीय एव। इन्द्रियाणि चेदन्यपराणि भवेयुः अन्तःकरणं शरीरं वा, तदा सर्वनाश इति विनिश्चित्येन्द्रियाणां त्वत्परत्वे मनोऽपि त्वत्परं जातमिति, शरीरमपि त्वत्परं कर्तव्यमिति ममोद्योग इति प्रघट्टकार्थः। क्रमेण गुणा निरूप्यन्ते। भगवदैश्वर्यं चैतदिति सूचितम्। गुणद्वारा स्वतोऽपि चित्तवशीकरणमैश्वर्यादप्यैश्वर्यं भगवदीयानां कान्तिगुणस्वरूपाणां माहात्म्यं निरूप्यते। हे भुवनसुन्दर भुवनेष्वेक एव सुन्दरः। अनेन कान्त्याधिक्येन स्त्रीणां स्वतश्चित्तवृत्तिरुक्ता। ते गुणान् शृण्वतां कर्णविवरैरन्तर्निविश्य अङ्गतापं हरतां सताम्। रूपं च दृशिमतामखिलार्थलाभं यतः। अतस्त्वयि मे चित्तमाविशति। बहिरिन्द्रियद्वयमेव नियामकम्, अन्तरिन्द्रियस्य श्रोत्रं चक्षुश्च। श्रुतावपि 'ताक्षण्वन्तः कर्णवन्त' इत्यत्र तथैव निरूपितम्। उभयेषामुपकारं त्वद्गुणाः त्वद्रूपं च करोति। तत्रैकमान्तरं तापं हरति। एकं च बहिः सर्वपुरुषार्थान् प्रयच्छति। श्रवणमात्रेऽपि क्रियमाणे प्रयत्नं विनापि त्वद्गुणा स्वत एवान्तर्निविष्टाः। तेषामपि निवेशने प्रतिबन्धाभावायाह कर्णविवरैरिति। अपावृतानि कर्णरन्ध्राण्यपेक्ष्यन्ते, अन्यथा न प्रविशन्तीत्येतावत्पुरुषकर्तव्यमुपदिष्टम्। अतः कर्णविवरैः पातालविवरवत्प्रसिद्धैः अन्तर्निविश्य अङ्गानां तापं हरन्ति गुणाः। अङ्गेति सम्बोधनं वा आत्मत्वेन। रूपं च ये दृशिमन्तः दर्शनयुक्ता येषां चक्षुः कार्यमस्ति। रूपभेदविद इति प्रथमा कक्षा। सर्वात्मना दृश्यगुणपरिज्ञानम् अन्तिमा, तेषां दृशां चक्षुषां अखिलार्थानां लाभो यस्मात्। चतुर्विधपुरुषार्थाः चक्षुषा सिध्यन्ति। चक्षुश्च सूर्यभावो मोक्षः। रूपपानं कामः। रूपग्रहणमर्थः। तत्रावगाहनं धर्म इति। फलवतामेषां फलान्यप्यूह्यानि। तत्रापि पुरुषार्था न सम्पादनीयाः किन्त्वकस्मादुपलब्धा निधय इव प्राप्यन्ते। यत्रैव इन्द्रियाणामुपकारं त्वद्धर्माः कुर्वन्ति, तत्र चित्तमपि ममापि तथा भविष्यतीति त्वयि निर्विशति। चित्तस्य हि द्वयं प्रतिबन्धकम्, लोको वेदश्च। तत्र लोकमतिक्रम्य प्रवर्तत इत्याह अपत्रपमिति। अपगता त्रपा यस्मात्। लज्जा हि लोके नियामिका ॥३७॥

व्याख्यार्थ—बिना रुकावट सर्व कार्य तब सिद्ध होते हैं, जब छः गुणों और सातवें गुणी भगवान् की प्रार्थना की जाती है इसलिए सातों से प्रार्थना करनी है पहिले धर्मी भगवान् को प्रार्थना करती है कि आप के गुणों को सुन कर आप में चित ने प्रवेश किया है, यों कहने मे बताया कि मन की वृत्ति आप में आसक्त हो गई है, आत्मा तो आप है हीं, यदि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण अथवा शरीर अन्य के परायण हो जाय तो सर्व नाश हो जावे यों निश्चय कर, इन्द्रियाँ आपके परायण होने पर मन भी आप में प्रवृत्त हुआ है शेष रहा हुआ शरीर भी आप में रत करूं इसलिए यह मेरा उद्यम है यह हो सबको मिला देने वाला कहने का तात्पर्य है अब क्रम से गुणों का निरूपण किया जाता है यह तो भगवान् का ऐश्वर्य सूचित किया है गुणों के द्वारा अपने आप भी चित्त का वशीकरण हो जाता है वह ऐश्वर्य से भी ऐश्वर्य है भगवान् के कान्ति गुण और स्वरूपों का माहात्म्य निरूपण किया जाता है, हे भुवनसुन्दर ! सर्व भुवनों में एक आप हो सुन्दर है इससे यह बताया है कि आप को विशेष शोभा से स्त्रियों के चित्त की वृत्ति आप ही आप में प्रविष्ट हो जाती

है श्रोताओं के कानों के छिद्रों से भीतर प्रवेश कर अंगों के तापों को मिटाने वाले आप के गुण हैं और नेत्र वालों के समस्त अर्थों का लाभ कराने वाला आपका रूप है, यह सुन कर आप में मेरा चित्त प्रवेश कर गया है बाहिर दो इन्द्रियाँ ही नियामक है, अन्दर इन्द्रियाँ का श्रोत्र और चक्षु 'अक्षण्वन्त. कर्णवन्तः" श्रुति में भी इन दोनों को ही वैसा कहा है दोनों का उपकार आपके गुण तथा रूप करते है, उनमें से एक अन्दर के ताप को हरण करते हैं और एक बाहर के सर्व पुरुषार्थों को देता है कुछ भी प्रयत्न न कर केवल श्रवण करने से भी आपके गुण आप ही भीतर अन्तःकरण में प्रवेश कर जाते हैं गुणों का भीतर प्रविष्ट होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है क्योंकि कान के छिद्र खुले हुए हैं यदि खुले न होते तो प्रविष्ट न हो सकते इतना पुरुष का कर्तव्य कहा, अतः पाताल की भाँति प्रसिद्ध कर्णों के विवरों से आपके गुण स्वतः भीतर जाकर अंगों के ताप को हरण करते हैं अंग यह सम्बोधन आत्मपन मे भी कहा है जो देख सकते हैं उनके नेत्रों का कार्य रूप देख रूप के भेद 'काला, गोरा आदि" को जानना पहिली कक्षा है, सर्व प्रकार देखे हुए पदार्थ के गुणों को जानना अन्तिम कक्षा है उनके नेत्रों को सकल अर्थों का लाभ जिससे हो वैसा आपका रूप है चारों प्रकार के पुरुषार्थ नेत्रों को सिद्ध होते हैं नेत्र का सूर्य भाव मोक्ष है, रूप का पान काम है रूप का ग्रहण अर्थ है उसमें अवगाहन न करना धर्म है फलवान् इन्द्रों के फल भी ढूंढने योग्य है वहाँ भी पुरुषार्थ सम्पादन करने योग्य नहीं है, किन्तु अचानक प्राप्त निधि को भाँति मिलते हैं जहाँ इस प्रकार इन्द्रियों का उपकार आपके धर्म करते हैं वहाँ मेरा चित्त भी वैसा होगा इसलिए आप में प्रविष्ट होता है आप में प्रवेश के लिए चित को दो प्रतिबन्ध हैं, १–लोक, २–वेद इन दोनों में से मेरा चित्त लोक का उलंघन कर आप में प्रवृत हुआ है इसलिए लोक लज्जा छोड़ दी है लोक में लाज भी आप में प्रवेश कराने में रुकावट है ॥३७॥

आभास—वैदिक दोषं परिहरति का त्वेति ।

आभासार्थ—"का त्वा मुकुन्द" श्लोक से वेदिक दोष को मिटाती हैं ।

श्लोक— का त्वा मुकुन्द महती **कुलशीलरूपविद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।**
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह नरलोकमनोभिरामम् ॥३८

श्लोकार्थ—हे मुकुन्द महत्व को प्राप्त कुल वाली धैर्य वाली कौनसी कन्या है जो कुल, शील, रूप, विद्या, आयु, द्रव्य और ग्रह इन सातों गुणों से अपने समान पति मिले तो उसको स्वीकार न करे, हे नृसिंह वह भी पूरे समय पर मिल जाय तो भी उसका परित्याग कर दूसरे की इच्छा हो बाद में मनुष्य लोक में सबके मन को हरण करने वाले उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न युक्ति युक्त नहीं है ॥३६॥

सुबोधिनी—वेदोऽपि लोकानुसारी भवतीति हि विज्ञायते । अतो लोके यदविरुद्धं सर्वथा व्यवहारे अविगीतम्, तद्वेदेऽप्यविरुद्धमिति । एतादृशोऽर्थः मयैव कृत इति चेत्, तदा विरुद्धो भवेत्, किन्तु सर्वैरेव क्रियत इतोममर्थं व्यतिरेकेण साधयते । का वा कन्या त्वां न वृणीत । सर्वस्यापि यद्यपि मोक्षोभिप्रेतः, तथापि स्त्रीयोनिरतिदुष्टेति तत्परित्यागार्थं स्त्रिया अत्यर्थमपेक्षितः । नन्वस्ति लोके मोक्षसाधनमिति चेत् । तत्राह महतीति । महत्त्वं प्राप्ता न सर्वं परित्यक्तुं शक्नोति । यथातिबद्धा । अतस्तस्या गृह एव चेन्मोक्षदाता भवति, तदैव मोक्षः सिध्येत् । किञ्च धर्मार्थकामार्थमपि त्वमेव भजनीय इत्याह कुलेति । सप्तधर्माः समा ययोः तयोरेव विवाहः विवादश्चेति । कुलं तुल्यमपेक्ष्यते । तत्सोमवंशित्वादावयोस्तुल्यम् । तथा रूपमपि । मदर्थमेव रूपं गृहीतमिति मद्योग्यमेव भवितुमर्हति तव रूपम् । अहमपि त्वदर्थमेव रूपं गृह्णामीति ममापि तथा । वयश्च योग्यमेव । गृहमत्र पितृगृहम् । प्रसिद्धस्य पुत्रः, प्रसिद्धस्य कन्येति चतुष्टयं निर्विवादम् । लोकप्रतीत्या द्रविणमपि तुल्यम् । विद्या मातेति चिद्रूपेति वा विद्यायामपि तुल्यता । महती श्रद्धा भगवति वर्तत इति 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इति ऐक्यादनुरोधाद्वा । शीलमपि तुल्यम् । शीलं स्वभावः शान्तोग्रादिः आचारो वा । उभयमप्यत्र बाह्याभ्यन्तरं ग्राह्यम् । ननु भगवान् शान्तः विलम्बेन च कार्यं करोति, माया तु सत्वरेति वैधर्म्यस्य विद्यमानत्वात् कथं तुल्यतेति चेत् । तत्राह धीरेति । मयापि धैर्यमवलम्बनीयम्, भगवत्कार्यानुरोधेनेति । ननु भगवति भजने न तुल्या गुणा अपेक्ष्यन्ते, किन्तु भगवदुत्कर्षं ज्ञात्वैव प्रवर्तत इति किमिति तुल्य-त्वं निरूप्यत इति चेत् । तत्राह पतिमिति । पतित्वेन स्वीकारे तुल्यता वक्तव्या । अन्यथा दासीत्वं भवेत् । नन्वस्तु को दोष इति चेत् । तत्राह कुलवतीति । कुलस्थास्तथा सति खेदं प्राप्नुयुरिति भावः । किञ्च । कन्येति । अवश्यं कन्यया वरणीयः कश्चित्पतित्वेन, अवरणे स्वयं न गृह्णीयात् । मुख्यं वनियोगार्थमन्याधीनां वा कुर्यात् । किञ्च । उपपत्तौ सत्यां तत्परित्यागे कारणाभाव इत्याह काले नृसिंहेति । अवसरे तत्परित्यज्य अन्योच्छिष्टा भूत्वा पश्चाद्भगवदर्थं यत्ने क्रियमाणे असमञ्जसं स्यात् । अयोग्यत्वाशक्यत्वे तु न स्त इत्याह नृसिंहेति । नरत्वाद्योग्यत्वम्, सिंहत्वात्समर्थत्वमिति । किञ्च । नरलोके मनसोऽयमेवाभिरामः । अतो वरणे अभिराम एव वरणीय इति योग्यत्वाद्यविचारेणापि त्वमेव वरणीय इत्यर्थः । ३ ॥

व्याख्यार्थ—वेद भी लोक के अनुसार आज्ञा करते हैं अतः जो लोक से सर्व प्रकार विरुद्ध नहीं है और जिसकी लोक में निन्दा नहीं है वह वेद से भी विरुद्ध नहीं है यों भी आप मत समझना की यह अर्थ मैंने ही किया है ? यदि मैंने किया हो तो वेद से विरुद्ध हो जाय किन्तु सर्व इस प्रकार अर्थ सिद्ध करते हैं इसलिए इस अर्थ को व्यतिरेक से सिद्ध किया जाता है कौनसी कन्या है जो, आपको पतित्व से वरण न करे, यद्यपि सबको मोक्ष प्राप्ति की इच्छा है तो भी स्त्रीयोनि विशेष दोषों वाली है इसलिए उस योनि से छूटने के लिए स्त्री जाती को मोक्ष की विशेष अपेक्षा है यदि कहो कि लोक में मोक्ष के साधन हैं फिर पतित्वस्वीकार क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं कि "महती" अर्थात् महत्व को जो प्राप्त हुए हैं सर्व का त्याग करने में असमर्थ होते हैं जैसे मजबूत वन्धे हुए कठिनता से

छुड़ाए जा सकते हैं अतः ऐसे को जब गृह ही मोक्ष देने वाला बने तब उसका मोक्ष हो सकता है और विशेष बात यह भी है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए भी आपका ही भजन करने योग्य है जिसके लिए कहती है कि जिसमें सात धर्म समान होवे उनका ही परस्पर विवाह और संवाद होना योग्य है पहिले कुल समान चाहिए वा सोमवंशी होने से अपन दोनों का समान कुल है वैसे रूप भी समान है आपने मेरे लिए ही रूप धारण किया है जिससे वह आपका रूप ही मेरे योग्य है मैंने भी आपके लिए देह धारण की है इसलिए यह रूप भी आपके लिए योग्य है और आयु समान होने से योग्य ही है, गृह, पिता का घर भी सदृश ही है क्योंकि आप जिसके पुत्र हैं वह प्रसिद्ध है तो मैं जिसकी पुत्री हूँ वह भी प्रसिद्ध है, इस प्रकार ये चार बिना विवाद के समान है लोक की प्रतीति से धन भी तुल्य है विद्या माता वह चिद्रूपा है इसलिए विद्या में भी समानता है भगवान् में बड़ी श्रद्धा है "यो यच्छ्द्ध स एव सः" इस वाक्य के अनुसार ऐक्य से वा अनुरोध से स्वभाव भी समान है अर्थात् शील शान्त उग्र आदि अथवा आचार विचार भी तुल्य है यहाँ बाहिर भीतर दोनों प्रकार समानता है यों समझना चाहिए आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् शान्त होने से कार्य विलम्ब से करते हैं माया तो जल्द कार्य करती है यह दोनों में प्रत्यक्ष होने से दोनों में विरुद्ध धर्म तो है ही, इसके उत्तर में कहती है कि "धीरा" में भी भगवान् के कार्य के अनुरोध से धीरज धारण करती हूँ, भजन करने में भगवान् के गुणों में समानता की आवश्यकता नहीं चाहिए बल्कि भगवान् के गुणों को विशेष श्रवण करने से ही उनमें प्रवृति होती है फिर आप तुल्यता का निरूपण क्यों करते हैं इसके उत्तर में कहती है कि उनको पति रूप से स्वीकार करने में समानता आवश्यक है, नहीं तो दासीपन हो जाता है दासीपन हो जावे तो क्या हानि है इसके उत्तर में कहती है कि "कुलवती" वड़े कुल को यदि दासी बन जाय तो खेद को प्राप्त होती है, और विशेष "कन्या" है, कन्या को अवश्य किसी को अपना पति स्वीकार करना है यदि कन्या स्वीकार न करे वर ग्रहण नही कर सकता है अथवा मुख्य में विनियोग के लिए यदि अन्य के आधीन करदे, लेकिन उत्पत्ति होने पर उस स्वीकार का हुई का परित्याग दूसरे के आधीन करने का कोई कारण नहीं है हे नृसिंह ! मौका मिलने पर उस योग का त्याग कर पश्चात् फिर अन्य की उच्छिष्ट होके भगवान् के लिए प्रयत्न करना असंगत है भगवान् में अयोग्यता और असमर्थता नहीं है इसलिए "नृसिंह" नाम दिया है नर होने से योग्यता दिखाई है और शेर होने से सामर्थ्य प्रकट किया है मनुष्य लोक मे मन का यही आनन्द है अतः स्वीकार करने में आनन्द ही वरण करना है इसमें योग्यत्व आदि का विचार ही नहीं करना चाहिए, आप आनन्द रूप से वरण करने के योग्य हैं ॥३८॥

आभास—एवं योग्यतां निरूप्य विज्ञापनामाह तन्मे भवान्खलु वृत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार योग्यता का निरूपण कर "तन्मेभवान्" श्लोक से प्रार्थना करती है ।

श्लोक—तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरङ्ग जायामात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! मैंने आपको पति स्वीकार किया और अपनी आत्मा आपको अर्पण की है अतः यहाँ आकर अपनी भार्या बनाइए हे कमल नयन ! मैं जो आप शेर का भाग हूँ उसको चैद्य, जैसे शेर के भाग को सियार दूर से स्पर्श करता है वैसे, स्पर्श भी न कर सके ॥३९॥

सुबोधिनी—अत्रापि गृहे सर्वदा मयोच्यते, कृष्ण एव पतिर्मम, नान्य इति। एतत्सर्वेऽपि जानन्ति, तथापि बलात्प्रवर्तन्त इति खलुपदार्थः। किञ्च। पूर्वमपि लक्ष्मीस्वयंवरे अमृतमथने मया भवानेव वृतः सैवाहमिति भावः। उपाध्यन्तरं निवारयन्त्याह पतिरिति। एवं स्वकृतमुक्त्वा भगवन्तं प्रार्थयते जायां विधेहीति। अङ्गेति स्नेहसम्बोधनम्। अन्यथा धाष्ट्यं मनुचितं स्यात्। अङ्गस्य वा जायां विधेहि। अन्यथा भगवान् सर्वपतिरिति प्रकारान्तरेण वा जायात्वं स्यात्। जायापदेन यावानर्थः स सर्वोऽपि विधेयः। ननु भगवान् भगवच्छास्त्रविरुद्धमर्थं न गृह्णातीति कथं त्वां ग्रहीष्यतीति चेत्। तत्राह आत्मार्पितश्चेति। आत्मा मदीयः संघातः तुभ्यं समर्पितः। अतो यथेष्टविनियोगे न कापि चिन्ता। चकारात्सर्वमेवास्मत्सम्बन्धि समर्पितमिति सर्वत्रैव तव कामचारः। अतस्तदपेक्षा तत्प्रतिबन्धो वा न घटत इत्युक्तं भवति। भवत एवात्मा, अतो भवते समर्पित इति नालौकिकं किञ्चित्। अङ्गीकृते शीघ्रमागमनार्थं बाधकमाह मा वीरभागमिति। वीरस्यैव भागोऽहम्। शौर्येणैव लक्ष्मीः प्राप्यत इति नैव दत्ता अन्यस्य भवति। अत एव य एव शूरः, स एव राज्यमुपभुङ्क्ते। तथा सति चैद्यस्य अशूरत्वात् भोगाभावेऽपि केवलं काकवत्स्पर्शो भवेत्, तदा महतोऽपि भोगाभावाज्जन्मवैयर्थ्यम्। अनेन महता आपदा उपस्थितेति न कापि वाक्ये दूषणं मन्तव्यमिति भावः। आराद्दूरादपि अभिमानेनापीत्यर्थः। दानानन्तर हरणे अभिमानोऽपि भवेत्। वाग्दानं तु 'अनृतं वो वाचा वदतो'ति श्रुतेः प्रमाणमेव। अन्यथा पुण्यपापव्यवस्थायां वाङ्मनसस्य अप्रामाण्य न स्यात्। एतदर्थमेव श्रुतिः प्राह 'वाङ्मनसयोरनृतत्व'मिति। ननु स जानाति मदीया त्वमिति, त्वया वा वक्तव्यः, ततः कथं स्प्रक्ष्यतीत्याशङ्क्य ह गोमायुवदिति। त्वदनागमने मृतप्राया मृतां वा दैवकल्पित स्वभागं ज्ञात्वा स्प्रक्ष्यतीति भावः। नन्वेवमस्तु को दोष इति चेत्। तत्राह मृगपतेरिति। मरणे यद्यपि नानुपपत्तिः, तथापि तदनन्तर स्पर्शे महदनौचित्यम्। न हि सिंहाय तद्भक्तैः निवेदित शृगालो भक्षयितुमर्हति। अम्बुजाक्षेति। दृष्ट्यैव तापनाशकत्वमुक्तम्। तेन वरणमप्ययुक्तमिति भावः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—यहाँ घर में भी मैं हमेशा बोलती हूँ कि कृष्ण ही मेरे पति हैं न कोई दूसरा,

यह बात सब जानते ही हैं, तो भी जबर्दस्ती से दूसरी ओर प्रवृत्त हो रहे हैं यह भाव "खलु" पद से प्रकट किया है और विशेष में तो आपको मालुम ही है कि लक्ष्मी स्वयंवर के समय अमृत मथन होने पर मैंने आपको ही वरा था यों कहने का आशय है कि वह ही मैं हूँ इसमें किसी प्रकार कोई उपाधि नहीं है क्योंकि आप ही पति हैं इस प्रकार अपना किया हुआ कह कर भगवान् को प्रार्थना करती हैं "जायां विधेहि" कि मुझे अपनी भार्या बनाओ इसलिए अंग यह स्नेह की सूचना करने वाला सम्बोधन दिया है, यों स्नेह सूचक सम्बोधन न देती तो "मुझे भार्या बनाओ" ऐसे धृष्टता के वाक्य कहना अनुचित होता, अथवा अ ग की भार्या करो, अन्य प्रकार विचार करने से भी भगवान् सर्व के पति हैं हीं जिससे भी जायापन सिद्ध हो है जाया पद से जितना भी अर्थ होता है वह सब समझ कर उसी प्रकार करना चाहिए यदि कहो कि भगवान् शास्त्र से विरुद्ध पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं तो कहती है कि मैंने अपनी आत्मा आपको अर्पण कर छोड़ी है, अतः इच्छानुसार उसको कार्य में लाने के लिए कोई चिन्ता नहीं करती है श्लोक में दिए हुए "च" पद का भाव है कि मैंने देहार्पण के साथ जो कुछ मेरा सम्बन्धी पदार्थ मात्र है वह सर्व समर्पण किया है इसलिए सर्व पदार्थों में आप जैसे चाहा वैसा कर सकते हैं अतः उसके लिए किसी की अपेक्षा अथवा उसमें किसी प्रकार कोई प्रतिबन्ध नहीं है इसलिए यों कह दिया है कारण कि यह आत्मा आपकी है इसलिए आपको ही अर्पण की हैं इससे मैंने कोई अलौकिक अर्थात् कोई विशेष कार्य नही किया है अंगीकार कर फिर आने में देरी भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि देरी करने से बहुत बाधाएँ होगी वह कहती है मैं शूरवीर की ही "भाग" हूँ लक्ष्मी शूरवीरता से ही प्राप्त होती है दूसरे से दी हुई नहीं मिलती है इस कारण से ही जो शूरवीर ही है वह ही राज्य का उपभोग कर सकता है, ऐसा होते हुए भी शिशुपाल शूरवीर न होते भी तथा भोग करने के योग्य न होते भी केवल काक की तरह स्पर्श होगा तब महान् के भोग के भी अभाव से जन्म की व्यर्थता हो जाएगी ऐसा होने से बड़ी आपदा प्राप्त होगी इसलिए कहीं भी वाक्य में दूषण नहीं मानना चाहिए "आरात्" पद का भावार्थ है दूर से भी अथवा अभिमान् से भी दान के बाद हरण करने में अभिमान ही होगा "वाग्दान" तो "अनृतंवै वाचावदति" इस श्रुति के अनुसार अप्रमाण ही है दूसरी तरह पुण्य और पाप का प्रबन्ध में वाणी तथा मन की अप्रमाणिकता न होवे, इसलिए ही श्रुति कहती है कि "वाङ्मनसयोरनृतत्वं" वाणी और मन में असत्पन है, यदि वह जानता है कि तू मेरी है अथवा तुझे कहना चाहिए मैं उनकी हूँ इसके बाद वह कैसे स्पर्श करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहती है कि सियार की तरह आपके न आने पर मुझे मरी हुई वा मरने वाली समझ देव ने यह भाग मुझे दिया है यों जान कर स्पर्श करेगा, यों होने दो इसमें क्या दोष है ? इस पर कहती है कि हाँलाकि मरने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है तो भी मरने के बाद

भी स्पर्श होने में बड़ी अयोग्यता है शेर के भक्त जो खाद्य लाकर शेर को देवे उसको शृगाल खावे यह योग्य नहीं है हे अम्बुजाक्ष ! इस विशेषण से यह बताया कि आप तो दृष्टि से ही ताप को नाश करने वाले हैं इससे करण भी अयुक्त हैं. यह भाव है ॥३९॥

आभास—एवं दृष्टसामग्र्या भगवत्प्रार्थनामुक्त्वा स्वस्य सर्वेणापि धर्मेण शपथमपि वदन्ती प्रार्थयते पूर्तेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रत्यक्ष को हुई सामग्री से भगवान् की प्रार्थना कर अपने सब किए हुए धर्म का सौगन्द भी लेती हुई प्रार्थना करती है 'पूर्तेष्ट'' श्लोक से ।

श्लोक—पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्रगुर्वर्चनादिभिरलं भगवान्परेशः ।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ।४०।

श्लोकार्थ—जो मैंने कूप, बावडी आदि बनवाए, याग आदि किए, दान दिए, नियम व्रत किए, देव ब्राह्मण, गुरू, आदि का पूजन किवा इस सब साधनों के द्वारा भगवान् की आराधना की है, जिसके फलस्वरूप आप आकर इस प्रकार मेरा पाणि ग्रहण कीजिए जैसे दमघोस का पुत्र अथवा दूसरा मुझे कोई न ले सके ॥४०॥

सुबोधिनी—बाल्ये खातादिकं कर्तुं शक्यत इति इष्टात् पूर्वं निर्देशः । पूर्तं खातादि, इष्टं यागादि, दत्तं तुलापुरुषदानादि, नियमाः परित्यागरूपाः, व्रतानि ग्रहणरूपाणि, देवानां विप्राणां गुरूणां चार्चनानि । एवमष्टविधान्युद्दिश्य काण्डत्रयमपि संगृह्य स्मार्तपौराणिकान् धर्मानादिशब्देन संगृह्णाति । एवं सर्वैरेव धर्मैः भगवानेव चेदाराधितः, न तु कामनार्थं किञ्चिदपि विनियुक्तम्, तदा भगवान् स्वयमेत्य पाणिं गृह्णातु, केवल एव आराधित इति न दमघोषसुतादयः स्वर्शमप्यर्हन्ति । गदाग्रज इति विषयप्रियत्वमुक्तम् । तस्मिन् समागते कंसे हते पश्चाद्गद उत्पन्न इति भगवदाविर्भावानन्तरमपि तेन पित्रादेर्वंशः कारित इति वंशकरणे तस्येच्छा सूचिता । अत एव एत्य स्वयमागत्य पाणिं गृह्णातु इति स्वकृतधर्मेषु भारारोपः । ननु 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति भगवद्भक्तानां वा ग्रहणे को दोष इति चेत, तत्राह अन्य इति । ते भगवत्प्रतिपक्षाः । अन्यथा तु दासीदासभावेनापि भजनं भवतीति नात्यन्तमाग्रहो भवेत् । अन्यथा अपघातमरणे यमादयो वा मा गृह्णन्त्विति अन्यनिषेधः ॥४०॥

व्याख्यार्थ -- याग आदि से पहिले "पूर्त" शब्द देने का कारण यह है कि तलाव बावड़ी आदि छोटी आयु में भी बनवाई जा सकती है अतः पहिले "पूर्त" शब्द कहा है याग आदि तुला, पुरुषादि दान, विषय आदि का त्याग रूप नियम एकादशी आदि व्रत ग्रहण, देव, ब्राह्मण और गुरूओं का पूजन इस प्रकार आठ तरह के धर्मों का उद्देश्य कर तीनों काण्डों का भी ग्रहण किया, तथा आदि शब्द से स्मार्त और पौराणिक धर्मों का भी सग्रहण किया है, यों सर्व धर्मों से जो मैंने भगवान् का ही आराधन किया है तथा उसमें किसी प्रकार की अन्य कामना नहीं की हो तो भगवान् स्वय पधार कर मेरा पाणिग्रहण करें मैंने केवल भगवान् की ही प्राप्ति के लिए आराधना की है इसलिए शिशु-पाल आदि मुझे स्पर्श करने के लिए भी योग्य नहीं हैं, "गदग्रज" नाम देने से यह बताया कि वंशवृद्धि का विषय आपको प्रिय है, भगवान् ने पधार कर कस को मारा पश्चात् गद उत्पन्न हुआ है इस प्रकार पितृ वंश की वृद्धि कर यह दिखाया है कि मुझे वंशवृद्धि करने की इच्छा है, इस कारण से ही आप स्वयं पधार कर पाणिग्रहण कीजिए ऐसा करने से अपने किए हुए धर्मों में सर्व शास्त्रों में कहे हुए धर्मों के सार का आरोपण हो जाएगा अर्थात् सर्व धर्म सिद्ध हो जायेंगे मेरी पूजा से मेरे भक्तों की पूजा मैं अधिक मानता हूँ तो यदि आपको भगवद्भक्त ग्रहण करे तो क्या दोष है। इसके उत्तर में कहती है कि 'अन्ये" वे भगवद् भक्त नहीं हैं बल्कि भगवान् के शत्रु हैं नहीं तो दास दासी भाव से भी भजन हो सकता है इसमें अत्यन्त आग्रह नहीं होना चाहिए, दूसरी भाँति बुरी तरह मरना ही हो तो यम आदि न लिए जाते, इससे दूसरों के पाणि ग्रहण का निषेध किया है ॥४०॥

आभास—उद्वाहमात्र प्रार्थयित्वा प्रकारमपि प्रार्थयते श्वोभविनीति ।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक में केवल पाणिग्रहण की प्रार्थना कर अब "श्वोभा-विनी" श्लोक में प्रकार भी बताती है ।

श्लोक—**श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान् गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।**
निर्मथ्य चैद्यमगधेशबलं प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! कल मेरा विवाह होने वाला है आप सेनापतियों के साथ यहाँ विदर्भदेशों में आ कर, शिशुपाल जरासन्ध की सेना को जीतकर, पराक्रम ही मूल्य वाली मुझ से बलात्कार पूर्वक राक्षस-विवाह-विधि से विवाह करो ॥४१॥

सुबोधिनी—स्पष्टतया समागमने कदाचित्ते गोपनं कुर्युः, लग्नात्पूर्वमेव वा शिशुपालाय प्रेषयेयुः, अविधानेन वा दद्युरिति। अतो यथा तेषु परिज्ञानं न भवति, तथैवागत्य नेया। अन्यथा उपक्रमावधि फलपर्यन्तं मध्ये काल-विलम्बे शरीरपातोऽपि भवेदिति तथा प्रार्थना। देशेऽपि न पूर्वमागन्तव्यमित्याह। श्वो भाविनि उद्वाहे। प्रथमतस्त्वमेकाकी गुप्तः समागत्य, पृतनाश्च भिन्नतया समानीय, तत्रापि पृतना यादवरूपैव, न तु विजातीया आनेया, अन्यथा मन्त्रभेदः स्यात्। पश्चात्पुरप्रवेशे तैः परीतः। अन्यथा स्वस्य चिन्ता स्यादिति। यद्यपि त्वमजितः, अथवा अजितत्वादेव पक्षान्तराभावात् चैद्यमगधेशयोर्बलं निर्मथ्य, मध्ये प्रतिवन्धकत्वेन स्थितमपसार्य, तदर्थं प्रसह्य, बलात्कारमपि कृत्वा, मामुद्वह। नन्वेवं सति कामार्थं भक्त्यर्थं वा विवाहो भवेत्, न धर्मार्थमित्याशङ्क्याह राक्षसेन विधिनेति। क्षत्रियस्य स एव धर्मः। गान्धर्वस्तु पूर्वमुक्त एव 'तन्मे भवान्खलु वृत' इत्यनेन। अतो मद्विवाहे उभयं भविष्यतीति भावः। ननु एवं हरणे परस्वादानं भवेदित्याशङ्क्याह वीर्यशुल्कामिति। न हि मूल्ये दत्ते परस्वादानमस्ति। क्षत्रियाणां वीर्यमेव सर्वत्र शुल्कम्। पराक्रमं कृत्वा मारयित्वा य एव हरति, तस्यैव तदिति क्षत्रियधर्मानुसारेण हरणे न परस्वादानमित्यर्थः

व्याख्यार्थ—यदि आप प्रकट हो कर पधारेंगे तो कदाचित् आपको छिपा दे, अथवा लग्न से पूर्व ही शिशुपाल के पास भेज देवें वा विना विधि के ही उसको दे देवे, अतः जिस प्रकार आपके आने की खबर उनको न पड़े उसी भाँति आप पधार कर लेजाना, नहीं तो उपक्रम से लेकर फल-पर्यन्त मध्य में काल विलम्ब होने पर शरीर का नाश भी हो जाय, इसलिए जल्दी आने की प्रार्थना की है देश के भीतर भी पहले नहीं आना कल विवाह होने वाला है, अतः देश में पहले आप अकेले ही गुप्त आजाना सेना जुदी लाना वह सेना भी यादवों का ही होनी चाहिए दूसरी जाति की सेना नहीं लाना क्योंकि दूसरी जाति की सेना से की हुई गुप्त सलाह का भेद खुल जायगा, पीछे जब शहर के अन्दर प्रवेश करो तब सेनापतियों के साथ पधारना, नहीं तो अपने सम्बन्धियों को चिन्ता होगी, हालांकि आपको कोई भी जीत नही सकता है, अथवा अजित होने से ही दूसरी कोई पक्ष नहीं है। अतः शिशुपाल और जरासन्ध को सेना को जीत कर बीच में जो रुकावटें आवें उनको मिटा कर इसलिए बलात्कार भी कर मुझ से विवाह करो, यदि कहो कि यों करने से वह विवाह कामार्थ अथवा भक्ति के लिए होगा, न धर्मार्थ विवाह होगा ? इसके उत्तर में कहती है कि राक्षस विधि से विवाह कर लो क्षत्री का राक्षस विधि से विवाह भी धर्म विवाह है "तन्मे भगवान् खलु वृत" इस श्लोक में गान्धर्व विवाह तो पहिले कह दिया है, अतः मेरा विवाह दोनों प्रकार होगा, यदि कहो कि यों बलात्कार से लेना एक प्रकार से दूसरे का धन चुराना है ? इस शंका का समाधान करती है कि मूल्य देकर जो वस्तु ली जाती है वह चुराई हुई वा छीनी हुई नहीं कही जाती है, क्षत्रियों के पास सब वस्तु लेने के लिए पराक्रम ही कीमत है जो वीर पराक्रम से मारके वा जीत के जिस वस्तु को ले जाता है वह वस्तु उसकी ही होती है इसलिए क्षत्रिय धर्म के अनुसार हरण कर लाने में पराया धन चुराया नहीं है ॥४१॥

आभास—बाधशङ्कया प्रकारमुदिश्य तत्रापि स्फुरितं बाधकमनूद्य परिहरति अन्तः पुरान्तचरामिति ।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक में रुकावटें होगी इस शंका के निवृत्ति का प्रकार बताया, फिर उसमें भी बाधा की स्फूर्ति समझ उस बाधा के निवारण का उपाय "अन्त पुरान्तर" श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—अन्तःपुरान्तरचरामनिहत्य बन्धूंस्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिशामुपेयात् ॥४२

श्लोकार्थ—यदि आप कहो कि जनानेखाने में रहने वाली तुमको, तेरे बान्धवों को मारने के सिवाय, कैसे तेरे साथ ब्याह कर सकेंगे इसका भी उपाय बता देती हूँ विवाह के पहिले दिन कुलदेवी के दर्शन को जाने के लिए शोभा यात्रा निकलेगी जिसमें जो नव बधु हो वह देवी के दर्शन को जावे यह हमारे कुल की रीति है–अतः मै शोभा यात्रा मे जाने के लिए बाहिर निकलूंगी ॥४२॥

सुबोधिनी—बन्धूननिहत्य अन्तःपुरमध्ये चरणयोग्यां त्वां कथमुद्वह इति चेत् (शङ्कसे), तदापि सन्ति बहव उपायाः । तथाप्यविरुद्ध उच्य इत्याह । प्रकर्षेण उपायं वदामीति । केनचिद्व्याजेन स्वयं बहिरागच्छेत्, भगवान्वा वेश कृत्वा गच्छेत्, आकर्षणं वा कुर्यात्, बुद्धि वा प्रेरयेत्, अन्यथा सर्वेषाम्, सर्वेष्वपि पक्षेषु क्लिष्टं भवेत्, पराक्रमश्च न भवेत्, तस्मादन्यदकृत्वा गौरीपूजनार्थमेव गताया हरणं कर्तव्यमिति प्रार्थना । तत्र गमनमावश्यकमित्याह । पूर्वेद्युः विवाहात्पूर्वदिवसे महती यात्रा वर्तते । सा अनुल्लङ्घनीया ततः । कुलदेवतायाः महतीत्यनेन दूरे गमनमुक्तम् । किमतो यद्येवमिति चेत्, तत्राह यस्यां बहिर्नववधूरिति । नववधूः नूतना वधूः संरक्ष्यापि लोकप्रसिद्धयर्थं भोगात्पूर्वं भोगयोग्या नववधूर्भवति, सा गिरिशां पार्वतीं द्रष्टुमुपेयादिति विधिः । स्वयमपि गिरीणामीशभूतेति अकारान्तात् टाप् । नित्यं संज्ञाछन्दसोरिति वा ङाप् । ततो बहिः स्थिता तत एव नेयेति भावः । अतो विवाहदिवस एव द्वारकायां विवाहो भविष्यतीति न ज्योतिःशास्त्रस्याप्रामाण्यम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ - मैं जनाने खाने में भीतर रहती हूँ उसको मेरे सम्बन्धियों को मारने के सिवाय मुझ से विवाह कैसे कर सकोगे, यदि ऐसी शंका हो तो उस के लिए बहुत उपाय है, किन्तु मैं वह उपाय बतलाती हूँ जो विरुद्ध नहीं है साधारण उपाय नहीं बताती हूँ किन्तु उत्तम उपाय कहती

हूँ उपायों के प्रकार बताती है। १–किसी भी बहाने अन्तःपुर से बाहिर आना, २–भगवान् वेश बदल कर आवे, ३–पकड़ कर ले जावे, ४–बुद्धि से प्रेरणा करें, ५–अथवा इस सबों से किसी अन्य तरीके से आ कर ले जावे इन सब तरीकों में दुःख है और बहादुरी भी नहीं है इसी कारण से दूसरा कुछ भी न कर गौरी पूजन के लिए गई हुई का ही वहाँ से हरण कर लेना, यह मेरी प्रार्थना है वहाँ जाना आवश्यक है विवाह के पहिले दिन बड़ी शोभा यात्रा होती है वह रोकी नहीं जाती है, कुल देवता की बड़ी यात्रा है, इससे यह प्रकट किया कि दूर जाना पड़ता है जो यों है तो इससे क्या ? इसका उत्तर देती है कि नवीन वहू बहुत प्रकार से रक्षा की हुई भी लोक में प्रसिद्ध के लिए पति से हस्तग्राह करने से पहिले जो नवीन वधु होती है, वह पार्वती देवी के दर्शन के लिए जावे, यह विधि है आप भी पर्वतों की ईश भूता है इसलिए अकारान्त से "टापू प्रत्यय है" अथवा संज्ञा एवं छन्द में टाप् प्रत्यय होता है, इसलिए "टाप्" प्रत्यय है पश्चात् मैं बाहिर हो रहूँगी वहाँ से ले लेना, इस प्रकार पहिले दिन यात्रा के समय हरण कर चलोगे तो दूसरे विवाह के दिन तो द्वारका में विवाह भी हो जायगा जिसमें ज्योतिष शास्त्र भी प्रमाण रूप होगा अर्थात् शास्त्रानुसार मुहूर्त के दिन विवाह भी हो जायगा ॥४२॥

आभास—एवं स्वरूपप्रकारप्रार्थनां कृत्वा तदकरणे बाधकमाह यस्याङ्घ्रिपङ्कजेति ।

आभासार्थ—प्रार्थना इसी भाँति स्वरूप और प्रकार की प्रार्थना कर उसके न करने से महती हानि होगी जिसका वर्णन "यस्यांघ्रिपंकज" श्लोक में करती है।

श्लोक—यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून्व्रतकृशा शतजन्मभिःस्यात् ॥४३

श्लोकार्थ—हे कमल के समान नेत्र वाले महादेव की भाँति अन्य महात्मा भी अपनी अज्ञानान्धता को मिटाने के लिए आपके चरण कमल की रज में स्नान करना चाहते हैं जो मैं आपका प्रसाद न पाऊँगी तो अब प्राणों का त्याग करूंगी और आपकी कृपा सम्पादन करने के लिये सैकड़ों जन्मों से व्रत रखकर तब तक कृश बनती जाऊंगी जब तक आपका अनुग्रह प्राप्त न हो ॥४३॥

सुबोधिनी—यर्हि प्रसादं न लभेय, तर्हि जह्यामसून्, ननु कोऽयं निर्बन्ध इति चेत्, उत्तमफलत्वादित्याह। यस्य भगवतः अङ्घ्रिपङ्कजस्य रजसा स्नानं महान्तोऽपि वाञ्छन्ति ।

तत्र निदर्शनमुमापतिः । स हि केवलं रजसा स्नानमलभमानः रजोयुक्तचरणोदकेन स्नानं करोतीति । उमापतिपदेन उमयापि वृतः शिवः । तस्यापि स एवाभिप्रेत इति तदेवोत्तमं फलम् । किञ्च । आत्मतमोपहृत्यै आत्मनस्तमोगुणो गच्छत्विति । अहमपि माया त्रिगुणात्मिका, तत्रापि रुक्मिप्रभृतिभिः सह अवतीर्णेति तमः प्रधानैव । ततश्चैतत्तमश्चेन्न दूरीक्रियते, तदा पुनर्निकृष्टजन्म भविष्यतीति तदर्थं प्रयत्नोऽवश्यं कर्तव्यः । तत्रायमुपायः सुगम उत्तमश्च । एतदभावे तु शरीरं वा त्यक्ष्यामि । अयं संसर्गो गच्छतीति । किञ्च । व्रतेन कृशा सती उत्तरोत्तरजन्मसु शतजन्मभिः अयमर्थः कदाचित् स्यात् । 'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभि'रिति वाक्यात् । अम्बुजाक्षेति सम्बोधनं दृष्ट्यैव तापहारकः कथमेवं करिष्यतीति बोधनार्थम् ॥४३॥

व्यायाख्यर्थ––जो आपका प्रसाद न पाऊँगी तो प्राणों का त्याग करूँगी तेरा इस प्रकार का यह कौनसा हठ है ? इसके उत्तर में कहती है कि आप सब फलों से उत्तम फल हैं, यह ही है उसकी सिद्धि करनी है, जिस भगवान् के चरण कमलों की रज से स्नान करना महान् सिद्ध भी चाहते हैं जिसमें प्रमाण महादेव है, वह केवल रज से स्नान न प्राप्त होने से रजयुक्त जल से स्नान करता है न केवल महादेव किन्तु पार्वती को भी यह स्नान पसन्द है वह भी महादेव की भाँति रजोयुक्त जल से स्नान करती है, इसलिए यहाँ शिव का 'उमापति" नाम दिया है, वह भी उत्तम फल है उससे स्नान करने का कारण तमोगुण का नाश करना है मैं भी त्रिगुण रूप माया हूँ और विशेष में रुक्मि प्रभृति अविद्या पर्वात्मकों के साथ जन्मी हूँ मेरे में भी इसलिए तमोगुण प्रधान है, यदि आप मुझे स्वीकार कर इस तम का नाश करोगे तो फिर मुझे ऐसी नीच योनि न मिलेगी इसलिए वह न मिले आपका प्रसाद प्राप्त हो जिसके लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिए, इसलिए मेरा बताया हुआ यह उपाय सरल तथा उत्तम है आप ऐसा न करोगे तो शरीर छोड़ दूंगी जिससे यह सम्बन्ध जाता रहे और विशेष में व्रत में कृश हो एक जन्म में नहीं किन्तु सैकड़ों जन्म उतरोतर कृश होती रहूँगी जिससे यह मेरा मनोरथ कभी भी हो जावे, जैसा कहा कि "स्वधर्म निष्ठः शतजन्मभिः" सौ जन्म में कर्म करने वाला स्वधर्मनिष्ठ होता है, "अम्बुजाक्ष" विशेषण से यह बताया है कि आप दृष्टि से ताप को बुझाने वाले हैं, वे आप ऐसे कैसे करोगे अर्थात् अवश्य मेरी प्रार्थना स्वीकार करोगे ॥४३॥

आभास—एवं रुक्मिणीवाक्यान्युक्त्वा उपसंहरति इत्येत इति ।

आभासार्थ—इसी भाँति रुक्मिणी के वचन कह कर विषय का उपसंहार "इत्येते" श्लोक से करते हैं ।

ब्राह्मण उवाच—

श्लोक—इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाहृताः ।
विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण कहने लगा कि हे वसुदेव ये गुप्त सन्देश मैं ले आया हैं आप विचार कर बाद में इस विषय में करना हो वह कीजिए ॥४४॥

सुबोधिनी—गोप्या एते सन्देशाः । यदुदेवेति सम्बोधनात् विवाहः कर्तव्य इति सूचितम् । मयैवाहृता इति सुतरां गोप्यत्वम् । कदाचिदेतत्पत्रं अन्यस्य कापट्यात् भवेदिति शङ्का स्यात्, तदर्थमाह । एतद्विमृश्य कर्तुं यच्चात्र सिध्यति, तत्क्रियताम् । चकाराद्वक्तव्यम्, तदुच्यतामिति । विमर्शनान्तरं कर्तव्यम् । अथवा । तदनन्तरमेव कर्तव्यं 'किं कार्यं करवामे'त्यस्यैतदेवोत्तरमित्यर्थः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—ये सन्देश गुप्त है यदुदेव संबोधन देनें का आशय है कि आपको विवाह करना चाहिए, यह सन्देश मैं हीं लाया हूँ, इसलिए विशेष गोपनीय है, किसी कारण से भी आपको यह शंका हो कि यह पत्र दूसरे का कापट्य से भेजा हुआ है तो इसलिए कहता है कि आप पूरी तरह विचार कीजिए विचार के बाद जो कुछ योग्य जचे वही कोजिये, "च" पद से यह बताया है कि विचार करने के अनन्तर जो कुछ करने का निश्चय करो और मुझे जो कहना हो वह कहिए ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, के उत्तरार्ध के ५२ वें अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका' के राजस साधन
अवान्तर प्रकरण, के तीसरे अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग सारंग

द्विज कहियौ जदुपति सौं बात ।
वेद विरुद्ध होत कुंडिनपुर, हंस के अंस काग नियरात ॥
जनि हमरे अपराध विचारहूँ, कन्या लिख्यौ मेटि गुरु तात ।
तन आतमा समरप्यो तुमकों, उपजि परि तातैं यह बात ॥
कृपा करहु उठि बेग चढहुँ रथ, लगन समै आवहु परभात ।
कृष्ण सिंह बलि धरी तुम्हारी, लैबेकौं जंबुक अकुलात ॥
ताते मैं द्विज बेगि पठायौ, नेम धरम मरजादा जात ।
सूरदास सिसुपाल पानि गहै, पावक रचौं करौ अपघात ॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका—हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

स्कन्धानुसार ५३ वां अध्याय

सुबोधिन्यानुसार ५० वां अध्याय

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

चतुर्थ अध्याय

रुक्मिणी का हरण

कारिका—शतार्धे वा चतुर्थे वा भगवान् भार्ययार्थितम् ।
विप्रार्थितं च कृतवानिति सम्यङ् निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पचासवें अध्याय में अथवा राजस साधन के चौथे अध्याय में भगवान् ने जिस कार्य की स्त्री ने तथा ब्राह्मण ने प्रार्थना की और उनका जो कार्य किया उसका अच्छी प्रकार से वर्णन किया जाता है ॥१॥

कारिका—प्रसह्य कन्याहरणमुद्योगावधि वर्ण्यते ।
कायवाङ्मनसामत्र ह्यैकमत्यं निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—उद्योग पूर्वक जबर्दस्ती जो कन्या का हरण किया है, वह वर्णन किया जाता है, इस प्रसंग में काया, वाणी तथा मन का एक ही मत है, यह निरूपण किया जाता है ॥२॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते यत्कर्तव्यम्, यद्वा वक्तव्यम्, तदुच्यतां क्रियतामिति ब्राह्मणविज्ञापना निरूपिता। ततो भगवान् तत्सन्तोषार्थं स्वमानसं वाक्यं च निरूपयितुमारम्भं कृतवानित्याह वैदर्भ्या इति।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में ब्राह्मण ने प्रार्थना पूर्वक कहा कि 'अब जो आपको करना है, वह करिये और जो कहना हैं कहिए, पश्चात् भगवान् उसके सन्तोष के लिए, अपने मन का विचार और वाक्य निरूपण करने के लिए "वैदर्भ्या" श्लोक से प्रारम्भ करते हैं।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—**वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः।**
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि उन यदुनन्दन ने रुक्मिणी का सन्देश सुनकर, हँसते हुए अपने हाथ से ब्राह्मण के हाथ को पकड़ (ग्रहण) कर यह वचन कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—सा ह्यत्यन्तं कुलीना भक्तिप्रधाना। यदुरपि भक्तिप्रधानः। तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः। नात्र शङ्का सम्भवति। यतोऽहमपि जात इति वक्ष्यति। संदेशश्चावश्यं श्रोतव्यः। इदं श्रवणं विचारपूर्वकं सादरं च। ततो ब्राह्मणः गुह्यकर्तेति तेन सह मैत्रीमिव कर्तुं पाणिना पाणिं प्रगृह्य भार्यासम्बन्ध्ययमिति औदासीन्यं परित्यज्य प्रहसन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥१॥

व्याख्यार्थ—वह निश्चय ही अत्यन्त कुलीन एवं जिसमें भक्ति ही मुख्य है, वैसी है। यदु भी भक्ति प्रधान है, "तु" शब्द शंका की निवृति के लिए है। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है, क्योंकि मैंने भी जन्म लिया है। यों कहेगा और यह सन्देश अवश्य सुनने योग्य है और यह भी

आदर सहित विचार पूर्वक सुनना है फिर, ब्राह्मण गुह्य कार्य करने वाला है, अतः इसके साथ मानो मंत्रा करते हुए की तरह अपने हाथ से उसके हाथ को पकड़ कर यह ब्राह्मण भार्या का सम्बन्धी है. इसलिए उदासीनता छोड़ हँसते हुए कहने योग्य को यों कहने लगे ॥१॥

आभास—**आदौ स्वमनोवार्तामाह तथाहमपि तच्चित्त इति ।**

आभासार्थ—पहिले अपने मन के भाव को "तथाहमपि" श्लोक में कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच-

श्लोक—तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहः निवारितः ॥२॥

श्लोकार्थ—जैसे उसका मन मुझ में लगा हुआ है, वैसे ही मेरा मन भी उसमें आसक्त है। जिससे रात्रि में नीन्द भी नहीं आती है, मैं जानता हूँ कि रुक्मी ने द्वेष के कारण मेरे विवाह का निवारण किया है ॥२॥

सुबोधिनी—यथा सा मच्चित्ता, एवमहमपि तच्चित्तः। अनेन सर्वाणि तस्या वाक्यानि मद्वाक्यसदृशानीति निरूपितम्। विशेषमप्याह निद्रां चेति। रात्रावावश्यकी निद्रा। सापि चिन्तया न जातेति। भार्येच्छया वा। नन्वेव चिन्तायां किं कारणमित्याकाङ्क्षायामाह वेदाहमिति। नात्र किञ्चित्सन्दिग्धम्। यतोऽहं वेद। सर्वगुणसम्पत्तावपि केवलं द्वेषात् रुक्मिणा एकेन ममोद्वाहः आहूय कन्यादानलक्षणः प्रयत्नेन निवारितः ॥२॥

व्याख्यार्थ—जैसे वह मुझ में आसक्त है, वैसे ही मैं भी उसमें आसक्त हूँ। यों कहने से यह सूचित किया है, कि जो उसने बचन कहे हैं, वे मेरे वचनों के समान ही हैं। विशेष कहते हैं, कि मुझे तो नीन्द भी नहीं आती है। रात्रि के समय निद्रा लेना आवश्यक है, किन्तु उसका चिन्तन होने से वह भी नहीं आती है। अथवा स्त्री की इच्छा से वैसी चिन्ता करने का क्या कारण है? इसके उत्तर में कहते हैं कि मैं जो जानता हूँ उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है क्योंकि मैं वास्तविक जानता हूँ। मुझ में वर के योग्य सर्व गुणों की सम्पत्ति होते हुए भी केवल द्वेष के कारण एक रुक्मी ने ही मेरे विवाह का प्रयत्न कर निवारण किया है ॥२॥

आभास—एवं प्रामाण्य मानस चोक्त्वा प्रतिजानीते "तामानयिष्य" इति।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रमाण पूर्वक मन का भाव कह कर अब "तामानयिष्य" इस श्लोक में कहते हैं कि मैं इसको ले आऊँगा।

श्लोक—**तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे।**
मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥३॥

श्लोकार्थ—युद्ध में अधम राजाओं का मथन कर उसको ले आऊँगा और जलती हुई अग्नि की शिखा की तरह जो मेरे में यह परायण है उसको निर्दोष कान्ति युक्त करूँगा ॥३॥

सुबोधिनी—भार्येति निश्चित्य न नाम गृह्णाति। प्रतिबन्धकानामल्पत्वायाह। राजन्यापसदान् राजन्येषु अधमान् अपगता सद् सभा येभ्य इति। क्षत्रियगोष्ठ्यां परिगणनारहिताः अधमाः। ते ह्यतिक्षुद्रा इति न मारणमपेक्ष्यते, किन्तु उन्मथनमेव कर्तव्यम्। अलौकिकद्वारा निवारयति मृध इति। युद्धे एव तानुन्मथ्य आनयिष्यामीति भावः। एवं करणे हेतूनाह मत्परामिति 'अहं भक्तपराधीन' इति भक्तिमार्गानुसारेणापि तामानयिष्ये। अनवद्याङ्गीमिति निर्दुष्टत्वादपि। निर्दुष्टं हि भगवान् गृह्णातीति। अङ्गपदेन वाक्येन दोषो निरूपितः। यतः सा दत्ता। इयं धर्मोपयोगिनी भविष्यतीति राक्षसविवाहं करिष्यामीत्याह एधसोऽग्निशिखामिवेति। दारुणि ज्वलन्ती अग्निशिखा नात्यन्तं प्रकाशमेति। सैव चेत् वर्तिसहिता भवेत्, तदा दीपरूपा अति प्रकाशते, तथा तां प्रकाशयुक्तां करिष्यामीत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने नाम न लेकर 'भार्या" शब्द कहा है। जिसका तात्पर्य यह है, कि आपने उसको अपनी निश्चित पत्नी मनसे बना ली थी कि मैं इसको लाकर इसका पाणिग्रहण अवश्य करूँगा, ये राजा अधम होने से राजाओं को सभा में गणना के योग्य नहीं हैं, वे बिल्कुल तुच्छ हैं, इसलिए मारने योग्य नहीं है, किन्तु इनका मथन कर इनको नष्ट कर देना चाहिये। वह भी अलौकिक प्रकार से नहीं, किन्तु युद्ध में ही उनको नष्ट कर अपनी भार्या को ले आऊँगा। यों ले आने में कारण बताते हैं, कि वह मेरे में परायण है, अर्थात्, अत्यन्त आसक्त चित्त वाली है, वैसा को लाना मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा है कि "अहं भक्त पराधीनः' स्वतन्त्र होते हुए भी मैं भक्तों के आधीन हूँ, इसलिए भक्ति मार्ग के अनुसार भी इसको लाऊँगा। भगवान् निर्दोष वस्तु ग्रहण करते हैं, यह भी निर्दोष है। यह भाव "अंग" पद देकर प्रकट किया है, क्योंकि वह दी हुई है,यहधर्म कार्य के उपयोग में आएगी, इसलिए इसके साथ राक्षस विधिके अनुसार विवाह करूँगा। जिस समय लकड़ी जलती रहती है, उस समय अग्नि की शिखा विशेष प्रकाश नहीं करती है। वही अग्नि जो दीपक की बत्ती में हो तो दीप रूप होने से विशेष प्रकाश करती है वैसे ही उसको मैं विशेष कान्ति वाली करूँगा ॥३॥

आभास—एवं वाचनिक मुक्त्वा कायिकार्थं प्रयत्नमाह उद्वाहर्क्षमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वाणी से जो बताना था वह कहकर, अब "उद्वाहर्क्ष" श्लोक में कायिक के लिए जो प्रयत्न करते हैं, वह कहते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—**उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः ।**
रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-मधुसूदन भगवान् रुक्मिणी के विवाह होने के योग्य नक्षत्र जान कर, सारथी को यों कहने लगे कि हे दारुक ! शीघ्र रथ तैयार करो ॥४॥

सुबोधिनी—विवाहे नक्षत्रमेव मुख्यमिति, भार्याप्रधानमिति, चन्द्र ग्रहांश्चानुगुणान् परित्यज्य नक्षत्राणां मुख्यता निरूपिता । विवाहनक्षत्रं ब्राह्मणमुखादेव विज्ञाय रथः संयुज्यतामित्याह । सम्यक् योगो युद्धार्थः । तत्र हेतुः रुक्मिण्या इति । रुक्मिणो भगिनीति । सेनासङ्ग्रहाभावे स्वत एव सामर्थ्यमाह मधुसूदन इति । आशु संयुज्यताम्, अनेन समयः सन्निहित इति ज्ञापितम् । दारुकेति सम्बोधनं वैकुण्ठादागतस्य चातुर्यं भयाभावश्च प्रदर्शितः ॥४॥

व्याख्यार्थ—विवाह में नक्षत्र ही मुख्य है "भार्या प्रधानं" पद से यह सूचित किया है कि चन्द्र ग्रहों के अनुगुणों का परित्याग कर शास्त्रों में नक्षत्रों को ही मुख्यता कही है, ब्राह्मण के मुख से विवाह के नक्षत्र का ज्ञान प्राप्त कर, सारथि को आज्ञा दी, कि रथ तैयार कर सम् शब्द का योग देकर यह सूचना की है, कि रथ इसी प्रकार तैयार कर जैसे युद्ध का कार्य कर सके । युद्ध के लिए कहने का कारण यह है, कि जिसको ले आना है वह मेरे शत्रु रुक्मी की बहिन रुक्मिणी है, अतः अवश्य वहाँ युद्ध होगा । यदि यह निश्चय है तो सेना को इकट्ठी कर क्यों नहीं ले जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि "मधुसूदनः" आप मधु जैसे जबर्दस्त दैत्य को मारने वाले होने से स्वयं एक ही समर्थ हैं । शीघ्र तैयार करो, कहने का भाव यह है कि समय थोड़ा है, विवाह का मुहूर्त निकट है । दारुक सम्बोधन देकर यह बता दिया है कि यह बैकुण्ठ से आया हुआ सारथि है, जिससे यह भी दिखाया कि यह चतुर और निर्भय भी है ॥४॥

आभास—शीघ्रमेव दारुककृतिमाह स चाश्वैरिति ।

आभासार्थ—दारुक का कार्य शीघ्र ही " स चाश्वैः" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—स चाश्वैः सैन्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।

युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥५॥

श्लोकार्थ—वह सैन्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नाम वाले घोड़ों से युक्त रथ को लेकर और हाथ जोड़ भगवान् के आगे खड़ा हुआ ॥५॥

सुबोधिनी—यद्यपि भगवतो बहवश्चाश्वाः, रथाश्च बहवः, तथापि सारथिपदप्रयोगात् गरुडध्वज एव रथो गृहीतः । तादृशोऽपि सैन्यादीनेव चतुरोश्वान् योजितवान् । तेषामन्वर्थानि नामानि । तत्राद्यः सैन्यरूप एव । असङ्ख्यातसैन्येन यावत्कार्यम्, तावदनेनैव भवतीति । द्वितीयः सुग्रीवः, यथा वानराधिपतिः सीतासमानयने रामकार्यसाधकः, तादृशोऽयमिति, सुग्रीव इति । शोभना ग्रीवा यस्येति नास्य कदाचिदपि परावृत्तिः सूचिता । मेघपुष्पस्तृतीयः । वृष्टिवत् सर्वानेव व्याप्य पततीति । बलाहकश्चतुर्थः । स मेघवत्पक्षिवद्वा क्षणमध्ये समायात्यपगच्छति च । एवं तैर्युक्तं सम्यग्योजितं रथमुपानीय यावद्विनियोगं कृत्वा, स्वकृतं ज्ञापयन्निव अग्रतः प्राञ्जलिस्तस्थौ ॥६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् के पास रथ और घोड़े बहुत हैं, तो भी सारथि पद से यह सूचना दी है कि इस समय गरुड़ की ध्वजा वाला रथ ही तैयार करना है । वैसे उस रथ में चार घोड़े भी उसी प्रकार के सैन्य आदि नाम वाले चार घोड़े जोड़ने जो उनके नाम हैं वे उनके कार्य के समान ही हैं । जैसा कि पहिला अश्व सैन्य नाम वाला इतना काम कर सकता है कि वह अगण्य सेना पार कर सकता है । दूसरा सुग्रीव नाम का अश्व सुग्रीववाला होने से वह कभी भी पराजय हो कर नहीं लौटता है । वह जैसे रामावतार में वानरों के अधिपति सुग्रीव ने सीता के लाने में सहायता दी थी वैसे यह भी (सहायता) देगा । तीसरा मेघपुष्प नाम वाला अश्व वृष्टि की भाँति सब पर व्यापक रूप से गिरता है । चौथा बलाहक नाम वाला अश्व मेघों की भाँति वा पक्षी की तरह क्षणमात्र में आता और जाता है । इस प्रकार इन घोड़ों से युक्त अच्छी तरह सजाया हुआ रथ लाकर सारथि हाथ जोड़े हुए आगे खड़ा हो गया ॥५॥

आभास - एवं ब्राह्मणाय स्ववाक्यसामर्थ्यं प्रदर्शितम्, ततः कुण्डिनपुरं गत इत्याह आरुह्येति ।

आभासार्थ—इसी भाँति ब्राह्मण को अपने वाक्य की सामर्थ्य दिखाई । पश्चात् कुण्डिनपुर गए जिसका वर्णन "आरुह्यस्यन्दनं" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ।
आनर्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ब्राह्मण को रथ में बिठाकर और आप भी विराज कर शीघ्र गमन करने वाले घोड़ों से एक हो रात्रि में आनर्त देश से विदर्भ को पहुँचे ॥६॥

सुबोधिनी—स्यन्दनमिति वेगगामिनम् । शौरिरिति पितामहनाम्ना व्यपदेशः अलौकिकसामर्थ्यप्रकाशनाभावार्थः । तमपि द्विजं तत्रैवारोप्य एकरात्रेणैव स्वदेशात्तं देशं प्रविष्टः, यथा मध्यदेशेषु न परिज्ञानं भवति । अन्यथा तत्रत्यैर्ज्ञापने रुक्मी ब्राह्मणाय भगिन्यै वा अपकारं कुर्यात्, तथैव च रुक्मिण्या प्रार्थितः ॥६॥

व्याख्यार्थ—स्यन्दन शब्द से बताया, कि यह रथ वेग से जाने वाला है । अर्थात् यह शीघ्रगामी है । आपका "शौरि" नाम दे कर यह सूचना दी है कि इस समय आपको अलौकिक सामर्थ्य प्रकट नही करना है । उस ब्राह्मण को भी उसमें ही बिठाकर एक ही रात्रि में अपने देश से उस देश में वैसे प्रविष्ट हो गऐ जैसे कि बीच में आए हुए देशों को पता न पड़ा । यदि वहाँ वालों को पता पड़ जाता तो रुक्मी ब्राह्मण का अथवा बहिन का अनिष्ट करता, रुक्मिणी ने भी वैसी ही प्रार्थना की थी ॥६॥

आभास—भगवतो नगरप्रवेशं वक्तुं नगरवर्णनार्थं भ्रमाद्राज्ञः प्रवृत्तिं निमित्तत्वेनाह राजा कुण्डिनपतिरिति ।

आभासार्थ—भगवान् का नगर में प्रवेश कहने के लिए नगर का वर्णन करते हुए भ्रम से राजा की प्रवृत्ति निमित्त से "राजा सकुण्डिनपतिः" श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः ।
शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन्कर्माण्यकारयत् ॥७॥

श्लोकार्थ—कुण्डिनपुर का वह राजा, पुत्र के स्नेह वश हो शिशुपाल को अपनी कन्या देते हुए उसके निमित्त नगर को सजाने का कार्य कराने लगा ॥७॥

सुबोधिनी—राजत्वाद्भीष्मकत्वात् । कुण्डिनमिति अल्पवत् नगरनाम निरूपितम् । तत्पतित्वाच्च । पुत्रस्नेहवशत्वाच्च शिशुपालाय शिशु बालबुद्धिमेव पालयतीति दुर्बुद्धये कन्यां दातु कर्माणि पुरसंस्काररूपाणि सेवकैरकारयत् । अनेन देशे भगवद्गमनेऽपि न तेषां विपरीतशङ्का कापि जातेति निरूपितम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—राजापन से वा भीष्मकपन से "कुण्डिन" पद से दिखाया है कि वह छोटा सा नगर है, जिसका वह स्वामी है । पुत्रस्नेह के वश होकर जो बाल बुद्धि को, उसका अब तक पालन करता है । इसलिए उस दुर्बुद्धि को कन्या देने के लिए नगर के सजाने के कार्य सेवकों से कराने लगा । इससे देश में भगवान् के पधारने पर उसको किसी प्रकार से मन में सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ, यों निरूपण किया है ॥७॥

आभास—भगवत्प्रवेशार्थं पुरीं वर्णयति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् के प्रवेश के लिए पुरी का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—पुरं संमृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम् ।
चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलंकृतम् ॥८॥
स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजाम्बरभूषितैः ।
जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगरुधूपितैः ॥९॥

श्लोकार्थ—प्रथम नगर के राजमार्ग, गली और चौराहे को झार बुहार साफ कराया, फिर छिड़काव कराया, विचित्र ध्वजा, पताका और तोरण बंधवा कर नगर को सुशोभित किया ॥८॥

नगर के नर नारी, माला, सुगन्ध पुष्प और आभूषण तथा स्वच्छ वस्त्रों से अलंकृत हो रहे थे एवं घर घर में अगर की सुगन्धियाँ जाती थी ॥९॥

सुबोधिनी—पुरमिति । प्रथमतः सम्यक् मृष्टं रजोनिवारणेनोज्ज्वलीकृतम् । ततः संसिक्तं चन्दनादिभिः । मार्गा राजमार्गाः । रथ्या हट्टस्थिता । चतुष्पथं सर्वतो मार्गा । तेषु संसिक्तमित्यर्थः । एकमधः शोभा निरूपिता । उपरिशोभामाह चित्रध्वजेति । त्रिविधैरपि सम्यगलङ्कृतम् । मध्ये अलङ्करणमाह स्रग्गन्धेति । स्त्रीपुरुषैः गृहैश्च जुष्टमिति । अनेन तस्मिन् नगरे केवला व्यावर्तिताः । ये सुतरामम‌ङ्गलरूपाः, तेऽपि भूषिता इत्याह । स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्युक्ताः, स्रग्गन्धमाल्यानामेवाभरणानि येष्विति । विरजानि अम्बराणि भूषणानि च येष्विति । श्रीमद्गृहैरिति गृहे सर्वसम्पत्तिर्निरूपिता । अगरुधूपितैरिति विशेषसम्पत्तिः विवाहोत्सवप्रयुक्तिश्च निरूपिता ॥८॥९॥

व्याख्यार्थ–पहिले नगर की धूलि आदि निकाल कर उसे खूब उज्ज्वल और साफ किया। बाद में चन्दन आदि के सुगन्धित जल से राजमार्ग, बाजार, गलियाँ, रथ के जाने योग्य सड़कें और चौराहों पर छिड़काव किया। इस प्रकार नीचे भाग की शोभा का वर्णन करके अब ऊपर की शोभा का वर्णन करते हैं कि विचित्र ध्वजा पताका और तोरणों से अच्छे ढंग से उसे सजाया। बीच का शृंगार कहते हैं कि नगर स्त्री और पुरुष तथा गृहों से सुशोभित हैं इससे नगर में कोई भी बिना अलंकार के नहीं है, जो बहुत कर अमंगल रूप हैं, वे भी अलंकृत किए हुए हैं। पुरुष और स्त्रियाँ माला, चन्दन, पुष्पों के आभरणों से युक्त हैं तथा स्वच्छ वस्त्र तथा अनेक आभूषणों से सुन्दर रूप वाले बने हुए हैं, इससे घरों की सर्व प्रकार की सम्पत्ति का निरूपण किया है। घरों में विशेष सम्पत्ति विवाहोत्सव में लगने वाली भी है। अगरु धूप आदि से समस्त घर सुगन्धि से युक्त थे ॥८, ९॥

आभास—एवं लौकिकसमृद्धिमुक्त्वा वैदिकार्थसमृद्धिमाह पितृन्देवान्समभ्यर्च्येति।

आभासार्थ—इस प्रकार लौकिक समृद्धि कहकर अब वैदिक के लिए जो समृद्धि होती है, वह "पितृन् देवान्" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—पितृन्देवान्समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृपः ।
भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—राजा, पितर और देवों का पूजन करके ब्राह्मणों का भी विधि के अनुसार पूजन किया। सबको उचित रूप से भोजन कराके बाद में पुण्याहवाचन कराया ॥१०॥

सुबोधिनी—पितरो देवाश्च नान्दीमुखदेवताः सम्यक् पूजिताः, अन्यथा प्रथमत एव कन्याहरणे विवाहो विगुणः स्यात्, अतः कर्तव्यं कृतमिति वक्तव्यम् । विप्रांश्च सम्यगभ्यर्च्य पुण्याहवाचने । विधिवदिति । तेभ्यो वस्त्रालङ्करणादिदानेन । नृप इति सामर्थ्यम् । तेषां सन्तोषः भोजनप्रधान इति भोजयित्वा यथान्यायमित्युक्तम् । नान्दीमुखे विधानपूर्वकं भोजयित्वा सुमङ्गलं पुण्याहवाचनम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—पितर और देवता जो नान्दीमुखदेव हैं उनका अच्छे प्रकार से पूजन किया । यों नहीं करते तो, पहले ही कन्या हरण करने में, विवाह गुण रहित हो जाता । इसी कारण से जो विवाह में प्रथम कर्तव्य है वह किया । पुण्याह वाचन में प्रथम ब्राह्मणों का विधि पूर्वक वस्त्र अलंकृत आदि दान के साथ पूजन किया । "नृप" कहने से यों करने का सामर्थ्य प्रकट किया है । ब्राह्मणों का सन्तोष भोजन से होता है, अतः नान्दीमुख में विधि का उचित रीति से भोजन कराके मंगलरूप पुण्याह वाचन कराया ॥१०॥

आभास—यदर्थं भगवानागतः तां देयत्वेन भूषितां चक्रुरित्याह सुस्नातामिति ।

आभासार्थ—जिसको लेने के लिए भगवान् आए हैं, उसको देने के हेतु सुशोभित करने लगे, जिसका वर्णन "सुस्नातां" श्लोक से करते है ।

श्लोक—सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।
अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥११॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह स्नान की हुई, सुन्दर दांतों वाली, किए हुए विवाह के चिन्ह वाली और नवीन हलदी के रंग वाले दो वस्त्र धारण की हुई उत्तम आभूषणों से भूषित कन्या को ॥११॥

सुबोधिनी—मङ्गलस्नानं कारितवन्तः, ततो दन्तसंस्कारमपि । शुभ्रदन्ता न द्रष्टव्येति केषाञ्चिद्देशाचारः । कन्यामित्यदत्ताम् । प्रायेण सूचित एव शिशुपालः । वाङ्निश्चयोऽप्यग्र एव भविष्यति । दाक्षिणात्यास्त इति विवाहपूर्वक्षण एव कन्यावरणम् । कृतं कौतुकरूपं मङ्गलं यस्याम् । हरिद्रया कपोलयोः रेखादिनिर्माणम् । तद्विवाह एव भवति, नान्यदा । वस्त्रमपि तादृशमेव परिधापितवन्त इत्याह अहतांशुकयुग्मेन भूषितामिति । अहतं तन्तूत्तारितं अच्छिन्नम् ।

नूतनमिति केचित् । तेषां मते पाषाणे प्रहारः न हृतत्वं सम्पादयतीति । अनुपभुक्तमित्यन्ये अंशुकं पट्टवस्त्रम् । एकं परिधापितम्, अपर प्रावृतमिति । भूषणैरपि भूषिताम् । सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुद इति कूकुदत्वार्थं मलङ्करण-मुक्तम् । कू द्यावापृथिव्यौ । कु कुत्सिते यस्याः । रोदसीदानापेक्षयापि तादृक् कन्यादानं विशिष्ट-मिति द्योतितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—प्रथम मंगल स्नान कराया, पश्चात् दाँतों को भी साफ किया साफ किए हुए कन्या के दाँत नहीं देखने चाहिए, यह कहीं का देशाचार है। उस कन्या को जो अब तक दी हुई नहीं है, बहुत करके यह शिशुपाल को सूचनाभी की थी। वाणी से देने का निश्चय भी आगे ही होगा वे दाक्षिणात्य हैं, इसलिए विवाह से आगे क्षण में ही कन्या का वाणी से वरण करते है। जिसके कौतुक रूप मंगल चिन्ह किए हुए हैं, वे चिन्ह कपोलों पर हलदी से रेखाओं से किए जाते हैं। वे चिन्ह विवाह मे ही किए जाते हैं दूसरे समय नहीं। वस्त्र भी वैसे पीले पहनाए गए हैं, वे कपड़े पट्ट के हों और फटे हुए नहीं हों। कोई कहते हैं कि "अहत" का अर्थ है नवीन वस्त्र उनके मत में वस्त्र को पाषाण पर जो प्रहार होता है जिससे उसकी नवीनता नहीं जाती है। दूसरे कहते हैं कि वह कपड़ा जो काम में नहीं लाया गया हो, दो वस्त्रों से एक पहिने और दूसरा ऊपर से ओढ़ ले, आभूषणों से भूषित, इस प्रकार कन्या का सत्कार कर जो देता है वह "कूकुद" है। कूकुद होने के लिए कन्या को अलकृत करना है। इस प्रकार कन्या का दान पृथ्वी और स्वर्ग के दान से भी उत्तम है, यों प्रकट किया है। "कू" स्वर्ग और पृथ्वी "का होना" "कु" कुत्सितं यस्याः ? जिससे कम है ॥११॥

आभास—तस्यां विवाहदेवतासान्निध्यमाह चक्रुरिति ।

आभासार्थ—उसका "रुक्मिणी का" विवाह देवता की समीपता का वर्णन "चक्रुः" श्लोक से करते हैं।

श्लोक—चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः ।
पुरोहितोऽथर्वविद्वै जुहाव ग्रहशान्तये ॥१२॥

श्लोकार्थ—उत्तम ब्राह्मण साम, ऋग् और यजुर्वेद के मन्त्रों से वधू की रक्षा करने लगे, और अथर्व वेद जानने वाला पुरोहित ग्रह शान्ति के लिए होम करने लगा ॥१२॥

सुबोधिनी—वेदत्रयमन्त्रैः रक्षासूत्रं बद्ध्वा द्विजोत्तमा मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः भगवदर्थमेव। यथा कोऽपि न स्पृशति दृष्टादृष्टप्रकारेण, तथा रक्षां चक्रुः। देवा हि द्विविधाः, केचन हुतादः, अन्ये अहुतादः, तत्र वाचनादिना ये अहुतादः ते प्रीणिताः। होमेनान्येषां प्रीतिमाह पुरोहितोऽथर्वविदिति। होमे पुरोहितो मुख्यः। स हि हितमेव विचारयति। अथर्वणवेदे नक्षत्रकल्पः शान्तिकल्पश्चोक्तः। अतोऽथर्ववित् शान्तिं जानाति। ये कन्यायाः भगवन्तं त्याजयित्वा नीचसम्बन्धं कारयितुमुद्युक्ताः, तेषां ग्रहाणां शान्त्यर्थं जुहाव। अन्यथा ग्रहैर्वा प्रतिबन्धो भवेत्। भगवांश्च नालौकिकं प्रकटीकरोति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के समान ब्राह्मणोत्तम साम, ऋग् और यजुः इन तीनों वेदों के मन्त्रों से वधू के रक्षासूत्र बांध भगवान् के लिए ही इसी प्रकार रक्षा करने लगे। जैसे कोई भी दृष्ट अथवा अदृष्ट प्रकार से स्पर्श न कर सके। देव दो प्रकार के हैं, एक होम द्वारा प्रसन्न होकर तृप्त होने वाले हुताद हैं और दूसरे केवल मन्त्रों के श्रवण से ही तृप्त हो जाते हैं वे अहुताद हैं। वे मन्त्रों से प्रसन्न होके तृप्त हो गए, अब दूसरों को होम द्वारा प्रसन्नता का वर्णन करते हैं। होम मे पुरोहित मुख्य है, वह हित का ही विचार करता है। वेद में कर्म कराने की दो प्रकार की विधि है। एक नक्षत्र कल्प, दूसरा शान्ति कल्प। अथर्ववेद जानने वाला शान्ति कल्प ही जानता है, जो होम द्वारा होता है। ग्रह कन्या का भगवान् से सम्बन्ध छुड़ा के नीच से सम्बन्ध कराने के लिए तैयार हुए थे, उन ग्रहों की शान्ति के लिए वे अथर्ववेद पुरोहित होम कराने लगे। नहीं तो ग्रहों द्वारा रुकावट हो जाय और भगवान् तो इस कार्य में अपना अलौकिक प्रकट करना नहीं चाहते हैं ॥१२॥

आभास—**दानेन सर्वदोषनिवृत्तिरिति दानान्यपि कृतवानित्याह हिरण्येति।**

आभासार्थ— दान करने से सब दोष मिट जाते हैं, इसलिए दान भी किए, जिसका वर्णन "हिरण्य" श्लोक में करते हैं।

श्लोक—हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान्।
प्रादाद्धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदांवरः ॥१३।

श्लोकार्थ—विधिज्ञों में श्रेष्ठ राजा ने सुवर्ण, चांदी और वस्त्र तथा गुड़ मिलाए हुए तिल एवं धेनु ब्राह्मणों को दान कर दिए ॥१३॥

सुबोधिनी—हिरण्यं सुवर्णं तत्सार्वकामिकमग्निदैवत्यम्। रूप्यं सोमदैवत्यम्। वासश्च सर्वदैवतमिति। गन्धर्वदैवतं वा। तेन त्रयो भागिनः कन्याया व्यावर्तिताः। तिलमोदकदानं तु सर्व-

दोषहरमिति गुडमिश्रितान् तिलांश्च ददौ । चकारात्केवलानपि । कन्यायाः सर्वसमृद्ध्यर्थं धेनूश्च प्रादात् विप्रेभ्यश्च । त एव हि विशेषेण पूरकाः । राजा समृद्धः । विधानेन दत्तं फलपर्यवसायि भवतीति तदर्थमाह । विधिविदां मध्ये श्रेष्ठ इति ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ–सुवर्ण अग्नि देव वाला है, अतः वह दान करने से सर्व कामनाएँ पूर्ण करता है। चाँदी का देवता सोम है वस्त्रों के सर्वदेव हैं अथवा गन्धर्व देव है। इस प्रकार दान की वस्तुओं का स्वरूप कहने से यह बताया है कि कन्या के भोग के भाग वाले जो तीन देव हैं, वे इसका भोग नहीं कर सकेंगे। तिलों के मोदकों का दान सर्व दोषों का हरण करने वाला है। "च" पद से यह भाव भी प्रकट किया है, कि केवल तिलों का दान भी सर्व दोषों को मिटाता है। कन्या के पास सर्व प्रकार की समृद्धि होवे, इसलिए ब्राह्मणों को गाय दान में दीं। वे ही विशेष कर पूर्णता देने वाले हैं, राजा बहुत सम्पदा वाला है, विधि से दिया हुआ दान ही सफल होता है, इस कारण से कहा कि राजा स्वयं विधिज्ञों में उत्तम है, अर्थात् उसने जो दान दिए वे विधि के अनुसार ही दिए ॥१३॥

आभास–एवं पुरं कन्यां च निर्दुष्टतया निरूप्य मध्ये निराकार्याणां वृत्तान्तमाह षड्भिः ।

आभासार्थ–इस प्रकार नगर और कन्या निर्दोष है ऐसा निरूपण कर बीच में सामने पक्ष वालों का वृत्तान्त ६ श्लोकों से करते हैं।

श्लोक–एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै ।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥१४॥

श्लोकार्थ–इसी भाँति चेदि देश के राजा दमघोष ने अपने पुत्र शिशुपाल के लिए मन्त्र जानने वाले ब्राह्मणों से अभ्युदय के उचित मंगल कर्म करवाए ॥१४॥

सुबोधिनी–भगवद्धर्मैरेव तेषां निराकरणार्थम् । प्रथमं विवाहः संस्कार इति पित्रैव तस्य संस्काराः क्रियन्त इति निरूपयति । यथा रुक्मिण्याः तत्पित्रा कृतम् । एवं चेदिपतिरपि दमघोषः सुताय शिशुपालाय विवाहो भविष्यतीति वै निश्चयेन कारयामास । तस्यापि सामर्थ्यं राजेति । दमघोष इति दमस्य शान्तेः घोष एव, नतु तस्य दमः । न हि अदान्तेन कृतं सफलं भवति । अक्षरव्यत्यासो वा, मदघोष इत्यर्थः । सिंहवत् । अत उन्मादात् भगवन्तमविचार्य तथा कृतवान् । अभ्युदये उचितमेव, नत्वभ्युदयम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—उनका निराकरण भगवद्धर्मों से ही किया। पहले विवाह के संस्कार पिता ही कराता है, जैसे रुक्मिणी के विवाह के सर्व संस्कार उसके पिता ने ही किए। इसी तरह चेदिदेश के राजा दमघोष ने भी मेरे पुत्र शिशुपाल का विवाह होगा, यह मन में निश्चय कर वह सर्व संस्कार कराने लगा। इस प्रकार करने की शक्ति उसमें भी था, क्योंकि वह भी राजा था तथा उसका नाम ही "शान्ति का गर्जन" "दमघोष" था न कि उसका दमन अशान्त जो करता है वह सफल नहीं होता है अथवा इसके नाम में एक अक्षर बदल गया है वास्तव में यह मदघोष है। सिंह के समान इसकी गर्जना मद से भरी हुई है, अतः अभिमान से भगवान् का विचार न कर इस प्रकार करने लगा। वह अभ्युदय में उचित है, किन्तु उसमें अभ्युदय हुआ नहीं ॥१४॥

आभास—एतादृशस्य उन्मत्तसेनायुक्तस्य पुरं प्रति गमनमाह मदच्युद्भिरिति।

आभासार्थ–मदवाली सेना से युक्त ऐसे का नगर में गमन "मदच्युद्भि" श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः।
पत्त्यश्वसंकुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ ॥१५॥

श्लोकार्थ—मद झरने वाले हस्ती सुवर्ण माला से सजे हुए रथों से पैदल और सिपाही घुड़ सवारों की सेना से घिरे हुए (वर राजा) कुण्डिनपुर पधारे ॥१५॥

सुबोधिनी—षष्टिहायनैः मत्तगजैः सह। गजानामनीकरूपत्वार्थं तथोक्तम्। सुवर्णमालायुक्तानि च स्यन्दनानि। भटाः अश्वाश्च। एवं चतुरङ्गसेनायुक्तः युद्धार्थमेव कुण्डिनपुरं ययौ, न तु विवाहार्थम्, अन्यथा विवाहसामग्रीमपि नयेत् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—साठ घोड़े, मदमत्त हाथियों के साथ, यों कहने का भाव यह है कि साथ में हाथियों की सेना ले ली थी। सोने की मालाओं से सुशोभित रथ थे, प्यादे और घोड़े, इस प्रकार चतुरंग सेना को लेकर युद्ध के लिए ही कुण्डिनपुर जाने लगे न कि विवाह के लिए। यदि विवाह के लिए जाते तो साथ में विवाह की सामग्री भी होती किन्तु वह नहीं थी ॥१५॥

आभास—तस्याग्रे निराकरणार्थमादौ सन्माननामाह तं वै विदर्भाधिपतिरिति।

आभाषार्थ—उसका आगे तिरस्कार करने के लिए पहिले सन्मान का वर्णन "त्वं वै विदर्भाधिपति" श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च ।
निवेशयामास मुदा कल्पिते वाधिवेशने ॥१६॥

श्लोकार्थ—विदर्भ का राजा भीष्मक सामने लेने के लिए आया और उसका पूजन सत्कार कर हर्ष से वनाए हुए जनवासे में स्थापित किया ॥१६॥

सुबोधिनी-विदर्भदेशस्याधिपतिः विशेषानभिज्ञः, तं निश्चयेन, समभ्येत्याग्रे गत्वा अभिपूज्य, गृहागताय यथा पूजा विधेया। चकारात् विशेषाभावं च कृत्वा, मुदा हर्षेण कल्पिते अधिवेशने, नतु सहजे उत्कृष्टे। आ ईषत्कल्पिते वा अकल्पिते वा वाटिकादौ स्थापितवान् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ-विदर्भ देश का राजा विशेष अनभिज्ञ है, अर्थात् साधारण जानकार है उसको लेने के लिए सामने जाकर पूजादि से वैसे सत्कार किया, जैसे घर में आए हुए की पूजा की जाती है। शास्त्रों में कहा है कि घर में जो आवे उसको पूजा करनी चाहिए। "च" का भाव यह है कि साधारण रीति से सत्कार किया। प्रसन्न चित्त से तैयार किए हुए रहने के स्थान पर उनको ठहराया वह सहज वा उत्तम नहीं था, थोड़ा सा सजाया अथवा न भी सजाया हुआ, वा बाग आदि में ठहराया ॥१६॥

आभास—तत्रैव सर्वे दुरात्मान एकीभूता इत्याह तत्र शाल्व इति ।

आभासार्थ—वहाँ सर्व दुष्ट ही इकट्ठे हुए थे, जिनका वर्णन "तत्रशाल्वो" आदि तीन श्लोकों में करते हैं।

श्लोक-तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः ।
आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः ॥१७॥
कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम् ।
यद्यागत्य हरेत्कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः ॥१८॥

योत्स्यामः संहतास्तेन इतिनिश्चितमानसाः ।
आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥१६॥

श्लोकार्थ—वहां शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र, विदूरथ, पौंड्रक आदि हजारों शिशुपाल के पक्ष के राजा आये। ये राम कृष्ण के वैरो शिशुपाल को कन्या दिलवाने के लिए सज कर आये थे। इन्होंने मनमें निश्चय कर लिया था कि यदि बलभद्र आदि यादवों को साथ लेकर कृष्ण यहां आके कन्या हरण करेंगे तो हम सब इकठ्ठे हो उनसे लड़ेंगे। इसीलिए वे सब राजा अपनी समग्र सेना और वाहन आदि लेकर आए थे ॥१७-१८-१६॥

सुबोधिनी–विदूरथः दन्तवक्रभ्राता । चत्वारो मुख्या गणिताः । अन्येऽपि चैद्यपक्षीयाः आययुः । पौण्ड्रकाद्याश्च मिथ्यावासुदेवादयोऽपि तत्रैव निविष्टाः । तेषामेकत्र स्थितौ एकं धर्ममाह कृष्णरामद्विष इति । नहि तेषामागमने किञ्चिदन्यत्कृत्यमस्ति । एकाकिनो वयमसमर्थाः, केनचिन्मिषेण भगवान् जेतव्य इति, चैद्ये स्वोपकारं च ख्यापयितुमरिमित्रन्यायेन समागता इत्याह । यत्ताः सन्तः कन्यां चैद्याय साधितुं समागताः । नन्वाहूय कन्या दीयते, कः सन्देह इति चेत्, तत्राह यद्यागत्येति । तेषां हृदये भगवान् तथैव ज्ञापितवान् । कृष्णो हि स्त्रीणां हितकर्तेति । रामाद्यैर्यदुभिः सहागतः यदि हरेत्, तदा योत्स्याम एव, नत्वन्यत् सामर्थ्यमस्तीतिभावः। इत्येवं निश्चितं मानसं येषाम् । अत एव सर्वे समर्थबलवाहनाः सन्तः आजग्मुः । भूभुज इति तेषां सा सम्पत्तिः सहजा ॥१७-१८-१६॥

व्याख्यार्थ–विदुरथ, दन्तवक्र का भाई था, मुख्य जो चार थे, उनकी गणना की है। दूसरे भी शिशुपाल के पक्ष के आए थे। अपने को मिथ्या वासुदेव कहलाने वाले पौण्ड्रक आदि भी वहाँ आए थे। उनके यहाँ आने का कारण यह था, कि वे सब रामकृष्ण के शत्रु थे। उनके आने का अन्य कोई कारण नहीं था, क्योंकि उनको वहाँ कोई दूसरा काम नहीं था। हम सब अकेले तो कृष्ण को जीतने में शक्तिमान नहीं हैं। किसी भी मिस से मिलकर कृष्ण को जीतना ही है, यों करने से चैद्य पर अपना उपकार भी प्रकट होगा, अतः "अरिमित्रन्याय" से वहाँ आकर पहुँचे। शिशुपाल को कन्या दिलाने के लिए सजकर आए थे। बुलाकर कन्या दी जाती है, इसमें सन्देह क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं कि "यदि आगत्य", उनके हृदय में भगवान् ने इसी भाँति जनाया कि यदि राम आदि यादवों से मिलकर कन्या को हरण करने के लिए स्त्रियों का हितकारी श्रीकृष्ण आवे तो हम सब मिल कर उससे लड़ेंगे। इसके सिवाय दूसरा कोई सामर्थ्य उनमें नहीं है इसलिए

उन्होंने यही मनमें निश्चय कर रखा था। अतएव सब राजा अपनी सेना और वाहन लेकर आए थे। "भूभुज" विशेषण से बताया कि उनकी यह स्वाभाविक सम्पत्ति है ॥१७, १६॥

आभास—एषा वार्ता सर्वजनीना जातेति ज्ञापयितुं बलभद्रादयो भगवता अनुक्ता अपि समागता इत्याह श्रुत्वैतदिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यह खबर सर्वत्र फैल गई जिसको सुनकर बलभद्र आदि भगवान् के कहे बिना भी आ गए जिसका वर्णन "श्रुत्वा" दो श्लोकों में करते हैं।

श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयबलोद्यमम् ।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥२०॥
बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् राम, चेदी राजाओं का यह उद्यम सुनकर, और श्रीकृष्ण अकेले कन्या को हरण के लिए पधारे हैं यह जानकर कलह होनें की शंका से भाई के स्नेह से आर्द्र चित्त हो, बड़ी सेना संग ले हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों के साथ तुरन्त कुण्डिनपुर पधारे ॥२०, २१॥

सुबोधिनी—श्रुतस्य सत्यत्वाय भगवानिति। राम इति साधनरूपः विपक्षायाः विपक्षस्य शिशुपालस्य सम्बन्धिनः । तेषां बलस्योद्यमं श्रुत्वा । एक एव च भगवान् कन्यां हर्तुं गत इति कलहे शङ्कां प्राप्तः । कलहो भविष्यतीति निश्चित्य महता बलेन सार्धं त्वरितः कुण्डिनं ययौ । ननु भगवति कः सन्देहो भवेत्, किमिति गत इत्याशङ्क्याह भ्रातृस्नेहेन परिप्लुत इति । लौकिकदृष्ट्या स्नेहेन च गत इत्यर्थः ॥२०॥२१॥

व्याख्यार्थ—"राम" नाम कहने से यह बताया कि वे साधन रूप हैं और "भगवान्" विशेष से जताया कि जो सुना है वह सत्य है, क्योंकि आप भगवान् होने से सत्य और झूठ को जान सकते हैं, शिशुपाल के सम्बन्धी होने से वे विपक्षी अर्थात् शत्रु हैं। उनकी सेना का उद्यम सुनकर भगवान् अकेले कन्या को लेने के लिए गए हैं, इसलिए वहां निश्चय युद्ध होने की शंका समझ जबर्दस्त सेना

लेकर तुरन्त कुण्डिनपुर गए। कृष्ण भगवान् हैं, उसके लिए सन्देह क्यों ? जो सन्देह से गए, इसके उत्तर में कहते हैं कि भ्राता के स्नेह से हृदय आर्द्र हो गया था, यह सब लौकिक दृष्टि से और स्नेह प्रकट करने के लिए गए ॥२०, २१॥

आभास—एवं सर्वसंविधानमुक्त्वा अत्यन्ताकाङ्क्षायामेव भगवान् समायातीति रुक्मिण्याः आकाङ्क्षा निरूपयति भीष्मकन्येति सप्तभिः सार्धैः ।

आभासार्थ—इसी तरह सब प्रकारसे कह कर, बनाते हैं कि भगवान् तव पधारते हैं कि जब अत्यन्त आकांक्षा होती है, इसलिए रुक्मिणी की आकांक्षा का "भीष्मकन्या" श्लोक से साढ़े सात श्लोकों से वर्णन करते हैं।

श्लोक—भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः ।
प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ॥२२॥

श्लोकार्थ—वरारोह भीष्मक राजा की कन्या हरि के आगमन की राह देखती थी, भेजे हुए ब्राह्मण को जब लौटता हुआ न देखा तब चिन्ता करने लगी ॥२३॥

सुबोधिनी—भीष्मकन्येति न स्वातन्त्र्येण स्थातुं शक्नोति। स हि पिता भयानकः, कन्या चास्वतन्त्रा, कन्यात्वादेव लोकाविगानम्। वरारोहेति भोगयोग्यावस्था निरूपिता। तेन दानसमनन्तरमेव सर्वनाशः सूचितः। अतोऽतिदुःखिता उपायान्तरमलभमाना हरेरेव सर्वदुःखहर्तुः आगमनं काङ्क्षन्ती जाता। ततः स्वस्य प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती तदा द्विजस्य, द्विजमचिन्तयत्। द्विजस्य वा प्रत्यापत्तिम्। प्रत्यापत्तिर्नाम स्थानात्प्रच्युतस्य पुनः स्वस्थानागमनम्। स्वयमपि भगवतः सकाशात् प्रच्युता, पुनर्भगवत्प्राप्तिमलभमाना, प्रापकं द्विजमेवाचिन्तयत् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी भीष्मक राजा की कन्या है, इससे स्वतन्त्र रह नहीं सकती है। कारण कि वह पिता भयानक है और कन्या स्वतन्त्र हो नहीं सकती है। कन्यापन से ही लोक में निन्दा नहीं है, "वरारोहा" विशेषण से रुक्मिणी अवश्य भोग योग्य बताई है, अतः यदि शिशुपाल को मैं दी गई तो उसी समय मेरा सर्वनाश हो जायगा। इससे बहुत दुःखी हुई, दुःख मिटाने का कोई दूसरा उपाय न देखकर सर्व दुःखों के हरण करने वाले हरि का आगमन ही चाहने लगी। पश्चात् भेजे हुए अपने ब्राह्मण को लौटता न देख, उसका ही चिन्तन करने लगी कि वह अब तक क्यों नहीं लौटा

है ? स्वयं भी भगवान् के पास झुकी फिर भगवान् को प्राप्ति न होने से भगवान् के पास पहुँचने वाले ब्राह्मण का चिन्तन करने लगी ॥२२॥

आभास—तस्याश्चिन्तामाह अहो इति सार्धैस्त्रिभिः गुणेभ्योऽप्यधिकेति ख्यापयितुम् ।

आभासार्थ—उसकी चिन्ता गुणों से भी अधिक हे यों प्रसिद्ध करने के लिए "अहो" इति इन साढ़े तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः ।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः ॥२३॥
अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् ।
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः ॥२४॥

श्लोकार्थ—मुझ मन्द भागिन के विवाह में केवल एक रात्रि ही बाकी हैं । कमल-नयन भगवान् तो अब तक नहीं पधारे है इसका क्या कारण है, यह मैं समझ नहीं सकती हूँ, जो ब्राह्मण मेरा सन्देश लेकर गया था वह भी अब तक लौट कर नहीं आ रहा, जिनने मेरे लिए पहिले उद्यम किए वे निर्दोष भगवान् क्या मुझ में कोई दोष देख कर मेरा पाणिग्रहण करने के लिए नहीं आते हैं ? ॥२३-२४॥

सुबोधिनी—त्रियामा रात्रिः, तयैवान्तरित उद्वाहः एकैव रात्रिर्मध्ये वर्तत इत्यर्थः । त्रियामात्वेनाल्पकालता सूचिता । अतोऽग्रिमदिवसे महाप्रलय एवेति चिन्ता । अल्पराधस इति अल्पसिद्धियुक्तायाः । भाग्यसिद्धिश्चेत् महती भवेत्, तदा शीघ्रमेवेष्टसिद्धिः । सन्देहादल्पवचनम् । चिन्तायां द्वितीयां कोटिमाह नागच्छत्यरविन्दाक्ष इति । दृष्ट्यैव तापनाशकः । अत्र कारणमहं न वेद्मि । नन्वागमनसमयो न जातः किमिति चिन्त्यत इति चेत्, तत्राह सोऽपि नावर्तत इति । आगच्छतीति ज्ञाते चिन्ता न भवेत् । आगमनकालश्च सन्निहितः । तत एकतरनिश्चये अस्वास्थ्यं वा उत्पाद्यं भवति । येन श्वो विवाहो न भवेत् । अपिशब्दादन्यो वा भगवता प्रेषितः स्यात्तेनापि वा । अद्यापीति सन्निहितः समयः । ननु ब्राह्मणाः क्वचित्तपः करिष्यन्ति, को नियमस्तेषामागमन इति चेत्, तत्राह मत्सन्देशहर इति । सन्देशं यो नयति, तत्रापि द्विजः

सत्यवादी । द्वितीयं जन्म सत्यार्थमेवेति । तत्र स्वयमेव हेतुं कल्पयनि । अपीति सम्भावनायाम् । भगवाननवद्यात्मा किञ्चिद्भ्रातृपक्षपातलक्षणं जुगुप्सितं दृष्ट्वा, तत्कारणभूतं पूर्वजन्मस्थितं वा मत्पाणिग्रहणे प्रथमत उद्यमं कृत्वापि, ब्राह्मणमपि स्थापयित्वा सङ्गेष्यामीति पश्चान्नागतः । ततो ब्राह्मणोऽपि शीघ्रमागन्तुमसमर्थः नागत इति तदाह । मत्पाणिग्रहणे कृतोद्यमोऽपि नूनं नायाति ।।२३-२४।।

व्याख्यार्थ—रात्रि तीन पहर रहती है, विवाह में बाकी इतना ही समय रहा है, अर्थात् विवाह होने के बीच में एक ही रात्रि शेष है। रात्रि तोन पहर की कहने से यह बताया कि विवाह में बाकी थोड़ा समय है, अतः कलके दिन मेरे लिए महाप्रलय हो होने वाला है, इससे चिन्ता हो रही है। मैं अभागिन हूँ, यदि अच्छा भाग्य होता या बड़भागिनि ही होती तो शीघ्र ही मेरे मन की कामना पूर्ण होती। निश्चय न होने से थोड़े ही वचन कहे हैं। चिन्ता होने का दूसरा कारण बताती है कि कमल नेत्र भगवान् नहीं आए हैं, वे तो दृष्टि मात्र से ताप को नाश करने वाले हैं। उनके न आने का कारण मैं समझ नहीं सकती हूँ। जब तक आने का समय नहीं हुआ है तो चिन्ता क्यों करती है ? इसके उत्तर में कहती है, कि भेजा हुआ ब्राह्मण भी नहीं लौटा है, यदि यह मालूम हो जाय कि आ रहे हैं तो चिन्ता न हो आने का समय तो निकट ही है, इससे एक बात का निश्चय हो जाय तो अस्वस्थता वा निश्चितता हो जाय कि कल विवाह न होगा। "अपि" शब्द के आशय को प्रकट करते हुए कहते है, कि भगवान् ने कोई दूसरा भेज दिया हो, उससे भी विवाह रुक जावे। "अद्यापि" अब तक शब्द कहने का भाव है कि समय निकट है ब्राह्मण है, वे कदाचित् तपस्या करते होंगे, अतः उनके आने का कोई नियम नही है यदि यों कहे तो इस पर कहती है कि वह ब्राह्मण 'मत्सन्देशहर" मेरा सन्देश ले जाने वाला है। जो केवल सन्देश ले जाता है वह भी सत्यवक्ता होता है। यह तो ब्राह्मण है, इससे निश्चय सत्यवादी है। सत्य के लिए ही द्वितीय जन्म है, उस विषय में स्वयं ही हेतु की कल्पना करती है कि हो सकता है कि शुद्ध अन्तः-करण वाले निर्दोष भगवान् ने यहाँ कुछ भ्राता के पक्षपात वाला निन्दित कार्य देखा है, जिस कारण से वा पूर्व जन्म का कोई कारण है उससे मेरे पाणिग्रहण का पहले उद्यम करके भी और ब्राह्मण को भी रोक कर कि साथ में ले जाऊँगा, इस प्रकार निश्चय कर फिर नही आए। इस कारण से ब्राह्मण भी शीघ्र आने में असमर्थ आ है, अतः ब्राह्मण भी नहीं आया है, यह भाव "कृतोद्यम" पद से प्रकट किया है ।।२३-२४।।

आभास—ननु सदुष्टा अपि केचन परिगृह्यन्ते, न हि सर्वथा निर्दुष्टा भवन्ति । तथा सति कस्यापि परिग्रहो न स्यात्, इति चेत् । सत्यम् । तत्र अदृष्टादिकं प्रेरकं सम्पद्यते । मम तु तस्याप्यभाव इत्याह दुर्भगाया इति ।

आभासार्थ—कई कन्याओं से दोष वाले पति भी ग्रहण किए जाते हैं। कोई सर्व प्रकार दोष रहित नहीं होता है। यदि निर्दोष हो पति चाहिए तो किसी का भी पाणिग्रहण हो नहीं सकता है। यदि यों कहते हो तो सत्य है. किन्तु इस प्रकार सदोष पति को प्राप्ति में अदृष्ट आदि प्रेरक होते हैं, मेरे लिए उसका भी अभाव है, यों "दुर्भगाया" श्लोक में कहती है।

श्लोक—दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः।
देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिशा सती ॥२५॥

श्लोकार्थ—अभागिन मुझ पर क्या ब्रह्मा, महादेव मेरे अनुकूल नहीं है ? गिरिजा, सती, रुद्राणी और देवी पार्वती भी रूठी है ॥२५॥

सुबोधिनी—पतिस्तु कृष्ण एव। अनागमने यथाकथञ्चित् भ्रान्तापि भूत्वा तत्र गमिष्यामि, यतो ब्रह्मा, पतित्वेन भगवन्तमेव विचारितवान्, परं दुर्भगा भविष्यामि। अतो दुर्भगात्वसम्पादकभाग्यस्य विद्यमानत्वात् धातापि नानुकूलो जातः। आनुकूल्ये तु इदानीमेव भगवानागच्छेत्। अतो दुर्भगात्वमपि न भवेत्। ननु सौभाग्य शिवाधीन पार्वत्यधीनं वा, तत्राह नानुकूलो महेश्वर इति। देवतारूपा दुर्गा वा विमुख। अनाराधनात्। सा हि गौरी गुरो पत्नी, गुरुरुपदिशति, तच्छक्तिर्भाग्यं सम्पादयतीति, तमेव सम्बन्धं प्रकयटति रुद्राणीति। रुद्रो हि गुरुः, स्वयमपि गिरिशा। सतीति पातिव्रत्यबलमपि तस्याः सूचितम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—पति तो कृष्ण ही है, वे नहीं पधारे है इस विषय में जैसे तैसे भ्रान्त भी होकर वहाँ जाऊँगी, क्योंकि ब्रह्मा ने मेरा पति भगवान् ही हो वैसा विचार किया है किन्तु अभागिन बनूंगी, जो कृष्ण पति न होंगे, अतः दुर्भागिनी बनाने वाले भाग्य के होने से ब्रह्मा भी अनुकूल नहीं है, यों भासता है यदि ब्रह्मा अनुकूल हो तो भगवान् अब ही पधारने चाहिए, यदि यों अब पधारे तो दुर्भागिनी देखने में न आये। यदि कहो कि सौभाग्य तो महादेव और पार्वती के हाथ में है, तो महादेव और देवता रूप दुर्गा भी अनुकूल नहीं है, क्योंकि मैंने उनकी आराधना नहीं की है, इसलिए वे भी अनुकूल नहीं है। वह दुर्गा गौरी है, अर्थात् गुरु की पत्नी है गुरु उपदेश देते हैं, उनकी शक्ति भाग्य का सम्पादन करती है अर्थात् भाग्य बनाती है। उसी सम्बन्ध को रुद्राणी प्रकट करती है. रुद्र गुरु हैं, आप भी गिरिशा "जा" है और सती है, सती कहने से यह बताया है कि इसमें पतिव्रत बल भी है ॥२५॥

आभास—एवं चिन्तया कियति काले अतीते चिन्ताधिक्ये उत्पत्स्यमाने मध्ये तद्विघातकं शकुनं जातमित्याह एवं चिन्तयतीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब चिन्ता करते हुए कुछ काल बीता और चिन्ता बढ़ने लगी, तब बीच में चिन्ता को नाश करने वाले शकुन हुए, जिनका वर्णन किया जाता है !

श्लोक—एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ॥२६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जिसका मन हर लिया है, वैसी समय को पहिचानने वाली बाला इस प्रकार चिन्ता करने से आँसुओं से पूर्णनेत्रा हो गई और उसने नेत्र मूंद लिए ॥२६॥

सुबोधिनी—बाला मुग्धा । तत्रापि गोविन्देन हृतमानसा । विह्वला सती, रोदने प्रादुर्भूते कृतमङ्गलायाः तदनुचितमिति अश्रुकलाकुले नेत्रे अमीलयत् । नन्वेतादृशेर्थे रोदनमुचितं तत्कथं निमीलनमिति चेत्, तत्राह कालज्ञेति । सा ह्ययं शुभकाल इति जानाति, ग्रहानुगुण्यात् । अतो भगवानेवायास्यतीति निश्चित्य तथा कृतवतीत्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—बाला कहने का भावार्थ यह है कि रुक्मिणी उस समय १६ वर्ष की हो गई थी, अतः मुग्धा[1] है । ऐसी अवस्था में फिर भगवान् ने मन हरण कर लिया है, जिससे व्याकुल हो गई, अतः रोदन आने लगा, किन्तु मंगल कृत्य हुआ है, उसको रोना उचित नहीं है । इसलिए आँसुओं से पूर्ण नेत्रों को मूंद लिए, वैसी अवस्था में तो रोना ही आना चाहिए सो नेत्र कैसे बन्द कर दिए ? जो कहो तो उसका उत्तर यह है कि "कालज्ञा" समय को पहचानती है । यह शुभ समय है, इसमें रुदन नहीं करना चाहिए । ग्रहों के अनुकूल होने से भगवान् अवश्य पधारेंगे, यह निश्चय कर वैसे किया अर्थात् नेत्र मूंद लिए ॥२६॥

आभास—किञ्च ।न केवलं कालज्ञानेनैव तूष्णी स्थिता, किन्त्ववयवस्फुरणेन शकुनमपि प्राप्तवतीत्याह एवं बध्वा इति ।

१—जो युवा अवस्था को प्राप्त हो गई है ।

आभासार्थ–और विशेष केवल कालज्ञान से ही नेत्र मूंद कर मौन नहीं हुई किन्तु अवयवों के फरकने से सकुन भी हुए जिससे मौन हो गई जिसका वर्णन "एवं वध्वा" श्लोक में किया है ।

श्लोक–एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इस प्रकार गोविन्द के आने की प्रतीक्षा[1] करती हुई बधू के शुभ सूचक बायें तीन अंग उरु[2], भुजा और नेत्र फरकने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—वधूर्विवाहसमयस्था, सर्वतो रक्षायुक्ता वा । गोविन्दागमन प्रतीक्षन्त्याः । वाम ऊरुर्भुज इति । वामे ऊरुः भुजः नेत्रं चास्फुरन् । वामे अङ्गे ऊर्वादित्रयस्फुरणं स्त्रीणां शुभसूचकम् । प्रियभाषिण इति त्रयाणां विशेषणम् । शुभसूचका इत्यर्थः । अन्यतरस्यामिति नपुंस (कै) कशेषो न भवति । अथवा । प्रियभाषिणः सम्बन्धीनि एतानीति प्रियं श्रोष्यामीति भावः ॥२७॥

व्याख्यार्थ–"वधू" शब्द से यह प्रकट किया है कि विवाह करने के योग्य है एवं यह विवाह का शुभ समय है अथवा चारों ओर से उसकी रक्षा हो रही है । वैसी गोविन्द के आने की बाटजोही कर रही थी, तो उस समय ही उसके बांऐ तीन अंग उरु, भुजा और नेत्र फरकने लगे । यह शकुन स्त्रियों के लिए शुभसूचक है । जिसके लिए "प्रिय भाषिणः' पद दिया है । यह प्रत्येक अंग का विशेषण समझना चाहिए । व्याकरण के अनुसार नपुंसक में "अन्यतरस्याम्" इस वाक्य से एक शेष समास नहीं हुआ है, अथवा ये शुभ की सूचना देने वाले सम्बन्धी हैं, अतः "शुभ" सुनूंगी ॥२७॥

आभास—ततस्तदनन्तरमेव ब्राह्मणः समागत इत्याह अथेति ।

आभासार्थ—यों होने के पश्चात् शीघ्र ही ब्राह्मण आ गया, जिसका वर्णन "अथ" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक–अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥२८॥

---

१ - बाटजोही २ - घुटनों से ऊपर का भाग-जंघा

श्लोकार्थ—इतने में ही तो श्रीकृष्ण का भेजा हुआ वही ब्राह्मण आ पहुँचा और अन्तःपुर में विराजती हुई देवी राजपुत्री को देखा ॥२८॥

सुबोधिनी—तस्य तत्समय एव समागमनं काकतालीयं चेत्, तदा भगवदर्थमेव तस्या आकाङ्क्षा निरूपितेति न स्यात्, अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं भगवानेव तस्मिन्समये 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थ' इति वाक्यात् प्रेषितवानित्याह कृष्णविनिर्दिष्ट इति । तद्विनिश्चयादुभयविधादपि विशेषेण समागत इति । भिन्नप्रक्रमोऽप्यथशब्दः भगवतैव तथा कृत इति ज्ञापनार्थः । द्विजसत्तम इति । अत्यन्तमन्तरङ्गो भगवद्भक्तः । अतस्तेन सवतापनिवृत्तिर्युक्तैव । द्विज एव मितम्, तत्रापि सन्देशहारी विशिष्टः, तत्रापि तत्र गतो भगवत्सख्यं प्राप्त सत्तमो भवति । अत एवान्तःपुरचरीमपि राजपुत्रीमपि स्वयमेव ददर्श । भगवच्चिन्तनाद्देवतैव तदावेशनाज्जाता । यथा ब्राह्मणे धर्मत्रयम्, तथा तस्यामपि । आध्यात्मिकादिधर्मत्रयं वक्तु विशेषणत्रयम् । हेत्याश्चर्ये ॥२८॥

व्याख्यार्थ—उसका उस समय ही आ पहुँचना जो काकतालीय न्याय की तरह हुआ हो तो उस समय भगवान् के लिए ही उसको जो आकांक्षा वर्णन की जाती है, अतः उसके निवारण के लिए कहते हैं कि भगवान् ने ही "ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे" इस वाक्य के अनुसार उस ब्राह्मण को भेजा है, इसलिए श्लोक में "कृष्णविनिर्दिष्टः" कृष्ण का भेजा हुआ कहकर यह सिद्ध किया है कि ब्राह्मण का उस समय आना काकतालीय न्याय से नहीं हुआ है, दोनों प्रकार के उनके निश्चय हो जाने से ही विशेष प्रकार से आया । "अथ" शब्द यह प्रसंग पृथक् है, यह दिखाने के लिए भी है अर्थात् भगवान् ने ही वैसे किया है यह जताने के लिए "द्विजसत्तमः" ब्राह्मण को द्विज न कह कर "द्विजसत्तमः" कहा, जिसका आशय स्पष्ट करते है कि अत्यन्त अन्तरंग भक्त है, अतः वैसे ब्राह्मण से ताप की निवृति होनी योग्य ही है । केवल "द्विज" भी मित होता है, उसमें भी यदि संदेश ले जाने वाला हो तो विशेष हितकारी होता है । उसमें भी द्वारका गया, वहाँ भगवान् की प्रीति प्राप्त की, इसलिए यह सत्तम है । सारांश कि अब यह "द्विजसत्तम" है, इस कारण से ही अन्तःपुर में ही विचरने वाली राज पुत्री को स्वयं ही देखा । "देवी" क्यों हुई ? भगवान् के चिन्तन करने से भगवदावेश से "देवी" बन गई । जैसे ब्राह्मण में तीन धर्म हैं वैसे इसमें भी, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन धर्मों को करने के लिए ही तीन विशेषण कहे हैं । "ह" शब्द आश्चर्य वाचक है ॥२८॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह सा तमिति ।

आभासार्थ—इसके बाद जो कुछ हुआ वह "सा तं" श्लोक में कहते हैं ।

।

श्लोकार्थ—धीरे धीरे चले आते प्रसन्न मुख ब्राह्मण को देख, लक्षण से ही समझने वाली मन्द हसती हुई वह सती रुक्मिणी उससे पूछने लगी ॥२६॥

सुबोधिनी—कुत्र मानसचिन्तनम्, कुत्र पदार्थोपस्थितिरिति, तादृशं दुर्लभमिव सा तं दृष्ट्वा समपृच्छत् । नन्विङ्गितज्ञानेनैव कथं न निश्चयः, तत्राह प्रहृष्टवदनमिति । ब्राह्मणे धर्मद्वयं दृष्ट्वा विवाहस्वीकारः समागमनं च लक्षितवती । मुखहर्षात्स्वीकारः, शनैरागमनात्कर्तव्यान्तराभावसूचकं समागमनमिति । तस्या अपि लक्षणज्ञाने हेतुद्वयमाह सती लक्षणाभिज्ञेति । पातिव्रत्यधर्मेण शास्त्रानुसारेणापि ज्ञानम् । तर्कितमेतन्न प्रमितमिति प्रमानिरूपणार्थे आलक्ष्यापि समपृच्छत् । शुद्धं स्मितमिति हर्षात् मन्दहासः । स च ब्राह्मणं प्रति शुद्ध एव । अथवा । इष्टपूरणात् लौकिकवत् स्मितं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं शुद्धता निरूपिता ॥२६॥

व्याख्यार्थ - कहाँ मन से पदार्थ का चिन्तन करना और कहाँ उस पदार्थ का वहाँ प्राप्त हो जाना । यों होना दुर्लभ जैसा समझ और वह हो गया है उसको देख कर पूछने लगी, इंगित के (संकेत के) ज्ञान से ही क्यों न निश्चय कर लिया ? इसके उत्तर में कहा गया है कि ब्राह्मण के इंगितों से उसमें दो धर्म देखे । एक प्रसन्न मुख था, जिससे जान लिया कि विवाह की स्वीकृति भगवान् ने दे दी है, और दूसरा वह स्वस्थ होकर धीरे धीरे आ रहा था, जिससे समझ लिया कि भगवान् भी पधार रहे हैं । केवल इंगित से इसने कैसे समझ लिया इसका समाधान यह किया है कि इसमें भी दो धर्म हैं । १—सती अर्थात् पतिव्रता है, २ पातिव्रत्यधर्म और दूसरा शास्त्रों से लक्षणों का ज्ञान इन दो धर्मों से इसने जान लिया है । यह तर्क से जाना है, तर्क से जाना हुआ पूरा प्रा- णिक ज्ञान नहीं माना जाता है, अतः इस प्रकार जान कर भी फिर पूछने लगी, मन्द हास ब्राह्मण में अपना शुद्ध भाव प्रकट करने लगी अथवा केवल (स्मित) मन्दहास वाचक शब्द न दे जो साथ में (शुचि) शुद्धता वाचक विशेषण दिया है, जिसका आशय है कि इसका यह मन्द अपने मनोरथ पूर्ण होने से लौकिक की तरह नहीं है ॥२६॥

आभास—ततो ब्राह्मणस्य वचनद्वयमाह तस्या आवेदयदिति ।

आभासार्थ—इसके बाद ब्राह्मण के दो वचन 'तस्या' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तस्या आवेदयत्प्राप्तं सरामं यदुनन्दनम् ।
उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति ॥३०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण ने उसको पूरी तरह जतलाया कि भगवान् बलरामजी सहित आ पहुँचे हैं, और आपका पाणिग्रहण करेंगे तथा अपने साथ ले जाएँगे, ये वचन परिहास से नहीं कहे हैं, किन्तु सत्य कहे हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—प्राप्तं भगवन्तमावेदयत् । अन्यार्थमप्यागमनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थं उक्तं च आवेदयत् । सराममिति कलहेऽपि शङ्काभावाय तन्मनोरथपूर्त्यै च । यदुनन्दनमिति तथा करणे भक्तकृपालुत्वं हेतुरुक्तः । यो हि पितुराज्ञोल्लङ्घनकर्तारं भक्तत्वाद्यदुमानन्दयति, तेनैव भावेन त्वामप्यानन्दयति । 'स्त्रीषु नर्मविवाहे चे'ति वाक्यात् कदाचिदसत्यमपि वदेत्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सत्यवचनमिति । चकारात्स्वाभिप्रायनिवेदनमपि यद्भगवता कृतं तदप्युक्तवान्, न केवलमुद्वाहार्थम्, किन्तु उपनयनं प्रति समीपे नेष्यामीति यथाभिलषितसिद्धिः । उपगमनपदेऽपि स एवार्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् पधार गए हैं, ऐसा निवेदन किया, पधारना तो दूसरे काम के लिए भी हो सकता है ? इस भ्रम को मिटाने के लिए केवल "प्राप्त" न कह कर "आवेदयत्" शब्द भी दिया है । जिसका भावार्थ है कि तुम्हारे लिए ही पधारे हैं और अकेले भी नहीं हैं, बलरामजी भी आ गए हैं । जिससे यह बताया कि कलह होगा ऐसी शका भी मत करो, क्योंकि रामजी उसको टाल देंगे जिससे आपका कार्य हो जायगा । भगवान् का मनोरथ भी पूर्ण हो जायगा । भगवान् का नाम 'यदुनन्दन" दिया है, जिसका आशय है कि जो भगवान् पिता की आज्ञा का उल्घन करने वाले यदु को भक्त होने के कारण आनन्द देते हैं वे उसी भाव से आपको भी आनन्द देते हैं । उसी प्रकार करने में भक्त पर कृपालुपन का कारण है । "स्त्रीषु नर्मविवाहे" इस उक्ति के अनुसार किसी समय ऐसी बात में झूठ भी बोल जाता है, इसलिए कहता है कि यह परिहास[1] वा झूठ नहीं है, किन्तु सत्य वचन है । "च" शब्द से भगवान् ने जो अभिप्राय प्रकट किया था वह कह कर बता दिया । भगवान् केवल विवाह के लिए नहीं आए हैं, किन्तु अपने साथ उसको ले जाऊँगा जिससे उसको अभिलाषा पूर्ण हो, इसलिए भी पधारे हैं । "उपगमन"[2] पद में भी यही अर्थ समाया हुआ है ॥३०॥

आभास—ततः पूर्णमनोरथा तस्मै वरं दत्तवतीत्याह तमागतमिति ।

आभासार्थ—मनोरथ पूर्ण देख उस ब्राह्मण को "तमागतं" श्लोक में वर्णन किया हुआ "अभीष्ट" देने लगी ।

१—मज़ाक वा ठठ्ठा, २—मूल में "उपनयन" पद है टीका में उपगमन है ।

श्लोक—तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा ।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥३१॥

श्लोकार्थ—उनको ले आया है यह जानकर रुक्मिणी प्रसन्न हुई ब्राह्मण को देनें के लिए नमन से प्रिय अन्य कोइ वस्तु नहीं देखी, अतः नमस्कार ही किया ॥३१॥

सुबोधिनी—भगवति समागते स्वयं भगवदीयैवेति सर्वं भगवते समर्पितमिति वैदर्भीत्वादेव न कर्म ब्राह्मणस्य सफलं करिष्यति । हृष्टमानसेति स्वार्थं न किञ्चित्प्रार्थितवती, येन किञ्चिद्दत्वाऽपि तुष्टो भवेत् । मोक्षदातारमपि यो दत्तवान्, तस्मै किं देयमिति वैभवमपि न देयमित्यहा ब्राह्मणायेति । अत एवान्यत्प्रियं नास्तीति सा ननाम । नमोनम इत्येतावत्सदुपशिक्षितमिति । यत्र न कोऽपि प्रतीकारः, तत्र नमस्कार इति । भगवांश्च ब्रह्मण्यदेव इति ब्राह्मणनमस्कारो भगवद्भार्याया युक्त एव । अनेन देयाभावे सर्वत्रैवमेव कर्तव्यमिति साधनं निरूपितम्॥३१

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी स्वयं भगवान् की ही है, इसलिए भगवान् के पधार जाने पर जो कुछ उसके पास था वह सब भगवान् को अपण कर दिया । विदर्भदेश में उत्पन्न होने से ब्राह्मण का कर्म सफल न कर सकेगी, भगवान् के पधारने से प्रसन्न चित्त हो गई, जिससे अपने लिए कुछ भी प्रार्थना नहीं की जो चाहती थी वह परमानन्द सत्य द्रव्य प्राप्त हो गया । उसके मिलने वाले ब्राह्मण को कुछ दे कर प्रसन्न करे, ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी, कारण कि जिस ब्राह्मण ने मोक्ष देने वाले को दिए हैं, उसको क्या दिया जावे ? वैभव दो, तो कहती है कि वैभव भी नहीं दिया जा सकता है, कारण कि यह ब्राह्मण है, इसको वैभव की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणों का वैभव तप है । उसमें भी यह द्विज सत्तम होने से भक्त भी है, इसलिए धनादि देना व्यर्थ है । इस कारण से नमस्कार के सिवाय दूसरा कोई भी पदार्थ ब्राह्मण को प्रिय नहीं है इसलिए उसने ब्राह्मण को नमस्कार ही किया । "नमो नमः" से सदुपदेश दिया । जहां कोई भी बदला नहीं दिया जा सकता हो वहाँ "नमस्कार" ही प्रतीकार है । भगवान् स्वयं ब्राह्मण्य देव हैं, इसलिए भगवान् की पत्नी ब्राह्मण को नमस्कार करे, यह योग्य ही है, इससे यह शिक्षा दी कि जब देने की वस्तु का अभाव होवे तब सर्वत्र इस प्रकार ही "नमो नमः" करना योग्य है, यह साधन निरूपण किया है ॥३१॥

आभास—भगवान् नगरमध्ये समागतः, ब्राह्मणोऽन्तःपुरे । ततस्समागतयोः विवाहात्पूर्वकर्तव्यं वक्तव्यमिति, पितुरदाने हरणं वा युक्तमिति, प्रसह्य हरणेऽपि मातापित्रोर्दानमावश्यकमिति, अन्यथा न धर्म्यः स्यादिति पितुर्दानार्थं गोप्यार्थं च तादृशीं कथामाह प्राप्तौ श्रुत्वेति त्रिभिः ।

आभासार्थ--भगवान् तो नगर में पधारे और ब्राह्मण अन्तःपुर में भीतर गया। उसके पश्चात् आए हुए दोनों का विवाह से प्रथम कर्तव्य है वह कहना चाहिए। पिता विवाह कराके न देवे तो हरण करना योग्य हैं, किन्तु बलात्कार से हरण करने में भी माता पिता का दान करना आवश्यक है नहीं तो वह विवाह धर्म युक्त नहीं माना जाएगा, इसलिए पिता के दान को गुप्त रखने के लिए वैसी कथा 'प्राप्तौ श्रुत्वा'' श्लोक से तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ।
अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणः ॥३२॥
मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजानि सः।
उपायनान्यभीष्टानि विधिवत्समपूजयत् ॥३३॥

श्लोकार्थ—अपनी कन्या के विवाहोत्सव देखने के उत्सुक होने से दोनों भ्राताओं का आना सुनकर राजा भीष्म पूजा की सामग्री लेकर बाजे-गाजे के साथ सामने सत्कार करने के लिए आए और साथ में मधुपर्क, शुद्ध वस्त्र भी ले आये थे। विधि के अनुसार पूजन कर वस्त्रादि दे कर उन्हें सुशोभित किये।।३२-३३।।

सुबोधिनी—स्वदुहितुरुद्वाप्रेक्षणे सम्बन्धित्वादुत्सुकौ समागताविति लोके भ्रममुत्पाद्य स्वयं दातुमेवागतः। स्वदुहितुः एतौ प्रकर्षेणाप्तौ, एकः पतिरपरो भावुक इति। एकस्तूद्वाहोत्सुकः, अपरः प्रेक्षणोत्सुक इति। अत एव अनाकारितावप्यागतौ। लोकेऽप्युत्सुकानां नाकारणम्। तथाप्यग्रिमकृत्यं कर्तव्यमिति तूर्यघोषेण समर्हणः सह आभिमुख्येन गतः। शिशुपाले तु 'तं वै विदर्भाधिपति'रिति अग्रे सर्वेषामेव वक्ष्यति। मध्ये तु भगवतो विशेषाकारेण यथा वराय क्रियते। गमन एव वाद्यसहितः वरपूजार्थं सम्पादितद्रव्यैः सह। ततो मधुपर्कानयनम्। ततो विरजानि वासांसि। विरजानीति शोभार्थं दानव्यतिरेक उक्तः। अन्येभ्यस्तु स्वख्यापनार्थं राजसगुणाद्दीयत इति वस्त्राण्यविरजान्येव भवन्ति। नूतनानि तु प्रक्षालितानि सर्वेभ्य एव दीयन्त इति विशेषणं व्यर्थं स्यात्। अथवा। कन्यां दातुं आदौ अखण्डानि शुद्धान्येव वस्त्राणि दत्तवान्। यदप्यग्रे देयम्, तदपि दत्तवानित्याह उपायनानीति। अभीष्टानि वरवध्वोः। विधिवदिति यथाविवाहविधि ॥३३॥

व्याख्यार्थ—अपनी पुत्री के विवाहोत्सव के सम्बन्धी होने से देखने के लिए उत्सुक थे, अतः आये हैं। इस प्रकार लोक में भ्रम पैदा कर स्वयं भीष्मक कन्या देने के लिये आया। ये दो राम कृष्ण जो आये हैं, उनमें से एक श्रीकृष्ण पति हैं और दूसरा राम भावुक है। कृष्ण विवाह का उत्सुक होने से पति है और राम उत्सव देखने का उत्सुक होने भावुक से है। इस कारण से ही बिना

बुलाये भी आये हैं। लोक में भी जिनको प्यारी वस्तु को पाने या देखने को लालसा होती है, तो भी आगे जो कार्य करना है वह करना ही चाहिए। यह चित्त में निश्चय कर बाजे-गाजे के साथ पूजा का सामान लेकर सामने आया। शिशुपाल के आने पर तो "तं वै विदर्भाधिपति" इस श्लोक में कहे अनुसार सामने गया। पश्चात् सामना करने पर सम्मुख आये हुए की जैसी पूजा जिस प्रकार ठहराना आदि वैसे आगे सबों का ही कहेगा, बीच में तो भगवान् की विशेष रूप से जैसे वर (दुलहा) की की जाती है, वैसे करने लगा। भीष्मक सत्कार करने के लिए जब जाने लगा तब बाजे वगैरे (वाद्य साज) साथ में ले चला तथा वर की पूजा के लिए जिन द्रव्यों को आवश्यकता उस समय होती हैं, वे सब तैयार कर साथ में लिए थे। वहाँ पहुँचने के बाद पूजा के प्रारम्भ में मधुपर्क मंगाया। पश्चात् भगवान् को वस्त्रों से सुशोभित करने के लिए शुद्ध सात्विक वस्त्र अर्पण किए। वस्त्रों का विशेषण जो "विरज" दिया है, जिसका भाव है कि ये वस्त्र दानार्थ नहीं है, किन्तु शृङ्गार के लिए सात्विक वस्त्र हैं। दूसरों को तो जो वस्त्र दिए जाते हैं वे अपने यश के लिए राजसगुण (भाव) से दिए जाते हैं, वे अविरज ही होते हैं। यदि विरज का भाव नवीन वा स्वच्छ किया जाय तो नवीन वा स्वच्छ तो सर्व को दिए जाते है जिससे 'विरज' विशेषण देना व्यर्थ हो जाता है, इसलिए विरज का भाव है "सात्विक वस्त्र" अथवा कन्या को जो आगे वस्त्र देने पड़ते है, वे पहिले ही अखण्ड और शुद्ध वस्त्र दे दिए और उपायन (उपहार) भी वर और वधू को जो देना था, वह दे दिया। वह भी यों ही नहीं दिया, किन्तु जैसे विवाह में देने की विधि है, वैसे दिए ॥ ३२, ३३ ॥

श्लोक—ततो निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः ।
ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा ॥३४॥

श्लोकार्थ—महामति भीष्मक ने समीप ही सुन्दर ठहरने का स्थान तैयार रखा था, वह ठहरने के लिए दिया और लश्कर सहित तथा जो अन्य साथ आये थे उनका भी यथा योग्य भोजन आदि से आतिथ्य सत्कार किया ॥३४॥

सुबोधिनी—ततो निवेशनमपि यथा जामात्रे दीयते तादृशं श्रीमदिति। उप समीप एव कल्पयित्वा। यथा भगवान् निकट एव रुक्मिणीसहितो भवतीति। ननु कथमेवं ज्ञातवान्, तत्राह महामतिरिति। ततो वरयात्रिकाणां भोजनमपि दत्तवानित्याह ससैन्ययोरिति। सैन्यमसहभोजि, अनुगास्तु सहभोजिन इति। आतिथ्यं प्रत्येकं धर्मं बुद्धया आवश्यकबुद्धया वा ॥३४॥

व्याख्यार्थ—पूजा के पश्चात् जैसे वर को ठहरने के लिए सुन्दर स्थान दिया जाता है, वैसे निकट ही उत्तम घर रहने के लिए दिया, जिससे भगवान् रुक्मिणी के समीप होने से उससे हिल-

मिल जावे, भीष्मक ने यों कैसे जान लिया ? इसके उत्तर में कहा, कि वह बड़ा बुद्धिमान् है जिससे सब समझ गया था, पश्चात् वर के साथ जो आए थे उन को भोजन भी दिया। उनके साथ जो सेना आई थी वह पक्ति में साथ भोजन करने वाली नहीं थी, अतः उसको अलग भोजन करवाया और जो दूसरे अनुग थे वे सहभोजी थे, अतः उनको साथ में भोजन करवाया। अतिथि सत्कार तो हर एक का धर्म बुद्धि से करना आवश्यक है, अथवा इस बुद्धि से किया है ॥३४॥

आभास—तदनन्तरं तदर्थमन्येषामपि पूजां कृतवानित्याह एवं राजेति ।

आभासार्थ—उसके पश्चात् दूसरों की भी आतिथ्य सत्कार के लिए पूजा की जिसका वर्णन "एवं राजा" इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—एवं राजा समेतानां यथावीर्यं यथावयः ।
यथावलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जो राजा आदि आये थे, उन सबका उनके पराक्रम, आयु, बल तथा वित्त के अनुसार सर्व प्रकार की कामनाओं से सत्कार किया ॥३५॥

सुबोधिनी—यादृशे रूपे यादृशानि वस्त्राणि यादृशं वयः तादृशवेशसम्पादकम् । यावच्च बलं सेना तावत्संभृत्याधिक्यम् । यावच्च स्वस्य वित्तम् । एवं यथायोग्यं चतुर्धा पूजयामास ॥३५॥

व्याख्यार्थ—रूप तथा वय के समान जैसे-जैसे वस्त्र योग्य थे, वे तैयार करवाए थे, वे दिए। जितनी सेना थी उसके योग्य विशेष पोषण भी किया और जैसा अपने पास धन था उसके अनुसार, यथायोग्य चार प्रकार से सब की पूजा की ॥३५॥

आभास—राजपत्न्या अभिरुचिरस्ति नवेति सन्देहे, तन्निराकरणार्थं सामान्यतः स्त्रीणामभीष्टता निरूप्यते कृष्णमागतमिति त्रिभिः, कायिकवाचिकमानसिकानुवृत्तिभेदात् । तत्र कायिकमाह ।

आभासार्थ—रानी का भी राजा की तरह इसमें पूरा प्रेम है वा नहीं, इस सन्देह के निवारण के लिए सामान्य रीति से स्त्रियों को भी यह पसन्द है, इसका वर्णन

"कृष्णमागतं" से तीन श्लोकों में करते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का उनका प्रेम है, इसलिए तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं। उनमें से इस श्लोक में 'कायिक' का वर्णन करते हैं।

श्लोक— कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः ।
आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—विदर्भ पुरवासियों ने कृष्ण का आना सुनकर सब वहां आकर अपने नेत्र रूप अंजलिओं से उनके मुख रूप कमल मकरन्द का पान किया ॥३६॥

सुबोधिनी—कृष्णं स्वभावत एव स्त्रीप्रियम्, तद्गृहेऽपि गत्वा द्रष्टव्यम्। स्वगृहे समागतं कथं न पश्येदिति विदर्भपुरवासिनः सर्वं एव समागत्य नेत्राञ्जलिभिस्तन्मुखपङ्कजं पपुः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—स्वभाव से स्त्रियों को प्यारा श्रीकृष्ण है इसलिए उसके घर जा कर भी जब वे देखने योग्य है तब अपने घर आए हुए को कैसे न देखें, इसलिए विदर्भ पुरवासी सब आकर नेत्र रूप अंजलियों से उनके मुख रूप कमल के मकरन्द का पान करने लगे ॥३६॥

आभास—तेषां वाक्यमाह अस्यैवेति।

आभासार्थ—दर्शन कर उन्होंने जो वचन कहे वे "अस्यैव" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥३७॥

श्लोकार्थ—रुक्मिणी इसकी ही भार्या बनने योग्य है न कि दूसरे की, यह निर्दोष है इसलिए यह ही इसका योग्य पति है ॥३६॥

सुबोधिनी - कोऽपि कस्मैचित्प्रयच्छतु, भार्या त्वस्यैव भवितुमर्हति। अनेन स्वरूप-योग्यता निरूपिता। योग्यं योग्येन सम्बध्यत इति तेषामभिप्रायः। ननु दत्तेयमन्यस्मै, अन्या भगवते तथा सति देयेत्याशङ्क्याह नापरेति। अन्या तु न योग्यैव। न हि लक्ष्मीव्यतिरिक्ता भगवद्योग्या भवति। लोकश्च प्रमाणमिति। यथा दैवी वाक्, तथा वदति। अयमपि

रुक्मिण्या एवार्हति । यतः अनघात्मा । पुरुषोत्तमत्वात् निरवद्यरूपः । सा हिं निर्दुष्टमेव पति मन्यते । भगवानीश्वरत्वेन सर्वेषामेवोचितः, पतित्वेनं त्वस्या एवोचितः । यत इयं भक्तिप्रधाना ॥३७॥

व्याख्यार्थ—कोई भी किसीको भले देवें, किन्तु रुक्मिणी तो इसको भार्या बनने योग्य है इन शब्दों से स्वरूप की योग्यता बताई है, इस प्रकार के शब्द कहने का भाव यह है कि योग्य कन्या योग्य वर से ही सम्बन्ध कराने के योग्य है, यह तो भाई ने दूसरे को दी है इसलिए भगवान् को दूसरी दी जाय ? इसका निराकरण नगर वासी करते हैं कि 'नापरा" दूसरी नहीं, कारण कि दूसरी तो भगवान् के योग्य नहीं होगी, लक्ष्मी के सिवाय दूसरी कोई भी भगवान् को भार्या बनने योग्य नहीं है, लोक इसमें प्रमाण है जैसे देखो, बाणी ऐसे लोक कह रहे हैं, यह भी रुक्मिणी के योग्य है क्योंकि निर्दोष आत्मा है पुरुषोत्तम होने से ही निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह है वह भी निर्दोष को ही अपना पति मानती है, भगवान् ईश्वर होने से समस्तों के पूज्य होने योग्य है, किन्तु पतिपन से तो इसके ही योग्य हैं, क्योंकि यह "भक्ति प्रधान" है अर्थात् इसमें प्रेम मुख्य है ॥ ३७ ॥

आभास—एवं वाचनिकमुक्त्वा बाधकमत्र प्रवर्त्तमित्याशङ्क्य तन्निवारणार्थं भगवन्तं प्रार्थयन्ति-किञ्चिदिति ।

आभासार्थ—ईस प्रकार वाचनिक भाव प्रकट कर इसमें कोई विघ्न न पड़े, ऐसी आशंका होने से उसके निवारण के लिए "किंचित्" श्लोक से भगवान् को प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् ।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥३८॥
एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः ।

श्लोकार्थ—जो कुछ हमारे पुण्य हैं उनसे त्रिलोकी को रचने वाले यह अच्युत भगवान् प्रसन्न होकर हम पर अनुग्रह करके इस वैदर्भीका पाणिग्रहण करें । प्रेम की बेड़ी में बन्धे हुए पुरवासी इस प्रकार कहने लगे ॥३८॥

सुबोधिनी—यदस्माकं किञ्चित्सुचरितमस्ति, तेनादौ भगवान् तुष्टो भवतु । ततस्त्रिलोककर्ता स एवेति । अन्येषामपेक्षाभावात् स्वयमेवानुगृह्णात्वस्मान् । अनुग्रहानन्तरं

यत्कर्तव्यं तदाहुः गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमिति। अत्र एवमेवेति निर्बन्धहेतुमाह अच्युत इति। आदौ भर्ता स्वरूपतो धर्मतश्च्युतिरहितो मृग्यते, तथा भोगेऽपि। एवं तेषां प्रेमातिशयमुक्त्वा सर्वसम्मतौ मातुरपि सम्मतिर्जातेत्यभिप्रायेणोपसंहरति। एवं प्रेमकलाबद्धाः नानाविधस्नेहप्रकारैर्वशीकृताः वदन्ति। स्मेति प्रसिद्धिः प्रमाणत्वेनोक्ता। पुरवासित्वान्न मुखमुद्रणं केनापि शक्यम्। ॥३८॥

व्याख्यार्थ—जो हमारे कुछ पुण्य हैं तो उनसे पहले तो भगवान् प्रसन्न होवें, और वह आप ही त्रिलोकी के कर्ता हैं दूसरों की अपेक्षा से आप स्वयं ही हम पर अनुग्रह करें, अनुग्रह करने के बाद जो कुछ करना योग्य है वह कहते हैं कि वैदर्भी का पाणि ग्रहण करें, यह यों ही कहने का भाव है कि आप "अच्युत" हैं पहले उस पति की खोज की जाती है जो स्वरूप और धर्म से कभी भी, लेशमात्र भी डिगे नहीं, वैसे ही भोग से भी, इस प्रकार उन का अतिशय प्रेम प्रकट कर सबको सम्मति होने पर माता की भी यही राय हो गई, इस अभिप्राय से अब उपसंहार किया जाता है इस प्रेम की बेड़ी में बन्धे हुए अर्थात् अनेक विध स्नेह के तरीकों से वशीभूत हो कहने लगे, "स्म" पद कहने का भाव है कि यों छिपकर नहीं कहने लगे किन्तु जैसे प्रसिद्धि हो वैसे प्रमाणपन से कहने लगे, कहने वाले नगर वासी थे अतः कोई भी उनका मुख बन्द नहीं कर सकता था ॥३८½॥

आभास—एवं सर्वामेव हरणे संभृतिमुक्त्वा पूजार्थं तस्या बहिर्निर्गमनमाह कन्या चेति।

आभासार्थ—इस प्रकार सब की हरण करने में सम्मति कह देवी की पूजा के लिए उसका बाहर निकलना "कन्या च" श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—कन्या चान्तःपुरात्प्रागाद्भटैर्गुप्ताम्बिकालयम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—योधाओं से रक्षित कन्या देवी के मन्दिर को जाने के लिए अन्तःपुर से बाहर निकली ॥३९॥

सुबोधिनी—यथा पुरवासिभिः स्वसर्वकर्मसमर्पणेन रुक्मिणीविवाहार्थं भगवान् प्रार्थितः, एवं रुक्मिण्यपि भगवान् गृह्णात्विति महादेवं प्रार्थयितुं निर्गतेति चकारार्थः। अन्तःपुरादिति। गुप्तस्थानात् प्रकटस्थाने निर्गता यथा बन्धुपीडामकृत्वा भगवान् विश्रामतया गृह्णाति। प्रकर्षेणागादिति मनःसन्तोषः प्रदर्शितः। भटैर्गुप्तेति। यथा तावदन्यो न स्पृशति। अम्बिकालयमिति। स्त्री देवता, गृहे स्त्रिय एवाध्यक्षा इति, तत्र पुरुषसम्बन्धाभावो निरूपितः। अम्बिकापदेन मातृत्वं चोक्तम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—जैसे नगर निवासियों ने अपने सर्व पुण्य कर्म समर्पण कर रुक्मिणी से विवाह करने के लिए भगवान् को प्रार्थना की, वैसे ही रुक्मिणी भी भगवान् मुझे स्वीकार करें ऐसी प्रार्थना महादेव को करने के लिए अन्तःपुर से निकली यह आशय श्लोक में दिए हुए 'च" शब्द का है, अन्तःपुर से बाहर आने का यह भी कारण है कि भगवान् बान्धवों को पीड़ा न कर आराम से मुझे ग्रहण कर सकें, उत्कर्ष से बाहर निकलने से अपने मन का सन्तोष दिखाया, योद्धों से रक्षित होकर इसलिए निकली कि भगवान् ग्रहण करें तब तक कोई दूसरा स्पर्श न करे, "अम्बिकालयम्" स्त्री देवता घर में, स्त्रियाँ ही मुख्य होती हैं वहाँ पुरुषों के सम्बन्ध का अभाव रहता है "अम्बिका" मातृत्व भाव भी बताया है ॥३९॥

आभास—रथस्थाया ग्रहणं रथान्तरे स्थितस्य दुष्करं भवतीति पद्भ्यामेव निर्गतेत्याह पद्भ्यामिति ।

आभासार्थ-रुक्मिणी, देवी के मन्दिर में जाने के लिए, अन्तःपुर से पैदल ही निकली थी, कारण कि जो रथ में बैठ कर जावे तो रथ में बैठे हुए को दूसरे रथ में, बैठी हुई को ग्रहण करने में कठिनाई न होगी, भगवान् मुझे आसानी से, ले सकें अतः रुक्मिणी ने पैदल जाना ही योग्य समझा, जिसका वर्णन "पद्भ्यां" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् ।
सा चानुध्यायती सम्यङ् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—यह पाँवों से अम्बिका के चरणारविन्द के दर्शन के लिए जाने लगी उस समय भी भली भाँति भगवान् के चरण कमलों का ही ध्यान कर रही थी ॥४०॥

सुबोधिनी—भवान्याः पादपल्लवमिति । लोके तद्भक्तत्वं स्वस्य ख्यापयति । अभिप्रेतार्थस्त्वन्य एव तमेवान्तर्गतमाह सा चानुध्यायतीति । तत्सम्बन्धिन्यः स्त्रियः । सा च मुकुन्दचरणाम्बुजमेव अनुध्यायती जाता । मुकुन्दस्य मोक्षदातृत्वे चरणाम्बुजम् । अनेन विशेषतो भगवदाकाङ्क्षायां हेतुरुक्तः । पितृगृहेऽपि बन्धनम्, अन्यत्रापि अवरोध एव स्थितिरिति मुकुन्दावरोधस्य मोक्षरूपत्वात्तन्न हेयम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—देवी के चरणारविन्द के दर्शन के लिए जाने के कारण केवल लोक में अपने को उसकी भक्त प्रसिद्ध कराना था, चित्त का भीतरी भाव तो दूसरा ही था वह भीतरी भाव जो था वह श्लोक के उत्तरार्ध में प्रकट किया है, वह तो वहाँ जाते समय भी मुक्ति दाता के चरणाम्बुज का ही भली भाँति प्रतिक्षण ध्यान कर रही थी, उसकी सम्बन्ध वाली स्त्रियाँ भी, भगवान् का ही ध्यान कर रही थीं, कारण यह है, कि रुक्मिणीजी को भगवान् की ही केवल आकांक्षा है पिता के घर में भी बन्धन और दूसरे स्थान पर भी रुकावट, इसलिए मुकुन्द भगवान् में निरोध मोक्ष है अतः उसका त्याग करना योग्य नहीं है ।।४०।।

आभास—एवं कायमनोव्यापारौ निरूप्य वाचि व्यापाराभावमाह यतवागिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार काया और मन के कार्यों को कह कर वाणी में कार्य का अभाव "यत्वाङ् श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—यतवाङ् मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता ।
गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः ।।४१।।

श्लोकार्थ—सखियों से घिरी हुई, माताओं के साथ मौन धारण कर दर्शन को जा रही थी उस समय कवच धारण किए हुए, शस्त्र धारी राजा के शूरवीर योद्धे रक्षा कर रहे थे ।।४१।।

सुबोधिनी—मातृभिः सार्धमिति । भगवतो मनसि यथा अनौचित्यं न भवति, तदर्थमेवं कृतवती । सखीभिश्च परिवारिता । अनुमत्यर्थं हरणे पश्चात्तापाभावार्थं शोभार्थं च । बहिर्भटैर्गुप्ता । शूरैरित्यन्तःसामर्थ्यम् । सन्नद्धैरुद्यतायुधैरिति । स्वरक्षापरपीडार्थं साधनसम्पत्तिः । एवमावरणचतुष्टयं तस्या निरूपितम् । सर्वतो दोषाभावाय ।।४१।।

व्याख्यार्थ – माताओं के साथ जा रही थी, इनके साथ जाने का अभिप्राय यह था कि भगवान् के मन में मेरे लिए किसी प्रकार अयोग्यता की शंका उत्पन्न न होनी चाहिए, सहेलियों से घिरी हुई

थी माताओं और सहेलियों का साथ में होने का भाव यह था कि भगवान् मुझे हरण कर ले जाव इसमें इनकी भी राय है, इसलिए इनको वा मुझे पश्चाताप न होगा, वाहर से इनके साथ में आने से शोभा भी है, वाहर भटों से रक्षित थी वे शूरवीर थे इससे भीतर का सामर्थ्य दिखाया, शस्त्र लेकर तैयार थे इससे यह बताया कि अपनी रक्षा और शत्रुओं की पीड़ा के लिए साधनों की सम्मति बताई है इस प्रकार इसकी रक्षा के लिए चार पड़दे कहे, सर्व प्रकार दोषों का अभाव बताने के लिए ॥४१॥

आभास—ततो मङ्गलवाद्यानामपि वादनम्, शुभनिमित्तं शकुनमपि जातमित्याह ।

आभासार्थ—पश्चात् मंगल सूचक बाजे भी बजने लगे और शुभ के निमित्त कारण शकुन भी हुए जिनका वर्णन "मृदङ्ग" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ।
नानोपहारबलिभिर्वारमुख्याः सहस्रशः ॥४२॥
स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलंकृताः ।
(गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः ।)
परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधबन्दिनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हजारों उत्तम वेश्याएँ अनेक प्रकार के उपहार और बलिदान के लिए साथ चल रही थी, माला, सुगन्ध वस्त्र, और आभूषणों से अलंकृत ब्राह्मणों की स्त्रियाँ संग चल रही थीं, मृदंग, शंख, नगारे, तुरी, बड़े नगारे बज रहे थे, गाते, बजाते, स्तुति करते और बाजे बजाने वाले सूत, मागध एवं बन्धी जन ये सब तथा मुख्य वेश्याएँ रुक्मिणी को घेरे हुए चलती थीं ॥४२, ४३॥

सुबोधिनी—नानोपहारबलिभिरिति । वारमुख्याश्च परिवार्य वधूं जग्मुरिति सम्बन्धः । नानोपहाराः भवान्यर्थे फलादयः, बलिः पूजासाधनानि, एतानि सङ्गे गतानीति पृथक् सहार्थतृतीयया ज्ञातव्यम् । वारमुख्यास्तु भिन्नाः, वराणां समूहो वारम्, वारं मुख्यं यासामिति ।

प्रत्यहं बहवो वराः वेश्यानामेव भवन्तीति । सहस्रश इति तासामुत्सवो निरूपितः । नित्यनूतनो भगवान् द्रष्टव्य इति । ब्राह्मणस्त्रियोऽप्याचाराद्याशीर्दानार्थं भगवदिच्छया सहैव गताः । विशेषतः पूजा तासां कर्तव्येति पूर्वमेव तासां पूजां निरूपयति स्रग्गन्धवस्त्राभरणैरिति । चतुर्विधैरप्यलङ्कृताः । अन्योऽपि महानुत्सवो ज्ञात इत्याह वधूं परिवार्येति । दर्शनार्थं लाभार्थं च गमनमुक्तम् । सूतादयो विद्योपजीविन उक्ताः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—अनेक उपहार और बलियों के साथ मुख्य वैश्याएं रुक्मिणी को घेर कर चल रही थीं इस प्रकार सम्बन्ध है, अनेक उपहार अर्थात भवानी के लिए फल आदि वाले पूजा के साधन ये सब प्रयक् साथ थे साथ का अर्थ तृतीया से समझना चाहिए मुख्य वैश्याएं जुदा थी बहुत वर जिनके होते हैं उनको वार कहा जाता है, वे मुख्य जिनमें हैं, वे वार मुख्य कही जाती हैं प्रतिदिन बहुत पति वेश्याओं के हो होते हैं, वे हजारों थीं यों कहने से उनका उत्सव अर्थात् आनन्द प्रकट करने का समय निरूपण किया है, भगवान् का रसस्वरूप नित्य क्षण क्षण में नूतन होने से देखने योग्य है, ब्राह्मणों की स्त्रियाँ भी सदाचार से आशीर्वाद देने के लिए भगवदिच्छा से साथ ही थी इनकी विशेष पूजा करनी चाहिए, वह पूजा पहिले हो करनी चाहिए वह पूजा पहले ही की गई निरूपण करते हैं, माला, सुगन्ध, वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत की गई थीं इसी भांति चार प्रकार से इनकी पूजा हुई है, अन्य भी महान् आनन्द हुआ, वह "वधूं परिवार्य" पद से कहा है दर्शन के लिए और मनोरथ पूर्ण होने के लिए यह यात्रा थी, सूत आदि विद्या से आजीविका चलाने वाले कहे हैं ॥४२, ४३॥

श्लोक—आसाद्य देवसदनं धौतपादकराम्बुजा ।

उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—वहाँ मन्दिर में पहुँच कर पहले अपने कमल समान कोमल हाथ और पैर धोए पश्चात् आचमन कर शुद्ध हुई, बाद में शान्त चित्त हो अम्बिकाजी के पास गई ॥४४॥

सुबोधिनी—ततो भगवान्मर्यादां स्थापयितुं पूजलन्तरमेव नेष्यामीति तूष्णीं स्थितः, तदा सा देवसदनमासाद्य निकटे गत्वा, प्रक्षालितपाणिपादा आचम्य, अन्तर्बहिः शुद्धियुक्ता सती । उद्वेगादीनां सम्भावितत्वात् तन्निषेधार्थमाह शान्तेति । अन्तःशान्तियुक्ता फलं प्राप्नोतीति अम्बिकान्तिकं प्रविवेश पूजार्थम् । अत एव भागवते लौकिकसौन्दर्यकथनार्थं भाषाभेदा निरूपिताः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कुछ समय चुप्पी साधली इसलिए कि यह पूजा करले पूजा के बाद ही ले लूंगा, तब वह देव गृह में निकट जा कर हाथ, पैर धो आचमन कर, अन्दर बाहर दोनों तरफ शुद्ध हुई उद्वेग आदि का त्याग कर शान्त चित्त हो पूजा के लिए देवी के पास पहुँची जिसके अन्तःकरण में शान्ति है, उसको पूजा का और भक्ति का फल प्राप्त होता है, इस कारण से ही भागवत में लौकिक सौन्दर्य कहने के लिए भाषा का भेद निरूपण किया है ॥४४॥

श्लोक—तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः ।
भवानीं वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—तब विधि जानने वाली ब्राह्मणों की वृद्ध स्त्रियों ने उस कन्या से महादेव सहित भवानी देवी को प्रणाम करवाया ॥४५॥

सुबोधिनी—ततो या विधिज्ञा ब्राह्मणस्त्रियो वृद्धाः भवानीं वन्दयाञ्चक्रुः । भवानीशब्दः प्राप्तपुरुषसम्बन्धायाः सञ्ज्ञामात्रम् । तेन विशेषं ख्यापयितुं भवपत्नीमित्युक्तम् । अथवा । इयं न महादेवस्य भोगस्त्री, तथा सति वरदातृत्वं न स्यादिति भवपत्नीमित्युक्तम् । यज्ञसंयोग एव पत्युर्नो भवतीति । तत्रापि भवान्विता । उभ-यात्मको हि सः सम्पूर्णो भवति । स्त्रिया सहित-स्यैव सम्पूर्णत्वात् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—भवानी के पास पहुँचने के बाद जो विधि को जानने वाली ब्राह्मणों को वृद्ध स्त्रियाँ थीं वे रुक्मिणी से देवी का प्रणाम कराने लगीं, "भवानी" शब्द से यह बताया है कि जिस देवी स्वरूप का पुरुष से सम्बन्धमात्र हुआ है, उस देवी का नाम इस कारण से "भवानी" हुआ है इससे विशेष प्रसिद्धि के लिए "भवपत्नी" विशेषण दिया है, अथवा यह अम्बिका भवानी महादेव की भोग की स्त्री नहीं है, यदि भोग की स्त्री होती तो वर देने की शक्ति इसमें न रहती इसलिए भवपत्नियों कहा है पति का यज्ञ में संयोग नहीं होता है वहाँ भी महादेव के साथ होती है, उभयरूप ही सम्पूर्ण होता है, स्त्री सहित हो स्वरूप पूर्ण है ॥४५॥

आभास—तदानीमेव भवानीनमस्कारे भगवदिच्छया मन्त्रः स्फुरित इति तं निरूपयति नमस्ये त्वेति ।

आभासार्थ—भवानी को नमस्कार करते हो भगवदिच्छा से रुक्मिणी को मनमें मंत्र का स्फुरण हुआ जिसका वर्णन "नमस्ये त्वा" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नमस्ये त्वाऽम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवम् ।
भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्णस्तदनमोदताम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे अम्बिके ! अपने सन्तान सहित आपको तथा महादेव को नमन करती हूँ, मेरे पति भगवान् श्रीकृष्ण होवें जिसका आप अनुमोदन करो एवं श्रीकृष्ण भी अनुमोदन करे ॥४६॥

सुबोधिनी—स्वसन्तानयुतां गणपत्यादिसहिताम्, शिवमपि नमस्ये। मन्त्र एव प्रार्थनामाह भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्ण इति। तदेतदनुमोदतां शिवः भवानी च। अथवा। कृष्णो वा अनुमोदताम्, न तु कोपं करोतु, अन्यदेवतानमस्कारं वा अनौचित्येन न स्वीकरोतु। लोकप्रतीतिस्तु भूयान्मे पतिरिति भिन्नम्। तत्कृष्णः अनुमोदतामिति च भिन्नम्। अन्यथा महादेवः स्वसदृशमेव कुर्यात्। तच्चान्येषामफलम्। अतः कृष्णानुमोदनं सर्वत्र वक्तव्यम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—हे अम्बिके अपने सन्तान गणपति आदि सहित आपको तथा महादेवजी को भी प्रणाम करती हूँ, मन्त्र में ही प्रार्थना करती है कि मेरे पति भगवान् कृष्ण ही होवे जिसका अनुमोदन शिव और भवानी दोनों करें अथवा कृष्ण भी अनुमोदन करे, अन्य देवता को नमस्कार कर रही हूँ इसको अनुचित समझ कोप न करें, किन्तु उचित जान अनुमोदन ही करें, मेरे पति श्रीकृष्ण हो वैसी लोककी प्रतीति भिन्न है, उस लोक प्रतीति का कृष्ण अनुमोदन करे यह पृथक् विषय है, नहीं तो महादेव अपने सदृश ही करे और वह तो दूसरों का फल नहीं है, अतः सर्वत्र कृष्ण का अनुमोदन हीं करना चाहिए ॥४६॥

आभास—न केवलमयं नमस्कार एव मन्त्रः, किन्त्वनेन मन्त्रेण सर्वामेव पूजां कृतवतीत्याह अद्भिरिति ।

आभासार्थ—यह मन्त्र केवल नमस्कार के समय कार्य में नहीं लाया किन्तु इस मन्त्र से समग्र पूजा की जिसका वर्णन "अद्भि" श्लोक में करते हैं।

श्लोक—अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वासःस्रङ्माल्यभूषणैः ।
नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥४७॥

विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत् ।
लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥४८॥

श्लोकार्थ—ऐसे नमस्कार एवं प्रार्थना कर अब पूजा करती हैं, पहले जल से पश्चात् गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, पुष्प, मालाएं और आभूषणों से यथा अनेक प्रकार के उपहार, बलिए, दीप आदि से जुदी जुदी पूजा की । ४७॥

पश्चात् उसी प्रकार सधवा ब्राह्मण स्त्रियों का उन पदार्थों से मौन पूजन किया तथा लवण, मालपुए, ताम्बूल, कण्ठसूत्र, फल और ईख इन षट् रस वाले पदार्थों से पूजा की ॥४८॥

सुबोधिनी—पाद्यार्घ्याचमनस्नानैः, ततः गन्धाक्षतैर्धूपैः, ततः पूर्वं वासःस्रङ् माल्यभूषणैः । पुष्पाणि क्षणमात्र देहे परिधापितानां, पश्चात्त्यागार्थम् 'अनलङ्कृता क्षणमपि न तिष्ठे'दिति अक्षतानामलङ्करणं पश्चात्तु । पुनः प्रदीपावलिभिरिति नानाविधारात्रिकाणि निरूपितानि । पृथगिति अग्रे पूर्वत्रापि सम्बध्यते । महादेवे भवान्यां च । तथा प्रत्येकं ब्राह्मणस्त्रीषु । अन्यथा विष्णवे दास्यति शिवः पूजितः सपरिकरः । ब्रह्मा त्ववशिष्येतेति । अतस्तत्प्रीत्यर्थं विप्रस्त्रियोऽपि पृथक् पृथक् वस्त्रादिभिः पूजिताः । किञ्च । विवाहे विशेषप्रकारमाह लवणेति । मङ्गलद्रव्याण्येतानि षट्, रसात्मकानि च । कण्ठसूत्रं मङ्गलसूत्रम्, फलानि नानाविधानि, इक्षवश्च खण्डशः कृताः । एकत्रैव वर्णितं दानम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ—देवी के पूजन का प्रकार बताते हैं, पहले पाद्य, अर्घ्य, आचमन तथा स्नान करवाया, पश्चात् धूप, दीप, गन्ध से पूर्व अक्षतों से अलंकृत किया, धूप से आर्द्रता (गीलापन) मिटाकर वस्त्र, पुष्पमालाएं, आभूषण पहनाए क्योंकि स्नान से आर्द्र वस्त्र आदि का त्याग तब किया जाता है, जब अन्य शुष्क वस्त्र और अलङ्कार पहने जाते हैं, कारण कि शास्त्र में कहा है—"अलंकृताक्षणमपिन तिष्ठेत्" अलंकृत हुए बिना स्त्री को एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए इसलिए अन्य अलङ्कारों से प्रथम अक्षत आदि अलङ्कार दिए पश्चात् वस्त्र आदि दिए फिर दीपावलि से अनेक प्रकार की आरती की 'पृथक्' शब्द पहले की हुई पूजा से भी सम्बन्ध रखता है अर्थात् पहले की हुई एक एक पूजा भिन्न भिन्न की है, महादेव की तथा भवानी की । इसी प्रकार हर एक सधवा ब्राह्मण स्त्रियों की भी पूजा की यदि उनकी पूजा नहीं करती तो परिवार सहित पूजित शिव अपनी पूजा विष्णु को देंगे तो ब्रह्मा पूजा बिना रह जाऐंगे, अतः ब्रह्मा की प्रीति के लिए ब्राह्मण स्त्रियां भी वस्त्र आदि से जुदी जुदी पूजी गई, विवाह में जो विशेष प्रकार किया जाता

है वह कहते हैं। लवण[1] आदि ये छ मंगल द्रव्य हैं, कारण कि रस रूप हैं, कण्ठसूत्र[2] अनेक प्रकार के भल टुकड़े किए हुए गन्ने ये सब ही छ रस इकट्ठे कर ब्राह्मण स्त्रियों को दान में दिए ॥ ४७-४८ ॥

श्लोक—तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः ॥४९॥

श्लोकार्थ—उन स्त्रियों ने उसको दिया, अन्य स्त्रियों ने आशीर्वाद की, रुक्मिणी ने ब्राह्मण की स्त्रियों को तथा देवी को प्रणाम किया, दिए हुए पदार्थों को प्रसादी वधू ने ली ॥४९॥

सुबोधिनी—ताश्च स्त्रियः तस्यै ददुः (दधुः)। सभर्तृकायै एव दीयते। अत एवैतल्लोके विवाहानन्तरं दानं प्रसिद्धम्। तदत्र न भविष्यतीति मातृकर्तव्यत्वाच्च मन्त्रवदेतदपि स्फुरितमिति प्रथमत एव दत्तवत्यः। अथवा। गुप्त एव भगवान् समागतः, भवानीशिवाभ्यां भगवते रुक्मणी दत्ता, प्रार्थनायाः सफलत्वाय। एतत् अग्रिमदानकथनात् निरूप्यते। तया ताभ्यो दत्ताः। तस्यै च ताः प्रददुः। शेषा अपि ददुः। आशिषोऽपि युयुजुः। शेषा अपि ये लवणादयो दत्ताः शेषांशाः प्रतीदीयन्ते। एवं विधानमुक्त्वा कर्मपर्यन्तं नमस्कारमाह ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे इति। शेषां ताभिर्दत्तां जगृहे, स्वग्रन्थौ स्थापितवती। एवं सर्वोऽपि विवाहोत्सवो वैधो निरूपितः। अत्र दिनत्रयं व्रतं तदपि जातमिति मन्तव्यम् ॥४९॥

व्याख्यार्थ—उन पूजित ब्राह्मण स्त्रियों ने उसको दिया, जो कुछ विवाह में दिया जाता है, वह पति सहित बैठी हुई को ही दिया जाता है, इस कारण से ही लोक में यह दान विवाह के अनन्तर ही देना प्रसिद्ध है, वह यहाँ बन न सकेगा मातृ कर्तव्य होने से—मन्त्र की तरह यह भी स्फुरण हुआ कि अब ही दे दो अतः पहले ही दे दिया। अथवा भगवान् गुप्त रीति से वहाँ पधार गए भवानी और महादेव ने प्रार्थना की, सफलता के लिए भगवान् को रुक्मिणी दे दो, यह पहले दान करने से निरूपण किया जाता है, रुक्मिणी ने ब्राह्मण स्त्रियों को दिया, उन्होंने इसको दिया, शेष भी दिए और आशीर्वाद भी दिए शेष शब्द को स्पष्ट करते हैं, कि जो लवण आदि षड् रस

१—लवण, पूए, ताम्बूल, कण्ठसूत्र, फल, गन्ना, ये छ रस स्वरूप है।
२—कमल की नाल से निकला सूत बताया हुआ सूत्र।

दिए थे उनके थोड़े अंश दिए जाते हैं, इस प्रकार समग्र विवाह विधि कह कर, कर्म के सम्पूर्ण होने के लिए रुक्मिणी ने जो नमस्कार की, वह कही जाती है, रुक्मिणी ने उन ब्राह्मणियों को तथा देवी को प्रणाम किया, उन ब्राह्मणियों ने जो शेषादि दी वह लेकर अपनी ग्रन्थि में बान्ध रखी, इस प्रकार समग्र विवाह विधि अनुसार हुआ यह निरूपण किया यहाँ तीन दिन जो व्रत होता है वह भी हुआ यों समझना चाहिए ॥४९॥

श्लोक—मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् ।
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना ॥५०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् मौन व्रत का त्याग कर, रत्न की जड़ाऊ मुद्रिका से शोभित हस्त में दासी का हाथ पकड़ कर देवी के मन्दिर से बाहर तुरन्त निकली ॥५०॥

सुबोधिनी—अथ मौनं त्यक्त्वा सखीभिः सह यद्वक्तव्यं तदुक्त्वा अम्बिकालयान्निश्चक्राम । नितरां गमनं शीघ्रं भगवत्प्राप्त्यर्थम् । सख्यः अन्याश्च स्त्रियः व्यावर्तिताः । एका या भृत्या अन्तरङ्गा तां प्रगृह्य भगवद्भावेन विकला भविष्यामीति, बाह्ये तु भूमिं न पश्यतीत्यवश्यं तदीया ग्राह्या प्रदर्शिका । रत्नसहितमुद्रोपशोभितत्वं भगवता स्वमुद्रा दत्तेति ख्यापयितुम् । पूर्वावतारमुद्रां वा सूचयति ॥५० ।

व्याख्यार्थ—विवाह विधि हो जाने के बाद मौन का त्याग कर, सखियों से जो बातें करनी थी वे कर, देवी के मन्दिर से भगवान् की प्राप्ति के लिए शीघ्र निकली, सहेलियाँ और अन्य स्त्रियाँ लौटाई गई, एक जो अन्तरंग सेविका थी उसको साथ में ली, क्योंकि भगवद्भाव से मैं घबड़ाऊँगी जिससे बाहर भूमि कैसी है वह न जान सकूँगी इसलिए इसको साथ में लेना हितकारी है यह मार्ग दिखलाऐगी, ने. रत्न सहित मुद्रा से हस्त की शोभा का प्रदर्शन इसलिए करती थी कि भगवान् ने मुद्रिका दी है यह प्रसिद्ध हो जाय अथवा पूर्व अवतार की मुद्रा को सूचित करती है ॥५०॥

आभास—यद्यहं न गमिष्यामि पूर्ववदेव गतिर्भविष्यतीति, ततोऽग्रे कस्यापि दर्शनं न भविष्यतीति विवाहसमये दर्शनं न दूषणमिति सर्वे दृष्टवन्त इत्याह तामिति ।

आभासार्थ—जो मैं नहीं जाऊँगी तो पहले की भाँति गति होगी उससे किसी को भी दर्शन न होगा इसलिए विवाह में कोई भी देखे तो दूषण नहीं हैं रुक्मिणी के बाहर आने पर सबने इसको देखा जिसका वर्णन "तां देवमाया" श्लोक में करते हैं ।

आभास—तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् ।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् ॥५१॥

श्लोकार्थ—ईश्वरीय माया की भांति वीर पुरुषों को मोहित करने वाली सुन्दर कटि भागवाली कुण्डलों से सुशोभित मुख वाली नितम्ब पर बन्धी हुई रत्नों की मेखला वाली, प्रकट हुए स्तनों वाली और बालों से शंकित नेत्रों वाली ॥५१॥

सुबोधिनी—यथा भगवान् रङ्गप्रवेशे बहुभिर्बहुधा दृष्टः, एवमियमपि देवमायेव वीरैर्दृष्टेत्याह देवमायामिवेति । देवस्य भगवतो मायाया व्यामोहिकैषा शक्तिरागतेति सर्वैरेव निश्चितेति । तत्रापि वीरान् व्यामोहयति । अन्यथा स्वयं गत्वा न म्रियेरन् । तां वर्णयति षोडशलक्षणाम् । द्वात्रिंशल्लक्षणो भगवान्, षोडशलक्षणा सेति प्रसिद्धिः । एकं सम्बन्धादसाधारणसामर्थ्यम्, अपरं शौर्यादिनिराकरणम्, तृतीयं व्यामोहकत्वम्, चतुर्थं सुष्ठु मध्यं यस्या इति, लम्बिकावत् अमृतसम्बन्धार्थं अल्पमध्यत्वं निरूपणीयम् । अत एव न कस्यापि रससम्बन्धः । स हि रसः पुरुषेण भोक्तव्यः जिह्वयैव । तदभावात् स्वस्थितोऽपि मक्षिकासम्बन्ध इव रसोपगच्छतीति दुःखमेव लोके फलति । कुण्डलाभ्यां मण्डितमाननं यस्यामिति उपरि रसोपभोगस्थानस्य शोभा प्रदर्शिता । रसप्रदर्शके कुण्डले इति । वयोऽप्याह श्यामामिति । षोडशवार्षिकी । नितम्बे अर्पिता रत्नमेखला यस्या इति रसाविर्भावकप्रस्तावे मुख्यस्थानेऽपि रसप्रकाशो निरूपितः । मध्ये रसाभिव्यक्तिमाह व्यञ्जत्स्तनीमिति । एवं पञ्चधर्मा रसात्मका निरूपिताः । पोषकान् सप्तधर्मानाह । कुन्तलैः शङ्किते ईक्षणे यस्या इति । लक्षणद्वयमत्र निरूपितम् । कुन्तलानि चपला च दृष्टिरिति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—"देवमायां इव" का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे रंग मण्डल में प्रवेश करते समय भगवान् को बहुतों ने बहुत प्रकार से देखा वैसे ही इसको भी देव माया की तरह वीरों ने देखा, भगवान् की माया को यह मोह में डालने वाली शक्ति आई है, यों सब ने निश्चय किया वहां भी वीरों को मोहित करती है यों नहीं हो, तो वीर लोक आप ही जाकर न मरे. वह देव माया कैसी है जिसका वर्णन करते हैं कि षोडश लक्षणों वाली है, भगवान् बत्तीस लक्षणों वाले और यह षोड़श (१६) लक्षण वाली यह बात प्रसिद्ध है, एक तो सम्बन्ध से असाधारण सामर्थ्य है दूसरा शूरवीरों के शौर्य का निराकरण करना, तीसरा मोहित करना, चौथा सुन्दर कमर वाली योग की लम्बिका क्रिया की तरह अमृत सम्बन्ध के लिए पतली कमर निरूपण करनी चाहिए, इस कारण से ही अर्थात् कमर

सूक्ष्म न होने से योग्यता नहीं होती है जिससे किसी का भी भगवान् के रस से सम्बन्ध नहीं होता है ब्रह्मरन्ध्रस्थित[1]–वह रस पुरुष को जिह्वा से ही भोगना चाहिए, यदि वह साधन रूप नहीं हो तो अपने ब्रह्मरन्ध्रस्थित रस भी देह नाश होने पर यों ही चला जाता है । लोक में दुःख मात्र भोगा जाता है, आनन्द की प्राप्ति नहीं की हुई, जैसे खाया हुआ अन्न भी मक्षिका के सम्बन्ध से वमन में निकल जाता है उसका रस नहीं मिलता है यह दृष्टान्त देकर समझाया है भावार्थ यह है कि ब्रह्मरन्ध्र स्थित इस योग द्वारा सूक्ष्म जिह्वा द्वारा पान किया जाता है वैसे सूक्ष्म कमर द्वारा भगवद्रस ग्रहण किया जा सकता है ब्रह्मरन्ध्र के रस पान में सूक्ष्म जिह्वा साधन है, भगवद्रस प्राप्ति में सूक्ष्म कमर साधन है अन्यथा देह के नाश होने से उसमें स्थित रस व्यर्थ ही चला जाता है । देह से केवल दुःख ही प्राप्त किया, रस की प्राप्ति नहीं की गई, कुण्डलों से सुशोभित मुख वाली है इससे रस के उपभोग स्थान को ऊपर की शोभा का वर्णन किया, रस को दिखाने वाले कुण्डल हैं; आयु भी कहते हैं "श्यामां" अर्थात् सोलह वर्ष को थी नितम्बों पर रत्नों की मेखला सुशोभित थी जिससे रसाविर्भाव के अवसर पर रस के प्रकाश का निरूपण किया है मध्य में रस का प्रत्यक्ष कराने वाले साधनों को कहते हैं कि स्तन भी बाहर प्रकट हो गए हैं इस प्रकार रस रूप पाँच धर्मों का निरूपण किया है अब रस के पोषक सात धर्मों को कहते हैं, केशों से डरे हुए नेत्रों वाली है इससे दो लक्षण बताए हैं १–केश २–दूसरी चंचल दृष्टि ॥५१॥

श्लोक–शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युतिशोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम् ।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं सिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना ॥५२॥

श्लोकार्थ—निर्दोष मन्द मुस्क्यान वाली बिम्ब फल के समान अधर की कान्ति से कुन्द की कली के समान दान्त भी जिसके अरुण हो गए हैं, एक पाद से चलने से जिसकी गति हंस के समान सुन्दर हो गई है तथा दोनों नूपुरों में लगे हुए सूक्ष्म कणिकाएँ उनके प्रकाश से शोभित ॥५२॥

सुबोधिनी–मन्दहासोऽपि दोषाभावाय शुचिरूपः । श्वेतदन्तत्वं न रसाविर्भावकमिति विवाहानन्तरं च दन्तसंस्कार इति कृत्रिमसंस्काराभावेऽपि सहजैरेव धर्मैस्तथा जातमित्याह ।

१—योगी पुरुष लम्बिका योग से अपनी जिह्वा को सूक्ष्म बनाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रस का पान करता है यदि इस प्रकार जिह्वा सूक्ष्म न कर सके तो वह रस पान नहीं कर सकता है वैसे सूक्ष्म कमर न होने से भगवद्रस भी प्राप्त नहीं होता है ।

बिम्बफलवत् यत् लोहितमधरोष्ठं तस्य द्युतिभिः कान्तिभिः शोणायमाना ये द्विजाः त एव कुन्द-कुड्मलानि यस्याः । रञ्जकद्रव्यसम्बन्धापेक्षया कान्त्या राग उत्तमः । पदा चलन्तीमिति । एकविधं लक्षणम्, पद्भ्यां चलनं पुरुषस्य, एकेन पदा चलनं स्त्रिया इति । तत्रापि गतिः फलरूपा अफला चेति द्विधा । अयं विवेकः स्फुटलक्षणेनैव भवतीति तस्या गमनं निरूपयति । कलहंसवद्गच्छतीति । सिञ्जन्त्यः कला अन्तःस्थिताः सूक्ष्माः कणिकाः तद्युते नूपुरे तयोर्धाम तेजः तेन शोभायमाना शोभिना वा ॥५२॥

व्याख्यार्थ—मन्द मुस्कयान में निर्दोषता होती है जिससे वह शुचि रूप है, सफेद दान्त रस को प्रकट नहीं करते है इसलिए विवाह के बाद उनको संस्कार लाल चमकीले बनाए जाते हैं किन्तु वह बनावटी संस्कार है, किन्तु यहाँ तो सहज धर्मों से दान्त वैसे हो गए हैं, वह बताते हैं बिम्बफल की भाँति जो रुक्मिणी का सहज लाल अधरोष्ठ था उसकी कान्तियों से लाल हुए जो दान्त वे ही जिसकी कुन्द की कलियाँ थी, लालास देने वाले द्रव्यों की अपेक्षा कान्ति से जो लालास आती है वह उत्तम है, एक पैर से चलती थी यह स्त्रियों का एक प्रकार का लक्षण है, दोनों पैरों से पुरुष चलते है, एक पैर से स्त्री चलती है, उसमें भी गति दो प्रकार की होती है एक सफल और बिना फल वाली है, यह विचार निश्चय प्रकट हुए लक्षणों से होता है इसलिए उसके चलने के प्रकार का निरूपण करते हैं, राजहंस की तरह चलती है दोनों नूपुरों में लगे हुए सूक्ष्म कणिकाओं के तेज से शोभित है ॥५२॥

आभास—नन्वेतादृश्या दर्शने यदि वीराणां रस उत्पद्यते, तदा दोषः स्यात्; अनुत्पत्तौ विषयस्योत्तमता न स्यादित्युभयतःपाशा रज्जुः, तत्परिहारार्थं वीराणां द्वेधा विनियोगमाह विलोक्येति ।

आभासार्थ—ऐसी के दर्शन से जो वीरों को रस उत्पन्न होता है तो दोष होना चाहिए, यदि रस उत्पन्न हो तो विषय की उत्तमता नहीं होनी चाहिए, इस प्रकार दोनों तरह पाशारज्जु है इसके निवारण के लिए वीरों का दो प्रकार से विनियोग है–जिसका वर्णन "विलोक्य", श्लोक में कहते हैं -

श्लोक—विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः ।
यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहासव्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः ॥५३॥

श्लोकार्थ—आए हुए यशस्वी वीर उसको देखकर मोहित हो गए और उससे उत्पन्न काम से पीड़ित होने लगे, जिसको देख उसके उदार हास, क्रीड़ा और दृष्टि से उन राजाओ के चित्त का हरण हो गया जिससे उन्होंने अस्त्र छोड़ दिए ॥५३॥

सुबोधिनी—आदौ तां विलोक्य वीरा मुमुहुः, मोहं प्राप्ताः । समागता इति समागमनफलमुक्तम् । मूर्च्छायामपि सुषुप्ताविव किञ्चित्सुखमिति । 'मुग्धेऽर्धसम्पत्ति'रिति न्यायाच्च । यशस्विन इति । तेषां पुण्यमपि सूचितम् । अभिलाषामप्याह । तत्कृतेन हृच्छयेन अर्दिता इति । एवं चतुर्भिर्धर्मैः तावत्फलं प्राप्नवन्त इति विषयोत्कर्षो निरूपितः । दोषाभावायाह यां वीक्ष्येति । यावत्तेषां रसदृष्टिर्भवेत्, तन्मध्ये निपतिता एव ते । तत्रापि हेतवः । ते हि भगवद्विमुखाः । तत्रापि नृपतयः अभिमानिनः जरासन्धादयः । तेषां बलमुत्साहशक्तिश्च रसानुभवार्थे हेतुभूतं तस्या भावैर्हृतमित्याह । तस्या उदारो यो हासः, सर्वरसदानसमर्थश्च व्रीडावलोकश्च, व्रीडा च अवलोकश्चेति वा, त्रिविधैरपि भावैः हृतचेतसो जाताः । त्रिविधं हि चित्तमिति । तदभावे युद्धाभावात्, उज्झितास्त्रा जाताः ॥५३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम तो उसको देख कर आए हुए वीर मोहित हो गए इससे आने का फल कहा मूर्च्छा में भी सुषुप्ति की तरह कुछ आनन्द आता है, "मुग्धेऽर्धः" मूर्छा के समय भी आधी सम्पत्ति होती है इस न्याय के अनुसार इनको मोहित होने से कुछ सुख प्राप्त हुआ "यशस्विनः" विशेषण से उनके पुण्य भी सूचित किए, अभिलाषा को भी कहते हैं, उससे उत्पन्न काम से पीड़ित हुए इस प्रकार वीरों ने चार धर्मों से फल प्राप्त किया, इससे विषय का उत्कर्ष वर्णन किया, दोषों के अभाव के लिए कहते हैं "यां वीक्ष्य" जिसको देखकर यों जब तक उनकी दृष्टि रस वाली हो उसके मध्य में ही वे गिर गए, उसमें भी कारण हैं, वे निश्चय से भगवद्विमुख हैं, उसमें भी जरासन्ध आदि अभिमानी राजा हैं, रस के अनुभव के लिए जो उनका बल तथा उत्साह शक्ति थी उसको इसके भावों ने हरण कर लिया, उन भावों को कहते हैं सर्व रसों को देने में समर्थ उसका उदार हास, लज्जा और देखना इन तीन प्रकार के भावों से उनके तीन प्रकार के चित्त को हरण किया जिससे उनके चित्त रहे नहीं और उस समय युद्ध[1]— भी नहीं था इसलिए उन्होंने अस्त्र छोड़ दिए ॥५३॥

श्लोक—पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राछलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ।
सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ॥५४॥

१—सुबोधिनी टीका में "युद्धाभावात्" पद है । फुटनोट में "चिन्ताभावात्" पाठ कहा है जो भावानुकूल नहीं जचता है ।

श्लोकार्थ—पश्चात् हस्ती, रथ और घोड़ों पर बैठे हुए मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गए, वह रुक्मिणी, यात्रा के मिष से अपनी शोभा भगवान् को अर्पण करती हुई, चरण कमल परस्पर जुड़े हुए थे जिससे वह जब इस प्रकार धीरे धीरे चलती थी तब मन से भगवान् की प्राप्ति ही देख रही थी वा चाह रही थी ॥५४॥

सुबोधिनी—ततः क्षितौ पेतुः । पतितानां पुनरुत्थानाभावायोच्चानि स्थानान्याह गजरथाश्वगता इति । यद्भगवता कर्तव्यम्, तदनयैव कृतमिति निरूपणार्थमेतदुक्तम् । विमूढा इति पातज्ञानाभावोऽपि । नन्वेषा दुर्गेव प्रचण्डेति चेत्, तत्राह यात्राच्छलेनेति । हरये स्वशोभामर्पयन्तीम् । प्रसङ्गादेतज्जातम् । सा तु स्वदुःखहरणार्थं स्वशोभामाविर्भाव्य भगवते प्रयच्छति । तत्र प्रसङ्गात् सा शोभा स्वयं ग्राह्येति अयोग्यमिच्छन्तः पतिताः, न तु रुक्मिण्या पातिताः । नन्वेषा यात्रां कृत्वैव गच्छति, कथं भगवते शोभां प्रयच्छतीति चेत्, तत्राह । यतः शोभा स्वकीया, स्वयं त्वन्यदीया, अतः स्वदाने स्वापेक्षाभावेऽपि स्वकीयं देयमेवेति । अत एव तस्या भगवदन्वेषणमाह सैवमिति । शीघ्रगमने रथारोहणं भविष्यतीति शनैः पदपद्मकोशौ चलयती जाता, चालयती । कोशत्वान्मुकुलितत्वमुक्तम् । अनेन कियद्दूरचलनेन पादयोर्व्यथा जातेति ज्ञापयन्तीव मुकुलितपादौ स्थापयतीति गम्यते । तथा व्याजकरणे हेतुः, तदैव तस्मिन् क्षण एव भगवतः प्राप्तिं प्रसमीक्षमाणा ॥५४॥

व्याख्यार्थ—शस्त्र त्यागने के पश्चात् वे पृथ्वी पर गिर गए, ऐसे गिरे, जो फिर (उन्हें) उठने का साहस न रहा, क्योंकि ऊँचे स्थानों से गिरे थे, जैसे कि हाथी, रथ और घोड़ों पर बैठे थे वहाँ से नीचे पड़े थे इसलिए उठने का उस समय साहस न कर सके यह गिरने का कार्य जो भगवान् को करना था वह इसने ही कर दिया, मूर्च्छित हो गए जिससे गिरने का भी ज्ञान न रहा, यों करने से तो यह दुर्गा की तरह विशेष तेज वाली हुई यदि यों कहो तो कहते हैं कि नहीं, यह यात्रा के बहाने भगवान् को अपनी शोभा अर्पण कर रही थी संयोग से यह हो गया, वह तो अपने दुःख को मिटाने के लिए अपनी शोभा प्रकट कर भगवान् को दे रही थी। वहाँ ये वीर इस शोभा को हम ग्रहण करेंगे ऐसी अयोग्य इच्छा करने से स्वयं गिर गए, कि रुक्मिणी ने गिराए थे, यह तो यात्रा करती ही जा रही है कैसे कहते हो कि भगवान् को शोभा देती है इस पर कहते हैं कि शोभा अपनी अर्थात् रुक्मिणी की है और स्वयं रुक्मिणी तो दूसरे की है, अतः अपने दान में अपनी अपेक्षा के अभाव से भी अपनी वस्तु देनी ही चाहिए इस अपनी वस्तु को देने के लिए भगवान् को ढूँढ रही है उसका वर्णन करते हैं "सैवं" शीघ्र चलने से रथ पर चढ़ना न हो सकेगा, इसलिए धीरे धीरे चरण कमलों को साथ मिलाकर चलने लगी, कोश शब्द से यह भाव शब्द बताया है कि चरण कमल पूरी तरह जुदे न हो सकते थे इससे थोड़ी दूर चलने से पैरों में पीड़ा होने लगी यों जताने के लिए पैर मिला कर रखती थी यों समझा जाता है इस प्रकार बहाने करने का कारण उसी क्षण ही भगवान् की प्राप्ति चाह रही थी ॥५४॥

आभास—कन्याया राजदर्शनमपि कर्तव्यं वैलक्षण्यज्ञापनायेति तद्भगवदर्थं जातमित्याह ।

आभासार्थ—कन्या को अपनी विलक्षणता बताने के लिए राज दर्शन भी करना चाहिए वह दर्शन भगवदर्थ हुआ, जिसका वर्णन "उत्सार्य" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् समैक्षत नृपान्ददृशेऽच्युतं सा ।
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ।।५५।।

श्लोकार्थ—बायें हस्त के नखों से अलकों को ऊपर उठा के कटाक्षों से आए हुए राजाओं को देखते देखते भगवान् को देख लिया सबने जिसको रथ पर चढ़ाने की इच्छा की तब उनके बीच में से उस राज कन्या को भगवान् ने सब शत्रुओं को दिखाते हुए हरण कर लिया ।।५५।।

सुबोधिनी—उत्सार्य वामहस्तनखैरलकान् अपाङ्गैः प्राप्तान् नृपान् समैक्षत । ततः यदर्थं तान् दृष्टवती तमच्युतं ददर्श । नन्वपूर्वदर्शने कथं परिज्ञानमिति चेत्, तत्राह अच्युतं सेति । उभयोर्ज्ञापकमेकैको धर्मः । सा हि चित्रे भगवन्तं दृष्टवती, स्वप्नभ्रमेषु च । अतो रूपं दृष्टपूर्वम् । भगवानप्यच्युतः सर्वत्रानुस्यूतः, न तु चित्रादिष्वन्यः, अतान्य इति । सर्वत्रैव भगवतः अच्युतत्वात् । ततोऽग्रे दृष्टिर्न गतेति तमेव विलोकयन्ती यदा स्थिता, तदा सर्वैः रथारोहणार्थं नियुज्यमाना जाता । तन्मध्ये भगवान् जहारेत्याह तां राजकन्यामिति । तामिति कृतात्मनिवेदनाम्, राजकन्याया हरणं च युक्तमिति, रथारोहे पुनः सारथ्यादेः मारणं कर्तव्यमिति, यदैव रथारोहणेच्छुर्जाता, तदैव जहार । तदा हि सर्वसमूहः अपगतो भवति । तत्र प्रतिबन्धकानां साक्षित्वं जातमित्याह द्विषतां समीक्षतामिति । कृष्णस्य हि स्त्रियः । हरणं हस्तेन ग्रहणमुत्तोलनमिति यावत् ।।५५।।

व्याख्यार्थ—बाएँ हाथ के नखों से केशों को ऊपर उठा के कटाक्षों से आए हुए राजाओं को जाँच कर देखने लगी पश्चात् जिसके लिए उनको देख रही थी उस अच्युत को देख लिया पहली बार ही देखने से कैसे पहचान लिया ? जिसके उत्तर में कहा, कि वह अच्युत हैं इसलिए वह सर्वत्र मौजद है इसलिए उनको रुक्मिणी के पहचानने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है और रुक्मिणी ने

चित्र में भगवान् के दर्शन किए थे तथा स्वप्न आदि में भी देखे थे इसलिए उसने भगवान् को पहचान लिया, इस प्रकार दोनों में पहचान करने का एक एक धर्म था भगवान् अच्युत होने से चित्रों में तथा वहाँ एक ही है इस कारण से रुक्मिणी की दृष्टि दूसरी जगह नहीं गई इसलिए ही उनका दर्शन करती हुई जब खड़ी होगई तब सब उसको रथ पर चढ़ाने की इच्छा करने लगे उनके बीच में से भगवान् ने वह राज कन्या हरण कर ली, राज कन्या का विशेषण "तां" दिया है जिस का भावार्थ है कि भगवान् ने इस राज कन्या का हरण इसलिए किया कि उसने भगवान् को आत्मसमर्पण किया था अर्थात् जो भगवान् को आत्मसमर्पण करता है उसको सर्व दुष्टों से छुड़ाकर अपनी शरण में लेकर रसदान करते हैं अतः रुक्मिणी को भी ले लिया इसलिए राजकन्या का हरण योग्य ही है रथ पर चढ़ाने पर फिर सारथि आदि को मारना चाहिए जब ही वह रथ पर चढ़ने की इच्छा वाली हुई तब ही रथ में चढ़ा लिया अर्थात् हरण किया तब ही सर्व समूह भाग गया अथवा तब ही सब शत्रुओं का मानो मरण हुआ हो जो शत्रु हरण करने में रुकावट डालने वाले थे उनके देखते हुए ले लिया जिससे वे साक्षी बन गए, कृष्ण का यह स्त्री हरण एक प्रकार से हस्त से लेकर ऊपर उठाकर तोलने के समान है ॥५५॥

श्लोक—रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।
ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥५६॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी पति ने अपने गरुड़ के चिन्ह वाले रथ में बैठा कर राजाओं के समूह का तिरस्कार कर जैसे सियारों के मध्य से सिंह बलि ले जाता है वैसे भगवान् रुक्मिणी को ले गए। पश्चात् बलभद्र आदि यादवों के साथ धीरे धीरे जाने लगे ॥५६॥

सुबोधिनी—ततो रथं समारोप्य ययावित्यग्रेण सम्बन्धः। उपस्थितरथपरित्यागाय सुपर्णलक्षणमिति। तत्र वेष्टका राजन्याः सन्ति, परितश्चक्ररूपेण स्थिताः। तत्सर्वं परिभूय पराभवं प्रापयित्वा। दृष्टबलमस्त्येव, अदृष्टमपि बलं तस्यैवेति ज्ञापयन्नाह माधव इति। लक्ष्मीपतिर्भगवान्, इयं च लक्ष्मीः। अतो भार्येत्यस्या परिपालने भगवतो धर्मो जातः। ते त्वनधिकारिणस्तदभिलाषिण इति तेषां पापमेव सिद्धम्। अतः परामेव सिद्धम्। अतः पराभवो युक्त इत्यर्थः। तेषां

पराभवे रक्षकाणामपि युद्धं सम्भवतीति, तेषां वधे अमङ्गलं च भवतीति, तद्दोषं परिहरन्नाह ततो ययाविति। तत इत्यव्ययनिर्देशः। तस्य स्थानस्याविकृतत्वाय न कोऽपि तत्र हत इत्यर्थः। तर्हि पुरमध्ये कियद्दूरे हनन भविष्यतीत्याशङ्क्याह ययाविति। या प्रापण इति कुशलेनेष्टदेशपर्यन्तं गत इत्यर्थः। तदीयानां वा रामादीनामुपद्रवमाशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह रामपुरोगमैरिति। रामो हि साधनशक्तिः पुरोगमो येषामिति सर्वेषां साधनत्वं रमणात्मकत्वादमारकत्वं च सूचितम्। सम्मर्देनापि तथात्वमाशङ्क्याह शनैरिति। लोका हि नगरस्थाः त्रिचतुरान्विहाय समागता अपि लोकवदन्त्या कृष्णाय दत्ता रुक्मिणी, अतो भगवान् नयतीति सादरं प्रेक्षका एव जाता इति शनैरित्यनेन सूचितम्। ननु तत्रैव कथं सर्वसन्देहनिवृत्यर्थं भगवान् न स्थितः, श्वशुरादिभिः पश्चादभ्यनुज्ञातो गच्छेत्, किमिति निर्गत इत्याशङ्क्याह सृगालमध्यादिति। भवेदेवं यदि तत्र सन्तो भवेयुः। ते हि सृगाला दुष्टचित्ताः, तन्मध्ये च स्वभागो न स्थापनीयः। अतिरिक्तभाग एव सृगालानामिति। तत्रापि यदक्रूरमतिरिक्तं तत्साध्यानाम्, यत् क्रूरं तत् सृगालानामिति। यथा मथिताग्निः चषालादूर्ध्वं यूपश्च साध्यानाम्, यतयश्च सृगालानामिति श्रौतो निर्णयः। न तु स्वभागस्य। किञ्च। लोकेऽपि तत् सृगालमध्ये न रक्षणीयमिति सिंहं दृष्टान्तीकरोति हरिरिति। यथा सिंहः स्वभागं हरति, तथा भगवानपि भागहृज्जातः। भागभृदिति पाठे भागं बिभर्तीति। गृहीतस्य शुद्ध एव स्थाने स्थापनमिति तत्र न स्थापितवान् अन्यथा असुरगामि तद्भवेदिति ॥५६॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् रथ में चढ़ कर ऐसे ले गए जैसे निर्विघ्न अपने देश पहुँच गए, यों आगे से सम्बन्ध है समीपस्थित रथ में न चढ़ाकर गरुड़ध्वजा वाले रथ में ले गए इसलिए "सुपर्णलक्षणं" रथ का विशेषण दिया है, वहां चारों तरफ चक्र की तरह राजा लोग घेर रहे थे उन समस्त राजाओं को परास्त कर ले गए भगवान् का नाम यहाँ "माधव" दिया है जिसका भाव प्रकट करते हुए कहते है कि प्रकट बलो तो है हो परन्तु इनमें छिपा हुआ बल भी है कारण कि लक्ष्मी पति हैं यह रुक्मिणी लक्ष्मी है, अतः इनकी भार्या[1] है। जिससे इसका पालन करने में भगवान् को धर्म प्राप्त हुआ इसकी अभिलाषा करने वाले वे तो अधिकारी नहीं थे जिससे इनको पाप ही लगा अतः इनको परास्त करना योग्य है, उनका पराभव कराने पर इनके रक्षक लड़ेंगे ? उनके मारने से अमंगल होता है इस दोष का परिहार करते हैं कि 'ततो ययौ" इन शब्दों के देने का आशय यह है कि "ततः" अव्यय है जिससे बताया कि उस स्थान को अविकारी बनाने के लिए, वहाँ किसी को मारा नहीं वहां नहीं मारा तो नगर के बीच में कितनी दूर जाकर मारा होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए "ययौ" कहा है जिसका अर्थ है पहुँच जाना अर्थात् भगवान् रुक्मिणी को लेकर

१—विधिवत् विवाह की हुई पालन योग्य स्त्री है।

कुशलपूर्वक अपने देश पहुँच गए भगवान् तो सकुशल पहुँच गए किन्तु उनका वा रामादिकों का उपद्रव हुआ होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं, कि "राम पुरोगमे:" बलरामजी को अपने साथ आगे कर ले गए, कारण कि बलराम साधन शक्ति है और रण रूप है जिससे यह बताया, कि उसने भी नहीं मारा रमण रूप आनन्द रूप होने से मारने का गुण उसमें नहीं है, अत: उसने भी कोई उपद्रव नहीं किया आपस के संघर्ष से भी उपद्रव वा मारना आदि हुआ हो, ऐसी शंका के निवारण के लिए "शनै" शब्द दिया है अर्थात् धीरे धीरे जाने लगे जिससे बताया है कि किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हुआ, नगर में रहने वाले तीन चार के सिवाय सब लोक विदा देने के लिए आए उन्होंने लोक रीति के अनुसार सबसे छोटी रुक्मिणी श्रीकृष्ण को दी, इस कारण से भगवान् ले जाते हैं और सब आदर से देखते रहे, इसलिए भी "शनै:" धीरे धीरे जाने लगे यों कहा है, भगवान् वहां ही क्यों ठहरे नहीं जिससे सब का सन्देह मिट जाता और श्वसुर आदि भी आ जाते उनकी आज्ञा लेकर पधारते यों न कर वहाँ से शीघ्र क्यों चले गए ? इस पर कहते हैं कि "शृगाल माध्यम्" यों कहने का भाव प्रकट करते हैं कि भगवान् यों करते अर्थात् वहाँ ठहर जाते किन्तु वहां सत्पुरुष ठहरे होते तो, वे तो सियाल जैसे दुष्ट चित्त वाले थे उनके बीच में अपना स्थापन करना योग्य नहीं है, सियालों का भाग भिन्न वा शून्य होता है उसमें भी जो भाग क्रूर नहीं है वह तो साध्य देवों का है जो क्रूर है वह दुष्ट चित्त वाले सियालों का होता है, जैसे मथित अग्नि और चाँवल का ऊर्ध्व एवं यूप साध्यगण देवों का है और यति शृगालों का भाग है यह श्रोता निर्णय है, नहीं कि अपने भाग का और विशेष यह है कि लोक में भी वह भाग सियालों के बीच में नहीं रखना चाहिए जो सिंहों का है इसलिए वैसा ही दृष्टान्त देते है, "भागभृत" पद का अर्थ है भाग को पालना करता है वह भागभृत् कहलाता है। लिए हुए भाग को शुद्ध स्थान पर ही रखना चाहिए इसलिए वहाँ नहीं रखा यदि वहाँ रखते तो वह असुरावेशी हो जाता ॥५६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह तं मानिन इति ।

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन "तं मानिन:"श्लोक में करते हैं-

श्लोक–तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षरं परे जरासन्धवशा न सेहिरे ।
अहो धिगस्मद्यश आत्तधन्वनां गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥५७॥

श्लोकार्थ—जरासन्ध के आश्रित अन्य अभिमानी राजा, कीर्ति नाशक इस अपने पराभव को न सहन कर, कहने लगे कि, आश्चर्य है, जो हमारे धनुष धारण को भी

धिक्कार है क्योंकि जैसे सिंहों के यश वा भाग को मृग ले जावे वैसे हम धनुषधारियों के यश को ग्वाल हर कर ले गए ॥५७॥

सुबोधिना–अभिमानरक्षार्थमेव समागताः। तदुक्तम्। 'यद्यागत्य हरेत्कृष्ण' इति। तञ्जातमिति स्वस्य अभिभवं तिरस्कारं यशसश्च क्षयं दृष्ट्वा। तत्रापि परैः कृतम्। नहि शत्रुकृतं सोढुं शक्यमिति। ते यदि विवाहेनापि नयेयुः, तथापि सोढुमशक्याः, किमुत बलादिति। तत्रापि जरासन्धवशाः, यैः पूर्वं जयोनुभूतः, अतो न सेहिरे, असहमाना जाताः। जरासन्धवशत्वेन यशःक्षयासहनम्, मानित्वेन स्वाभिभवासहनमिति। तत्रोभयविधं। स्वनिन्दाप्रतिपादकं वाक्यमाह अहो धिगिति। आत्तधन्वनामस्माकं यशो धिगिति। यदि यशो भवेत्, तदा यशसा भीताः नेतारो भवेयुः इति मानिनां वचनम्। जरासन्धप्रमुखानां वचनमाह गोपैर्हृतमिति। गोपाला हि गां हरन्ति। यस्य कस्यचित्। तत्रापि केसरिणां हृतमिति महदाश्चर्यम्। केसरी हि गां भक्षयति। गोपालाः पालयन्ति। अतः कृतं युक्तमेव, परमत्याश्चर्यमिति तेषां प्रशंसा स्वपौरुषख्यापनं च। अनेनातःपरं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यपि सूचितम्। कर्तव्योऽपीति अत्र हेतुमाहुः केसरिणां मृगैरिवेति। मृगा हि साधारणाः, केसरी मृगेन्द्रः, तत्रापि बहूनां भागोऽयमिति दृष्टान्तोऽत्र वर्तत इति नात्यन्तमाश्चर्यमिति स्वमनःसमाधानमाहुः ॥५७॥

व्याख्यार्थ—अन्य राजा अपने अभिमान की रक्षा के लिए ही आए थे जिसकी सूचना "यद्यागत्यहरेत्कृष्ण" श्लोक में दे दी है वह हुआ, अर्थात् श्रीकृष्ण रुक्मिणी को हरण कर गए, जिससे अपना तिरस्कार और यश का नाश देख कर सहन नहीं कर सके क्योंकि शत्रुओं से किया हुआ तिरस्कार सहन नहीं किया जा सकता है, वे यदि विवाह कर ले जावे तो भी सहन करना अशक्य है तो बल से ले जावे जरासन्ध के आश्रित कैसे सहन करेंगे अतः सहन न कर सके, जरासन्ध के आश्रित होने से यश का नाश सहन न कर सके तथा स्वयं अभिमानी थे इसलिए अपना तिरस्कार भी सहन नहीं कर सके। वहाँ दोनों प्रकार अपनी निन्दा का प्रयिपादन करने वाला वाक्य कहते हैं, धनुषधारी हमारे यश को धिक्कार है जो अभिमानी, यश जाएगा इससे डरकर ले जावे तो यश हो, वह तो हुआ नहीं अब जरासन्ध जिन में प्रमुख है उन्होंने जो कहा वह कहते हैं "गोपैर्हृतं" गोप ले गए ग्वाले जिस किसी की गो हरण करते ही हैं यह जो हरण की है वह सिंहों की गौ है, यह बड़ा अचम्भा है, सिंह गौ का भक्षण करता है ग्वाले पालते हैं, इस कारण से जो किया है वह योग्य ही किया है किन्तु इसी में आश्चर्य हैं, यों कहने से उनकी प्रशंसा की है और अपनी वीरता प्रकट की है तथा यह भी सूचित किया है कि इसके बाद किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए इस

प्रकार सूचित करने में हेतु कहते हैं ''केसरिणां मृगौरिव'' मृग साधारण हैं और केशरी मृगों का राजा है, उसमें भी बहुतों का यह भाग है, इस प्रकार यह दृष्टान्त यहाँ है, इसलिए असीम आश्चर्य नहीं है यों कहकर अपने मन का समाधान करते है ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, के उत्तरार्ध के ५०वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका' के राजस साधन अवान्तर प्रकरण, का चौथे अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण।

राग आसावरी

रुकमिनि देवी मन्दिर आई ।
धूप दीप पूजा सामग्री, अली संग सब ल्याई ॥
रखवारी कौं बहुत महाभट, दीन्हे रुकम पठाई ।
ते सब सावधान भए चहुँदिसि, पंछी तहाँ न जाई ।
कुंवरि पूजि गौरी, बिनती करी वर देउ जादवराई ॥
मैं पूजा कीन्हीं ईहि कारन, गौरी सुनि मुसुकाई ॥
पाई प्रसाद अंबिका मंदिर, रुकमिनि बाहर आई ।
सुभट देखि सुन्दरता मोहे, धरनि गिरे मुरझाई ॥
इहि अन्तर जादवपति आए, रुकमिनि रथ बैठाई ।
सूरज प्रभु पहुँचे दल अपनै, तब सुभटनि सुधि पाई ॥

卐

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका—हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

स्कन्धानुसार ५४ वां अध्याय

सुबोधिन्यानुसार ५१ वां अध्याय

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

पञ्चम अध्याय

शिशुपाल के साथी राजाओं की और रुक्मि की हार तथा श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह

कारिका—**यावन्निवर्तते चित्तं तदीयानां स्वभावतः ।**
तावदन्यस्य विषयो भगवांस्तं न मन्यते ॥१॥

कारिकार्थ—तदीयों का चित्त जब तक स्वभाव से निवृत्त हो जाय तब तक भगवान् उसको अन्य का विषय नही मानते हैं ॥१॥

कारिका—**अतो विधिविवाहार्थी तन्निराकरणं पुराः ।**
त्रिविधानां निरूप्यं हि युद्धमुण्डनबोधनैः ॥२॥

कारिकार्थ—इस कारण से विधि पूर्वक विवाह करने के लिए तीन प्रकार की

विधियों का पहले युद्ध मुण्डन और उपदेश[1] से निराकरण करने का निरूपण करना योग्य है ॥२॥

कारिका—उदासीनाः स्वकीयाश्च स्वयं चेत्यत्र शत्रवः ।

मध्यमं भगवत्कार्यमनुकल्पो यतस्तथा ॥३॥

कारिकार्थ—यहां उदासीन अपने और स्वयं शत्रु[2] हैं भगत्कार्य मध्यम है क्योंकि वैसे ही अनुकल्प[3] है ॥३॥

कारिका—उत्तरार्धे पंचमे तु विवाहो वर्ण्यते हरेः ।

रुक्मिण्या सर्वभावेन तद्दोषान् विनिवर्त्य हि ॥४॥

कारिकार्थ--उत्तरार्द्ध राजस-साधन उप-प्रकरणके पाचवें अध्याय में रुक्मिणी के दोषों को निवृत्त कर उसका सर्ग भाव से हरि के साथ विवाह का वर्णन किया जाता है ॥४॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते स्वयशोनिन्दां कृतवन्त इत्युक्तम् । ततो यावच्छक्यं स्वपौरुषं सात्त्विकास्ते कृतवन्त इत्याह इतीति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में अपने यश की निन्दा करने लगे, यों कहा है, पश्चात् जो सात्विक[4] थे वे जितनी सामर्थ्य थी उतनी अपनी वीरता करने लगे, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी "इति सर्वे" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः ।

स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः ॥१॥

१—"१" युद्ध से जरासन्ध आदि "२" मुण्डन से रुक्मि का "३"उपदेश से रुक्मिणी के अज्ञान का ।

२—भगवान् की कृति का अनुमोदन न करने वाली अपनी आत्मा भी शत्रु है ।

३—एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु काम में लाना जैसे शहद न होवे तो गुड़ से काम चलाना इसको अनुकल्प कहते हैं ।

४—'भो भो पुरुष शार्दूल ' इस श्लोक में जो ज्ञानोपदेश होने से वे सात्विक हुए अतः सात्विक हैं ।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वे सब क्रोध की परस्पर वार्ता करते हुए इकट्ठे हुए, और कवच पहन, वाहनों पर चढ़ अपनी सेना से वेष्टित हो धनुष लिए उनके पीछे दौड़े ॥१॥

सुबोधिनी—सर्वे एव मिलिताः सुसंरब्धाः अल्पीयांसो भगवदीया इति स्वोद्यमः। भगवांश्च स्त्रीरक्षायां व्यापृत इति। अन्यथा सात्त्विकानां विचारपूर्वकं प्रवृत्तिर्न स्यात्। सुष्ठु संरब्धाः क्रोधेन परस्परवाक्यैर्वा। ततो वाहान् रथादीन् दशिताः बद्धकवचाः सम्भूय। युद्धे एकस्यापि भङ्गे सर्वेषां भवेदिति स्वैः स्वैर्बलैः पृथगेव परितः आक्रान्ताः, दूरादेव मारणार्थं धृतकार्मुका जाताः ॥१॥

व्याख्यार्थ—सब ही इकट्ठे हुए, थोड़े भगवदीय हुए थे, इसलिए ये अपना उद्यम करने लगे, भगवान् तो स्त्री की रक्षा में रुके हुए थे, यदि यों न होता अर्थात् भगवान् उस रक्षा में रुके हुए न होते तो सात्विकों की विचार पूर्वक प्रवृत्ति न हो सकती थी, अथवा क्रोध से परस्पर वार्तां को करते हुए उद्यम न करते, पश्चात् कवच पहिन, कमर बान्ध रथ आदि में बैठ तैयार होकर अपनी अपनी सेनाओं से जुदे जुदे ही चारों तरफ चढ़ाई करने लगे, दूर से ही मारने के लिए धनुष धारण कर लिया ॥१॥

आभास—एवं शत्रूणामुद्योगमुक्त्वा तत्प्रतीकारार्थं भगवदीयानामप्युद्योगमाह तानापतत इति।

आभासार्थ—शत्रुओं के इस उद्यम का वर्णन कर, उसके प्रतीकार के लिए भगवान् के पक्ष वालों के उद्यम का वर्णन "तानापतत" श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः।
तस्थुस्तत्सम्मुखा राजन्विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते ॥२॥

श्लोकार्थ—यादवों के सेनापति, उनको आक्रमण करने के लिए आते देख, हे राजन्! वे भी अपने धनुषों की टंकार करते हुए उनके सन्मुख खड़े हो गए ॥२॥

सुबोधिनी—आ सर्वतः पततः। अत्र विद्यमानाः सर्वे यादवानीकानां यूथपा एव, न तु कश्चित्सेनारूपः। साधारणो वा। अतस्तत्सम्मुखा एव तस्थुः। आत्मीयाश्चेन्महान्तः अल्पीयांसोऽपि भवन्ति, तदापि जय इति बहूनामपि सम्मुखा जाताः। तानाकारयन्त इव स्वधनूंषि विस्फूर्ज्य ज्यानिनादं कृत्वा स्थिताः, यतस्ते रामादय प्रसिद्धाः ॥२॥

व्याख्यार्थ—चारों तरफ से आक्रमण करते थे, यहाँ सब यादवों की सेना के सेनापति ही थे, किसी प्रकार की सेना नहीं थी, अथवा साधारण सैनिक भी नहीं थे, अतः उनके सामने खड़े हो गए भगवदीय महान् अथवा छोटे होते हैं, तो भी उनकी जय होती है, इसलिए उनके सम्मुख डटकर खड़े हो गए केवल खड़े नहीं हुए किन्तु उनको मानो बुलाते हुए धनुषों को टंकार करने लगे क्योंकि वे राम आदि प्रसिद्ध ही थे ॥२॥

आभास—ततः प्रथमे प्रथमतः युद्धार्थं प्रवृत्ता इत्याह अश्वपृष्ठ इति ।

आभासार्थ—पश्चात् पहले युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए यह "अश्वपृष्ठं" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः ।
मुमचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा ॥३॥

श्लोकार्थ—वे निपुण राजा, घोड़ों की पीठ पर हस्तियों के कन्धे पर, रथों के मंच पर ऐसे शरों की वर्षा करने लगे जैसे पहाड़ों पर मेघ जल गिराता है ॥३॥

सुबोधिनी—यत्रैव प्रहारे न कस्यापि व्यथा, तत्रैव तेषां शरपातो भवतीति ज्ञापनार्थं अश्वपृष्ठ इति । चर्मादि व्यवधायकमस्तीति । तथा गजस्कन्धेऽपि, तथा रथोपस्थे अनुपविष्टभागे । कोविदा अपि । अथ वा यत्रैव पीडा सम्भवति, तत्रैव शरवृष्टिं कृतवन्तः । यतः कोविदाः । चकारात सारथिस्थानेऽपि । प्रतीकाराकरणेऽपि न कश्चित्तेषामपचारो जात इत्यत्र दृष्टान्तमाह मेघा अद्रिष्विति । न दीर्यत इत्यद्रिः । अन्यथा विदारे तदीयानामपकारात्[1]विशेषणं व्यर्थं स्यात् । तत्रापि मेघाः साधारणाः, न तु नीलाः । तत्राप्यपः, न तु धाराः ॥३॥

व्याख्यार्थ—उन राजाओं के शर (बाण) वहाँ गिरते थे जहाँ किसी को भी चोट न लगी थी, हालांकि वे युद्ध में निपुण भी थे, कारण कि चोट न हाने के दो कारण थे, एक तो उनके शर ऐसे स्थान पर गिरते थे और दूसरा ढाल आदि रुकावट करने वाले थे उनके शर कहाँ गिरते थे वह बताते हैं घोड़ों की पीठ पर हस्तियों के कन्धों पर रथ के मंच[1], पर ही तीर गिरते थे अथवा कहकर दूसरा आशय बताते हैं, कि जहाँ ही गिरने से पीड़ा होवे वहाँ ही शरों की वृष्टि करते थे क्योंकि निपुण थे "च" पद से यह प्रकट होता है कि जहाँ सारथि बैठे थे वहाँ भी तीर फेंकते थे, श्रीकृष्ण के

---

[1]—जिस स्थान पर कोई बैठता नहीं है.

पक्ष वालों ने हालाकि एक भी प्रतिकार नहीं किया, तो भी उनकी तनिक भी हानि नहीं हुई इस विषय में दृष्टान्त देते हैं, जैसे साधारण बादल अर्थात् जिनमें विशेष जल नहीं है वे भी धाराओं से वर्षा न कर, केवल पानी से पर्वतों पर सिंचन करते हैं जिससे पर्वतों में किसी प्रकार दरार नहीं पड़ सकती है वैसे ही यहाँ भी उनके तीरों से तनिक भी हानि नहीं हुई ॥३॥

आभास—ततो रुक्मिण्या भयं जातम्, तद्भगवता निवारितमिति निरूप्यते । भगवान् भक्तार्थमेव सर्वं करोतीति ज्ञापनार्थम् । केवलं तेषां वधे रुक्मिण्या अप्यसम्मतो स्वार्थमेव तत् कृतवानिति क्लिष्टकर्मता स्यात् । ततो युद्धात्पूर्वं तदाह पत्युर्बलमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—शरों के इस प्रकार गिरने से, रुक्मिणी को भय हुआ वह भगवान् ने मिटाया जिसका निरूपण करते हैं, क्यों निरूपण करते हैं, कि सब को यह ज्ञात हो कि भगवान् भक्त, के लिए ही सब कुछ करते हैं, केवल उनको मार डालने में रुक्मिणी की भी सम्मति नहीं थी, यदि अपने लिए ही भगवान् ने किया तो क्लिष्टकर्मापन भगवान् में आ जावे, इस कारण से युद्ध में पहले "पत्युर्बल" इन दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा ।
सव्रीडमैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥४॥
प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने ।
विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत्तावकैः शात्रवं बलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—सुन्दर कटिवाली रुक्मिणी पति की सेना को बाणों की वर्षा से ढकी हुई देख जब भय से विह्वल नेत्र वाली हो, लज्जा से पति के मुखारबिन्द को देखने लगी, तब भगवान् ने हँस कर उसको कहा है सुन्दर नेत्र वाली ! तू डर मत अब ही तुम्हारे जो ये यादव हैं वे शत्रुओं की सेना का संहार करेंगे ॥४, ५॥

सुबोधिनी—शराणामासारैः धारासम्पातैः सम्यक् छन्नम् । पत्युर्भगवतो बलं छन्नं वीक्ष्य तद्वक्त्रं सव्रीडमैक्षत । सुमध्यमेति विनियोगोऽन्यथा भविष्यतीति शङ्कया, शुद्धान्तःकरणा वा । राजसगुणे हि सति शौर्यादिकं भवतीति । एतदर्थमेव भगवदीयानां सहनम् । अपूर्वदर्शनमिति सव्रीडमैक्षत । वस्तुतः सभयं द्रष्टव्यम्, तथापि तावदर्थं पलायनमपि कर्तुं शक्त इति ।

लज्जैव परं भवेदिति। उभयथापि सव्रीडमैक्षत। ततः क्षणानन्तरं भयेन विह्वले लोचने यस्याः तादृश्यपि जाता। तस्य भगवतो वक्त्रमैक्षत। ततः सान्त्वनमाह प्रहस्येति। एवं हि कामः स्वयं स्वकीयवधं कामयत इति हासेनैव मोहने तस्या भयादिकमपि निवारितम्। मनो देहश्च भगवते सन्देशार्थं प्रेषितवती, न तु वाणीम्। अन्यथा सैव रमेत। भगवानपि तथा वाणीमेवोक्तवान् यथा योग्यम्। भगवत्त्वादेव नाविश्वासः तथैव हृदये वा सम्पादितवान्। मा स्म भैरित्याह। प्रसिद्धिरेव सर्वत्र वर्तते भगवदीयानां भयं नास्तीति। वामलोचन इति। वक्रा दृष्टिर्न कर्तव्या, आहोस्वित् पुरुषमपि या जयति, तस्याः किं भयमिति। मनोहरदृष्टित्वादेव शुभं भविष्यति, त्वद्दृष्ट्या वा हता भविष्यन्तीति सम्बोधनम्। अधुनैवेति। निःसन्देहः। तामात्मत्वेन गृहीत्वाह त्यक्त्वा गमनाभावाय। तावकैरिति। सर्वात्मकत्वविचारेऽपि उपपत्तिमाह शात्रवं बलमिति। शत्रवो हन्तव्या एवेति ॥५॥

व्याख्यार्थ—वाणों की धारा वर्षा से पति को सेना को ढकी हुई देख, उनके मुखारविन्द को लज्जा पूर्वक देखने लगी, "सुमध्यमा" विशेषण से यह शंका उत्पन्न हो सकती है, कि इसका विनियोग दूसरे प्रकार होगा, अतः कहते हैं कि नहीं यह शुद्ध अन्तकरण वाली है इस आशय से "सुमध्यमा" विशेषण दिया है राजस गुण होने पर ही शौर्य आदि होता है इसलिए ही भगवदीय सहन कर सकते हैं रुक्मिणी ने भगवान् को इस प्रकार पहले कभी नहीं देखा था इसलिए यह अपूर्व दर्शन होने से लज्जापूर्वक देखने लगी, वास्तव में तो यह देखना भय पूर्वक था, जिससे भी तो उस समय भाग भी सकते थे किन्तु भाग जाने पर लाज ही हो, दोनों प्रकार लज्जा से देखने लगी, अनन्तर थोड़ी ही देर में उसके नेत्र भय से विह्वल हो गए, तब भी भगवान् को देखती रही, ऐसी दशा देख कर भगवान् हसकर रुक्मिणी को सान्त्वना देने लगे, इस प्रकार ही काम आप ही अपना वध चाहता है, इसलिए हंसने से ही मोहित कर, काम का वध किया तथा उसके भय आदि भी मिटाए, मन और देह सन्देह के लिए भगवान् के पास भेज दिए थे, वाणी नहीं भेजी थी, नहीं तो वहीं रमण करे भगवान् भी उसी प्रकार यथा योग्य वाणी को ही कहने लगे, आप भगवान् हैं, इस ज्ञान से उनकी वाणी में अविश्वास नहीं हुआ; जैसी वाणी आपने कही उसको ही हृदय में धारण कर लिया भगवान् ने कहा कि, हे वामलोचने। तू डर मत क्योंकि यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि भगवदीय डरते नहीं है, अतः आप वक्रदृष्टि न करिए, अथवा जो पुरुष को भी मोहित कर सकती है, उसे किसका भय ? किसी का नहीं, मनोहर दृष्टि से ही सब शुभ होगा अथवा तुम्हारी दृष्टि से मर जायेंगे इसलिए "वामलोचने" सम्बोधन दिया है, "अधुनैव" अब ही पद कहने का आशय है कि इनके नाश होने में किसी प्रकार सन्देह नहीं है, उसको आत्मापन से ग्रहण कर यह दिखाया कि रण का त्याग नहीं करना है, कारण कि, ये तेरे अब ही शत्रु की सेना को नष्ट कर देंगे, सब आत्मा अपनी हैं, इस विचार से मारना नहीं चाहिए किन्तु यह सेना शत्रुओं की है, इस उपपत्ति से मारने में कोई दोष नहीं यह नीति है ॥४,५॥

आभास—एवं भगवद्वाक्येनैव ते आज्ञप्ता एव सामर्थ्ययुक्ता एव शत्रुबलं दूरीकृत-वन्त इत्याह तैषामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के वाक्यों से आज्ञा प्राप्त कर सामर्थ्य युक्त भी हो गए जिससे शत्रु सेना को दूर फेंक दिया जिसका "तेषां"श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः ।
अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान् रथान् ॥६॥

श्लोकार्थ—उन राजाओं के पराक्रम को न सहन कर गद और संकर्षण आदि वीर यादव, शत्रु सेना के घोड़े, हस्ती तथा रथों को बाणों से नाश करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—तादृशं पराक्रम अमृष्यमाणाः सन्तः जघ्नुः, तादृशं पराक्रम को वा शत्रुरुपेक्षेत। गदः सङ्कर्षणश्च आदिभूतो येषाम् । एकः प्रविश्य मारयति, अपरस्त्वाकृष्य । इतो हीनः कोऽपि नास्तीति तयोरादित्वम् । नाराचैर्बाणविशेषैः । हयगजान् रथानिति । त्रिविधा हता इति गणिताः । न हि महद्भिः क्षुद्रा हन्यन्ते । अतो न पत्तयः परिगणिताः ॥६॥

व्याख्यार्थ—वैसे पराक्रम, को सहन न करते हुए नाश करने लगे, कौनसा ऐसा वीर शत्रु है, जो शत्रुओं के ऐसे पराक्रम की उपेक्षा करे, जिनमें गद और संकर्षण मुख्य हैं, उन में से एक उनके भीतर घुसकर जाके मारता है तो दूसरा घसीट कर बाहर लाके मारता है, इन से कम तो कोई नहीं है, किन्तु इन दोनों की प्रमुखता है विशेष बाणों से, घोड़े, हस्ती और रथ इन तीनों की गणना से यह बताया कि जो शत्रुओं में महान् योद्धे इन पर बैठे थे उन सबको नष्ट कर दिया शेष जो साधारण प्यादे उनकी गिनती नहीं की है क्योंकि महान् (पुरुष) क्षुद्रों को नहीं मारते हैं ॥६॥

आभास—हननं फलपर्यवसायीति फलमाह त्रिभिः पेतुरिति ।

आभासार्थ—"पेतुः" श्लोक से तीन श्लोकों में कहते हैं कि "मारडालना" फल पर्यवसायी है-

श्लोक—पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि ।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः ॥७॥

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः ।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥८॥
हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरः सराः ॥९॥

श्लोकार्थ—रथियों, घोड़े सवारों और हस्तियों पर बैठे हुए योधाओं के कुण्डल, मुकुट तथा पगड़ियों सहित कराड़ों शिर पृथ्वी पर गिर गए ॥७॥

खड्ग गदा और धनुष सहित हाथ कट कर गिरते थे, कोहनी से हाथ के पोंचे तक का भाग, जंघा और पांव यह भी कट कर गिरते थे, तथा घोड़े खच्चर, हाथी, ऊंट, गधे और मनुष्य इनके भी शिर कटकर गिर पड़ते थे ॥८॥

जय की इच्छा वाले यादवों ने सेना का संहार करना प्रारम्भ किया तब जरासन्ध जिन में मुख्य है, वैसे राजा विमुख हो भाग गए ॥९॥

सुबोधिनी—वधो द्विविधः, अवयविनः अवयवानां च । ततः पलायनमिति रथिनां शिरांसि निकृत्तानि रथस्थानं परित्यज्य भुवि पेतुः । तथा अश्विनां अश्वसहितानां गजसहितानां वा । खड्गयुद्धे नैतदाश्चर्यम्, बाणयुद्धे तु भवतीति निरूपितम् । तेषामप्रयोजकत्वं निवारयति सकुण्डलकिरीटानीति । उष्णीषकुण्डलकिरीटानि त्रिविधानि । प्रायिकत्वं व्यावर्तयितुं कोटिश इत्युक्तम् । अवयवानाह हस्ता इति । असियुक्ता गदायुक्ताः दक्षिणाः, इष्वासयुक्ताः वामाः, करभाः शुण्डादण्डाः, ऊरवः अङ्घ्रयश्च । सर्वेषामश्वादीनां शिरांसि च भुवि पेतुरिति सम्बन्धः । नागा हस्तिनः । षड्विधा अपि हता इत्यर्थः । चकारात् ध्वजादीनामपि भूमिपातः । ततः पलायनमाह हन्यमानेति । सर्वमेव बलमनीकरूपं हन्यमानं येषाम् एते तु वृष्टिमेव कृतवन्तः, न तु मारयन्ति, ते तु मारयन्ति । तत्र हेतुः जयकाङ्क्षिभिरिति कन्या तु प्राप्तैव, केवलं जय एवापेक्षित इति तेषामुद्योगः । ततो राजानः स्वदेशभोगेप्सव किं वृथा मरणेनेति सर्वे एव विमुखाः कुण्डिनपुरं जग्मुः । जरासन्धः पुरःसरो येषाम् स हि पलायने कृताभ्यासः ॥९॥

व्याख्यार्थ—दो प्रकार से वध होता है, एक अवयवों का और दूसरा अवयवी का, पश्चात् भाग जाना यों रथियों के कटे हुए शिर रथ का स्थान छोड़ कर पृथ्वी पर गिर गए वैसे ही घोड़े

सवारों एवं हस्ती पर बैठे हुए योधाओं के शिर भी गिरे, तलवार की लड़ाई में यह अचम्भे की बात नहीं है बाणों की युद्ध में यों होना आश्चर्य की बात हो सकती है इसलिए यह निरूपण किया है उनकी अप्रयोजकता निवारण करते हैं पगड़ी, कुण्डल तथा मुकुट तीन प्रकार के हैं, बहुतायत को मिटाने के लिए "कोटिशः" करोड़ों शब्द कहा है जो अवयव गिरे उनको कहते हैं तलवार और गदा से युक्त दक्षिण हस्त, कोहनी से हाथ के पोंचे तक का भाग, जंघा और चरण, एवं अश्व आदि के शिर पृथ्वी पर गिरे, हाथी छ प्रकार के भी मरे यह तात्पर्य है "च" ध्वजा आदि भी पृथ्वी पर गिरे, अनन्तर भागने लगे जिसका वर्णन करते है, जिनकी सर्व सेना नष्ट हो गई, ये जो वर्षा ही करते थे, मारते नहीं थे किन्तु वे तो मारने हैं इसमें कारण यह है कि यादव अपनी जय चाहते हैं, कन्या तो मिल गई थी, किन्तु केवल जय की आकांक्षा रही थी इसलिए उनका यह उद्यम था, राजा लोग तो अपने देश जा कर भोग इच्छा वाले थे वृथा मरने से क्या लाभ होगा इसलिए सब अप्रसन्न मुख फेर कर कुण्डिनपुर को गए, उन राजाओं में मुख्य जरासन्ध था क्योंकि उसने भागने का अभ्यास किया है जिससे पहले वह भागने लगा पीछे दूसरे भी भाग गए ॥७, ८, ९॥

श्लोक—शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम् ।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मानो जिसकी स्त्री का हरण हुआ है, इससे आतुर, तेज हीन उत्साह रहित शुष्क मुख वाले शिशुपाल के पास आकर कहने लगे ॥१०॥

सुबोधिनी—भीष्मोऽत्र न वक्तव्य इति तस्यापकाराभावाच्च शिशुपालं समभ्येत्य अविवाहेऽपि जातविवाह इव खिद्यमानो जातः । ततो मर्तुकामं विषादिना आतुरं विचाररहितं हृतदारं सम्यगभ्येत्य निकटे सान्त्वनार्थं गत्वा, शुष्यद्वदनं म्रियमाणमिव शीघ्रं सान्त्वनमब्रुवन् । शिशुपालपरिज्ञाने मरणसाधनमेव ज्ञापकम्, नत्वन्यदित्याह नष्टत्विषमिति । बहिः कान्त्यभावः, अन्तरुत्साहाभावः । जरासन्धो हि अत्यन्तमभ्यस्तबोधनः ॥१०॥

व्याख्या—इस विषय में भीष्मक को कुछ भी कहना नहीं है, उसका कुछ भी अपकार नहीं हुआ है. शिशुपाल के पास आकर कहने लगे, क्योंकि यद्यपि शिशुपाल का रुक्मिणी के साथ विवाह नहीं हुआ है, तो भी वह यों समझता है कि मेरा विवाह हुआ है और मेरी स्त्री श्रीकृष्ण ले गया है, इसलिए वह खेद युक्त हो रहा है, इस कारण से विष खाकर मरने की इच्छा करने वाले, जिसकी स्त्री का हरण हुआ है जिससे दुःखिया है, वैसे विचार हीन को सान्त्वना देने के लिए निकट जाकर मरे हुए के समान शुष्क मुखवाला देख शीघ्र ही सान्त्वना के शब्द कहने लगे शिशुपाल के पूर्ण ज्ञान में मरण के साधन ही ज्ञापक थे न अन्य कुछ भी, वह बताते हैं–जिसकी कान्ति नष्ट हो गई है बाहिर

तेज का अभाव और भीतर उत्साह का न होना, जरासन्ध तो वहुत ही जताने का अभ्यासी है, अर्थात् जरासन्ध वहुत वार हार खाके भागा है जिससे उस समय इसकी आकृति आदि कैसे हो जाते हैं, वह सबको वताया हुआ है ॥१०॥

आभास—सान्त्वमवाक्यान्याह भो भो इति षड्भिः ।

आभासार्थ—"भो भोः पुरुष" इस श्लोक से सान्त्वना के वाक्य कहते हैं।

श्लोक—भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज ।
न प्रियाप्रिययो राजन्निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥११॥

श्लोकार्थ—हे पुरुषसिंहः इस उदासी का त्याग करो, हे राजा जीव में प्रिय और अप्रिय स्थिर नहीं दीखते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—भगवद्गुणैरेव सान्त्वनं भवतीति । अनेन तस्यापि रुक्मिण्यामभिमानो निवर्तिष्यते इति निरूपितम् । आदौ स्वास्थ्यं सम्पादयति । भो भो इति मूर्च्छितप्रबोधनम् । स्तुत्या माहात्म्यं हृदये समायातीति पुरुषशार्दूलेति सम्बोधनम् । इदं विवाहाभावलक्षणम् । न हि त्वदीयं किञ्चिद्गतमस्ति । अप्राप्तत्वात् । जाते विवाहे प्रियं भवेदिति यदि, तत्राह न प्रियाप्रिययोरिति । देहिषु सर्वदा प्रियं वा कस्यचिदप्रियं वेति निष्ठा निर्धारो नास्ति । तत्र देहित्वमेव हेतुः । 'दिह उपचय' इति । यदोपचयः तदा प्रियम्, अन्यदाऽप्रियमिति ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवद्गुणों के श्रवण से ही शान्ति आती है, इससे उसका जो रुक्मिणी में अभिमान है अर्थात् रुक्मिणी मेरी है, वह भी मिट जावेगा, यों निरूपण किया, पहले स्वस्थता का सम्पादन करते हैं अर्थात् मूर्च्छित हुए शिशुपाल को सावधान करते हैं "भो भो" पद से यह ज्ञान कराते हैं कि वह मूर्च्छित है, "पुरुषशार्दूल" विशेषण देने से यह प्रकट किया है कि अपनी स्तुति श्रवण से हृदय मेंन अपने माहात्म्य का ज्ञान होगा, यह कहना विवाह न होने का लक्षण बताना है, विवाह न होने से तेरा कुछ गया तो नहीं है, जो कहो कि विवाह होने से मेरा कुछ प्रिय होता, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि "प्रियाप्रिययोः" जीव को सदैव प्रिय हो अथवा सर्वदा अप्रिय हो वैसा कोई निर्णय नहीं है, उसमें देहित्व ही कारण है "दिह् उपचयें" धातु से यह शब्द बना है अतः जब बढ़ता है अथवा उन्नति होती है तब प्रिय होता है अर्थात् प्रसन्नता होती है और जो हानि होती है तो दुःख होता है ॥११॥

आभास—हेत्वन्तराण्याह यथा दारुमयीति ।

आभासार्थ—"यथा दारुमयो" श्लोक में दूसरे हेतु कहते हैं ।

श्लोक—**यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया ।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥१२॥**

श्लोकार्थ—जैसे काठ की पुतली नचाने वाले जादूगर की इच्छा के अनुसार नाचती है इसी प्रकार यह जीव भी सुख दुःख भोगने में ईश्वर के आधीन है ॥१२॥

सुबोधिनी—अलौकिको बोधनहेतुरयम् । दारुमयी योषित् विवृताङ्ग्यपि सभायां विरुद्धरसापि । कुहकस्य वञ्चकस्य । कस्याश्चिद्देवताया रूपं कृत्वा तां नर्तयित्वा स्वोदरभरणं करोति । एवमीश्वरेण सर्वोऽपि नर्त्यते स्वक्रीडार्थम् । अत ईश्वराधीन एवायं लोकः भ्रमात्सुखदुःखयोरीहते । सुखं भवतु, दुःखं मा भवत्विति । यथाकथञ्चित् प्रवृत्त्यर्थं भगवति दोषज्ञानाभावाय तथा बुद्धिमुत्पादयति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—यह बोधन का हेतु अलौकिक है विस्तृत अंगवाली भी पुतली सभा में जो स्वयं रस पैदा नहीं कर सकती है रसहीन है अथवा विरुद्ध रसवाली है, तो भी, कोई धूर्त जादूगर किसी देवता का रूप धारण कर, उसको नचाके अपना पेट भरता है, इसी प्रकार भगवान् भी अपनी क्रीड़ा के लिए समस्त जगत् को नचाता है, अतः यह लोक ईश्वर के आधीन ही है भ्रम से ही सुख दुःख की स्वयं इच्छा करता है, भ्रम के कारण ही कहता है कि मुझे सुख प्राप्त हो दुःख की प्राप्ति न होवे भगवान् जैसे तैंने प्रवृत्ति चक्र चलाने के लिए अपने में दोष का ज्ञान न होवे इसलिए वैसी बुद्धि उत्पन्न करते हैं ॥१२॥

आभास—एवं शास्त्रीयमुक्त्वा लौकिकं स्वकीयमाह शौरेः सप्तदशाहमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शास्त्रीय सान्त्वना देकर अब अपना लौकिक प्रकार "शौरेः सप्तदशाहं" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः ।
त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्य एकमहं परम् ॥१३॥**

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णजी से सतहवार तो तेईस अक्षोहिणीयों के साथ होते हुए भी मैं हार गया हूँ किन्तु एक बार मैं जीत गया जिससे मैंने दोनों प्रकार अर्थात् जय

(प्रिय) एवं पराजय (अप्रिय) का अनुभव किया है इससे सुख तथा दुःख की सदैव स्थिति नहीं रहती है यह प्रत्यक्ष है ॥१३॥

सुबोधिनी—सप्तदशदिवसेषु वै निश्चयेन शौरेः सम्बन्धिसंयुगानि पराजितः। द्विकर्मकोऽयं जिघातुः अत्र। संयुगेषु वा। त्रयोविंशतिभिः सैन्यैरक्षौहिणीभिः सहित इति साधनसहितोऽपि सकृज्जयं मन्यते। तेन द्वयमपि मयाऽनुभूतमिति निष्ठाभावः प्रत्यक्षः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—सत्रह दिनों में जो कृष्ण से १७ युद्ध हुए उनमें मैं हार गया हालांकि मेरे पास तेवीस अक्षौहिणी सेनाओं का साधन भी था, किन्तु अन्त में १८ वीं बार मैंने जीत पाई है, इससे मुझे दोनों प्रकार (जय-विजय) का अनुभव है यों निष्ठा भाव प्रत्यक्ष है, यहाँ 'जि' धातु द्विकर्मक है, श्लोक में संयुगानि के स्थान पर 'संयुगेषु' पद होता तो भी वही भावार्थ होता है ॥१३॥

आभास—अत एव मम शोको नास्तीत्याह तथा तथापीति।

आभासार्थ—इस कारण से ही मुझे शोक नहीं है, यह "तथापि" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित्।
कालेन द्रव्ययुक्तेन जानन्विद्रावितं जगत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—तो भी मैं न तो इस का शोक करता हूँ और न हर्ष करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस जगत् को द्रव्य युक्त काल ही नाश करता है ॥१४॥

सुबोधिनी—कर्हिचित् तत्स्मरणेऽपि दुहित्रादिदर्शनेऽपि। सर्वदा हर्षविषादाभावे एकमनुसन्धेयमिति। तत्स्वनिर्धारितं तस्मा उपदिशति कालेनेति। यदि स्वसमानैः पराजयो जयो वा भवेत्, तदा हर्षो विषादो वा कर्तव्यो भवेत्। कालस्तु तत्कर्ता, स सर्वेषामधिपतिः। किञ्च। सोऽपि द्रव्ययुक्त एव शरीरादिसहितः। विद्रावणं शरीरद्वारैव करोति। नत्वात्मनां स्वतः। तेन च जगद्विद्रावितं जानन् न शोचामीति सम्बन्धः। दैवयुक्तेनेति पाठे कर्मवशात् सोऽपि तथा करोति। न तु तस्यापि कश्चन दोषोऽस्तीति भावः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—कभी, उसके स्मरण होने पर वा कन्या आदि के देखने पर भी यदि दुःख होवे तो विचारता हूँ कि सर्वदा न हर्ष का विषय और न दुःख का विषय रहता है, एक का अनु-

सन्धान करना चाहिए अर्थात् सुख वा दुःख का अन्वेषण करना चाहिए कि ये क्यों और कैसे वा किसके भेजे हुए आते हैं, अथवा स्वतः आते हैं इसका विचार करो तो स्वयं निर्णय किया है उसका उसको उपदेश देता है, "कालेन" जो अपने बरावरी करने वालों से पराजय वा जय होवे तो तब हर्ष वा खेद करना चाहिए, किन्तु यहाँ तो उसका करने वाला "काल" है वह सब का अधिपति है, वह भी शरीर आदि सहित ही है, पराभव आदि शरीर द्वारा ही करता है, न कि आत्माओं का स्वतः होता है इस से काल द्वारा इस जगत् का यह प्रकार देखने में कुछ भी शोक नहीं करता हूँ यदि "द्रव्ययुक्तेन" के स्थान पर 'दैवयुक्तेन" पाठ माना जाय तो उसका अर्थ यों करना चाहिए कि कर्म के वश से काल भी वैसे करता है, इसलिए उसका भी कोई दोष नहीं है ॥१४॥

आभास—अस्तु कालान्तरवार्ता, इदानीमेव वयं सर्वे जिताः । अतः पञ्चभिः सह दुःखं दुःखं न भवतीति न शोकः कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाह अधुनापीति ।

आभासार्थ—दूसरे काल की वार्ता यों होवे, अब भी हम सब पराजित हुए हैं, अतः बहुतों के साथ जो दुःख होता है, वह दुःख नहीं माना जाता है इसलिए शोक नहीं करना चाहिए इस अभिप्राय को "अधुनापि" श्लोक से प्रकट करते हैं।

श्लोक—अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ।
पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अब भी हम सब जो योधाओं के यूथपति के पति हैं, वे थोड़ी सेना वाले कृष्ण से पालित यादवों से हार गए हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—वयमिति श्लाघायाम् । सर्व एवेति सम्मत्यर्थम् । तर्ह्यप्रयोजका भविष्यन्तीति न मन्तव्यम् । वीरयूथपानामपि यूथरक्षका वयम् । सर्वदैव वयमेवंभूताः । अधुना परं पराजिताः । तेषां च न महद्बलम्, किन्तु फल्गुतन्त्रैरेव यदुभिः पराजिताः । तर्हि तेऽपि हता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तं मनोरथं दूरीकरोति कृष्णपालितैरिति । कृष्णेन पालिताः, न मारयितुं शक्या इत्यर्थः । अनेन कृष्णात् कन्याहरणसम्भावनापि निवारिता ॥१५

व्याख्यार्थ—"वयं" बहुवचन देने से अपनी प्रशंसा की है अर्थात् अपना बड़प्पन प्रकट किया है "सर्वे" शब्द सब की सम्मति है यों बताने के लिए कहा है तो प्रेरक न होंगे यों न समझना हम वीरों के समूहों के जो पति हैं अर्थात् जो सेनापति हैं उनके भी हम स्वामी हैं, सदा ही हम ऐसे होते आए हैं लेकिन अब हार गए हैं जिनसे हारे हैं, उन यादवों के पास सेना भी थोड़ी है,

तब तो वे भी मरे होंगे ? इस उनके मनोरथ रूप शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि वे मरे नही क्योंकि वे कृष्ण से पालित हैं, अतः उनको कोई भी मार नहीं सकता है यों कहने से कृष्ण ने कन्या का हरण किया है इस सम्भावना का भी निवारण किया है ॥१५॥

आभास—ननु किमेतदाश्चर्यमिति चेत्, तत्र हेतुमाह रिपवो जिग्युरिति ।

आभासार्थ—इसमें कौनसा आश्चर्य है ? यदि यों कहो तो उसमें "रिपवो जिग्यु" श्लोक से कारण कहते हैं ।

श्लोक—रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि ।

तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अब समय शत्रुओं के अनुकूल हैं इसलिए उनकी जीत हुई है, जब काल अपने अनुकूल बनेगा तब अपन जीतेंगे ॥१६॥

सुबोधिनी—अधुना आत्मानुसारिणि काले देवानां हितकर्तरि रिपवो वैष्णवा जिग्युः । अस्माकं च हितकारी यदा तामसः कालो भविष्यति, राजसो वा, तदा वयं दैत्याः, चकराद्राक्षसा अपि विजेष्यन्ति । दैत्यानां सिद्धान्ते कालः परमः, तदतिरिक्तानङ्गीकारात्तत्र प्रतिष्ठिताः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—अब सात्विक काल देवों का हितकारी है, अतः हमारे शत्रु जो वैष्णव हैं उनकी जीत हुई है, हम दैत्य हैं तमोगुणी हैं, अतः हमारा हितकारी तामस काल का राजस आवेगा तब हम जीतेंगे श्लोक में "च" शब्द दिया है, जिससे बताया है, कि उस समय राजस राक्षस भी जीतेंगे, दैत्यों का यह सिद्धान्त है कि काल ही सबसे बड़ा है, उसके सिवाय वे बड़ा कुछ भी नहीं मानते हैं अतः वे उसके ही आश्रित हैं ॥ ६॥

श्लोक—एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात्सानुगः पुरम् ।

हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः ॥१७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब मित्रों ने समझाया तब शिशुपाल अनुचरों के साथ अपने नगर को गया और मरने से जो राजा बच गए थे वे भी अपने अपने नगर को गए ॥१७॥

सुबोधिनी—एवं स्वसिद्धान्तनिरूपणेन प्रबोधितः । मित्रैरवञ्चकैः समानव्यसनैः सह चैद्यः ससेवकः स्वपुरमगात् । तेऽपि हतशेषाः तद्गृहपर्यन्तं तत्सङ्गे गत्वा पुनः स्वं स्वं पुरं ययु ॥१७॥

व्याख्यार्थ—इसी प्रकार अपने सिद्धान्त के निरूपण करने से समझाया हुआ शिशुपाल, धोखा न देने वाले, एक जैसी प्रवृत्ति वाले अपने मित्र एवं अनुयायियों को साथ ले अपने नगर गया और जो राजा शेष वच गए थे, वे भी उसके घर तक साथ गए अनन्तर अपने अपने शहर को गए ॥१७॥

आभास—एवं सप्तदशभिः एकमुपाख्यानं साधारणानां ममताभावाय निरूपितम् । अधुना सार्धैः सप्तदशभिः रुक्मिप्रभृतीनां ममताभावाय रुक्मिण्याश्च तेषु ममताभावाय सार्धैरेव सप्तदशभिर्निरूप्यते । मध्यमं तामसम् । अन्तिमं राजसमिति । ततो दोषत्रयापगमने भगवानष्टैश्वर्यरूपां रुक्मिणीं स्वीकरिष्यत्यष्टभिः । तत्र प्रथमं तामसस्योद्योगमाह रुक्मी त्विति ।

आभासार्थ—यों सत्रह श्लोकों से साधारणों की ममता मिटाने के लिए एक वृत्तान्त कहा, अब रुक्मी प्रभृतियों को ममता मिटाने के लिए तथा रुक्मिणी की उनमें ममता न होवे इसलिए साढ़े सत्रह श्लोकों में निरूपण करते हैं, मध्यम तामस है अन्तिम राजस है, उससे तीन दोषों के नष्ट हो जाने पर भगवान् आठ ऐश्वर्यों के रूप वाली रुक्मिणी को स्वीकार करेंगे, जिसका वर्णन आठ श्लोकों से होगा, इसमें पहले तामस के उद्यम का वर्णन "रुक्मी" श्लोक से कहते हैं ॥१७॥

श्लोक—**रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन्स्वसुः ।**
पृष्ठतोऽन्वगमत्कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली ॥१८॥

श्लोकार्थ--श्रीकृष्ण से द्वेष करने वाला अक्षोहिणी सेना से घिरा हुआ बली रुक्म अपनी बहिन के राक्षस विवाह को सहन न कर सका अतः श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ा ॥१८॥

सुबोधिनी—यद्यपि तत्त्वोपदेशे रुक्मी स्थितः, तत्त्वेन च सर्वे निवृत्तव्यापारा जाताः, रुक्मी तु न जात इति तुशब्दार्थः । ननु कोपराधः, य एव क्षत्रियः बलवान्नयति तस्यैव भार्या भवतीति क्षत्रियाणां स्थितिः । तत्राह स्वसुः राक्षसोद्वाहमसहन्निति । ये हि कुलीनाः सन्तो दुर्बलाः, तत्कन्या राक्षसविधिना नीयते । स्वयं तु शूरः, अतो राक्षसविवाहोऽनुचितः । किञ्च । कृष्णद्विडयम् । अन्यश्चेन्नयेत्, न वदेदपि । द्विष्टेन नीतं न क्वाप्युपकाराय भविष्यति । स्थापनीयं

च शत्रुत्वम् । तत्सम्बन्धे सत्यशक्यमिति सम्बन्धदूरीकरणार्थं तस्य प्रवृत्तिः । कन्याहविषोस्तुल्यत्वात् । 'द्विषता हि हविर्भुक्तं नेह नान्यत्र तद्भवे'दिति वाक्यात् । कन्यापि द्विषता भुक्ता न लोकद्वयोपकारिणीति तस्या भोगं वा निवारयितुं तत्प्रवृत्तिः । अत एव पृष्ठतोन्वगमत् । येनैव मार्गेण कृष्णो गतः, तेनैव मार्गेण स्वयमपि गतः । अथवा । अयं यदैव भगवान् निर्गतः, तदैव प्रचलितः, परमन्ये निवृत्ताः, अयं तु न निवृत्त इति वैलक्षण्यम् । एकयाक्षौहिण्या परिवृतः सन् गतः । ननु बहव एव गता हतोद्यमा जाताः, कथमयमेकाकी गच्छतीत्याशङ्क्याह बलीति । अयमत्यन्तं बलिष्ठः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि जब तत्व का उपदेश हो रहा था, वहाँ रुक्मी भी था, उस तत्व उपदेश से अन्य सब समझ गए जिससे वे चले गए, किन्तु रुक्मी को ज्ञान न हुआ यह "तु" पद का भावार्थ है, कृष्ण रुक्मिणी को ले गए इसमें कौनसा अपराध है, जो बलवान् क्षत्रिय ले जाते हैं वह उसी की स्त्री होती है यह क्षत्रियों की मर्यादा है, इस पर कहते हैं कि रुक्मी अपनी बहन का राक्षस विधि से हुए विवाह को सहन नहीं कर सका जो कुलीन हो, किन्तु दुर्बल भी हो, तो उनकी कन्या राक्षस विधि से ली जा सकती है मैं कुलीन के साथ स्वयं शूरवीर हूँ अतः राक्षस विवाह होना अयोग्य है यों रुक्मी ने समझा, तथा रुक्मी कृष्ण का शत्रु भी है यदि दूसरा यों कोई ले जावे तो, सहन भी करले और कुछ न कहे, यह तो शत्रु है शत्रु ले जावे वह कहीं भी, वा कभी भी, उपकार के लिए नहीं होता है रुक्मी को तो भगवान् से शत्रुता ही स्थापित करनी है, वह यदि रुक्मिणी का विवाह सम्बन्ध हो जाएगा तो हो न सकेगी, इसलिए सम्बन्ध को तोड़ने के लिए रुक्मी की यह प्रवृत्ति है, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि "कन्याहविषोस्तुल्यत्वात्" जैसे शत्रु भोज पदार्थ (भोजन) करले तो, उससे इस लोक तथा परलोक में कोई लाभ नहीं होता है, वैसे ही कन्या का भी यदि शत्रु भोग करले, तो उससे भी दोनों लोकों में उपकार नहीं होता है, इसलिए उपभोग को रोकने के लिए ही इसकी यह प्रवृत्ति है, अतः श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ा, जिस मार्ग से कृष्ण जा रहे थे उसी मार्ग यह भी जाने लगा अथवा जब भगवान् वहाँ से पधारे उसी समय यह भी वहाँ से निकल कर चलने लगा, किन्तु दूसरे लौट गए, यह तो निवृत्त नहीं हुआ यह ही इसमें विलक्षणता है, एक ही अक्षौहिणी सेना लेकर गया, जब बहुत चले गए क्योंकि उनका उत्साह नष्ट हो गया था, यह अकेला होकर भी कैसे गया ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "बली" यह बहुत बलवान है इसलिए अकेला होते हुए भी गया ॥ १८ ॥

आभास—अत एव महतीं प्रतिज्ञां चक्रे इत्याह रुक्मीति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही बड़ी प्रतिज्ञा करने लगा जिसका वर्णन "रुक्म्यमर्षी" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ॥१६॥

श्लोकार्थ—क्रोध में भरा हुआ महाबाहु, कमर कसा हुआ, कवच धारण कर, धनुष ले, युद्ध के लिए तैयार हुआ, रुक्मी सब राजाओ से प्रतिज्ञा करने लगा ॥१६॥

सुबोधिनी—अमर्षी अप्रतीकारक्रोधवान् । सुष्ठु संरब्धः युद्धार्थं कृतोद्यमः । सर्वभूभुजां शृण्वतां मध्ये प्रतिजज्ञे, प्रतिज्ञां कृतवान् । क्रोधसंरम्भान्न ज्ञातवान् । सामग्री गृहीतेति निर्भयः, निवारकाश्च न जाताः सर्वे । सहायापेक्षा तु नास्तीत्याह महाबाहुरिति । महती क्रियाशक्तिः यस्येत्यर्थः । ततो दंशितः बद्धकवचः सशरासनश्च ॥१६॥

व्याख्यार्थ—बदला न ले सकने से क्रोधित, युद्ध के लिए उद्यम वाला, रुक्मी सुनते हुए सन्त राजाओं के मध्य में प्रतिज्ञा करने लगा, क्रोध में पूर्ण होने से मैं क्या कर रहा हूँ, उसको समझ न सका, लड़ाई की सब सामग्री ले ली थी इसलिए निर्भय बना था, सब रोकने वाले भी नहीं हुए, सहायता की भी इसको आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इसमें क्रिया शक्ति बहुत है, जिसका चिन्ह यह है, कि "महाबाहु" है इसलिए कवच पहना है और धनुष भी लिया है ॥१६॥

आभास—प्रतिज्ञामाह अहत्वेति ।

आभासार्थ—"अहत्वा" श्लोक से प्रतिज्ञा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥२०॥

श्लोकार्थ—युद्ध में कृष्ण को मार डालने के और रुक्मिणी को लौटाकर लाने के सिवाय कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूँगा, मैं यह सत्य कह रहा हूँ अर्थात् मेरा यह कहना मेरी प्रतिज्ञा समझो ॥२०॥

सुबोधिनी—अप्रत्यूह्येति । रुक्मिणीमग्नितुल्यां मन्यते । यथा आयतनादग्निः बहिश्चेद्गच्छति । तत्पुनरायतने व्यूह्यते, ततः कुलादपगता पुनः कुले व्यूह्येति भावः । नन्वेतदशक्यमिति चेत्, तत्राह कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीति । अयमेव नियमः, यदुभयमकृत्वा कुण्डिनाप्रवेश इति । अतः कुण्डिनाप्रवेश एव तस्य फलिष्यति । अत एव विगानाभावात् निर्धारितस्यानुक्तत्वात् न पादानामन्यथार्थो वक्तव्यः । एतदहं सत्यं ब्रवीमीति शपथः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी अग्नि जैसी है, यों रुक्मी मानता है, अतः जैसे आश्रय स्थान से बाहर निकली हुई अग्नि पुनः आश्रय स्थान पर ही लौट आती है, वैसे ही कुल में से गई हुई रुक्मिणी कुल में ही आनी चाहिए अग्नि के दृष्टान्त कहने का यह ही भाव है, यह जो आप कह रहे हो वह होना कठिन है यदि यों है तो अर्थात् यों मैंने नहीं किया तो कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूंगा यह ही मेरी प्रतिज्ञा है, कि ये दोनों कार्य न कर कुण्डन में लौटकर प्रवेश नहीं करूंगा। रुक्मी ने जो प्रतिज्ञा की वह ही फलीभूत होगी अर्थात् दोनों कार्य पूर्ण न होंगे, जिससे वह कुण्डिव लौटकर प्रवेश न करेगा अतः निन्दा के अभाव से और निर्णय के न कहने से पदों का अर्थ अन्य प्रकार से नहीं कहना चाहिए, यह मैं सत्य कह रहा हूँ, इन शब्दों से वह शपथ ले रहा है ॥२०॥

श्लोक—इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरम् ।
चोदयाश्वान्यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—यों प्रतिज्ञा के वचन कह कर रथ पर चढ़, सारथि को कहने लगा कि घोड़ों को इस प्रकार तेज चलाओ, जैसे मेरा और कृष्ण का मिलाप हो जाय ॥२१॥

सुबोधिनी—ततः पित्राद्यभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेणैव एवमुक्त्वा रथमारुह्य स्वसारथिं प्रति प्राह। अन्यथा स न तथा कुर्यात्। सहजद्वेषाभावत्। सत्वरमित्युभयत्र। अश्वान् प्रेरय। यतस्तस्य मे च संयुगो भवेत्। प्रार्थनायां लिङ्। यथा मम तस्य संयुगो भवति, तथा चोदयेति। भवेदिति विध्यर्थो वा। अपूर्वत्वात्। यतोऽयं कृष्णः स्त्रीप्रियः, अतः स्त्रियं हृतवानिति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—पश्चात्, पिता आदि बड़ों को आज्ञा लिए बिना ऐसी प्रतिज्ञा कर अपने सारथि को यों न कहे तो वह ऐसा न करे क्योंकि उसका कृष्ण के साथ किसी प्रकार सहज द्वेष नहीं था "सत्वर" शब्द दोनों से सम्बन्धित है (१) घोड़ों को शीघ्र तेज चलाओ, और (२) कृष्ण के साथ मैं जैसे जल्दी मिलूँ यह "भवेत्" लिङ्लकार, प्रार्थना अर्थ में है, अर्थात् घोड़ों को वैसे प्रेरणा दे जैसे मेरा कृष्ण के साथ मिलन हो जाय अर्थात् कृष्ण द्वारका पहुँच न जाय, अथवा पहले वैसा काम न पड़ने से यह पहला ही अवसर है अतः यह "भवेत्" लिङ्लकार आज्ञा के अर्थ में है, अर्थात् सारथि को ऐसी शीघ्र रथ चलाने की आज्ञा दी है, क्यों कि, यह कृष्ण स्त्री प्रिय है अतः स्त्री को हरकर ले गए हैं ॥२१॥

आभास—गत्वा यत्कर्तव्यं तदाह अद्याहमिति ।

आभासार्थ—रुक्मि को जो करना है वह "अद्याहं" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मते ।
नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता ॥२२॥

श्लोकार्थ—आज मैं जिसने मेरी बहन बलपूर्वक हरण की हैं, उस दुर्बुद्धि ग्वाले का वीर्यमद तीक्षण बाणों से हरण करूंगा ॥२२॥

सुबोधिनी—निशितैरिति । सहार्थे तृतीया । सुदुष्टेष्वपि मतिर्यस्येति । गोपालत्वं शब्दतो न दोषः, अभिप्रायतस्तथा भवति, तत्प्रकृतेनाङ्गीक्रियत इति, नान्यथा वक्तव्यम् । वीर्यजनितो यो मदः तमहं नेष्ये ग्रहीष्यामि, येन भगवता कृत्वा मदं प्राप्स्यामीत्यर्थः । पूर्वं नास्माकं गर्वः स्थितः, अधुना भगवत्सम्बन्धात् नास्मत्सदृशा वीराः सन्तीति गर्वो भविष्यति । क्षत्रियाणां वीर्यमेव महत्त्वसूचकमिति न मदमात्रं निरूपितम् । ननु भगवतो हेतुत्वं कथमित्याह येन मे स्वसा प्रसभ हृतेति । बलात्कारेण हरन् वीर्यं शिक्षां चोपदिष्टवान् । बाणानपि प्राप्स्यामि वीर्यमपीति । ससाधनबलप्राप्तिर्भगवदाभिमुख्यगमने फलमित्यर्थः । तत्सम्मुखमेव गन्तव्यमिति नियोगः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—निशितैः बाणैः पदों में जो तृतीया विभक्ति है वह 'साथ' के अर्थ में दी हुई है, सुदुष्ट कार्यों में जिसकी बुद्धि लगी हुई है, वैसे गोपाल के "गोपालपन" शब्द से दोष वाला नहीं है, किन्तु अभिप्राय से वैसा होता है, वह अभिप्राय चालू प्रसंग मे अंगीकार किया जाता है, अन्य प्रकार से नहीं कहना चाहिए, उसको जो वीर्य से मद उत्पन्न हुआ है वह मैं ले लूंगा, जिससे उस भगवान् के मद लेने से मैं मद को प्राप्त होऊँगा पहले हम लोगों में मद नही था अब भगवत्सम्बन्ध से प्राप्त 'वीर' मद से ऐसा गर्व होगा, कि हमारे समान कोई वीर नहीं है यो कहने से न केवल मद का निरूपण किया, किन्तु यह बताया कि क्षत्रियों का महत्व प्रकट करने वाला साधन वीर्य ही है भगवान् का इसमें हेतुपन कैसे ? इस पर कहता है कि जिसने मेरी बहन बलात्कार से हरण कर वीर्य और शिक्षा का उपदेश दिया है इस कार्य करने से हमको जताया है कि वीर बनो, नहीं तो तुम्हारी स्त्रियाँ यों हरी जाएगी, जिससे वाणों को प्राप्त करूंगा और वीर्य को भी, साधन और बल इन दोनों की प्राप्ति भगवान् के सम्मुख होने का फल है अतः उसके सम्मुख हो जाना चाहिए, इसलिए नियोग कहा है ॥२२॥

आभास—विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् ।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाब्रवीत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ईश्वर के सामर्थ्य को न जानने वाला, वह कुमति रुक्मी बकवाद करता हुआ एक ही रथ से भगवान् को कहने लगा कि "ठहर ठहर" ॥२३॥

सुबोधिनी—विशेषेण कत्थमानः असम्बद्धमिव भाषमाणः। भगवान् हि महत्या प्रार्थनया तां हृतवान्, न तु बलादिति असम्बद्धता। नन्वचिन्त्यैश्वर्यं भगवतः श्रुत्वा दृष्ट्वा च कथमेवं वदतीत्याशङ्क्याह कुमतिरिति। ऊहादौ न तस्य सामर्थ्यम्। स हि सर्वमेव यथाकथञ्चिज्जातमिति भगवच्चरितं मन्यते। तत्र प्रमाणमाह ईश्वरस्याप्रमाणविदिति। ईश्वरस्य प्रमाण सामर्थ्यं न जानाति। प्रमाणशब्दः आदरणीयपरोऽपि क्वचित्परिमाणवाच्यपि, प्रमाणं परिमाणमिति। यथा अत्रैव। 'विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वे'त्यत्र च। उपसर्गस्य अन्योपसर्गार्थत्वात् न नानार्थत्वं समुदायस्य। एवं दुर्बुद्धिरेकेनैव रथेन भगवत्समीपं गत्वा गोविन्दं भक्तकृपालुं सन्मात्रस्यैवेन्द्रम्, अत एव रुक्मिणीं हृत्वा गच्छन्तं तिष्ठ तिष्ठेत्यब्रवीत्। द्विरुक्तिः आदरे अधिक्षेपे वा। चकारात् स्तुतिवाक्यान्यन्यानि वा ॥२३॥

व्याख्यार्थ—रुक्मी असम्बद्ध जैसे शब्द कहने लगा, उसके शब्द असम्बद्ध क्यों थे? जिसका कारण बताते हैं, कि भगवान् ने तो बहुत प्रार्थना करने से उसका हरण किया था, न कि बलात्कार से हरण किया था इसलिए उसके शब्द असम्बद्ध थे, भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य सुनकर तथा देखकर भी इस प्रकार बकवाद क्यों कर रहा है? इसके उत्तर में कहा है कि "कुमति" हीन बुद्धिवाला है. जिससे पूर्वापर का विचार नहीं कर सकता है वह यह, सर्व भगवत्चरित्र जैसे तैसे अकस्मात हो गया है यों मानता है, क्योंकि भगवान् के सामर्थ्य को नहीं जानता है. "प्रमाण" शब्द आदरणीय अर्थ में भी आता है और कहीं 'परिणाम" में आता है. जैसे यहाँ ही "विदुः प्रमाणं वीर्ययोर्वा" इस श्लोक में आया है. उपसर्ग का अन्य उपसर्ग का अर्थ होने से समुदाय का नाना अर्थ पन नहीं होता है, इस प्रकार वह दुर्बुद्धि एक ही रथ में भगवान् के समीप जा कर भक्तों पर कृपा करने वाले सन्मात्र के इन्द्र गोविन्द को, जो कि इस कारण से ही रुक्मिणी को हरण कर ले जा रहे हैं उनका ठहर ठहर, यों दो बार कहने लगा, दो बार आदर में, या तिरस्कार में कहा जाता है, "च" पद से स्तुति वाक्य वा अन्य है ॥२३॥

आभास—तथोक्ते भगवान् स्थितः। तदा यत्कृतवांस्तदाह धनुर्विकृष्येति।

आभासार्थ—इस प्रकार कहने से भगवान् ठहर गए तब जो किया उसका वर्णन 'धनुर्विकृष्य" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक— धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।
आह चारे क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन ।।२४।।

श्लोकार्थ—धनुष को दृढ़ खेंचकर तीन तीर श्रीकृष्ण को मारे और बोला कि यदुकुल कलंक क्षण भर यहां ठहर ।।२४।।

सुबोधिनी—स्तुतिपक्षे मदुद्धारमकृत्वैव केवलं रुक्मिणीहरणमयुक्तमिति वाक्यानामर्थः । नन्वनधिकारी कथं कृतार्थीकर्तव्य इत्याशङ्क्य स्वाधिकारनिरूपणार्थं युद्धं प्रदर्शयतीति धनुर्विकृष्येति । सुदृढमिति सुष्ठु प्रतिज्ञायां दृढम् । भगवन्तमालक्ष्य स्वशौर्यं प्रदर्शयन् । त्रिभिः शरैः अर्थाल्लोकत्रयं जघ्ने । शरो ह्युपर्यावरणभूतो रसानाम्, तत्र जलस्य पृथिवी शरो भवति, अन्तरिक्षमपि वायोः, स्वरपि ब्रह्माण्डस्य, सर्वं भगवते निवेदितवानिति वा । हस्तो हि हन्तीति हस्तेन दत्तवानित्यर्थः । न केवलं सर्वस्वनिवेदनमेव कृतवान्, किन्तु वाक्यमप्युक्तवान्, अन्यथा वाचनिकं न दत्तवानिति स्यात् । आह चारे इति । भगवन्तं प्रति विज्ञापनार्थमाह । चारे चरणयोग्ये हृदये सात्त्विके क्षण तिष्ठ । ननु किं स्यात् स्थित इत्याशङ्क्याह यदूनामिति । यदूनां कुलं पान्तीति कुलपाः, कुलपा वा माया, तान् ता वा अंसेन क्रियाशक्त्या नयतीति तथा । ये केचन यादवानां रक्षकाः तान् सर्वानेव वैकुण्ठं प्रापयति । अत एव भक्तवत्सलः अस्मद्धृदयेऽपि क्षण स्थितः अस्मदीयान् अस्मदुपकारिणश्च वैकुण्ठं नेष्यतीति तदर्थं प्रार्थना ।।२४।।

व्याख्यार्थ—ऊपर के श्लोक में "च" का आशय स्तुति वाचक भी कहा है उसका आशय स्पष्ट करते हैं, कि "मेरा उद्धार न कर, केवल रुक्मिणी को ले जाना युक्त नहीं है यों वाक्यों का भाव है", यदि कहो कि जो अधिकारी नहीं है उसको कृतार्थ कैसे किया जाय ? अतः अपना अधिकार दिखाने के लिए युद्ध कर, अपनी शूरवीरता रूप अधिकार से परिचित करते है । पहले तो जो प्रतिज्ञा की, उस पर दृढ़ हूँ इसको सिद्ध करने के लिए धनुष का ऐंचा भगवान् को लक्ष्य कर अपनी शूरवीरता दिखाने लगा, तीन शरों से मानों तीन लोकों को हथियाने लगे, शर रसों के ऊपर का आवरण रूप है, जैसे कि जल का शर पृथिवी है, वायु का शर अन्तरिक्ष है, और ब्रह्माण्ड का स्वर्ग शर है अथवा इस प्रकार सर्व भगवान् को निवेदन किया, हस्त ही गति करता है, इसलिए हाथ से निवेदन किया अर्थात् दिया यों भाव है, केवल सर्वस्व ही नहीं दिया किन्तु वाणी भी निवेदित की है यदि वे निवेदन नहीं करते तो कार्य अधूरा हो जाता है अतः "आह चारे" इस वाक्य से भगवान् को वाणी का निवेदन करते हुए प्रार्थना करता है मेरे चरण धरने के योग्य सात्विक हृदय मे क्षणमात्र ठहरने की कृपा करो, यों ठहरने से कौनसा लाभ होगा ? आप यादवों के कुल के रक्षक हो तथा यादवों की माया

को अपनी क्रिया शक्ति से खेंचते हो जिससे जो कोई भी यादवों के रक्षक हैं उन सब को भी बैकुण्ठ पहुचाते हैं, अतः जैसे आप भक्तवत्सल हमारे हृदय में भी क्षण मात्र स्थित होगे तो हम लोगों का तथा हमारे उपकारियों को भी बैकुण्ठ ले चलोगे, इसलिए यह प्रार्थना है ।।२४।।

श्लोक—कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे मन्द ! जैसे कौए को छोड़ हवि ली जाती है, वैसे आप मेरी बहिन को मेरे परोक्ष में चुराकर कहाँ ले जा रहे हो, छली, कपट युद्ध करने वाले आपका गर्व आज मैं हरण करूँगा ।।२५।।

सुबोधिनी—किञ्च, कुत्र यासीति । जीवानां स्वसा ब्रह्मानन्दो भवति । सम्बन्धमात्रं स्वांशि न आनन्द इति । नतु कदाचिदप्यनुभवः, अतः स्वसैव भवति । तां गृहीत्वा अस्मदुद्धारमकृत्वा उद्धृतानेव यादवान् उद्धर्तुं किमर्थं गच्छसीत्यर्थः । मुषित्वेति । परोक्षं हृत्वा । जीवानां निकटेऽपि ब्रह्मानन्दः स्थितः जीवैर्न दृश्यते, अनुभवति भगवानेव । ध्वाङ्क्षवदिति । यथा ध्वाङ्क्षं विहाय हविर्नीयते । ध्वाङ्क्षो हविर्न भवति । अन्यत्सर्वं जगत्युत्पन्नं हविर्भवति, भगवान् सर्वयज्ञभोक्ता, तत्र सर्वे पशवः, काकं विहाय । तथा सर्वजगदुद्धारार्थमागतः मामेव विहाय कथं गच्छसीत्यात्मनो धिक्कारः । हविरपि परोक्षमेव गृह्यते । 'परोक्षप्रिया (इव हि) देवाः प्रत्यक्षद्विष' इति । तर्हि त्वयैव काकदृष्टान्त उक्त इति त्वमग्राह्य एवेति चेत्, तत्राह हरिष्येऽद्य मदं मन्देति । मन्द मदं स्वस्मिन् दोषात्मकं यद्वशात् त्वया कृपा न विधीयते । मन्दमायिनो वा मन्दा माया अस्यास्तीति । अनेन माया मन्दैव क्रियते, नकार्यक्षमा भवति, कूटयोधिनो मायिनो भगवतः स कपटेनैव युद्धं करोति, वस्तुतो मुक्तिं प्रयच्छति । एतादृशे भगवति स्थिते प्रतिबन्धकत्वेन समागत स्वधर्मं दूरीकरिष्यामीति वचनं युक्तमेव ।।२५।।

व्याख्यार्थ—कहाँ जा रहे हो ? जीवों की बहन ब्रह्मानन्द है, जहाँ भी कुछ सम्बन्ध होता है, वहाँ अंशी का अपना आनन्द ही है, कभी भी उसका अनुभव तो नहीं किया जा सकता है, अतः उसको बहन ही माना जाता है । हम लोगों का उद्धार न कर उसको लेकर जिन यादवों का पहले ही उद्धार कर दिया है पुनः उनके उद्धार के लिए क्यों जा रहे हो ? उसको हमारे परोक्ष में ले जा रहे हो जीवों के पास ब्रह्मानन्द है जिसको जीव देख नहीं सकते हैं भगवान् ही उस ब्रह्मानन्द का अनुभव

कर रहे है, जैसे कौवे के सिवाय जगत में उत्पन्न पदार्थ हवि है, उन को हवि के लिए लाया जाता है कौवे को छोड़ दिया जाता है भगवान् ही सर्व यज्ञ भोक्ता हैं, वहाँ सर्व काक के सिवाय, हवि ही सकते हैं, वैसे जगत् के उद्धार के लिए प्रकट हुए आप मुझे ही छोड़ कर कैसे जा रहे हो ? यों कहने से अपने को धिक्कारा है. हवि भी परोक्ष ही ग्रहण की जाती है "देवता प्रत्यक्ष के द्वेपी हैं, परोक्ष के प्रिय है, यदि कहो कि तूने ही अपना दृष्टान्त देकर काक बनाया है, इसलिए तू ग्रहण करने योग्य नहीं है, तो वैसा जो आपका मद है आज मै उसको नाश कर दूंगा, हे मन्द ! आप में यह मद रूप दोष है जिससे आप मुझ पर कृपा नहीं करते हो, अथवा "मन्दमायिन" समासान्त पद कर अर्थ करता है, कि आपकी माया को मन्द कर देता हूँ। जिससे वह कार्य कर नहीं सके, भगवान् युद्ध तो कपट से ही करते हैं, वास्तव में वे उससे मोक्ष देते हैं, ऐसे भगवान् के प्राप्त होने के समय, प्रतिबन्ध करने वाले अपने धर्म का दूर करूँगा. यों कहना योग्य ही है ॥२५॥

आभास— तर्हि कथं त्वमुद्धर्तव्य इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मानन्दमस्मभ्यं प्रयच्छेत्याह यावन्न मे हतो बाणैरिति ।

आभासार्थ —यदि कहो, कि तेरा उद्धार तूं किस प्रकार चाहता है ? इसके उत्तर में कहता है, कि "ब्रह्मानन्द" हमको दो, यों "यावन्न मे हतो" श्लोक में वर्णन करता है ।

श्लोक - यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम् ।
स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जब तक मेरे बाणों से मरे हुए तुमको पृथ्वी पर नहीं सुलाता हूँ उससे पूर्व, रुक्मिणी को छोड़ दे, ये वचन सुन, कृष्ण मुस्कराते हुए, उसके धनुष को तोड़ कर, छः बाणों से रुक्मी को वेधित किया ॥२६॥

सुबोधिनी—मे बाणाः मन्मारकत्वेन समागतानीन्द्रियाणि तैर्यावन्न हतः, यदीन्द्रियाणि त्वद्रसं प्राप्स्यन्ति, तदा ब्रह्मानन्दं नापेक्षन्ते. तदा भक्तिमेव ग्रहीष्यन्ति, तावत्पर्यन्तं ब्रह्मानन्दो देय इत्यर्थः। यतः सा दारिका मुक्तिः संसारं विदारयिष्यति। भक्तेः पूर्वं मुक्तिप्रार्थना युक्तैव। ननु कोऽयमाग्रह इदानीमेव फलं देयमिति, तत्राह शयीथा इति। यावत्प्रलये सर्वं संहृत्य शयनं करिष्यसि, ततः पूर्वं मोचयेत्यर्थः। एवमुक्तो भगवान् हास्येन तं व्यामोहयन् दुरात्मायं मर्तुकामः समायातीति, स्वयं भगवान् स्त्रीणां हितकर्ता, रुक्मिणी न त्याज्येति, तस्य धनुः छित्त्वा येन शरान् प्रक्षिप्तवान् तद् दूरीकृत्य, षड्भिः शरैः रुक्मिणं विव्याध। षोढा विहितो हि पुरुषः। ततः सर्वाङ्गेषु ताडितवान् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—मेरे बाण, मुझे मारने के लिए आई हुई ये इन्द्रियां, उनसे जब तक मैं न मारा गया हूँ, अर्थात् यदि ये इन्द्रियाँ आपका रस पान करेंगी, तो ब्रह्मानन्द की इच्छा न करेगी, किन्तु तब भक्ति को ही ग्रहण करेगी. जब तक हो तब तक तो ब्रह्मानन्द देना चाहिए, क्योंकि वह द्वारिका अर्थात् मुक्ति संसार को नष्ट कर देगी, भक्ति से पहिले मुक्ति की प्रार्थना करनी योग्य ही है, अब ही फल देना चाहिए यह आग्रह कैसा वा क्यों है ? इस पर कहता है कि "शयीथा" प्रलय में सब को लपेट कर आप शयन करो, उससे पूर्व ही, मेरी मुक्ति करो, इस प्रकार जब भगवान् को कहा, तब भगवान् मुसकराने लगे, जिससे उसको मोह में डाल दिया, भगवान् ने मन में सोचा कि यह तो दुरात्मा है, मरने के लिए ही आ रहा है स्वयं भगवान् तो स्त्री हितकारी हैं, इसलिए रुक्मिणी को छोड़ना योग्य नहीं है. उसके धनुष को तोड़ कर उसके फेंके हुए तीरों को दूर हटा कर छः शरों से रुक्मी को बींधा "पुरुष छः प्रकार का है" इसलिए छः शरों से सब अंगों में ताड़ना की ।। २६ ।।

श्लोक—अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः ।
सचान्यद्धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः ।।२७।।
तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः ।
स चान्यद्धनुरादत्त तदप्यच्छिनदच्युतः ।
पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदच्युतः ।।२८।।

श्लोकार्थ—और आठ बाण चार घोड़ों को, दो सारथी को तथा तीन से ध्वजा को वेधित किया. तब रुक्मी ने दूसरा धनुष लेकर पांच तीर कृष्ण के पास फेंके, उन शरों से ताड़ित कृष्ण ने वह भी तोड़ दिया, फिर भी उसने दूसरा धनुष उठाया तो उसको भी भगवान् ने तोड़ दिया ।।२७-२८।।

सुबोधिनी—ततः अष्टभिः द्वाभ्यां द्वाभ्यां एकैकं चतुरो वाहान् अश्वान् विव्याध ।द्वाभ्यां च सूतम् ।एते त्रिधा छिन्नाः पञ्चापि । ध्वजश्चतुर्धा छिन्नः । एवं साक्षात्परंपराङ्गानि सर्वाण्येव भिन्नानि । तच्छेदनार्थं प्रवृत्तेनैव बाणेन धनुश्छिन्नमिति न धनुषो भेदे पृथक् शरा उक्ताः । तदा सोऽप्यन्यत् धनुरादत्त । भगवानपि प्राणिघातकं धनुर्विहाय अन्यद्धनुर्गृहीतवानिति चकारेण ज्ञायते । तदपि आच्छिनत् ग्रहणमात्रेणैव. तत्र हेतुः अच्युत इति । स्वयमच्युतः, देववरप्राप्तं च धनुः । अतस्तच्छरस्य वैयर्थ्यसम्पादनात् पूर्वमेव तच्छिन्नम्, ततोऽन्यदपि गृहीतवानित्याह पुनरन्यदुपादत्तेति । 'त्रिसत्या हि देवा' इति धनुषः त्रिर्ग्रहणम् ।।२७-२८।।

व्याख्यार्थ—रुक्मी के रथ के चार घोड़े थे, एक एक घोड़े को दो दो शरों से वोधित किया, दो शरों से सूत को, ये पांच चार घोड़े और एक सूत तीन प्रकार कट गए, ध्वजा के चार टुकड़े हो गए. इस प्रकार साक्षात् वा परम्परा से सब अंग जुदे-जुदेहो गए, उसको तोड़ने के लिए प्रवृत्त बाणसे ही धनुष टूट गया इसलिए धनुष तोड़ने के लिए जुदे तीरों का नहीं कहा है: तब उसने भी दूसरा ही धनुष टूट गया इसलिए धनुष तोड़ने के लिए जुदे तीरों को नहीं कहा है, तब उसने भी दूसरा धनुष लिया भगवान् ने भी प्राणियों के घातक धनुष को त्याग, दूसरा धनुष उठाया, यह आशय "च" शब्द से ज्ञात होता है रुक्मी ने जो दूसरा धनुष उठाया था वह लेते ही भगवान् ने तोड़ दिया, क्योंकि आप अच्युत है और धनुष को देवताओं का वर मिला हुआ है अत. उस शर को व्यर्थता होने से, पहले वह धनुष तोड़ दिया, पश्चात् दूसरा भी ग्रहण किया, शास्त्र में कहा है कि "त्रिसत्या हि देवाः" इसलिए धनुष का तीन बार ग्रहण हुआ है ॥२-७२८॥

श्लोक—परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासीशक्तितोमरम् ।
यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिनद्विभुः ॥२९॥

श्लोकार्थ—उसने लोहे के मुद्गर, पट्टिस, त्रिशूल, ढाल, तलवार, बरछी, भाला आदि जो जो शस्त्र हाथ में लिए उन सबको प्रभु ने तोड़ दिया ॥२९॥

सुबोधिनी—ततः परिघादीन् गृहीतवान् । चर्मासी इति दीर्घः छन्दसः । चर्मादिपदमेकं तोमरान्तम् । किंबहुना । यद्यदायुधमादधात् देवतादिप्रेरणया, स्वतो वा तत्सर्वमेवाच्छिनत् । एवं करणे सामर्थ्यं विभुरिति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् उसने परिघ आदि शस्त्र ग्रहण किए मूल में "चर्मासी" पद दीर्घ है, वह वैदिक है, चर्म से लेकर तोमर तक एक ही पद है, बहुत कहने से क्या लाभ ? वह देवता आदि की प्रेरणा से वा स्वतः जो जो शस्त्र उठाए वे सब तोड़े गए, इस प्रकार करने में सामर्थ्य इसलिए थी जो आपका नाम ही "विभु" है अर्थात् सब कुछ करने में शक्तिमान है ॥२९॥

आभास—ततोऽतियत्नेन सर्वभावेनागत इत्याह ततो रथादवप्लुत्येति ।

आभास—पश्चात् बहुत जतन से सर्व भाव से आया जिसका वर्णन "ततो रथाद" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया ।
कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् क्रोध युक्त हस्त में तलवार लेकर रथ से नीचे उतरकर मारने की इच्छा से कृष्ण के पास यों आने लगा ज्यो पतंग अग्नि के पास आता है ॥३०॥

सुबोधिनी—केवलं खड्गपाणिः, न तु चर्मापि । जिघांसयेति जीवननिरपेक्षः आत्मानमेव भगवद्द्वारा मारयितुं कृष्णंपरमानन्दमभ्यद्रवत् । युक्तमेव हि प्राकृतं परित्यज्य परमानन्दो ग्राह्य इति । तथापि शरीरं प्रियं सर्वस्यापीति कथं तथा समागत इति चेत्, तत्राह पतङ्ग इव पावकमिति । ते हि सूक्ष्माः अग्नावात्मानं पातयित्वा परमार्थदृष्ट्या कृतार्था भविष्यन्ति, बहिर्दृष्ट्या तु अग्निं मारयिष्याम इति बुद्धया प्रवृत्ताः स्वयं म्रियन्ते । तथायमपि प्रवृत्त इत्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—हाथ में केवल तलवार थी, ढाल नहीं थी, मरने की इच्छा से अथवा भगवान् से अपने को मरवाने के लिए, परमानन्द स्वरूप कृष्ण के निकट आने लगा, प्राकृत को छोड़ परमानन्द ग्रहण करना योग्य ही है, यदि कहो कि जब शरीर सब को प्यारा है तब इस प्रकार कैसे आया ? इसका उत्तर देते हैं कि जैसे पतंग अग्नि की तरफ आता है, क्योंकि वे सूक्ष्म अपने को अग्नि में डाल कर परमार्थ दृष्टि से कृतार्थ बन जावेंगे बहिर्दृष्टि से अग्नि को हम बुझा देंगे इस बुद्धि से प्रवृत्त होते हैं, किन्तु अग्नि को न बुझाकर स्वयं मर जाते हैं वैसे यह भी, प्रवृत्त हुआ है यह अर्थ है ॥३०॥

आभास—ततो भगवानक्लिष्टकर्मा तस्याभिलषितं कुर्वन्, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति च वाक्यं सत्यं कुर्वन्, तन्मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह तस्य चापतत इति ।

आभासार्थ—अनन्तर अक्लिष्ट कर्मा भगवान् उस की अभिलाषा पूर्ण करते हुए और "ये यथामां प्रपद्यन्ते" इस वाक्य को सत्यता सिद्ध करते हुए, उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन "तस्य चापततः" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः ।
छित्वासिमाददे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ॥३१॥

श्लोकार्थ—आते हुए उस रुक्म के ढाल तथा तलवार के, बाणों से तिल जितने टुकड़े कर दिए, और तेज तलवार लेकर रुक्म को मारने के लिए उद्यत हुए ॥३१॥

सुबोधिनी—तादृशस्यापि खड्गं चर्म च इषुभिः चिच्छेद। चर्मापि गृहीतं खड्गकोशो वा। तिलशश्छेदनं स्वशौर्यख्यापनार्थम् । तद्रुधिरमेव वा तत्र प्रवहज्जलात्मकं सत् तस्य परलोक उपतिष्ठेतेति तत्सतिलं कृतवानित्यर्थः । एवं धनुरघातकमिति निर्जीवान् छित्त्वा तद्वधार्थं खड्गं गृहीतवानित्याह असिमादध इति । एतस्मिन् हते जगति स्वरूपाज्ञानं निवर्ततैव । यतोऽयं रुक्मी मुख्यो भगवद्द्विट् । अतो भगवान् तं हन्तुमुद्यतो जातः, न तु मारितवान् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ऐसे को भी तलवार और ढाल अथवा म्यान को तीरों से तोड़ दिए, ढाल भी ग्रहण की थी अथवा म्यान ग्रहण की थी, अपनी शूरवीरता को प्रसिद्ध करने के लिए तिल के समान टुकड़े किए हैं, यों करने से जो रुधिर बहने लगा वह जल रूप होकर, परलोक में मिलने वाला हो गया वह तिल सहित करने के लिए हो असि (तलवार) आदि के टुकड़े तिल के समान किए हैं जिससे पितृपन को पितृलोक में तर्पण के लिए तिलोदक का सम्पादन हो गया. धनुष तो घात करने वाला नहीं है, जिससे जड़ पदार्थों को काटकर उसके मारने के लिए तलवार ग्रहण की है, इसके मरने पर जगत् में स्वरूप का अज्ञान मिटेगा ही, क्योंकि यह रुक्मी भगवान् का मुख्य शत्रु है, अतः भगवान् उसको मारने के लिए उद्यत हुए. न कि मारा ॥३१॥

आभास—एवं स्वरुपाज्ञाननाशो मायाया हितकारी न भवतीति रुक्मिणी तन्निषेधार्थं प्रवृत्तेत्याह दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वरूप के अज्ञान का नाश, माया का हित करने वाला नहीं होता है, इसलिए "रुक्मिणी" उसका निषेध करने के लिए प्रवृत्त हुई जिसका वर्णन "दृष्ट्वा" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक **दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला**
पतित्वा पादयोर्भर्तुरुवाच करुणं सती ॥३२॥

श्लोकार्थ—भ्राता को मारने का कृष्ण का उद्यम देख, सती रुक्मिणी भय से विह्वल हो, पति के चरणों में पड़कर करुण वचन कहने लगी ॥३२॥

सुबोधिनी—रुक्मिणी प्रार्थयितुमुवाच । यद्यपि दुष्टो भवति, तथापि स्वार्थं तावत्करोतीति । यदर्थं यो यतते, तेन प्रतिकर्तव्यमिति तस्या उद्योगः । तत्रापि भ्राता, तस्यापि वधोद्योगः, । तत्रापि वधात्पूर्वं स्वयं दृष्टः, स्वयं च रुक्मिणी तत्सम्बन्धिनी । पश्चाद्भयेन विह्वला

जाता । क्रोधे कदाचिदात्मानमपि मारयेत्, लोके चापकीर्तिर्भवेत्, बलाद्भगवन्तमाहूय भ्रातरं मारितवतीति बह्व एव पक्षाः भयहेतवो वर्तन्ते । अतो भयैः कृत्वा विह्वला स्वयमपि शुष्कानना जाता । अत्यन्त विज्ञा उपायान्तरमलभमाना मत्पतिरयमिति भर्तुः पादयोः पतित्वा उक्तवती । चरणपातेन देहेन निवारणम् । विह्वलतया मनसा निवारणम् । वाचा च निवारयति । नन्वीश्वरो भगवान्, कथमेतन्निवारितो निवर्तेतेति चेत् तत्राह करुणमिति । करुणं यथा भवति, तथा उवाच, नतु प्रौढ्या । किञ्च । पतिव्रताया न ह्यन्य उपायोऽस्ति सर्वत्र भर्तृप्रार्थनाव्यतिरेकेण, तदाह सतीति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी प्रार्थना करने के लिए ये वचन कहने लगी यद्यपि दुष्ट है, तो भी जो कर रहा है, वह स्वार्थ के लिए कर रहा है. जो जिस लिए प्रयत्न करता है, उसका यह कार्य पूरा करना चाहिए, इसलिए उसका उद्यम है, उसका भी भाई उसके भी वध का उद्योग ? उसमें भी बध से पहले स्वयं आपने देखा है, और रुक्मिणी उसको सम्बन्धी है, इसलिए उद्यम आदि देख विह्वल हो गई है, क्रोध आने पर कभी अपने को भी मार डाले, जिससे लोक में निन्दा अपयश होगा, अपयश के कारण को स्पष्ट किया जाता है कि रुक्मिणी ने जबर्दस्ती से भगवान् को बुलाकर भ्राता को मरवाया है, इस प्रकार बहुत पक्ष भय के कारण के हो सकते हैं, अतः भयों के कारण विह्वल होने से शुष्क मुखवाली हो गई है, बहुत चतुर होने से दूसरा कोई इसका उपाय नहीं है, यह निश्चय कर, ये मेरे स्वामी हैं इसलिए इनके चरणों में गिरकर कहने लगी, रुक्मी तो मेरा भाई है इसका वध न करो, यह प्रार्थना देह, मन और वाणी से करने लगी, चरणों में गिर कर देह से भ्राता के वध को रुकवाने लगी, विह्वलता दिखाकर मन से रुकवाने लगी, भगवान् ईश्वर हैं, वे इसके रोकने से कैसे रुकेंगे ? यदि यों कहो, तो कहते हैं कि करुण वाणी से प्रार्थना की, भगवान् दयालु हैं, करुणा के वचनों से द्रवित हो जाते हैं. फिर उसमें विशेषता यह है कि पतिव्रता के पास सर्वत्र पति को प्रार्थना करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए रुक्मिणी को "सती' 'विशेषण दिया है ॥३२॥

आभास—तस्या वाक्यमाह योगेश्वरेति ।

आभासार्थ—'योगेश्वराप्रमे" श्लोक से उसके वचन कहते हैं ।

श्लोक—योगेश्वराप्रमेयात्मन्देवदेव जगत्पते ।
हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे योगेश्वर ! अप्रमेयस्वरूप ! हे देवों के देव ! हे जगत् के पति ! हे कल्याण ! हे महाभुज ! यह मारने योग्य नहीं है क्यों कि यह मेरा भाई है ॥३३॥

सुबोधिनी—ननु मारणार्थं समागतः, कथं निवार्यत इति चेत्, तत्राह योगेश्वरेति । भगवान् योगस्य नियन्ता अनेकानेवोपायान् जानाति, किं वधेनेति भावः । अनेनैव वाक्येन भगवता वधानुकल्पो मुण्डनं कृतम् । तच्च रुक्मिण्या मदुक्तमेव कृतमिति ज्ञात्वा, मुण्डनमनिवार्य, वाचाप्यनुक्त्वा, अन्तरेव तापं कृतवती । तदर्थं बलभद्रस्य सान्त्वनमित्यनवद्यम् । अनेन मारयितुं समागतः भ्राता तव मारयेच्चेत्, तथा तव सुखं भवेदित्युपालम्भोऽपि निवारितः । किञ्च । अप्रमेयात्मन्निति । प्रमातुमप्ययोग्य आत्मा स्वरूप यस्य, किं पुनः क्रियाविषयो भविष्यतीति शङ्कापि निवारिता । क्रिययैवानिष्टशङ्केति । किञ्च । देवानामपि देवस्त्वम्, देवा एवामराः, तत्र तव समागतस्यापि का चिन्ता भवेत । किञ्च । जगत्पत इति । तस्यापि त्वं पतिः रक्षकः, अतः शिक्षैव कर्तव्या । अत एव हन्तुं नार्हसि, सुतरामिदानीम् । कल्याण अद्य व कृतविवाहः, तत्रापि मे भ्रातरम् । शालको हि विवाहदिवसे मान्य इति । पश्चादपकारं करिष्यतीति चेत्, तत्राह महाभुजेति । महान् भुजः क्रियाशक्तिर्यस्येति सम्बोधनेन समाधानार्थं सामर्थ्यं स्मारितम् ।।३३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् मारने के लिए उद्यमशील हुए हैं क्योंकि भगवान् को मारने के लिए आया है, वैसे सम्य रुक्मिणी कैसे रोकती है, कि इसको मारो मत इसके उत्तर में कहा है, कि रुक्मिणी भगवान् को कहती है आप योगेश्वर हैं, इसलिए योग के नियन्ता हो, जिससे उसको दण्ड देने के अनेक उपायों को जानते हो, तो वध करने से क्या लाभ ? इस रुक्मिणो के वचनों से ही भगवान् ने मारने के बदले उसके शिर का मुण्डन किया, जिसको देख रुक्मिणी ने समझा कि मेरे कहने से ही भगवान् ने इसका वध न कर मुण्डन किया है, इस कारण से मुण्डन में रुकावट न की। वाणी से अप्रसन्नता भी प्रकट नहीं की, अन्तःकरण में दुःख करने लगी, इस मुण्डन के लिए भी बलभद्रजी ने सान्त्वना दी, यों सब सुन्दर हो गया। वलरामजी के इस प्रकार रुक्मिणी को समझाने से बलरामजी ने अपने को उपालम्भ से बचा लिया, यों न होता, तो रुक्मिणी कदाचित् अपने भाई को कृष्ण से मरा हुआ देख, बलरामजो को कहती, कि अब तो आप प्रसन्न हुए, इस प्रकार के उपालम्भ से बच गए।

भगवान् क्रिया का विषय बनेंगे अर्थात् भगवान् ने इस प्रकार का मेरे भ्राता का मुण्डन आदि से मृत्यु किया है, ऐसी शंका मिटाने के लिए भगवान् को "अप्रमेयात्मन्" कहा है अर्थात् आपका स्वरूप कोई समझ नहीं सकता है, कि यह कार्य क्यों हुआ, तथा कैसे हुआ, इसमें कौनसा रहस्य है, क्रिया होने से ही अनिष्ट की शंका होती है जहाँ क्रिया ही नहीं वहाँ अनिष्ट कैसा ? आप देवों के भी देव हैं, देव ही अमर हैं तो उनके भी देव जो आप यहाँ पधारे हैं तो फिर चिन्ता क्यों की जाय ? विशेष में आप जगत् के रक्षक हैं, वे मारेंगे तो नहीं, किन्तु शिक्षा ही कर्तव्य है, अतः किसी को मारना आपको योग्य नहीं है फिर अब तो आप कल्याण स्वरूप है अर्थात् विवाह कर वर राजा बने हैं ऐसे आनन्द के समय में वध तो नही करेंगे उसमें भी विशेषता यह है, कि यह तो मेरा भाई है, आपका साला है, विवाह के दिनों में तो साले का आदर किया जाता है, यदि आप

उत्तर में कहो, कि मैं अब छोड़ दूं तो यह पीछे अपकार करेगा, इसके उत्तर में कहती है, कि महा-भुज होने से आप में महान् सामर्थ्य है: यदि कुछ भी अपकार करे तो उसको उस समय दण्ड देने में आप समर्थ हैं ॥३३॥

आभास—एवं विज्ञापितः वधान्निवृत्तो वधानुकल्पं कृतवानित्याह तया परित्रासेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी की प्रार्थना करने पर भगवान् ने रुक्मी को मारा नहीं, वध के बदले में, उसका मुण्डन किया, जिसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं।

श्रीशुक उवाच–

श्लोक—तया परित्रासविकम्पिताङ्गया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।
कातर्यविस्रंसितकेशमालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥३४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि डर के कारण कम्पित अंग वाली, शोक से शुष्क कण्ठ वाली तथा निरुद्ध कण्ठ वाली कायरता से गिरे हुए केश तथा माला वाली, रुक्मिणी ने भगवान् के पाद पकड़ लिए, जिससे करुणा युक्त हुए भगवान्, रुक्म के वध से निवृत्त हो गए ॥३४॥

सुबोधिनी—परित्रासेन विकम्पितमङ्गं यस्याः । शोकेन च शुष्यन्मुखं रुद्धश्च कण्ठो यस्याः । कातरतया विस्रंसिताः केशाः मालाश्च यस्याः । गुणत्रयकार्यं तस्यां पूर्णं जातमित्युक्तं भवति । परित्रासः सत्त्वस्य, शोकस्तमसः, कातरता रजस इति । एवं विद्यमानानां गुणानामपगमात् केवलं सा दीनेति तादृश्या गृहीतपादः करुणावानेवं न्यवर्तत ॥३४॥

व्याख्यार्थ—भय से जिसके अंग काम्प रहे हैं, शोक से जिसका मुख शुष्क हो गया है और कण्ठ रुक गया है, कायर होने से केश मालाएँ जिसके गिर रहे हैं, यों होने से तीन गुणों का कार्य उसमें पूर्ण हो गया जैसा कि सतोगुण का कार्य भयभीत होना, तमोगुण का कार्य शोक होना और रजोगुण का कार्य कायर होना, इस प्रकार, विद्यमान गुणों के दूर हो जाने से वह दीन ही हो गई, वैसा ने कोई अन्याश्रय न जान कर भगवान् के चरण पकड़ लिए जिससे भगवान् दया से आर्द्र हो रुक्मी के वध से निवृत्त हो गए ॥३४॥

३५

श्लोक—चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं सश्मश्रुकेशं प्रवपन्व्यरूपयत् ।
तावन्मर्दुः परसैन्यमुद्धतं यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः ॥३५॥

श्लोकार्थ—दुष्ट कर्म करने वाले उसको, वस्त्र से बान्धकर मूंछ सहित मूंड मूंड के विरूप किया, यहां भगवान् ने यह किया, वहां जैसे हाथी कमलिनी का मर्दन करते हैं, वैसे वीर यादवों ने अभिमानी शत्रुओं की सेना का मर्दन कर दिया ॥३५॥

सुबोधिनी—वधानुकल्पो हि वपनं मुख्यम् । द्रविणादानं च । स्थानान्निर्वापणं तु तेनैव प्रतिज्ञातम् । अतस्तस्यैव चैलेन चोरवत्तं बद्ध्वा । स हि रुक्मिणीं नेतुमागत इति चोरदण्डः । तं प्रसिद्धम् । प्रसिद्धस्य तावतैव महती पीडा भवतीति । ततः असाधुकारिणं घातकं सश्मश्रुकेशं श्मश्रुकेशसहितं तं प्रकर्षेण वपन्, सेवकेन प्रेरणया विकृतरूपं कृतवान् । क्वचित्केशाः श्मश्रूणि च रक्षिताः, क्वचिन्मुण्डिताः, यथैव विकृतो भवति । प्रायेण एवंरूपः स सर्वदैव स्थितो यावन्मरणम् । अन्यथा भगवानेवं न कुर्यात् । यावद्भगवान् विरूपं करोति, तावत्तस्य परस्य शत्रोरुद्धतं सैन्यम् । न केवलमेतद्दोषेणैव सैन्यं हतम् । किन्तु सैन्यमपि दुष्टमिति तथा कृतवन्तः । अवस्था अपि समर्था इत्याह यदुप्रवीरा इति । अनायासेन मारणे दृष्टान्तः नलिनीं यथेति । बहवो वीराः गदसङ्कर्षणादयः, एका चाक्षौहिणी, अतो नलिनीमित्येकवचनम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—वध का मुख्य अनुकल्प मुण्डन है और द्रविणा दान स्थान से निकालने की तो उसने ही प्रतिज्ञा की थी, अतः उसके ही वस्त्र से चोर की भांति उसको बान्धा, क्योंकि वह रुक्मिणी को लेने के लिए आया था, इसलिए चोर जैसा दण्ड दिया गया 'उसको' शब्द कहने का आशय है कि वह प्रसिद्ध -अनिष्टकर्म- करने वाला घातक होने से दुष्ट है, अतः प्रसिद्ध को, इतनी से ही बड़ी पीड़ा होती है, जिससे भगवान् ने सेवक द्वारा उसका मूंछ सहित शिर मूंडवा के विरूप रूपी वध कर दिया, विरूप शब्द का आशय है कि मुण्डन एक विचित्र प्रकार से हुआ, जैसे मूछों का कुछ भाग काट दिया कुछ रखा वैसे ही शिर के बाल भी कहीं काटे कहीं छोड़ दिए दाढ़ी के बाल भी यों ही किए, जिससे वह विरूप हो गया इसका यह विरूप मरण पर्यन्त रहा, क्योंकि भगवान् ने इसको वध के बदले यह सजा दी थी अतः इसी प्रकार बालों को समूल छेदन किया जिससे वे पुनः निकलें ही नहीं, यदि वैसा न हो, तो भगवान् इस प्रकार केवल नाम मात्र मुण्डन करावे ही नहीं, जब तक भगवान् उसको विरूप करते हैं, तब तक उस शत्रु को अभिमानी सेना को वीर यादवों में कुछ भी परिश्रम के विना जैसे हस्ती कमलिनी को उखाड़ता है, वैसे ही नष्ट कर दिया सेना को केवल रुक्मी के दोष के कारण नाश नहीं किया, किन्तु यह सेना भी दुष्ट है, इसलिए नाश किया, यादवों में गद संकर्षण आदि बहुत वीर थे और एक अक्षोहिणी भी थी, अतः "नलिनी" एक वचन दिया है ॥३५॥

आभास—एवं भगवत्कृतं रुक्मिनिग्रहणं निरूप्य भगवतः सकाशात् ज्येष्ठस्य बलभद्रस्य कृतं सान्त्वनमाह सार्धैरेव सप्तदशभिः कृष्णान्तिकमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का किए हुए रुक्मी के निग्रह का निरूपण कर, भगवान् की तरफ से ज्येष्ठ बलरामजी ने जो सान्त्वना की, उसका वर्णन "कृष्णान्तिकं" से साढ़े सत्रह श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ।
तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा संकर्षणो विभुः ।
विमुच्य बद्धं करुणो भगवान्कृष्णमब्रवीत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—वे बलभद्र आदि श्रीकृष्ण के समीप आए, वहाँ रुक्मी को देखा तो वह विरूप मरे हुए के समान हो गया था, तब विभु संकर्षणजी ने दया कर बन्धन में पड़े हुए को छोड़ कर कृष्ण को कहने लगे ॥३६॥

सुबोधिनी—मुख्यात्र रुक्मिणी समाधेया । मध्यमो रुक्मी । प्राकृताः सहायराजानः । अतः सेनया भगवतोऽपि कनिष्ठया ते हताः, भगवता च मध्यमः, भगवज्ज्येष्ठेन च सान्त्वनमुक्तमिति युक्तमत्र प्रकरणत्रयम् । सर्व एव तद्बलं हत्वा समागताः कृष्णान्तिकमुपव्रज्य विकृतं रुक्मिणं ददृशुः । तथाभूतमिति । विशेषतो न वक्तव्यम्, सोऽपि मूर्च्छितप्रायस्तिष्ठतीति । यथानुकूलं निरूपयितुमाह हतप्रायमिति । विशेषतो रामस्तं तथाभूतं दृष्ट्वा सम्यक् कर्षणकार्यत्वात् सशिखवपनं च करोति विकारं समाधास्यतीति, तत्रापि सङ्कर्षण एव करोति, भगवतः तत् कर्तव्यं न भवतीति, स्वयं सङ्कर्षणः हन्तुमपि विभुः समर्थः । भगवता बद्धं विमुच्य कृष्णमब्रवीत् । ननु कथमेवं भगवत्कृतमन्यथा कृतवान्, तत्राह करुण इति । करुणा हि भगवता दुःखं प्रापितेष्वेव पुरुषेषु कृपया प्रतीकारार्थं यतन्ते । ननु तथापि भगवन्तं पृष्ट्वा तथा विधेयम्, किमिति स्वयमेव मोचितवान्, तत्राह भगवानिति । बलभद्रे आविर्भूतो भगवानेव मोचितवानित्यर्थः । एतदन्ता मध्ये सङ्कर्षण कथा, विशिष्टा त्वग्रे वक्तव्या । अत एव कृष्णमब्रवीत् । अत्र कृष्णपदं 'कृष्णो द्वितियः केशवः संबभुवे'ति कृष्णपुरम्, अतो ज्येष्ठत्वान्नानौचित्यम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यहाँ समाधान कर, सान्त्वना देने के जो योग्य है, उनमें मुख्य रुक्मिणी है, मध्यम रुक्मी है और शेष प्राकृत राजा लोग हैं, अतः उनको भगवान् से भी कनिष्ठ सेना ने ही मारा है, भगवान् मध्यम में रहे और रुक्मी को भगवान् के बड़े भ्राता ने सान्त्वना दी, ये तीनों ही प्रकरण

युक्त ही हैं, सब यादव, उस सेना को नष्ट कर आए, कृष्ण के पास जाकर विरूप रुक्मी को देखा, विशेष न कह कर केवल 'तथाभूत' कहा अर्थात् वह मूर्च्छित जैसा वहाँ पड़ा था भगवान् ने वध के बदले में जो मुण्डन कर विरूप किया था, जिससे वह मरे हुए के समान हो गया था। राम विशेष प्रकार से उसको वैसा देख, शिखा सहित वपन का कार्य सम्यक् प्रकार से, कर्षण कार्य होने से, यह कर्म अधिकार बिना हुआ है। इस कर्म का कर्ता संकर्षण ही है, भगवान् का यह कार्य नहीं है, स्वयं संकर्षण मारने में भी समर्थ है तो मुण्डन आदि कर्म करने का भी उनका अधिकार है इसलिए भगवान् से बान्धे हुए को खोल, छोड़कर कृष्ण को कहने लगे। शंका करते हैं, कि जो भगवान् ने किया है उसको अन्य प्रकार बलराम ने कैसे किया ? इसका उत्तर देते हैं कि "दयालु" हैं जो दयालु होते हैं, वे भगवान् से जिनको दुःख मिला है कृपा कर उनका भी प्रतीकार के लिए प्रयत्न करते हैं, यदि कहो तो भी भगवान् से पूछकर यों करना चाहिए था आपने स्वयं ही कैसे बन्धन से मुक्त कर दिया ? इसके उत्तर में कहा है, कि "भगवान्", मुक्त करने वाले बलराम नहीं है, किन्तु वह बलराम में विराजमान भगवान् ने ही मुक्त किया है, बीच में संकर्षण की कथा इतनी ही है, विशेष तो आगे कही जाएगी इस कारण से ही कृष्ण को कहने लगे, यहाँ "कृष्ण" पद शास्त्र में कहे हुए "कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव" इस वाक्यानुसार जो कृष्ण है वह समझना चाहिए अतः बलरामजी बड़े हैं जिससे योग्यता नहीं है ॥३६॥

आभास—भगवन्तं प्रति कृतस्याननुमोदनमाह असाध्विदमिति ।

आभासार्थ—"असाध्विं" श्लोक में बलरामजी भगवान् के किए हुए मुण्डन आदि का अनुमोदन नहीं करते हैं।

श्लोक—**असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम् ।**
वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण आपने यह बुरा कार्य किया है इससे अपनी निन्दा होगी यह कार्य हम को नहीं करना चाहिए, क्योंकि दाड़ी मूँछ मुण्डवाकर सुहृदों का विरूप करना उनका वध है ॥३७॥

सुबोधिनी—यत् कृतं तदग्रे वक्तव्यम् । तदसाध्वेव । मरणानन्तरमेव हि सर्वक्षौरं विधीयते । किञ्च । यत्कृतं तदस्मत्कृतम्, अस्मत्तः कृतम्, वयमेव हेतवः सङ्कर्षणरूपाः । न तु वामनस्तव कार्यम्, यतो जुगुप्सितमेतत् । परमार्थतोऽयमर्थः । व्यवहारेऽपि यद्यप्यस्य वपनं कर्तुं युक्तम्, अयमेतदर्ह एव, तथाप्यस्मज्जुगुप्सितमस्माकं तु नोचितमित्यर्थः: अधमभक्षकाया-

प्युत्तमैर्नाधमं भक्ष्यं दीयते, तदेवाह वपनं श्मश्रुकेशानामिति। श्मश्रूणां केशानां च सुहृदः सकाशात् वैरूप्यं वध एव। अतः सुहृत्त्वात् वधोऽनुचितः। एतदपि रुक्मिणोसान्त्वनार्थमेवेति ज्ञायते। उपसहारबलीयस्त्वात्। उभयस्याप्रकरणित्वात् ॥३७॥

व्याख्यार्थ – जो किया वह आगे कहना योग्य नहीं है, वह बुरा है मरने के पीछे ही सर्व मुण्डन करवाया जाता है. किन्च, जो किया वह हमारा किया हुआ है हम से ही हुआ है, हम संकर्षण रूप ही इसमें कारण है न कि आप जो स्वामी हैं उनका यह कार्य है क्योंकि यह कार्य निन्दनीय है परमार्थ रूप से यही अर्थ है, हालांकि व्यवहार के अनुसार इसका मुंडन कराना योग्य है यह इसके ही योग्यहै, तो भी यह अपने करने योग्य नहीं है, यदि कोई मनुष्य मांसादि अधम भोजन करने वाला हो, उसको भी उत्तम पुरुष वैसा अयोग्य भोजन नहीं देता है क्योंकि वैसा भोजन देने से, उत्तम पुरुष की ही निन्दा होती है सम्वन्धियों की तरफ से दाढी मूंछ आदि केशों का मुण्डन कराकर विरूप करना सम्वन्ध वाले का वध ही है, अतः सम्बन्धी होने से इस प्रकार भी वध करना उचित नहीं है, ये शब्द जो बलरामजी ने कहे वे विशेष में रुक्मिणी की सान्त्वना कराने के लिए ही कहे, यों समझा जाता है, दोनों का प्रकरण नहीं होने से भी उपसंहार बलवान होता है ॥३७॥

आभास—अतस्तामेव साक्षात् सान्त्वयति मैवास्मानिति।

आभासार्थ—इस कारण से, उसको ही "मैवास्मान्" श्लोक से साक्षात् सान्त्वना देते हैं।

श्लोक—मैवास्मान्साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया।
सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक्पुमान् ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे साध्वि ! तेरा भाई विरूप हुआ है, इस चिन्ता से हमें दोष मत देना, क्योंकि प्रत्येक पुरुष अपने किए का फल सुख वा दुःख भोगता है दूसरा कोई सुख दुःख देने वाला नहीं है ॥३८॥

सुबोधिनी—हे साध्वि। पतिव्रताया भर्तृकृतं मन्तव्यमिति धर्मः। अतएव अस्मान्सर्वानेव मासूयेथाः, दोषारोपेण मा विचारय। यद्यपि मावकचित्तमपि समीचीनम्, भाव्ये च न दोषः कोऽपि, तथापि भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया तद्धर्मारोपात् कदाचिदसूया भवेत्, तां निवारयति। ननु लौकिकदृष्ट्या कर्तव्यैवासूया, कथं जरासन्धो मुक्तः, केवलः कथमयं मुण्डित इति चेत्, तत्राह सुखदुःखद इति। स्वकर्मवशादेव सुखदुःखानुभवः। सङ्कर्षणो हि ज्ञानप्रधानः। अन्यथा

सर्वान् (न) मारयेत्। नायं हन्ति न हन्यते इति तत्र सिद्धान्त.। तथा अत्रापि कर्मणैव सर्वमिति तदनुसारेणात्रापि बोधनम्। अतोऽयं साधारण इति, सोऽपि शृणोतीति कर्ममार्ग एव बोधितः। अत एव स्वयं स्वस्य सुखदुःखदः, अन्यो न भवति। तत्र वेतुमाह स्वकृतभुगिति। कर्मणि स्वस्य स्वातन्त्र्यात् तत् फलमपि कर्तृगाम्येव भवति। अन्यथा कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—पति के किए हुए कर्म को मान देना, पतिव्रता स्त्री का धर्म है, इस कारण से तूं हम सब पर क्रोध मत कर, हम पर दोष के आरोपण का विचार भी न कर. हालांकि, भावना करने वाला चित्त भी श्रेष्ठ है, भावना करने में कोई भी दोष नहीं है. तो भी भाई के विरूप होने को चिन्ता से, उस धर्म के आरोप करने पर कदाचित् क्रोध आ जाय ? तो उसका निवारण करते हैं. आप कहते हो, वह उचित है, तो भी लौकिक दृष्टि से क्रोध तो करना चाहिए, जरासन्ध को तो मुक्त कर दिया और इसका मुण्डन कैसे किया ? ये दो विपरीत कार्य कैसे हुए ? इस शंका के समाधान के लिए कहा, कि अपने धर्म के आधीन होने से, सुख और दुःख का अनुभव होता है, संकर्षण में ज्ञान मुख्य है, यदि ज्ञान प्रधान न होता तो सब को मार डालते "नायं हन्ति न हन्यते" वहाँ यह सिद्धान्त पक्ष लागू है। वैसे यहाँ सब कर्म से हुआ है, कर्म के सिद्धान्त के अनुसार हो ज्ञान कराया है अतः यह साधारण पक्ष है, वह भी सुन रहा है, इसलिए यहाँ कर्म मार्ग ही समझाया है, अतएव स्वयं ही अपने आपको सुखदुःख देने वाला है, दूसरा देने वाला नहीं है. नहीं तो कृत की हानि न किए हुए के आने का, प्रसंग उपस्थित हो जावे ॥३८॥

आभास—एवं प्रतिबोधिते केवलमस्मदपराधमेव स्थापयति बलभद्रो, न स्वापराधमिति अतुल्यता प्रतिभाता, अतः पुनस्तां बोधयितुं भगवन्तमाह बन्धुरिति।

आभासार्थ—इस प्रकार समझाने से रुक्मिणी समझेगी कि बलभद्रजी केवल हमारे पर ही अपराध डालते हैं; अपना अपराध प्रकट नहीं करते हैं, इसलिए भेद हुआ, अतः पुनः अन्य प्रकार से उसको बोध कराने के लिए "बन्धुर्वधार्ह" श्लोक से भगवान् को कहने लगे।

श्लोक—बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति।
त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण यदि सम्बन्धी मारने के योग्य अपराध करे तो भी, सम्बन्धी को चाहिए कि अपने नातेदार को न मारे, वह तो अपने ही अपराध से मरा हुआ है फिर उस मरे हुए को मारने से क्या ? ॥३९॥

सुबोधिनी वधमर्हति येन दोषेण तादृशो दोषो यस्य स वधार्हदोषः पुरुषः। तादृशः बन्धोः साक्षाद्वध नार्हति। अन्यथा बन्धुत्वं न स्यात्। शत्रुरेव वधकर्ता। अयोग्यं कुर्वन् अयुक्त एव भवति। ननु यथा स्वधर्मः, स न मारणीय इति, तथा तस्यापि धर्मः, अतिक्रमो न कर्तव्य इति। स चेत् स्वधर्मं न कुर्यात्, कथमन्यः कुर्यादिति चेत्, तत्राह त्याज्य इति। वस्तुतस्तु तेन स्वधर्मस्त्यक्त इति न स्वेनापि स्वधर्मस्त्यक्तव्यः, तथा सत्युभयोरेव तुल्यता स्यात्। अथ तत्कर्म सार्थकं कर्तव्यमिति स्वोद्यमः, तत्राप्युच्यते। स्वेनैव दोषेण हतः। पुनः किमर्थं हन्यत इति। न हि तत्कर्मणा प्रेरितत्वं स्वस्य युक्तम्। तत्कर्म स्वयमेव अन्यं प्रेरयेत्। अतः कर्मणैव हतः, तदङ्गत्वे स्वस्य हानिरिति। भिन्नतया स्वयं चेन्मारयेत्, तदा पिष्टपेषणमेव भवेदिति, किं हन्यत इति प्रश्नार्थं आक्षेपार्थो वा। पिष्टवापि वेदे प्रैष उक्तः। अणूनि कुरुतादिति, तस्य प्रयोजनं मेध्यत्वायेति श्रुतावेवोक्तम्। तथा अयमपि पवित्रो भवतु, मोक्षं वा प्राप्नोत्विति प्रश्नार्थो भवति। एवमेवेति चेत्, तत्राह किं हन्यत इति। न हन्तव्य एव, किन्तु त्याज्यः। दुष्टं हि न संस्क्रियते, अयं तु दुष्ट एवेति न संस्कारमर्हतीति भावः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—मारने का अपराध करने वाला भी सम्बन्धी साक्षात् मारने के योग्य नहीं है, यदि मारा जायगा तो बन्धुपन का सम्बन्ध न रहेगा, वध करने वाला शत्रु ही होता है, जो अयोग्य कर्म करता है, वह अयोग्य ही होता है, यदि कहो कि जैसे अपना धर्म है, कि उसको न मारना चाहिए वैसे उसका भी धर्म है, अतिक्रम नहीं करना चाहिए यों यदि वह अपने धर्म का पालन नहीं करता है तो दूसरा अपने धर्म का पालन कैसे करे ? यदि यों कहो तो, इसका उत्तर है, कि वह मारने योग्य नहीं है. किन्तु उसको छोड़ देना चाहिए क्योंकि वास्तविकता का विचार किया जाय तो उसने अपने धर्म का त्याग किया तो क्या ? हम भी अपना धर्म छोड़ देवें, यों करने से दोनों समान हो जावेंगे वह कर्म सार्थक करना चाहिए इसलिए अपना उद्यम है, इस पर मैं कहता हूँ कि, वह अपने ही अपराध से मरा हुआ है उसको फिर मारने से क्या ? वा किस लिए मारा जाय ? उसके कर्म से प्रेरित हो, अपने को उस प्रकार करना अपने को योग्य नहीं है, उसका कर्म स्वयं दूसरे को प्रेरणा करेगा, अतः कर्म ने ही उसको मार दिया है, यदि हम उसके अंग बने, तो अपनी ही हानि है. भिन्नपणे से यदि स्वयं मारे, तब पिष्ट पेषण[1] ही होगा, इसलिए क्यों मारा जावे ? इस प्रकार कहना प्रश्न के वा आक्षेप के लिए है, पीस कर भी उसको वेद में "पैष" कहा है, अणु किए जावें, यों करने का प्रयोजन है, कि वह यज्ञ के लिए योग्य पवित्र हो, इस प्रकार श्रुति में कहा गया है, वैसे यह भी पवित्र हो, वा मोक्ष को प्राप्त होवे इस प्रकार प्रश्नार्थ होता है, यदि यों ही है, तो भी क्यों मारा जाता है ? अर्थात् इसको नहीं मारना चाहिए, किन्तु छोड़ देना चाहिए, क्योंकि

1 – पीसे हुए को पीसना ।

जो दुष्ट है, वह संस्कार करने योग्य नहीं है, संस्कार करने से भी वह पवित्र वा श्रेष्ठ हो कर सुधरेगा नहीं ॥३६॥

आभास—एवं शास्त्रार्थतः स न वध्यो भवतीति निरूप्य, लोकन्यायेनापि न वध्यत इति निरूपयति क्षत्रियाणामयं धर्म इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यों शास्त्र के अर्थ अनुसार वह मारने योग्य नहीं है यह निरूपण कर अब लोक न्याय से भी वह मारा नहीं जा सकता है, यह "क्षत्रियाणामय" दो श्लोकों में निरूपण करते हैं।

श्लोक—क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः ।
भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरं तमस्ततः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भाई भी भाई को मारे यह क्षत्रियों का घोर धर्म प्रजापति ने बनाया है जिससे घोर अज्ञानान्धकार ही होता है ॥४०॥

सुबोधिनी—ननु यो मारयितुमायाति, स मार्यत इति, 'जिघांसन्तं जिघांसीया' दिति लाल वेदाभ्यां हननं तस्य युक्तम्, तत्कथं निषिध्यत इति चेत्, तत्रोच्यते, किं हत इति हन्यते, अयुक्तं करोतीति वा। तत्र नाद्यः। अभावात्। प्रकृते असम्भवाच्च। अयुक्तता तु नास्तीत्याह। क्षत्रियाणामयं घोरात्मको धर्मः प्रजापतिनैव विनिर्मितः। त्रिविधा हि धर्माः, शान्तो घोरो विमूढश्चेति। तत्र शान्तो ब्राह्मणेषु स्थापितः। घोरः क्षत्रियेषु। विमूढो वैश्यशूद्रयोः। अतः अयं परिदृश्यमानः तीक्ष्णशास्त्राणि गृहीत्वा स्वप्रवृत्तिं प्रदर्शयन्निवाह। तत्र न सम्बन्धापेक्षेत्याह भ्रातापि भ्रातरं हन्यादिति। नन्वेवं सत्ययं धर्म एव चेत्, तर्हि कथं घोरः स्यात्, तत्राह येन घोरं तम इति। ततो घोरमेव तमो भवति। अज्ञानमत्र तमः, तदपि भयानकम्। एवं कर्मणा दैत्यत्वं भवतीत्यर्थः।

व्याख्यार्थ—जो मारने के लिए आता है वह मारा जाता है, जैसा कि कहा है "जिघांसन्तं जिघांसीयात्" इसलिए लोक तथा वेद के अनुसार उसको मारना ही योग्य है, तब आप निषेध कैसे करते हैं? इसका उत्तर देते हैं, कि क्या (जिसने) नाश किया वह मारा जावे? अथवा अनुचित करता है, इसलिए मारा जावे, इनमें पहला तो है ही नहीं, क्योंकि मारने का अभाव ही है उसने किसी को अब तक मारा नहीं और चालू प्रसंग में मारे वह असम्भव है, मारने में अयोग्यता तो नहीं है, क्योंकि क्षत्रियों का यह घोर धर्म प्रजापति ने बनाया है।

धर्म तीन प्रकार के हैं १–शान्त, २–घोर और ३–विमूढ, उनमें से शान्त धर्म ब्राह्मणों में स्थापित किया है, घोर धर्म क्षत्रियों में, विमूढ धर्म वैश्य और शूद्रों में स्थापित किया है, अतः यह प्रकट देखने में आने वाला तीक्ष्ण शस्त्र ग्रहण कर अपनी प्रवृत्ति दिखा रहा है, वहाँ सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, ऐसी दशा में "भ्राताऽपि भ्रातरं हन्यात्" भाई भी भाई का बध करे, यदि इस प्रकार किया हुआ कर्म भी यदि धर्म हो, तो उसको "घोर" कैसे कहा जाता है, जिस कर्म से घोर अज्ञान अन्धकार हो वह भी भयानक होवे तो उस कर्म से दैत्यपन होता है, अर्थात् जो ऐसा घोर कर्म करता है वह दैत्य बन जाता है ॥४०॥

आभास––ननु सत्यं यदि युद्धमेव कुर्यात्, तदा अशस्त्रं विरथं कृत्वा तं शत्रुस्त्यजेत्, अयं त्वसभ्यं बहु वदतीति मुखरत्वान्मारणीय एवेति चेत्, तत्राह राज्यस्येति । तेषामसभ्यवचनमपि प्रजापतिविनिर्मितमेव । तत्र साधारण्येन षट् हेतून् निर्दिशति । राज्यं ।

आभासार्थ—आपका यह कहना सत्य है कि यदि युद्ध भी करे तो उसको शस्त्र रहित और रथ विहीन कर छोड़ देना चाहिए अर्थात् मारना नहीं चाहिए, किन्तु यह तो बहुत असभ्य वचन कहता है इसलिए इस बकवादी अप्रिय कहने वाले को तो मारना ही चाहिए, इस प्रकार कृष्ण के विचार जान बलरामजी "राज्यस्य" श्लोक में इसका निराकरण करते हैं। उनके इस प्रकार के असभ्य वचन भी प्रजापति के ही रचे हुए हैं, उसमें साधारणता से छः हेतुओं को बताकर समझाते हैं।

श्लोक –**राजस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः ।**

मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि ॥४१॥

श्लोकार्थ—राज्य, भूमि, धन, स्त्री, मान अथवा अन्य को हेतु बनाकर लक्ष्मी के मद से अन्धे बने हुए अभिमानी दूसरों का अपमान करते हैं किन्तु उसका वध अथवा वध के समान मुण्डन आदि नहीं कराते हो अतः तुमने इसका (रुक्मि का) मुंडन किया वह उचित नहीं किया है यों बलरामजी ने कृष्ण को उपालम्भ दिया ॥४१॥

सुबोधिनी—चेत्कस्यचित्केनचिद्धृतं तदा स क्षत्रियः । अन्यथायं न मारयिष्यतीति । राज्ये च गते केवलं जीवनमयुक्तमिति मरणार्थं शत्रून् क्षिपन्ति । श्रीमदान्धा अपि क्षिपन्ति । पूर्वं श्रिया जातो यो मदः तेन अन्धाः विवेकरहिताः, अतः क्षेपो युक्त एव । एवं भूमेः राज्यैकदेशस्य वा । वित्तस्य धनस्य । स्त्रियोर्थे मानस्य वार्थे तेजसो वार्थे । एवं षड्गामर्थे क्षिपन्ति । तत्रापि ये

मानिनः। अनुक्तसर्वहेतुसमुच्चयार्थं मन्ह अन्यस्य वा हेतोरिति। युक्तश्चायमर्थः। अतोऽस्य क्षेपोऽपि युक्त एवेति न हननमुचितमिति भावः॥४१॥

व्याख्यार्थ—किसी ने किसी का राज्य ले लिया तो वह क्षत्रिय है, नहीं तो यह न मरवाएगा, राज्य जाने पर जो जीवन है वह अयोग्य है अतः मरने के लिए शत्रुओं को दूर फेंक देते हैं, लक्ष्मी के मद से जो अन्धे बने हैं वे भी फेंक देते हैं अर्थात् वे उनको पूछते ही नहीं है, कारण कि लक्ष्मी से उत्पन्न मद से अन्धे यानि विवेक हीन हो गए हैं अतः वे फेंकें, तो उनकी दृष्टि में यह कार्य योग्य ही है इस प्रकार, राज्य के एक भाग में भूमि, धन, स्त्री और मान तथा तेज के लिए भी फेंक देते हैं, अर्थात् उनसे सर्व प्रकार का सम्बन्ध तोड़ देते है, इस प्रकार इन छ के अथवा कोई वैसे दूसरे हेतु के कारण जो सम्मान वाले हैं, वे यों करते हैं वह योग्य ही है अतः इनसे व्यवहारिक सम्बन्ध तोड़ देना ही योग्य है न कि मारना उचित है, कहने का यह भाव है ॥४१॥

आभास—ननु न हत एव मयाप्ययम्, किमित्युपालम्भः क्रियत इति चेत्, तत्राह तवेयं विषमा बुद्धिरिति।

आभासार्थ—मैंने भी इसको मारा नहीं है, फिर आप उपालम्भ क्यों दे रहे हो ? यदि यों कहो, तो इसका उत्तर है "तवेयं विषमाबुद्धिः" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्।
यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमक्षयम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—दुष्ट हृदय वालों की सर्व भूतों में ज्यों विषम बुद्धि होती है त्यों तुम्हारी यह बुद्धि विषम है, जो सुहृदों के अक्षय मुण्डन को वधानुकल्प नहीं समझ केवल निरूपण ही मानते हो ॥४२॥

सुबोधिनी—अयं न हत इति या बुद्धिः, सा तव विषमा, न समा। यदि नापकृतः स्यात्, तदा समा स्यात्। यदि वा वधं कुर्याः, तथापि लोकन्यायेन समा स्यात्। यत्तु सुहृदां भद्रमभद्रं मन्यसे, तत्राप्यक्षयं तदभद्रं न दिनमात्रेणापगच्छति, किन्तु यावज्जीवं तिष्ठति। नन्वस्त्येव लोके विषमा बुद्धिः, को दोष इति चेत्, तत्राह। सर्वभूतेषु दुर्हृदामेव विषमा बुद्धिर्भवति, न तु तव, न वा सुहृदाम्। येषां हि चित्ते कापट्यम्, तेषामेते प्रकाराः, नतु शुद्धचित्तानामित्यर्थः।

सर्वभूतेषु वा मध्ये दुर्हृदामभद्रं मन्यस इति । असुरद्विडिति वाक्यात् । दुर्हृदां वा सर्वभूतेषु लोमादिष्ववयवेषु अभद्रं मन्यस इति । भद्रं क्षौरं वा विपरीतलक्षणया अभद्रमेव । भूतानां मध्ये दुर्हृदां भद्रम्, सुहृदामभद्रम्, एतादृशमपि मुण्डनम्, तत्राप्यक्षयं त्वं मन्यस इति तव विषमा बुद्धिः । अथवा । दुर्हृदामभद्रं सुहृदां भद्रं सदा मन्यस इति । एतत्तव ब्रह्मणः अयुक्तम्, विषमा बुद्धिरित्यर्थः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—यह मारा नहीं गया है ऐसी जो तुम्हारी बुद्धि है वह असमान है, जो अपकार पने न किया होता, अर्थात् मुण्डन न किया होता. तो समान होती यदि वध भी कर दिया होता, तो भी लोक न्याय से (बुद्धि समान कही जाती जो कि तुम, सुहृदों के मुण्डन को केवल विरूप होना ही मानते हो, किन्तु वह मुण्डन भी वैसा नहीं है कि वे बाल फिर निकल जाएंगे जिससे विरूपता नष्ट हो जावेगी, किन्तु वह जीवन पर्यन्त रहने वाला और सदा अशोभा-कर है जिससे यह वध ही है, यदि तुम कहो कि लोक में तो बुद्धि विषम करनी ही पड़ती है इसमें कौनसा दोष है ? इसके उत्तर में बलरामजी कहते हैं कि, सर्वभूतों में दुष्ट हृदय वालों की ही विषम बुद्धि होती है, न तुम्हारी होनी चाहिए और न शुद्ध हृदय वालों की ही, जिनके चित्त में कपट रहता है उनके ये ढंग हैं, न कि, शुद्ध चित्त वालों के ? कहने का आशय यह ही है । तुम असुरों के शत्रु हो इस वचनानुसार सर्व प्राणियों में जो दुष्ट चित्त वाले हैं, उनका तो मुण्डन न होकर वध होना ही योग्य है, यो मानते हो, अथवा दुष्टों के केश आदि अवयवों को ही वध मानते हो, भूतों में जो दुष्ट हैं, उनका तो मुण्डन और जो सुहृद हैं उनका मुण्डन भी नहीं । किन्तु तुमने तो ऐसा मुण्डन किया है वह तो अक्षय, (जीवन पर्यन्त) रहने वाला है, इसलिए तुम्हारी बुद्धि असमान है अथवा दुष्टों का वध, शुद्ध हृदय वालों का सदा मुण्डन मानते हो, यों करना भी आप ब्रह्म को योग्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार की बुद्धि विषम कही जाती है ।।४२।।

आभास—एवं चतुर्भि; तत्सन्तोषार्थं भगवदुपालम्भनमुक्त्वा, तावताप्यपरितुष्यमाणां ज्ञानेन बोधयति मात्ममोह इति सप्तभिः । भगवान् सधर्मोऽस्या बोधं कर्तुं शक्त इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार चार श्लोकों से रुक्मिणी के सन्तोष के लिए भगवान् को उलाहना दिया, उससे भी उसकी प्रसन्नता न हुई अतः ज्ञानोपदेश से "आत्ममोह" श्लोक से सात श्लोकों में समजाते हैं, धर्म सहित भगवान् इसको ज्ञान कराने में समर्थ है ।

कारिका—स्वरूपाज्ञाननानात्वे देहादीनां च शत्रुता ।
दोषत्रयं निरूप्यादौ आत्मधर्मनिरूपणम् ।।१।।

स्वप्रकाशोऽयमात्मा हि असङ्गश्च निरूप्यते ।
जन्मादिदोषास्त्वन्यस्य अतस्तैर्नैव दुष्यति ॥२॥
असंसर्गाग्रहो भ्रान्तः दृष्टान्तैर्विनिरूप्यते ।
ततोपसंहृतिर्युक्ता ज्ञानेनाज्ञाननुत्तये ॥३॥

कारिकार्थ—अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान जब नहीं रहता है, तब नानात्वदृष्टि से देहादि की शत्रुता होती है, जिससे तीन दोष उत्पन्न होते हैं उनका आदि मे निरूपण कर पश्चात् आत्मा के धर्म का निरूपण करते हैं ।१।

यह आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है और असंग है यों निरूपण किया जाता है, जन्म आदि दोष आत्मा के नहीं हैं, किन्तु दूसरे के (देह के) हैं, अतः उन से आत्मा दूषित नहीं होती है ।२।

असंसर्ग का आग्रह दृष्टान्तों से भ्रान्त निरूपण किया है, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति के लिए उपसंहार योग्य है ।३।

सुबोधिनी—'तरति शोकमात्मवि'दिति श्रुतेः शोकतरणं ज्ञानेनैव भवतीति ज्ञानमुपदिशति । अत्र ज्ञानं देहाद्व्यतिरिक्तात्मज्ञानम्, तावतैव देहाद्यध्यासे जातो मोहः अपगच्छति । ततस्तन्निराकरणार्थं तत्सामग्रीं प्रतिपादयति आत्ममोह इति ।

व्याख्यार्थ—"तरति शोकमात्मवित्"[1] इस श्रुति के अनुसार ज्ञान से ही शोक को तैरता है, इसलिए ज्ञान का उपदेश करते हैं यहाँ ज्ञान का तात्पर्य है देह से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान, ऐसे ज्ञान से ही देह आदि अध्यास से उत्पन्न मोह नाश होता है इस कारण से उस मोह के निराकरण के लिए उसकी सामग्री का "आत्ममोहो", श्लोक में प्रतिपाद करते है ।

श्लोक—आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया ।
सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥४३ ।

1—आत्मज्ञानी शोक को पार करता है;

श्लोकार्थ—मनुष्यों को यह जो देहादि में मोह होता है, वह देव की माया से बनता है, देह में जिनकी आत्म बुद्धि हो जाती है उनकी सुहृद दुर्हृद और उदासीन इस प्रकार की भेद बुद्धि होती है ॥४३॥

सुबोधिनी—आत्मनोऽयं मोहः। अज्ञानानन्तरं दोषे आविर्भूते या मूर्च्छा स मोहं इति व्यवह्रियते। तथात्रापि आत्मनः अज्ञाने शरीराहंभावे च प्रादुर्भूते सुहृद् दुर्हृदित्यादिबुद्धिर्बोधमपि न विषयीकरोतीति मोहो भवति। स च पश्वादिषु तथा नास्तीति नृणामित्युक्तम्। देवादीनां तथात्वेऽपि व्यवहाराभावान्नोक्तम्। एष इति प्रदर्शनम्। देवस्य भगवतो माययेति मोहकारणं माया निरूपिता। अन्यथा प्रत्यक्षादिषु श्रुत्यादिषु च प्रमाणेषु विद्यमानेषु प्रत्यहमेतस्य वृद्धिर्न स्यात्। देवानां माया नृणां दुस्तरा भवतीति, यथा नृणां माया पशूनाम्। अतो देवपदम्। सुतरामेव पुरुषोत्तममाया सर्वेषामेव दुस्तरा। मायायास्त्रिगुणत्वात् मोहेऽपि त्रिगुणतामाह सुहृद् दुर्हृदुदासीन इति। उदासीनः सात्त्विकः, सुहृद्राजसः। मायया यदा मोहः, तदा सर्वत्र चेन्निर्निमित्तं व्यर्थमेव ज्ञान स्यादिति निमित्त एवैतदित्याह इति देहात्ममानिनामिति। अमुना प्रकारेण देहमेवात्मानं मन्यन्ते, यदा मायया अन्येन वा देहात्मबुद्धिर्दृढा भवति, तदैते दोषाः सम्भवन्ति। ततस्तेषामुपकारापकाराभ्यां इदानीमनुभूयमानो मोहः प्रादुर्भवतीति देहात्मभावो मुख्यतया निवार्य इत्यर्थः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—आत्मा का यह मोह है, अज्ञान के बाद जब दोष उत्पन्न होता है, तब जो अज्ञानता होती है वह मोह नाम से व्यवहार में अर्थात् कहने में आती है, वैसे यहाँ भी आत्म स्वरूप के अज्ञान होने पर, जो शरीर में अहंभाव उत्पन्न होता है, उससे यह मित्र है अच्छा है, यह शत्रु है दुष्ट है, और यह उदासीन है, ऐसी भेद बुद्धि हो जाती है,वह बुद्धि ज्ञान को अपना विषय नहीं कर सकती है अर्थात् भेद मिटा नहीं सकती है इसलिए मोह होता है, वह पशु आदि में वैसे नहीं होता है; अतः मनुष्यों को होता है, इसलिए "नृणां" पद दिया है देवादिकों में वैसा होने पर भी, देव नहीं कहा जिसका कारण यह है, कि वे व्यवहार में यहाँ नहीं आते हैं, "एष" पद देकर सामने प्रत्यक्ष है, यह दिखाया है, मोह क्यों होता है, जिसका कारण बताते हैं; कि यह देव की ही माया है; जो मनुष्यों में मोह उत्पन्न करती है, यदि यह मोह, माया उत्पन्न करने वाली न होती तो श्रुति आदि प्रत्यक्ष इतने प्रमाण शास्त्रों के विद्यमान होते हुए, इस मोह की वृद्धि न होनी चाहिए, किन्तु वृद्धि होती ही रहती है, इससे यह माया ही मूल कारण है, एवं यह देवमाया मनुष्य पार नहीं कर सकता है क्योंकि दुस्तर है, जैसे मनुष्यों की माया को पशु पार नहीं कर सकते हैं इस कारण से 'देव' पद दिया है, सुतराम, पुरुषोत्तम की माया तो देवों को भी दुस्तर है, माया तीन गुणों वाली है इसलिए मोह भी तीन गुणों वाला हुआ है, जैसे कि सुहृत्, दुर्हृत् और उदासीन, उदासीन सात्विक है, सुहृत् राजस है,

और दुह्र्द् तामस है। माया से जब मोह पैदा होता है, तब सर्वत्र बिना किसी निमित्त के, जो ज्ञान होता है, वह व्यर्थ ही हो जाता है, इसलिए निमित्त बताते हैं, कि माया से, वा अन्य से जो देह को आत्मरूप मानते हैं, और उससे जब देह में आत्म बुद्धि दृढ़ हो जाती है, तब ये दोष उत्पन्न होते हैं, उससे उनके उपकार अथवा अपकार से अब अनुभव किया हुआ मोह उत्पन्न होता है इसलिए देह में जो आत्म भाव पैदा हुआ है उसको ही मुख्यतः मिटाना चाहिए ॥४३॥

आभास—ननु देहात्मभावाभावेऽपि कथमेतद्घटते । यावता परिच्छिन्न आत्मेति करणत्वेनापि स्वीक्रियमाणे देहे उदासीनादिभेदा भवन्त्येव । अतो देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं व्यर्थमिति चेत्, तत्राह एक एवेति ।

आभासार्थ—देह में आत्म भाव न हो, तो भी यह कहना कैसे घटित हो सकेगा, जब तक परिच्छिन्न आत्मा है, इसलिए करणपन से देह को स्वीकार किया जाए, तो भी उदासीन आदि भेद तो रहेंगे ही, अतः देह से पृथक् आत्म ज्ञान व्यर्थ है, यदि यों कहते हो, तो इसका समाधान यह है जो "एक एव" श्लोक में कहा जाता है ।

श्लोक— एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः ॥४४॥

श्लोकार्थ—सर्व देहधारियों की आत्मा एक ही है, वह 'पर', अर्थात् सबको नियम में रहने वालीं है, तो भी अज्ञानी उसको अनेक समझते हैं, जैसे एक चन्द्र को जल के हिलने से और आकाश को घट और मठ में होने से अनेक समझते हैं ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्वेषु देहेषु आत्मा एक एव, यतः परो नियन्ता, अन्यथा देहेन परिच्छिन्नः देहाधीनः स्यात् । अनुभूयते च देहे स्वातन्त्र्यम्, देहान्तरे स्वातन्त्र्याभावास्तु तत्रानुसन्धनाभावात् । एवमखण्डाद्वैतभाने सर्वत्रात्मबुद्धिः । अथवा । आत्मशब्देन भगवानुच्यते । तदाभासा एव जीवा इति पर एक एव । एतद्भगवति विद्यमाने निरूपणमसमञ्जसमिति विरम्यते । युक्तश्चायमर्थः । सर्वदेहेष्वेक एवात्मेति । यतोऽयमात्मा । अतति व्याप्नोतीति । अन्यथा आत्मत्वं भज्येत । अणुपरिमाणत्वे देहमपि न व्याप्येत । प्रकाशवत् गुणव्याप्तावपि चैतन्यलक्षणस्य गुणस्य सङ्कोचविकासावङ्गीकर्तव्यौ । तत्रापि नियामको देह एवेति धर्मिण एव नियामकोऽस्तु, किं धर्मनियामकत्वस्वीकारेण । यथेदं जगत् ब्रह्माण्डेनैकतामापद्यते, अन्यथा तस्यैकत्वनिर्देशो न स्यात्, तथा आत्मनिर्देशोऽपि । यथैकमेव सुवर्णं मृद्वा नानाप्रकारेण कृतिसमवेतं सद्भासते, एवमात्मापि

देहादिवैलक्षण्यात् देवतिर्यङ्मनुष्यादिभावमापद्यत इति न कोऽपि दोषः। सर्वेषामपि देहिनामिति। यतः सर्वेऽपि देहिनः, 'दिह उपचय' इति उपचयादिमन्तः। अतो वृद्धिह्रासावात्मनः परिच्छेदेनोपपद्येत इति व्यापकत्वे अङ्गीक्रियमाणे एकेनैव चरितार्थतेति नानात्वं व्यर्थम्। 'नानात्मानो व्यवस्थात' इति स्मृतिस्तु धर्ममर्यादार्थं नानात्मत्वं स्वीकर्तव्यमिति दोषगुणव्यवस्थया इव व्यवस्थानिरूपिका। यथा पञ्चमहाभूतानि। एकश्चात्मा सर्वसङ्घातेषु तुल्यः, तथापि कश्चिच्चाण्डालः, कश्चिद्ब्राह्मण इति धर्मव्यवहारार्थमेव विभागः कल्पितः। सामग्र्यामधर्मो धर्मो वा प्रविष्टः तथा सम्पादयतीत्यपि पक्षे धर्माधर्मयोरेव नियामकं वाक्यादतिरिक्तं विषये नास्तीति व्यवस्थार्थमेव तत्कल्पना वक्तुं युक्ता। उत्क्रमादयस्तु न्यायमतेऽपि न सन्ति। भगवन्मते तु भगवत इव तस्यापि गमनागमने संभविष्यतः। तत्रापिश्वरपदप्रयोगात्। 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर' इति वाक्याद्ब्रह्मवादेऽप्ययमेव सिद्धान्तः। तस्मात्सर्वत्रैक एवात्मेति युक्तम्। तर्हि कथं भेदप्रतीतिरिति चेत् तत्राह नानेव गृह्यते मूढैरिति। अत्यन्ताकुशलैर्नाना गृह्यते। तैरपि कश्चिन्नानात्वं नानुभूयते, पुत्रादिषु अवयवेषु च वैलक्षण्ये भासमानेऽपि। अन्यथैको देह इति न स्यात्। अत उक्तमिवेति। तत्र स्पष्टप्रतीत्यर्थं साकारनिराकारौ दृष्टान्तयति। यथा ज्योतिरिति साकारे। यथा नभ इति निराकारे। तार्णः पार्णः। घटाकाशो मठाकाश इति ॥४४॥

व्याख्यार्थ--सब देहों में आत्मा[1] एक ही है, क्योंकि वह 'पर' है अर्थात् नियन्ता है, यदि वैसे न हो देह से परिच्छिन्न हो, तो देह के आधीन बनजावे, देह में रहते हुए भी आत्मा स्वतन्त्र है, यह अनुभव किया जाता है, देहान्तर में स्वतन्त्रता का अभाव तो, वहाँ अनुसन्धान के अभाव से दीखता है, इस प्रकार जब अखण्ड अद्वैत का भान होता है, तब सर्वत्र आत्मबुद्धि होती है अथवा आत्म शब्द से भगवान् कहा जाता है, जीव उसके आभास ही हैं, 'पर' एक ही है, भगवान् के विद्यमान होते हुए इसका निरूपण करना युक्ति युक्त नहीं है, इसलिए, कहते नहीं, यह अर्थ योग्य है, कि सर्व देहों में जो आत्मा भगवान् है वह एक ही है क्योंकि वह आत्मा यानि व्यापक है, यदि सर्वत्र एक न होवे, तो आत्मापन नष्ट हो जावे। यदि आत्मा भगवान् को अणु-परिमाण माना जावे, तो देह में भी व्याप्त होकर न रह सके, प्रकाश की तरह गुणों की व्याप्ति होने पर, चैतन्य लक्षण वाले गुण का सिकुड़ना और बढ़ना अंगीकार करना चाहिए, उसमें भी नियामक देह ही है, इससिए धर्म्मी ही नियामक है, धर्म का नियामकपन स्वीकार करने से क्या फल होगा ? जैसे यह जगत् ब्रह्माण्ड पद से एक ही समझा जाता है, यदि एक न समझा जाए, तो उसका एकपने से निर्देश न होवे, वैसे

१—जीव व्यापक है यह स्मार्तवाद है उसको लेकर यहाँ कहा है, उपनिषद्-वाद के अनुसार जीव अणुवाद है वह यहाँ नहीं कहा है कारण कि रुक्मी असुर है वह उपनिषद्-वाद सुनने के योग्य नहीं है,

आत्मा का उपदेश भी समझना चाहिए। जैसे सुवर्ण अथवा मृत्तिका अनेक प्रकार की आकृति में होते हुए भी, एक ही दीखती है, इसी प्रकार आत्मा भी देह आदि की विलक्षणता से, देव, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भाव को ग्रहण करते हैं, यों होते हुए भी कोई आत्मा में दोष नहीं, सर्व देह धारी उपचय (वृद्धि, ह्रास) आदि वाले हैं, अतः वृद्धि वा ह्रास आत्मा में परिच्छेद से बनता है इसलिए आत्मा का व्यापकत्व मानने से एक से ही चरितार्थता हो जाती है जिससे नानापन मानना व्यर्थ है, "नानात्मा-नोव्यवस्थातः" यह स्मृतिवाक्य धर्म मर्यादा के लिए है, उसके लिए ही नानात्व स्वीकार करना चाहिए, जिससे लोक में गुण और दोष की व्यवस्था हो सके अतः इस तरह यह व्यवस्था का निरूपण करने वाली है. जैसे पंच महाभूत और एक आत्मा सब देहों में समान है, यों होते हुए भी, कोई चाण्डाल है, और कोई ब्राह्मण है, ये विभाग कर्म, धर्म के व्यवहार चलाने के लिए ही बनाए हैं, सामग्री अर्थात् वस्तुओं में अधर्म वा धर्म का प्रवेश हुआ है, इस प्रकार शास्त्र सम्पादन करता है, अतः अशुद्ध वा शुद्ध एवं इससे अपवित्रता पवित्र होगी, वा पाप पुण्य होगा इस विषय में व्यवस्था के लिए शास्त्र वाक्य के प्रमाण सिवाय अन्य कुछ नहीं है, इसलिए यह समस्त कल्पना व्यवस्था के लिए है, वह योग्य ही है उपक्रम आदि तो न्यायामत में भी नहीं है। भगवन्मत में तो भगवान् की तरह उसके भी गमन आगमन होंगे, क्योंकि वहां भी इसलिए ईश्वरपद का प्रयोग किया है, जैसे कि "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः" इस वाक्य से ब्रह्मवाद में भी यह ही सिद्धान्त है, इससे सर्वत्र एक ही आत्मा है यह मानना ही उचित है, यदि कहो कि जब सर्वत्र एक ही परमात्मा है तो फिर भेद की प्रतीति क्यों होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "नानेवगृह्यते मूढैः" जो निपट बे-समझ हैं वे एक को नाना की तरह देखते वा समझते हैं मूढ भी कहीं नानापन का (तरह २) का अनुभव नहीं करते हैं जैसे पुत्र आदि में और अवयवों में दीर्घ ह्रस्वादि विलक्षणता होते हुए भी उनको नाना नहीं समझते हैं यदि समझें तो देह एक नहीं कही जावे, अतः गोपा यों कहा है, वहाँ स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए साकार और निराकार के दो दृष्टान्त देते हैं—जैसे चन्द्र साकार है जिसकी जल में अनेक प्रतीति मात्र होती है तथा आकाश निराकार है जिसकी घट तथा मठ में भेद प्रतीति होती है जिससे कहा जाता है यह घटाकाश है यह मठाकाश है, इस प्रकार की भेद प्रतीति माया से मूढ बने हुए मनुष्यों को होती है, ज्ञानियों को तो सर्वत्र एक ही दीखता है ॥४४॥

आभास—ननु तर्हि देहात्मबुद्धिः कथं गच्छतीत्याशङ्क्य वैलक्षण्यानुसन्धानेनेति आत्म वैलक्षण्यं देहस्य वदन् अपकारित्वमप्याह देह आद्यन्तवानेष इति।

आभासार्थ—तब देह में जो आत्म बुद्धि हुई है वह कैसे नष्ट होगी ? जिसका उत्तर "देह आद्यन्तवान्" श्लोक में देते हुए कहते हैं कि देह और आत्मा में विलक्षणता का अनुसन्धान करने से और देह का अपकारीपन भी इसमें बताते हैं।

श्लोक—देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः।
आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—द्रव्य, प्राण, और गुण स्वरूप यह देह आदि अन्त वाली है, अविद्या से आत्मा में उसकी कल्पना की गई है, जिससे वह देह, जीव को संसार में पटके हुए है। ४५॥

सुबोधिनी—आत्मा नित्यः। यो हि देशापरिच्छिन्नः, स सुतरां कालपरिच्छिन्नः,देशापरिच्छेदस्य व्यापकत्वात्। अत आत्मत्वादेव कालापरिच्छेदः सिद्धः। देहस्तु आद्यन्तवानुभयावधियुक्तः, प्रागभावप्रध्वंसाविव व्यावर्तितौ। एष इति परिदृश्यमानः, मृतानामेन्तः मुण्डस्योत्पत्तिरिति प्रदर्शनस्य सार्थकता। अथवा। विद्यमानस्य देहस्य जन्ममरणयोरदृष्टत्वात् स्वव्यतिरिक्तस्यैव प्रत्यक्षसंवादात् श्रुतेः प्रामाण्यं मन्यते यस्तं प्रत्याह एष इति। एवं सदातनत्वासदातनत्वाभ्यां वैलक्षण्यमुक्त्वा गुणातीतत्वसगुणत्वाभ्यां वलक्षण्यमाह द्रव्येति। द्रव्यमधिभूतम्, प्राणा आध्यात्मिकाः, गुणा आधिदैविका इति। एत एव देहेन्द्रियदेवतारूपाः, आत्मा स्वरूपं यस्य। किञ्च। आत्मन्यविद्यया क्लृप्त इति। वैलक्षण्यत्रयम्। आत्मा आधारः। आधेयो देहः, सिद्ध आत्मा, स्वतः क्लृप्तो देहः, (विद्यया) अविद्यया चात्मस्थाने कृतः। आत्मा तु स्वत एव प्रवृत्त इति। अनिष्टेष्टजनकत्ववैलक्षण्यमप्याह संसारयति देहिनमिति। स्वस्मिन्नभिमानमात्रे आत्मानं देहः संसारे पातयति। आत्मा तु देहस्य हितमेव वाञ्छतीति। एवं षोढा वैलक्षण्यं निरूपितम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्म नित्य है, जो देश से अपरिच्छिन्न है, वह व्यापक होता है जिससे वह काल से भी अपरिच्छिन्न है, अतः आत्मपन से ही काल से अपरिच्छेद सिद्ध है देह तो आदि और अन्त वाली होने से देश और काल दोनों की अवधियुक्त है अतः देशकाल परिच्छिन्न है, 'प्राग' भाव और 'प्रध्वंसाभाव' की तरह दोनों का निवारण किया "एष" पद का भाव है कि जो सामने दीख रहा है, मर गए हुए देहों का अन्त दीखता है और अवयव रहित देह की गर्भपात होने पर उत्पत्ति दीखती है इसलिए देह सदैव अवयव वाला नहीं है, अतः प्रदर्शन कहने की सार्थकता होती है, अथवा विद्यमान देह के जन्म मरण का अदृष्टपन होने से अपने से पृथक् के ही प्रत्यक्ष संवाद से जो श्रुति का प्रमाण मानते हैं उनको कहता है कि "एष" सामने दीखने वाला सदैव अथवा स्वल्प काल रहने से दोनों में विलक्षणता बताकर अब सगुण और निर्गुण से विलक्षणता कहते हैं द्रव्य अधिभूत, प्राण आध्यात्मिक और गुण आधिदैविक, ये ही देह और इन्द्रियों के देवता रूप हो स्वरूप जिसके हैं, किञ्च आत्मा में अविद्या से कल्पित है, इस प्रकार तीन विलक्षणताएं है, आत्मा आधार है, देह आधेय है, आत्मा सिद्ध है, देह स्वतः कल्पित है जिसको अविद्या से आत्मा में कल्पना की गई है परमात्मा तो स्वतः ही प्रवृत्त हुए हैं, अनिष्ट और इष्ट करने से भी विलक्षणता बताते हैं, अपने में केवल अभिमान

के कारण देह, आत्मा को, संसार में पटकती है और आत्मा तो देह का हित ही चाहती है, इस प्रकार देह और आत्मा में छ प्रकार से विलक्षणता बताई है इस विलक्षणता के अनुसन्धान करने से देह में हुई आत्म बुद्धि नष्ट हो जाती है ।।४५।।

आभास—किञ्च । 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' इति श्रुत्या आत्मनः सङ्गाभावो निरूप्यते । देहस्तु सर्वसङ्गयुक्त इति वैलक्षण्यं निरूपयितुं आत्मन एव धर्मानाह नात्मन इति ।

व्याख्यार्थ—"असंगो ह्ययं पुरुषः" इस श्रुति के अनुसार आत्मा असंग है यह निरूपण हुआ है, देह तो सर्व संग से युक्त है इस विलक्षणता को कहने के लिए आत्मा के ही धर्म "नात्मनः" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगो वासता सति ।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धे र्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ।।४६।।

श्लोकार्थ—हे सती ! कारण रूप आत्मा के, न तो दूसरे देह आदि के साथ संयोग है और न वियोग है, क्योंकि अध्यात्म अधिभूत और अधिदैवत ये आत्मा के कार्य हैं और आत्मा ही से प्रकाशित होते हैं, जिससे आत्मा से भिन्न नहीं हैं, जुदे होने के सिवाय संयोग वियोग हो नहीं सकते हैं, जैसे चक्षु इन्द्रिय और रूप का प्रकाशक सूर्य है ये दोनों तेजस् हैं जिससे ये सूर्य के कार्य हैं और सूर्य कारण है इससे सूर्य से भिन्न नहीं है ।।४६।।

सुबोधिनी—अस्यात्मनः अन्येन देहेन संयोगो वा वियोगो वा नास्ति । वियोगो हि संयोगपूर्वक इति संयोगे निषिद्धे अवयवभेदेन संयोगाभावः । संयोगोऽपि तिष्ठत इति सिद्धसाधनतामाशङ्क्य उभयं निषेधति, संयोगोऽपि नास्ति । कदाचित्संयोगोऽपि निषिद्धो वियोगेन । ननु संयोगवियोगयोः भावाभावरूपत्वे कथमुभयाभावः, प्राप्तस्यैव नानिषेध इति न नियमः, सम्भावितस्यापि निषेधात्, तत्राह असतेति । असता देहेन आत्मनो न संयोगवियोगौ, यथा रज्जुसर्पयोः । न हि सर्पस्य कोऽप्यंशो रज्जौ भवति । ननु प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां देहस्य परिदृष्टत्वात् अनुमानप्रत्यक्षश्रुतिभिः आत्मनोऽपि प्रतीतेः वैलक्षण्यस्य चोक्तत्वात् वियोग एवास्तु, कथमुभयाभाव इति चेत् । ननूक्तमसत्वादिति तदेव प्रमाणसिद्धत्वान्न भविष्यतीत्याशङ्का, तत्र हेतु-

माह तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेरिति । तस्य देहस्य प्रसिद्धेः उत्पत्तेर्ज्ञप्तेर्वा । आत्महेतुत्वादात्मभासैव देहो भासत इति पृथक् स्थित्यभावात् संयोग-वियोगौ न भवतः । पृथक्लब्धसत्ताकावेव संयुक्तौ वियुक्तौ वा भवत इति लोकस्थितिः । अत एवोत्पत्तौ यद्यदधीनम्, तत्र न संयोगः सम्बन्धः । यथा द्रव्यगुणयोः, यथा वा ज्ञप्तौ ज्ञानविषययोः, तथापि उभयोः सत्त्वात्समवायः स्तरूपं वा सम्बन्धोऽङ्गीकृतः । अत्र देहस्यासत्त्वात् अन्यतरस्य निःस्वभावत्वात् रज्जुसर्पवत् न स्वरूपसम्बन्धः । समवायोऽपि निराकरिष्यते । सर्वथापि संयोग-वियोगौ तु न भवतः । प्रकाश्यप्रकाशकयोः सम्बन्धाभावाय दृष्टान्तमाह दृग्रूपाभ्यामिति । नेत्राधिष्ठात्री देवता यः सूर्यः तेन लब्धसत्ताकं चक्षुः विषयं गृह्णाति । न हि तेनापि तयोः संयोगवियोगौ भवतः । एतस्यार्थस्य परिज्ञान-मधिकारिण एव भवतीति । न हि प्रतिबिम्बेन सह दर्पणेन वा मुखस्य कोऽपि सम्बन्धोऽस्ति । सतीति सम्बोधनं उक्तविश्वासाय । अनेन देहादिष्वनासक्त्यर्थं वैराग्यमपि सूचितम् । स्वासक्त्यै तत्सिद्धिः, अन्यथा तदभाव इति ॥४६॥

व्याख्यार्थ—इस आत्मा का देह से संयोग वा वियोग नहीं[1] है, पहले संयोग हो तो अनन्तर वियोग होवे इसलिए संयोग का निषेध किया, क्योंकि अवयव भेद से संयोग का अभाव है, संयोग भी स्थित होनेवाले का होता है, इसलिए सिद्ध की साधनता से शंका कर दोनों का निषेध करते हैं, संयोग भी नहीं है और वियोग भी नहीं है कदाचित् संयोग भी वियोग से निषिद्ध किया है, जब संयोग भावरूप है और वियोग अभावरूप है तब दोनों का अभाव कैसे बन सकेगा ? प्राप्त का अनिषेध नहीं, वैसा नियम नहीं है, हो सकने हारी बात के भी निषेध से भी इस पर कहते हैं कि,देह असत् है इसलिए वैसी देह से सत् आत्मा का संयोग वियोग नहीं हो सकता है, जैसे रज्जु और सर्प का संयोग वियोग नहीं हो सकता है सर्प का कोई भी अंश रज्जु में नहीं होता है, यदि कहो कि प्रत्यक्ष और श्रुति से देह को देखने से तथा अनुमान प्रत्यक्ष तथा श्रुति में आत्मा की भी प्रतीति होने से, एवं दोनों में विलक्षणता भी कही है जिससे जब वियोग ही है, तब दोनों का अभाव कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि पहले ही कह दिया है, कि देह आदि असत् होने से और वह असत् प्रमाण सिद्ध है, जिससे ऐसी शंका बन नहीं सकती है, उसमें हेतु कहते हैं कि "तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेः" उस देह की उत्पत्ति और ज्ञान प्रसिद्ध हो रहा है, यों होने में आत्मा ही कारण है, आत्मा के प्रकाश से ही देह भास रहा है, इससे उसकी पृथक् स्थिति नहीं है, जिससे संयोग वियोग नहीं बनते हैं, जिनकी सत्ता पृथक् हो, उन में ही संयोग और वियोग बन सकते हैं, इस प्रकार लोक की स्थिति है, इस कारण से ही जो जो उत्पत्ति के आधीन है वहाँ संयोग सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे द्रव्य और गुण में और ज्ञान होने में,

१—वह अभ्युदसिद्धान्त मायावाद है, जिसका उपदेश बलरामजी ने असुर रुक्मी के कारण किया है, पुराणों में इस प्रकार मायिक सिद्धान्त कहा है वह वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए कहा है ।

ज्ञान तथा विषय का संयोग नहीं हो सकता है, तो भी दोनों के होने से समवाय और स्वरूप सम्वन्ध माना गया है, यहां देह के असत् होने से, दूसरे के स्वभाव-रहित होने से रज्जु और सर्प की भाँति स्वरूप सम्बन्ध नहीं है समवाय का भी निराकरण होगा, सर्व प्रकार संयोग और वियोग तो नहीं होते हैं, प्रकाश्य और प्रकाशक के सम्बन्ध का अभाव ही है इसमें दृष्टान्त देते हैं "दृगपाभ्यां" नेत्र का अधिष्ठाता देव सूर्य है, उससे नेत्र सत्ता प्राप्त कर विषय को ग्रहण करते हैं, सूर्य से उन नेत्रों का संयोग वियोग नहीं होता है, इस सदर्थ का पूर्णज्ञान अधिकारी को ही होता है मुख का दर्पण वा प्रतिबिम्ब से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, रुक्मिणीजी को हे सति यह विशेषण इसलिए दिया है कि तू मेरे कहने पर विश्वास करेगी, क्योंकि तू पतिव्रता है, इस प्रकार के उपदेश से आदि में आसक्ति न होवे और वैराग्य भी होवे. ऐसी सूचना दी है अपनी आत्मा में आसक्ति से ही देहादि में अनासक्ति तथा संसार से वैराग्य की सिद्धि होती है, जो वह नहीं है, तो देहादि में अनासक्ति और वैराग्य का भी अभाव है ॥४६॥

आभास—ननु जननादयो हि प्रत्यक्षानुमानश्रुतिभिर्जीवस्य प्रतीयन्ते ततश्च सङ्घातस्यैव तथात्वात् देहस्यासत्यत्वे आत्मन एव भविष्यन्तीति संयोगे निराक्रियमाणे असत्त्वहेतुना विपरीतमापतितम्; सर्वे दोषा आत्मन्येव समागता इति चेत्, तत्राह जन्मादयस्त्विति ।

आभासार्थ—प्रत्यक्ष अनुमान और श्रुति से जन्म आदि जीव के ही प्रतीत होते हैं, उससे संघात की भी वैसी प्रतीति होती है; यदि देह को असत् कहोगे तो आत्मा को ही कहोगे, इसलिए संयोग के निराकरण से, असत्व, हेतु से विपरीत ही होगा, अर्थात् सर्व दोष आत्मा में ही आ गए यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर "जन्मादय" श्लोक देखिए ।

श्लोक—जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् ।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥४७॥

श्लोकार्थ—जन्म आदि विकार देह के हैं, आत्मा के कभी नहीं, जैसे चन्द्रमा में जो वृद्धि क्षय दीखता है वह कलाओं का है चन्द्रमा का नहीं है, अमावस्या में जो तिरोभाव होता है, वह कला का है किन्तु अज्ञ चन्द्रमा का समझते हैं वैसे ही देह के तिरोभाव से आत्मा का नाश जानते हैं ॥४७॥

सुबोधिनी – तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। जननादयः देहस्यैव। येन प्रकारेण देहस्य सिद्धिः, तेनैव प्रकारेण जन्मादीनाम्। तेषां च देहसम्बन्धित्वस्य च तत एव सिद्धेः। अत उभयोरसत्त्वात् जन्मादयोऽपि देहस्यैव। योग्यं योग्येन संबध्यत इति। सर्पश्चलतीति समायाति भक्षयतीति च यथा सर्पधर्मा एव, एवं जन्मादयोऽपि देहधर्माः, यतो विक्रिया। नह्यात्मनः सर्वविक्रियारहितस्य विक्रियाः सन्ति। क्वचिदिति। ज्ञानानन्तरं न सन्तीति इष्टमेवेति पक्षं व्यावर्तयति। न हि नायं सर्प इति बोधानन्तरमेव सर्पाभावः। किन्तु प्रतीतदशायामपि। तत्र ज्योतिः शास्त्रसिद्धं दृष्टान्तमाह कलानामिवेति। इन्दोः कलानां पञ्चदशसङ्ख्याकानां एकेन दिनेन एकस्या नाशः नतु चन्द्रस्य। स हि अम्मयः, सूर्यकिरणास्तत्र प्रतिबिम्बन्ते, अपगच्छन्ति चेति कालविदः। ननु सर्वोऽपि चन्द्रः अमावास्यायां क्षीयत इति नवो नवो भवति जायमान इति च कथं कलानां क्षय इति चेत्, तत्राह। अस्य जीवस्य चन्द्रस्य च कुहूरेव मृतिः। ननु कुह्वां तस्यादर्शनकृतमपि मरणम्, तथास्य काल एव मृतिः। स च कालः कदाचित्तं प्रकाशयति देहसम्बन्धेनोद्भावेनापि, कदाचिन्नेति तस्योत्क्रान्त्यादयो निरूप्यन्ते। ननु वस्तुतस्तस्य मरणम्। मरणे उभयोर्वियोगाद्देहस्य च पृथक् स्थितत्वात् पृथङ्निराकरणप्रयासः ॥४७॥

व्याख्यार्थ – "तु" शब्द दूसरा पक्ष बतलाता है. जन्म मरण आदि देह के ही हैं, जिस प्रकार देह की सिद्धि होती है वैसे ही जन्म आदि की भी होती है उनका देह से सम्बन्धिपन होने से ही सिद्धि है अतः दोनों के असत् होने से जन्म आदि भी देह के ही हैं, योग्य को योग्य से ही सम्बन्धित किया जाता है. सर्प चलता है अर्थात् जाता है और काटता है ये सब जैसे सर्प के ही धर्म हैं. वैसे जन्म आदि भी देह के ही धर्म हैं, क्योंकि विकार वाले हैं, वैसे विकार वाले धर्म, विकार रहित आत्मा के धर्म कभी नहीं होते हैं "क्वचित्" पद का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं, कि ज्ञान के बाद ये नहीं है, यों इष्ट ही है इस पक्ष को बदलता है यह सर्प नहीं है इस प्रकार ज्ञान होने के बाद ही सर्प का अभाव होगा, किन्तु प्रतीत दशा में भी, इसमें ज्योतिष शास्त्र सिद्ध दृष्टान्त कहते हैं, "कलानामिव" चन्द्रमा की पन्द्रह कला हैं प्रति दिन एक कला का तिरोधान होता है, न कि चन्द्रमा का, वह तो जलमय है, सूर्य की किरणों का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वे किरणें कम होती हैं यों काल को जानने वाले कहते हैं। आप यों कैसे कहते हो कि चन्द्रमा नाश नहीं होता है अमावस्या को सारा चन्द्रमा नाश हो जाता है, फिर वह नवीन होकर उत्पन्न होता है, इस प्रकार होता है फिर आप कैसे कहते हो कि कलाओं का क्षय होता है ? ऐसा कहो, तो उसका उत्तर देते हैं, इस जीव की और चन्द्रमा की अमावस्या ही मृत्यु है, अमावास्या में उसका दर्शन न होना कोई मृत्यु नहीं है. उसकी हो मृत्यु है. वह काल कभी उसको प्रकाशित करता है और कभी बड़ा और कभी छोटा कई भेद करता है, तथा कभी नहीं, इस प्रकार उसकी उत्क्रान्ति आदि का निरूपण किया जाता है. न कि वास्तविक उसका मरण है, मरण में दोनों का वियोग होता है और देह तो पृथक् स्थित होने से पृथक् के निराकरण के लिए यह प्रयास है ॥४७॥

आभास—ननु मिथ्याभूतेन सह कदाचित्सम्बन्धो भवति । यथा रज्जुसर्पेण, देहेन तु सम्बन्धः आभूतसंप्लवमिति दृष्टान्तवैषम्यात् देहस्य सत्यत्वं आत्मनो वा सम्बन्धित्वं भवत्विति चेत्, तत्राह यथा शयान इति ।

आभासार्थ—मिथ्या पदार्थ से सम्बन्ध तो किसी समय होता है, जैसे रज्जु का सर्प से, आत्मा का तो देह से पूर्व से ही सम्बन्ध चला आ रहा है इसलिए विषम दृष्टान्त होने से देह सत्य होनी चाहिए और उससे आत्मा का सम्बन्ध भी मानना चाहिए, यदि यों कहते हो तो इस का उत्तर "यथा शयान" श्लोक है ।

श्लोक—यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च ।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो भवम् ॥४८॥

श्लोकार्थ-जैसे सोया हुआ पुरुष, पदार्थ आदि नहीं होते हुए भी भोक्ता बनता है और विषयों का फल सुख भी लेता है, वैसे ही अज्ञान दशा में यह अज्ञ संसार को प्राप्त करता है ॥४८॥

सुबोधिनी—न हि कदाचिदेव भवति यत्तदेव मिथ्या भवतीति नियमोऽस्ति कश्चित्, अपि तु सर्वदैव दृश्यमानमप्यसद्भवति । यथा यदैव शेते, तदैव असत्यप्यर्थे आत्मानं देहं विषयान् स्रक्चन्दनादीन् फलं सुखं चानुभवति। न चैतावता तेषां सत्यता भवति । 'मायामात्र' मिति सूत्रे तथा निर्णयात् । तथैव अबुधः शयान इव भवं संसारं प्राप्नोति, निद्रावदज्ञानमित्यर्थः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—जो किसी समय हो, वह मिथ्या है ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु सर्वदा ही देखने में आने वाला भी असत् होता है, जैसे जब ही शयन करता है तब ही पदार्थ न होते हुए भी, माला चन्दन आदि विषयों के सुख और फल का अनुभव करता है यों होने से वे सत्य नहीं हो जाते हैं "मायामात्रम्" इस सूत्र में निर्णय किया है कि वह केवल माया है वैसे ही अज्ञानी सोए हुए की तरह संसार को प्राप्त होता है निद्रा की तरह अज्ञान है, इस प्रकार अर्थ है ॥४८॥

आभास—अतो अज्ञानेनैव देहप्रतीतेः देहस्य च मिथ्यात्वात् देहसम्बन्ध एव आत्मनः परिच्छेदप्रतीतिः, परिच्छेदे एव च शत्रुमित्रादिप्रतीतिरिति, परम्पराया अज्ञानमेव मूलमिति तत्त्वज्ञानेन तन्निराकरणं कर्तव्यमित्याह तस्मादिति :—

आभासार्थ - अतः अज्ञान से ही देह की प्रतीति हो रही है, देह का सम्बन्ध ही आत्मा के परिच्छेद को प्रतीति कराता है, परिच्छेद के कारण ही शत्रु तथा मित्र आदि की प्रतीति हो रही है, यों होने की जड़, परम्परा का अज्ञान है, इसलिए इस अज्ञान का तत्वज्ञान से निराकरण करना चाहिए जिसको "तस्मादिति" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ।
तत्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे पवित्र मन्द हासवाली ! इस कारण से अज्ञान से उत्पन्न आत्मा को शोष और मोह देने वाले शोक को तत्व ज्ञान से त्याग कर शान्त हो ॥४६॥

सुबोधिनी शोकस्तु विषमबुद्धिजन्य इति अज्ञानकृत एव। शोकस्य परित्यागाय दोषद्वयमाह। आत्मनोऽन्तःकरणस्य शोषो विमोहनं च यस्मादिति। ततः अत्यपकारित्वात्तदज्ञानं तत्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भवेत्युपदेशः, प्रार्थना वा। शुचिस्मित इति। सहज एव तव प्रसाद इति कृत्रिमनिराकरणं नात्यन्तं क्लेशेन कर्तव्यमिति सूचितम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—विषम बुद्धि से शोक उत्पन्न होता है, इसलिए वह अज्ञानकृत ही है, शोक को क्यों छोड़ा जाय ? उसका उत्तर है, कि शोक से दो प्रकार की हानि होती है एक-अन्तःकरण का सूखना वा क्षय तथा भ्रम में पड़ना बहुत अपकारी होने से, इस अज्ञान को तत्वज्ञान से मिटाकर शान्त हो, इस प्रकार उपदेश वा प्रार्थना की गई है, "शुचिस्मिते" आप पवित्र सुन्दर हास वाली होने से, आपका सहज ही अनुग्रह है, इस प्रकार इस कृत्रिम अज्ञान का निराकरण अत्यन्त क्लेश से नहीं करना चाहिए, यों भी सूचित किया ॥४६॥

आभास—एवमुपदिष्टज्ञानं भगवत्सान्निध्यात्फलितमित्याह एवं भगवतेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपदेश किया हुआ ज्ञान, भगवत्सन्निधि होने से सफल हुआ, जिसका वर्णन "एवं भगवता" श्लोक से श्री शुकदेव जी कहते हैं।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता ।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्धया समादधे ॥५०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि भगवान् राम ने जब रुक्मिणी को इस प्रकार समझाया तब रुक्मिणी ने मन-मुटाव त्यागकर विक्षेपवाले मन को ज्ञान से स्थिर कर लिया

सुबोधिनी—ननु भगवत्सिद्धान्तं परित्यज्य ज्ञानसिद्धान्तः किमिति बोधितः, तत्राह तन्वीति । भगवानिति च । न हि भगवान् विरुद्धे स्वसिद्धान्तं कथयति । मुक्तानामेव तत्राधिकारात् । इयं च तन्वी विषयपरा । रामश्च साधनपरः । अतो हेतुत्रयस्यापि तथात्वात् ज्ञानेनैव प्रतिबोधिता । ज्ञानस्य च प्रयोजनं तस्यां वैमनस्यपरित्यागमात्रं जातम्, भगवति या दोषबुद्धिः स्थिता, सा गता । ततः विक्षिप्तं मनः बुद्ध्या समाहितमपि कृतवती । एको भगवद्विषयको दोषः । अपरो विक्षेपेण तस्या एव दुःखदः । उभयनिवृत्तिर्ज्ञानफलम् ॥५०॥

व्याख्यार्थ—भगवदीय सिद्धान्त को छोड़, ज्ञान सिद्धान्त का ज्ञान राम ने क्यों दिया ? जिसके उत्तर में कहा है, कि यह तन्वी है अर्थात् विषय परायण है और राम साधन परायण हैं । जो भगवान् के परायण न हो कर, विषय परायण होता है, उसको भगवान् अपना सिद्धान्त नहीं कहते हैं, क्योंकि उस सिद्धान्त के अधिकारी मुक्त ही हैं, अतः इन तीन कारणों से, इसको ज्ञान से ही समझाया है, ज्ञान का प्रयोजन व फल उसका मन मुटाव मिट जाना हुआ, और भगवान् में जो दोष बुद्धि थी वह भी नष्ट हुई, पश्चात् विक्षेप वाले मन को, ज्ञान से शुद्ध किया अर्थात् विक्षेप आदि नष्ट हो गए उसको भगवान् में जो दोष बुद्धि थी वह और दूसरा विक्षेप, ये दो ही दुःख देने वाले थे, उन दोनों की निवृत्ति ज्ञान का फल है ॥५०॥

आभास—एवं रुक्मिण्याः समाधानमुक्त्वा रुक्मिणः परित्याग एव उभयेषां सुखदो भवतीति तत्परित्यागमाह प्राणावशेष इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी का समाधान कह कर अब रुक्मी का त्याग ही दोनों के लिए सुखकारी है, इसलिए "प्राणावशेष" श्लोक से उसके परित्याग को कहते हैं ।

श्लोक—प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः ।
स्मरन्विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः ॥५१॥

श्लोकार्थ—जिसकी सेना और प्रभाव को शत्रुओं ने नाश कर दिया है वैसा रुक्मी वहाँ से प्राण बचाकर आया है उसको तो वह भूल गया है किन्तु आपने जो विरूप किया है वह उसको याद कर रहा है, और अपनी प्रतिज्ञा को विफल समझ रहा है ॥५१॥

सुबोधिनी—बलभद्रेण मोचनेऽप्यसहायात् अन्येन मारणं संभवतीति द्विड्भिरुत्सृष्ट उक्तः । हतं बलं प्रभा च यस्य । द्विड्भिरेव । तस्यान्यद्विस्मृतम्, विरूपकरणं तु स्मरति । जातेऽपि

विरूपे यदि स्वाभिलषितः कश्चित्सिध्येत्, तदा न तथा खिन्नो भवेत् । किन्तु वितथः आत्मनो मनोरथो यस्य । तथापि स्वप्रतिज्ञां नान्यथा कृतवान् । भगवता हि तस्य भगिनी परिगृहीतेति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—बलरामजी इसको छोड़ देने को तो कहते हैं, किन्तु अकेला होगा कोई इसका सहायक न होगा, तो दूसरे इसको मार डालेंगे ? इस शंका का निवारण करते हैं, कि शत्रुओं ने इसकी सेना और प्रभाव को नष्ट करने के बाद इसको छोड़ दिया है, जिससे इसको अन्य मारेंगे यह भय नहीं रहा है, इसने और सब भुला दिया है किन्तु विरूप होना तो अब तक स्मरण कर रहा है, जिससे खेद युक्त है, यदि विरूप होने पर कार्य सिद्ध हो जाता तो खिन्न न होता किन्तु अब तो जिस कार्य के लिए आया था वह भी जिसका सिद्ध न हुआ अतः अपनी प्रतिज्ञा को त्यागा नहीं है भगवान् ने इसकी बहिन का हरण किया है जिसको वह भगवान् से छुड़ा नहीं सकता है अतः स्वदेश कुण्डिनपुर को लौटना इसके लिए अशक्य हो रहा है ॥५१॥

आभास—अत एव कुण्डिनपुरं परित्यज्य अन्यत्रैव स्थित इत्याह अहत्वेति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही कुण्डिनपुर न जाकर दूसरे स्थान पर स्थित हुआ, जिसका वर्णन "अहत्वा" श्लोक में किया हुआ है ।

श्लोक—अहत्वा दुर्मतिः कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम् ।
चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत्पुरम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद्रुषा ॥५२॥

श्लोकार्थ—उसकी प्रतिज्ञा थी कृष्ण को मारे बिना और छोटी बहिन को लाए बिना कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा, यह पूर्ण न होने पर भोजकट महान् नगर बनवाकर क्रोध से पूर्ण रुक्म वहां रहने लगा ॥५२॥

सुबोधिनी—यतोऽयं दुर्मतिः, अतस्तत्रैवावसत्, यत्र मुण्डितः । भोजा हि मृतकर्पटग्राहकाः । जात्यपकर्षे भोजाद्यवन इति यवनात्पूर्वं निरूपितः । तस्य कट इति मरणपर्यन्तं तत्रैव स्थास्यामीति तस्य ग्रामस्य नाम भोजकटमिति कृतवान् । यद्यपि न कोऽपि पुरुषार्थः नह्यसत्प्रतिज्ञाया अपालने कश्चन दोषोऽस्ति, तथापि भ्रातृत्वाद्रोषेण तत्रैव स्थितः ॥५२॥

व्याख्यार्थ—वह वहाँ ही रहने लगा, जहाँ मुण्डन हुआ और भोजकट नगर बसाया था क्योंकि दुर्मति है, भोज जाती वह है, जो मृतकों के कपड़े लेते हैं जाति का अपकर्ष दिखाने के लिए यवन से पहले कहा है, कि भोज से यवन हुए हैं, मरण पर्यन्त यहां रहूँगा, इसलिए इस नगर का नाम भोज कट धरा है हालांकि, यों करने से कोई पुरुषार्थ नहीं है, तथा झूठी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करने में कोई दोष नहीं है, तो भी भाईपने से क्रोध आने से वहाँ ही रह गया ॥५२॥

आभास—ततो भगवतः कृत्यमाह भगवानिति ।

आभासार्थ—इसके बाद भगवान् ने जो किया वह "भगवान् भीष्मक" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—भगवान्भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान् ।
पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे कुरूद्वह ! भगवान् ने इस प्रकार राजाओं को जीत कर भीष्मक की कन्या को अपने पुर में लाकर विधि पूर्वक उससे विवाह किया ॥५३

सुबोधिनी—यदा सर्वथा निर्दुष्टा सर्वैस्त्यक्तममत्वा, तदापि भगवान् वीर्यशुल्केन विवाहं कर्तुम्, एवं प्रकारेण भूमिपान् निर्जित्य, गान्धर्वन्यायेन तामगृहीत्वा, उपनयनवत् विवाहस्यापि संस्कारत्वात् सर्वसम्मत्यर्थं स्वपुरीमानीय उपयेमे, विधानपूर्वकं विवाहं कृतवान् । क्षत्रियाः प्रायेणैवं न कुर्वन्तीति भगवानपि न कृतवानेव । किन्तु सद्बुद्ध्यर्थं वदतीति शङ्का स्यात्, तत्परिहरति संबोधनेन कुरूद्वहेति ॥५३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने देखा कि यह सर्व प्रकार से निर्दोष है और मुझे ही वरण करना चाहती है, राजा लोग यों करना नहीं चाहते हैं, तब अपना वीर्य (पराक्रम) रूप शुल्क देकर विवाह करना योग्य समझ, आए हुए भूपतियों को जीत लिया और रुक्मिणी को ग्रहण किया किन्तु, गन्धर्व नीति से उसको ग्रहण न कर जैसे बालक का द्विजत्व सिद्ध के लिए यज्ञोपवीत संस्कार है, वैसे ही कन्या के लिए विवाह संस्कार है, अतः सर्व सम्मति से अपनी पुरी में लाकर विधि पूर्वक विवाह किया, क्षत्रिय तो बहुत करके यों नहीं करते हैं, भगवान् ने भी नहीं किया है, केवल सद्-बुद्धि के लिए कहा है, इस प्रकार की शंका मिटाने के लिए राजा को "कुरूद्वह" विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आप कुरु कुल में उत्पन्न हुए हो अतः विश्वास करो कि भगवान् ने विधिवत् विवाह किया है ॥५३॥

आभास—सर्वेषां सम्मत्या विवाहः कृत इत्यत्र निदर्शनार्थं महोत्सवमाह तदा महोत्सव इति ।

आभासार्थ—सर्व सम्मति से जो विवाह किया उसके प्रदर्शन के लिए "तदा महोत्सवो" श्लोक में यहां वह वर्णन करते है ।

श्लोक—तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे ।
अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप ॥५४॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! यादवों के पति कृष्ण में, अनन्य भाव वाले, मनुष्यों के हरेक घर में उस समय यदुपुरी में महान् उत्सव हुआ ॥५४॥

सुबोधिनी—नृणामिति न केवलं बन्धूनाम्, अपि तु सर्वेषामेवेत्याह । यदुपुर्यां द्वारकायाम्, तत्र न कोऽपि विसम्मत इत्यर्थः । यादवानामपि वैमनस्यं परस्परं संभवतीति तदर्थमाह अनन्यभावानामिति । ननु यादवा उद्धताः, कथमनन्यभावा जाता इत्याशङ्क्याह कृष्णे यदुपताविति । यदा यादवानां भगवान्पतिर्जातः, तदा ते तथा जाता इत्यर्थः । नृपेति सम्बोधनं विश्वासार्थम् । यथा भवान् जात इति ॥५४॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में "नृणां" पद का भाव यह है, कि केवल बान्धवों के घरों में उत्सव नहीं हुआ, किन्तु समस्त जनता के घरों में महान् उत्सव हुआ, इसलिए उसको पुष्ट करने के लिए "यदुपुर्यां" पद दिया है अर्थात् सारी यदुपुरी में महान् उत्सव हुआ, तात्पर्य है कि सारी नगरी में कोई भी उत्सव के विपरीत नहीं था, यह कैसे सम्भव है, जब कि यादवों का परस्पर वैमनस्य होना सम्भव है, इसके उत्तर में कहते हैं, कि परस्पर वैमनस्य भले हो, किन्तु उन सब का कृष्ण में अनन्य भाव था क्योंकि श्रीकृष्ण यादवों के पति हैं, हालांकि, यादव स्वभाव से उद्धत होते हैं, तो भी अपने पति होने से श्रीकृष्ण में अनन्य भाव वाले हैं जब भगवान् यादवों के पति हुए तब वे वैसे अर्थात् अनन्यभाव वाले बने, नृपः यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है, जैसे आप हुए हैं ॥५४॥

आभास—भगवता पारिबर्हमस्मिन्विवाहे न प्राप्तमिति, तदभावे विवाहशोभा च न तथेति तदर्थमाह नरा नार्यः प्रमुदिता इति ।

आभासार्थ - प्रत्येक विवाह में वर को दहेज मिलता है यहाँ तो भगवान् को दहेज न मिलने से विवाह में शोभा न हुई होगी ? इसके उत्तर में यह श्लोक "नरा नार्यः" कहते हैं जिसने विवाह की शोभा विशेष हुई ।

श्लोक—नरा नार्यः प्रमुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ।
पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः ॥५५॥

श्लोकार्थ—नगरी के नर तथा नारियों ने प्रसन्न होकर और उज्ज्वल मणियों के कुण्डलों को धारण कर, सुन्दर वस्त्रादि से अलंकृत कर बधु के लिए अनेक उपहार दिए ॥५५॥

सुबोधिनी—स्वयमलङ्कृताः पूर्णाः वरयोश्चित्रवाससोः अलङ्कृतयोरपि पारिबर्हमुपाजह्रुः । ननु नियमाभावत् किमिति तथा कृतवन्त इति चेत्, तत्राह वरयोरिति । वरयोस्तथा कर्तव्यमेवेति । यथैव दाक्षिणात्याचारः ॥५५॥

व्याख्यार्थ—नगरी के नर तथा नारियाँ पूर्ण रीति से अलंकृत होकर, इसी प्रकार सुन्दर वस्त्र आदि से समलंकृत जो वर वधु, उनको भेट दी, नगर वासियों के भेट देने का कोई नियम नहीं है, तो नियम विरुद्ध इन्होंने वैसा क्यों किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि "वरयो." वधु वर को उपहार देना ही चाहिए, इसलिए दिया, जैसे ही दक्षिणा का शिष्टाचार है ॥५५॥

आभास—विवाह एव प्रथममुपस्थित इति, अकस्माच्च भगवानागत इति विशेषतस्तदर्थमलङ्करणाभावेऽपि स्वभावत एवालङ्कृतेत्याह सा वृष्णिपुरीति ।

आभासार्थ—पहले ही विवाह की तैयारी हो रही थी अचानक भगवान् भी पधार गए इसलिए विशेष प्रकार से उनके वास्ते नगरी को अलंकृत न करने पर भी वह स्वभाव से ही अलंकृत थी जिसका वर्णन "सा वृष्णि" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभिर्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः ।
बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलैरापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः ॥५६॥

श्लोकार्थ—उस समय वह द्वारका ऊँचे इन्द्रध्वज, विचित्र मालाएं, वस्त्र, रत्न और तोरणों से शोभित थी और प्रत्येक द्वार पर मांगलिक साजों से सजी हुई थी,

जैसे कि जल से भरे हुए घड़े, अगर, धूप व दीपकों की जगमग से सुशोभित हो रही थी ।।५६।।

सुबोधिनी—सा द्वारका उत्तभितैः ऊर्ध्वं स्थापितैरिन्द्रादप्युच्चैः स्वर्गपर्यन्तं गतैः केतुभिः ध्वजचिह्नैरन्यैश्च बभौ । अथवा । इन्द्रकेतुः पारिजातः, सुधर्मादिश्च, अन्ये च कल्पवृक्षाः । विचित्राणि माल्यानि अम्बराणि रत्नमयानि तोरणानि च स्वभावत एव । विशेषतोऽपि प्रतिद्वारि उपक्लृप्तानि मङ्गलानि । आपूर्णाः कुम्भाः अगुरुधूपाः दीपाश्च । एवमुपरि मध्ये अधश्च निवासस्थानानां शोभा निरूपिता ।।५६।।

व्याख्यार्थ—वह द्वारका स्वर्ग पर्यन्त गई हुई उच्च ध्वजाओं से सुशोभित हो रही थी, अथवा इन्द्र केतु अर्थात् पारिजात और सुधर्म आदि वृक्ष एवं अन्य कल्प वृक्ष उनसे सुशोभित थी विचित्र पुष्प, वस्त्र और रत्नमय तोरणों से स्वभाव से ही शोभा पा रही थी और यह विशेषता भी हो रही थी कि प्रत्येक द्वार पर मंगल साज सजाए गए थे जैसे कि जल से भरे हुए घड़े, अगर के धूप तथा दीप जल रहे थे, इस प्रकार ऊपर, मध्य और नीचे के निवास स्थानों की शोभा का निरूपण किया ।।५६।।

आभास—मार्गाणामाह सिक्तमार्गा इति ।

आभासार्थ—अब "सिक्तमार्गा" इन श्लोकों से मार्गो का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम् ।
गजैर्द्वास्सु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता ।।५७।।
कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः ।
मिथो मुमुदिरे तस्मिन्संभ्रमात्परिधावताम् ।।५८।।

श्लोकार्थ—बुलाए हुए प्रिय राजाओं के हस्तियों के मद से, उत्पन्न जल के गिर जाने से, मार्ग सिंचित हो रहे थे, द्वारों पर जो सुपारियाँ और केले के वृक्ष लगाए थे उनसे नगरी की शोभा विशेष हो रही थी हर्ष के मारे चारों ओर दौड़ते फिरते जो द्वारकावासी, उनके मध्य में कुरु, सृंजय, कैकेय, विदर्भ, यदु तथा कुन्ति इन देशों के राजा भी परस्पर आनन्दित हो फिर रहे थे ।।५८।।

सुबोधिनी—आहूता ये प्रेष्ठाः प्रियतमा राजानः तेषां मदच्युद्भिः गजगण्डनिःसृतमदैरेव सिक्तमार्गा जाता । अतो विशेषतः सम्मार्जनादौ नावकाशो जात इत्यर्थः । द्वारि तु कृतमित्याह द्वाःस्विति । परामृष्टाः परितः स्थापिताः के रम्भादयः तैरुपशोभिता । जाते (ति) विवाहे

पश्चादानीय कृतमिति परामर्शः । षड् विधा अपि क्षत्रिया अन्योन्यवैरं विहाय स्वभावतो द्वेषयुक्ता अपि रुक्मिण्या सहिते भगवति मिथो मुमुदिरे । कौरवा दुर्योधनादयः, सृञ्जयाः पाण्डवाः, पाञ्चाला वा धृष्टद्युम्नादयः । ते ह्युभये अन्योन्यवैरिणः । कैकेया विदर्भाश्च । तथा यादवाः कुन्तयश्च । ते त्रिविधा अपि परस्परविरोधिनः परस्परमेव मुमुदिरे । किञ्च । संभ्रमात्परिधावतां सम्बन्धिनोऽपि जाताः । उत्सवसभृतिकरणार्थं तदीयाः सर्वे एव व्यापृता जाता इत्यर्थः ।।५८।।

व्याख्यार्थ—बुलाए हुए प्रियतम भूपतियों के हस्तियों के गण्ड स्थल से निःसृत मदजल से पुरी के मार्ग सिंचित हो गए थे, अतः उनको विशेष स्वच्छ करने का अवसर ही न मिला । द्वारों पर जो सजावट की, उसका वर्णन करते हैं, चारों तरफ जो केले के खम्भ, उनसे पुरी सुशोभित थी, विवाह हो जाने पर फिर आकर विधि पूर्वक विवाह किया, इस प्रकार सबका विचार था, छ प्रकार के क्षत्रिय जिनका परस्पर स्वभाव से ही द्वेष चला आता है, वे भी आपसी वैर का त्याग कर रुक्मिणी सहित भगवान् के दर्शन कर आनन्द मग्न हो गए, दुर्योधन आदि कौरव, पाण्डव, पांचाल अथवा धृष्टद्युम्न आदि वे दोनों परस्पर शत्रु हैं, कैकेय और विदर्भ, वैसे यादव और कुन्ति वे तीनों भी आपस में शत्रु हैं, किन्तु इस समय परस्पर प्रसन्न हो उत्सव मनाने लगे, और आदर से फिरते हुए परस्पर, सम्बन्धी बन गए, उत्सव का पूर्ण पोषण करने के लिए वे सब ही उसमें संलग्न हो गए ।।५८।।

आभास—न केवलं यदुपुर्यामेव सम्भ्रमः, किन्तु सर्वत्रैव लोके संभ्रमो जात इत्याह रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वेति ।

व्याख्यार्थ—केवल यदुपुरी में ही सम्भ्रम नहीं हुआ किन्तु लोक में सर्व स्थानों पर यह सम्भ्रम हुआ जिसका वर्णन "रुक्मिण्या" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः ।
राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्विस्मिता भृशम् ।।५९।।

श्लोकार्थ—जहाँ तहाँ से भगवान् के रुक्मिणी का आश्चर्य से किए हुए हरण सुनकर राजा और राज कन्याएँ बहुत अचम्भे में पड़ गए ।।५९।।

सुबोधिनी—आश्चर्यहरणं भगवत्कृतं श्रुत्वा इतस्ततो गीयमानम्, सर्वत्र श्रुतत्वात् असम्भावनारहितम् । राजानो विस्मिता जाताः, कथमेवं हृतमिति । राजकन्याश्च विस्मिताः । अस्मानपि नेष्यतीति ।।५९।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने आश्चर्यजनक जो रुक्मिणी का हरण किया था, उसको जहाँ तहाँ गाया हुआ सुनकर, राजा लोग आश्चर्य चकित हो गए और कहने लगे कि इस प्रकार कैसे हरण कर लाए ? राजाओं की कन्याएं भी अचम्भे में पड़ गईं, कि हमें भी हरण करेगा, यह हरण की कथा सब स्थानों में सुनने से असम्भावना भी मिट गई ।।५९।।

आभास—एवं विशिष्टानां परमोत्सवमुक्त्वा साधारणानामपि परमोत्सवमाह द्वारकायामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार विशेष पुरुषों का महोत्सव कहकर साधारण जनता का महोत्सव "द्वारकायां" श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**द्वारकायामभूद्राजन् महामोदः पुरौकसाम् ।**
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—**हे राजन् द्वारका के साधारण नगर वासियों को महान् हर्ष हुआ क्योंकि लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण के लक्ष्मी रूपी रुक्मिणी के साथ दर्शन हुए ॥६०॥**

सुबोधिनी—पुरौकसः साधारणाः नगरवासिनः नगरव्यापार एव निमग्नः । तेषामपि महान्मोदो जातः । यद्यपि तेषां विवेको नास्ति, तथापि वस्तुसामर्थ्यादेव ते तथा जाताः । तदाह । रुक्मिण्या रमया लक्ष्म्या उपेतं सहितं कृष्णम्, स्त्रीणामेव हितार्थे अवतीर्णम्, श्रियः पतिं दृष्ट्वेति नित्यं हरिः श्रीसहितः । आविर्भावस्तु केवलस्यैवेति पुरवासिनां नित्यं स्त्रीप्रधानानां तथा मोदो न भवेत् । अधुना तु पूर्णशक्तिरेकत्रैव जातेति महानेव मोदः संतोषो जातः ॥६०॥

व्याख्यार्थ—नगर में रहने वाले जो साधारण जन धन्धे रोजगार में ही लगे रहते हैं, उनको भी महान् हर्ष हुआ, हाँलाकि उनको विवेक नहीं है तो भी वस्तु की सामर्थ्य से ही आनन्द हुआ, वह वस्तु सामर्थ्य का वर्णन करते हैं, स्त्रियों के हित के लिए अवतार धारण करने वाले, लक्ष्मी के पति श्रीकृष्ण के लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणी के साथ दर्शन हुए यों तो भगवान् सदैव लक्ष्मी के साथ विराजते हैं किन्तु जब अवतार लेते हैं तब आप अकेले ही प्रकट दर्शन देते हैं वैसे अकेले स्वरूप के दर्शन पुरवासियों को आनन्द होवे, क्योंकि वे नित्य स्त्री प्रधान हैं, अर्थात् वे सदैव स्त्रियों को साथ ही रखते हैं जिससे स्त्रियों का ही आदर करते हैं, अतः भगवान् को भी स्त्री सहित देख कर हो प्रसन्नचित्त हुए अब तो इस स्वरूप में पूर्ण शक्ति इकठ्ठी हुई है इसलिए बड़ा ही मोद यानि सन्तोष उत्पन्न हुआ है ॥६०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध के ५१ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका' के राजस साधन अवान्तर प्रकरण, का पांचवां अध्याय, हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग सोरठ

स्याम जब रुकमिनी हरि सिधाए।
साल्व, दंतवक्र वारानसी कौ नृप, चढ़ै दल साजि मनो अभ्र छाए ॥
सांग की झलक चहुँदिसा चपला चमक, गज गरज सुनत दिग्गज डराए।
स्याम वलराम मुष्टि पाइ सन्मुख भए, वान वर्षा करन लागे सारे ॥
रुकमिनी भय कियौ स्याम धीरज दियौ, बान सौं बान तिनके निवारे।
राम हल मुसल संभारि धारचौ वहुरि, पेलि कै रथ सुभट बहु संहारे ॥
रुण्ड भकरुण्ड झुकि परे धर धरनि पर, गिरत ज्यों बेग करि वज्र मारे।
जरासन्ध जीव लै भज्यौ रनखेत ते, साल दंतवक्र या विधि पराए ॥
प्रात के समय ज्यौं भानु के उदय, तम लै होइ जात उडुगन नसाए।
गह्यो भगवान सिसुपाल कौं जीवतै, ताहि सौं बचन या विधि उचारे ॥
पुरुष कौं भाजिबे तैं मरन है भलौ, जाइ सुरलोक द्वारे उघारे।
वहुरि भगवान सिसुपाल कौं छाँड़ि दियौ, गयौ निज देस कौं सो खिस्याई ॥
सस्त्र धन छांड़ि के भाजि नरपति गए, जादवनि लै सु हरि दियौ लुटाई।
रुकुम यह सुनि चल्यौ सौंह करि नृपति सौं, स्याम बलराम कौं वाँधि ल्याऊँ ॥
आइ ह्याँ कह्यौ सिसुपाल सौं मैं नहीं, आपनौ बल तुम्हें अब दिखाऊँ ॥
बान बरषा लग्यौ करन इहिं भाँति कै, कृष्ण जु तिन्हें छिन में निवारे।
आपने बान से काटि ध्वज रुक्म कौ; अस्व अरु सारथी तुरत मारे ॥
रुक्म भू परचो उठि जुद्ध हरि सों करचो, हरि सकल सस्त्र ताके निवारे।
वहुरि खिसियाइ भगवान के ढिग चल्यौ, चलत ज्यौं पतँग दीपक निहारे ॥
खड्ग लै ताहि भगवान् मारन चले, रुकमिनी जोरि कर विनय कीन्हौ।
दोष इन कियौ मोहिं छमा प्रभु कीजियै भद्र करि स स जिव दान दीन्हौ ॥
राम अरु जादवनि सुभट ताके हने, रुधिर करि नीर सरिता बहाइ।
सुभट मनु मकर अरु केस सेंवार ज्यौं, धनुष मछ चर्म कूरम वनाई ॥
बहुरि भगवान कैं निकट आए सकल, देखि कै रुक्म कौं हंसे सारे।
कह्यौ भगवान सौं कहा यह कियो तुम, छाडिंवे तैं भलौ हुतौ मारैं ॥
मरे तैं अप्सरा आइ ताकौं बरति, भाजि है देखि अब गेह नारी।
प्रभु तुम्हरौ मरम रुक्म जान्यौ नहीं, छांडि दीजै याहि अब मुरारी ॥
रुक्म सिर नाइ या भाँति बिनती करी, बुद्धि बल मर्म तुम्हरौ न जानौं।
प्रभु तुम अनन्त तुम तुमहिं कारन, करन मैं कौन भाँति तुमको पछानौं ॥
दीन बन्धु कृपासिंधु करुना करन, सुनि विनय दया करि छाँडि दीन्हौ।
वहुरि निज नगर पैठ्यौ न सो लाज करि, तहैं पुनि आपनो वास कीन्हौ ॥
आइ भीषम दियो दाइज ता ठौर बहु, स्याम आनन्द सहित पुर सिधाये।
सुनत द्वारावती माँहि उत्सव भयौ, सूर जन मंगलाचार गाये ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ५५वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५२वां अध्याय

राजस-साधन-अवान्तर-प्रकरण

"षष्ठं अध्याय"

प्रद्युम्न का जन्म और शम्बरासुर का वध

कारिका—निरूपितो भगवतो भार्यायास्तु परिग्रहः ।
षष्ठाध्याये तु पुत्रस्य स्वीकारोऽत्र निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्वाध्यायों में भगवान् ने रुक्मिणी को भार्यापन से स्वीकार किया, यह निरूपण हुआ, अब छठे अध्याय में पुत्र की स्वीकृति का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—लोके ह्री पुत्र भार्याणां सम्बन्धे स्याद्धि संसृतिः ।
दुष्ट भावेषु संसृष्टास्त्वत्र कृष्णेन मोचिताः ॥२॥

कारिकार्थ—लोक में पुत्र तथा भार्या से सम्बन्ध होने पर ही संसार होता है, यहाँ दुष्ट भावों से निर्मित हैं अर्थात् भगवान् में विपरीत भाव करते हैं, उनको कृष्ण ने मुक्त कर दिया ॥२॥

कारिका--न चापि भगवान् कृष्ण. कमप्यत्र निवारयेत् ।
भागिनं यत्र यो भागी निवृत्ते हरिसाद्भवेत् ।।३।।

कारिकार्थ—भगवान् कृष्ण यहाँ किसी भी भागी का निराकरण नहीं करते हैं, जहां जो भागी (अंशविशिष्ट) निवृत्त होता है, वह हरि के साथ मिल जाता है ।।३।।

कारिका—**अतः शम्बर निर्मुक्तः पुत्रो जात इतीर्यते ।**
पुत्रत्वं च न कालादे. किन्तु स्वेच्छात एव हि ।।४।।

कारिकार्थ—अतः शम्बर से छूटा हुआ पुत्र हुआ, यों कहा जाता है, यह पुत्रत्व काल आदि कारण से नहीं है, किन्तु अपनी इच्छा से ही हुआ है ।।४।।

कारिका--**तादृशस्य ही जीवस्य ततः काम कथोच्यते** ।।४½ ।

कारिकार्थ--इस कारण से वैसे जीव की काम कथा कही जाती है ।।४½।।

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

आभास—पूर्वाध्यायै : भार्येच्छया भगवता भार्या कृता । **अत्रापि** पुत्रेच्छया भगवता कामः पुत्रः कृत इत्याह **कामस्त्वति** ।

आभासार्थ—पूर्वाध्यायों में यह वर्णन हुवा है कि भगवान् की भार्या होने की रुक्मिणी की इच्छा थी, जिससे उसको भगवान् ने अपनी भार्या बनाई, यहाँ भी प्रद्युम्न की इच्छा थी कि मैं भगवान् का पुत्र बनूं, इसलिए भगवान् ने काम रूप प्रद्युम्न का पुत्रत्व से स्वीकार किया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी "कामस्तु" श्लोक से करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना ।**
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं–जो वासुदेव का अंश रूप काम महादेव के क्रोध से पहले दग्ध हो गया था, वह फिर देह प्राप्ति के लिए उस प्रभु की शरण गया अर्थात् उनमें प्रविष्ट होकर उससे उत्पन्न हुआ ।।१।।

सुबोधिनी—कामस्योत्पत्तिर्न घटते कामेन हि भार्यायां प्रवृत्तिः । तत आत्मानं प्रति स्वस्याकारणत्वात्कामोत्पत्तिरसङ्गतेत्याशङ्क्य तु शब्देन निराकरोति । तत्र हेतुमाह वासुदेवांश इति । स हि न जीवः किन्तु वासुदेवस्यैव मोक्षदातुः । प्रपत्तिविघटनाय कामोमाया च अंशद्वयं विनिर्गतम्, पुरुषे स्त्रियां च प्रतिष्ठित जगद्व्यामोहयति, यथैव न प्रपन्नो भवति । स तु सर्वान् व्यामोहयन् मुख्याधिकारिणं महादेवमपि व्यामोहयितुं प्रवृत्तः । ततो रुद् रोगान् सर्वेषामेव द्राव्यतीति सर्वरोगनिवारकः काममपि रोग मत्वा क्रोधेन ददाह । ततः प्रभृति नोद्गतः कामो लोके प्रवृत्तः अधिष्ठाता शक्तिरहितो जात इति । नापि मोक्षदाता भगवानवतीर्णः । यत्रायं विघ्नं वा कुर्यात् । यदा पुनः कृष्ण आविर्भूतः, तदा अक्षयं देहं सम्पादयितु यथा रुद्रो न दहेत्, तदर्थं तं भगवन्तमेव देहोपपत्तये प्रत्यपद्यत, सदेह एव ततो निर्गमिष्यामीति, पुनस्तत्र प्रविष्टः स हि गोपिकाद्वारा कृष्णे समागतः । ते हि प्रथमं पुरुषरूपाः स्थिताः, पश्चात् स्त्रीत्वे जाते तत्र प्रवेशमलभमानः तद्द्वारा भगवति प्रविष्टः तासां स्वभावतः पुरुषत्वात् तत उत्पत्तिमलभमानः ॥१॥

व्याख्यार्थ– काम की उत्पत्ति होनी बनती नहीं, क्यों कि काम से ही भार्या में प्रवृत्ति होती है, इस कारण से आत्मा के प्रति अपना कारण न होने से काम की उत्पत्ति असङ्गत है । इस प्रकार की शङ्का का 'तु' शब्द से निराकरण करते हैं जिसमें कारण देते है कि यह काम मोक्षदाता वासुदेव भगवान् का अंश है नहीं कि जीव है, शरणागति में विघ्न डालने के लिए, वासुदेव भगवान् से माया और काम ये दो अंश प्रकटे हैं, पुरुष और स्त्री में प्रतिष्ठित हुवे जिससे जगत मोहित हो जाता है, इसी कारण से जीव भगवत् शरण नही लेता है, काम तो सबको मोह में डालता हुआ, मुख्य अधिकारी महादेव को भी जब मोहित करने में प्रवृत्त हुआ तब जो महादेव सब रोगों को नष्ट करते है, उनने इस काम को भी रोग मान कर अपनी क्रोधाग्नि से दग्ध कर डाला, उसी दिन से काम पैदा न हुवा, लोक में प्रवृत्त होते भी वह शक्ति हीन हो गया, मोक्षदाता भगवान् भी प्रकटे नहीं, जहां यह विघ्न कर सके जब कृष्ण प्रकट हुए तब वह काम मुझे रुद्र न जला सके ऐसी देह की प्राप्ति के लिए फिर श्रीकृष्ण में प्रविष्ट होता हूँ जिससे मेरी देह में भगवत्सारूप्यता होगी अतः अनन्य देह सहित ही प्रकट हो जाऊंगा, यह सङ्कल्प कर ही भगवान् में प्रविष्ठ हुआ । किस प्रकार भगवान् में प्रवेश किया जिसका वर्णन करते हैं कि वासुदेव के जो माया और काम दो अंश प्रकटे, उनमें से काम का निवास पुरुषों में हुवा और माया का स्त्रियों में हुवा, अतः काम अग्निकुमार जो पुरुष थे उनमें रहा था । किन्तु जब उन्होंने स्त्री रूप धारण किया तब उनमें उसकी स्थिति न हो सकी, उन स्त्री रूपों से निकल कर भगवान् में प्रवेश किया, अतः आचार्य श्री कहते हैं कि 'सहि गोपिका द्वारा कृष्णे समागतः' वह काम गोपियों के द्वारा कृष्ण में आया, उसका रहस्य बताते हैं कि वे गोपियां वास्तविक पुरुष थी उत्पत्ति न होगी, यों जान कर ही भगवान् में उत्पत्ति के लिए प्रविष्ठ हुआ ॥ १ ॥

आभास—यदैव रुक्मिणी संबद्धा, तदैव तस्यां जात इत्याह स एव जात इति ।

आभासार्थ—जब ही रुक्मिणी भगवान से संबद्ध[1] हुई तब ही उसमें से काम रूप प्रद्युम्न प्रकट हुवा, जिसका वर्णन 'स एव जातो' श्लोक में करते हैं ।

१– संबद्ध कहने का भाव यह है कि जब श्रुति रूप प्रभृति गोपियों से रमण समय भी पतित्व सम्बन्ध के कारण पहले रुक्मिणी का ही स्वीकार हुआ है । —लेखकार का आशय

श्लोक—स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्ण वीर्य समुद्भवः ।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ।।२।।

श्लोकार्थ—वह ही श्रीकृष्ण की क्रिया शक्ति रूप वीर्य से रुक्मिणी से जन्म लेकर, प्रद्युम्न नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो पिता श्रीकृष्ण से सर्व प्रकार न्यून नहीं था ।।२।।

सुबोधिनी—वैदर्भी भक्ति प्रधानेति । भगवतो वीर्यमत्र क्रियाशक्तिः, नत्वन्नमयम् । क्रिया हि सतो भवति । चिद्रूपः स्वयम् । सदंशमेवापेक्षते । सदंशे निर्गलितं रूपं क्रियाशक्तिरिति क्रियाशक्तौ आविर्भूतः । तदुक्तम् । कृष्णवीर्ये समुद्भवो यस्येति । एवकारो जीवान्तरप्रवेशाभावाय । अत एव लोके प्रद्युम्न इति विख्यातः । प्रकर्षेणद्युम्नं यस्मादिति । रुक्मिण्यंशसम्बन्धात् आनन्दांशोऽपि तत्र सिद्धः । उत्पादकश्च प्रद्युम्न इति तस्याभिलषितमेव नाम जातमित्युक्तम् । एवमपि भगवदिच्छा चेन्नानुगता स्यात्, तदा अक्षयदेहो न भविष्यतीति भगवत्सारूप्यं प्राप्तवानित्याह पितुः सर्वतोऽनवम इति । अवमः क्षयः केनाप्यंशेन अन्यून इत्यर्थः ।।२।।

व्याख्यार्थ—वैदर्भी (रुक्मिणी) में भक्ति मुख्य है । श्लोक में 'कृष्ण वीर्य समुद्भवः' पद कहा है जिसमें 'वीर्य' शब्द से यह भ्रम होता है कि यह वीर्य अन्न से उत्पन्न होने से अन्नमय होगा, अतः इस भ्रम निवारणार्थ स्पष्ट कहते है कि यहां 'वीर्य' शब्द से भगवान् की क्रियाशक्ति कही है, नहीं कि अन्न मय वीर्य कहा है, भगवान् की क्रियाशक्ति उनके सदंश से उत्पन्न होती है, काम स्वयं तो चिदंश है, उसको सदंश की ही अपेक्षा थी, जिससे वह सदेह होकर प्रकट हो सके क्योंकि देह सदश से बनती है, इसका भावार्थ है कि प्रद्युम्न की देह भगवान् का सदंश है, सदंश में पड़ा हुवा रूप क्रियाशक्ति है, इसलिये क्रियाशक्ति में प्रकट हुआ, अतः कहा है कि 'कृष्ण वीर्य समुद्भवः' कृष्ण के वीर्य में (क्रिया शक्ति में) जिसका (प्रद्युम्न का) प्राकट्य हुवा है, 'एव' पद श्लोक में देकर यह सिद्ध किया है, कि इसमें (प्रद्युम्न में) कोई जीव नहीं है इसलिए ही लोक में 'प्रद्युम्न' नाम से प्रसिद्ध हुवा है अर्थात् जिससे विशेष तेज व बल प्रकट होता है, इस प्रकार उसका अभिलषत ही नाम पड़ा, इस प्रकार होने पर भी यदि भगवान् की इच्छा वैसी, न हो, तो वैसी अक्षय देह की प्राप्ति न होती, इस तरह भगवत्सारूप्य को प्राप्त हुवा जिससे पिता से किसी प्रकार कम न हुआ ।। २ ।।

आभास—एतन्मध्ये नारदेन शम्बरो बोधितः । यावदयं निर्दशो न भवति, तावन्मारणीयः । अन्यथा भगवद्धस्तस्पर्शे अवध्यो भविष्यतीति । स हि कामस्य शत्रुः । यदा सर्वेषामेव भागो निर्मुक्तो भवति तदैव भगवान् पुत्रत्वेन ग्रहीष्यतीति । एवमुक्तस्य शम्बरस्य वृत्तान्तमाह ।

आभासार्थ—इसी बीच में नारद ने शम्बर को जतादिया कि जब तक यह दश दिन का न हो उसके पहले ही इसको मार डालना चाहिये, यों नहीं किया जायगा तो दश दिन के

अनन्तर भगवान् के हस्त का स्पर्श हो जाने से, यह अवध्य होगा अर्थात् कोई भी इसको मार न सकेगा, वह काम का शत्रु है. जब सर्व के भाग से यह छूटेगा तब भगवान् इसको पुनरपन से ग्रहण करेंगे, नारद के कहने पर जो शम्बर ने कृत्य किया, उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम् ।

स विदित्वात्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद्गृहम् ॥३॥

श्लोकार्थ—अपनी इच्छानुकूल रूप धारण करने वाला वह शम्बर उसको अपना शत्रु जान कर दस दिन के, भीतर हो, उस बालक का हरण कर समुद्र में फेंक कर घर गया, ॥३॥

सुबोधिनी—कामरूपी स्त्रीरूपेणान्तः प्रविष्टः। कातरूपमस्मिन्वर्तत इति सजातीयेन सजातीयो हृत इति न रक्षकैर्देवैः स रक्षितः। अत एवानिर्दशं दशाहात्पूर्वमेव तोकं बालकं हृत्वा। न निर्गतानि दशाहानि यस्येति। अहःशब्दस्य लोपः। हरणे हेतुमाह आत्मनः शत्रुं विदित्वेति। वाक्यान्तरान्नारदादित्सध्यवसेयम्। उदन्वति समुद्रे प्रास्य गृहमगात्, गृहं गतः। बालो हि न मारणीय इति। कालेनानुपभुक्तः सर्वस्याप्यादरणीयो भवतीति प्राकृतं तं मत्वा समुद्रे क्षिप्तः, स्वयमेव समुद्रो भक्षयिष्यतीति समुद्रे प्रक्षिप्तवान् ॥३॥

व्याख्यार्थ—यथेच्छरूप धारी शम्बर ने स्त्री रूप धारण किया उस रूप से वह भीतर गया, शम्बर पुरुष है इसलिए इसमें काम रूप है ही, अतः एक ही जाति वाले ने जाति वाले का हरण किया, इसलिए रक्षक देवों ने भी इसकी रक्षा नहीं की, अतः दशाह से पहले ही बालक का हरण किया, क्यों हरण किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि शम्बर ने इसको अपना शत्रु समझा इसलिए हरण किया, नारद से यह ज्ञान पाया था यों कि यह बात ध्यान में रखना इसलिए हरण के बाद समुद्र में उस बालक को फेंक कर अपने घर गया (उसे) मारा क्यों नहीं समुद्र में क्यों फेंका ? इसका समाधान करते हैं, बालक को "नहीं मारना चाहिए" ऐसी आज्ञा है, जिसका भोग, काल नहीं करता है उसका ही सब आदर करते हैं, उसको प्राकृत मानकर समुद्र में फेंक दिया, मन में यह विचार किया कि समुद्र स्वयं इसका भक्षण कर लेगा, इस विचार से समुद्र में फेंका ॥३॥

आभास—ततः समुद्रो विपरीतं कर्तुं मत्स्यग्रासं कारयित्वा तस्यैव गृहं प्रेषयामासेति निरूपयति तं निर्जगार बलवानिति ।

आभासार्थ—पश्चात् समुद्र ने तो शम्बर के विचार के विपरीत किया, अर्थात् उसको मत्स्य का ग्रास करवाकर उस (शम्बर) के ही घर भिजवाया जिसका वर्णन "तं निर्जगार" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं निर्जगार बलवान्मीनः सोऽप्यपरैः सह ।

ततो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥४॥

श्लोकार्थ—समुद्र में बलवान मत्स्य ने उसको ग्रस लिया, पश्चात् उस मत्स्य को भी दूसरे मत्स्य के साथ मच्छजीवियों ने बड़ी जाल से पकड़ लिया ॥४॥

सुबोधिनी—स हि सचेतनो बालकः । गिलने प्रतिबन्धं करोतीति तदर्थमाह बलवानिति । सोऽपि मीनैरपरैर्दुर्बलैर्मीनैः सह तदीयैः महता जालेन गृहीतः । ततोऽपि जालस्य महत्त्वं बलवत्त्वं च । मत्स्यजीविभिरिति तेषां तदुद्यमः सहजः । अतो नात्र अधिकः प्रयासो निरूपणीयः ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह था तो बालक किन्तु उस अवस्था में भी चेतन्य था जिससे वह ग्रसने में रुकावट करेगा, इसी कारण से, कहा है, कि वह निगलने वाला मत्स्य साधारण मत्स्य न था, किन्तु बलवान् था, जिससे वह बालक होते हुए भी रुकावट करने में सफल न होवे, वह निगलने वाला मत्स्य दूसरे जो निर्बल मत्स्य उसके साथ थे उन समेत बड़े जाल से पकड़ा गया, इससे जाल का भी महत्व और बलवत्व बताया । पकड़ने वाले मत्स्य जीवी थे उनका यह उद्यम सहज है, अतः इस विषय में अधिक प्रयास निरूपण करने योग्य नहीं है ॥४॥

आभास—ततः शम्बरः कैवर्तानामधिपतिः प्राप्तमहामत्स्यैः कैवर्तैः स मत्स्यः तस्मै दत्त इत्याह तं शम्बरायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् धीमरों के अधिपति शम्बर को, उन धीमरों ने वह मत्स्य दिया, जिसका वर्णन "तं शम्बराय" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रुरुपायनम् ।
सूदा महानसं नीत्वावद्यन्स्वधितिनर्ताद्भुतम् ॥५॥
दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन् ।

श्लोकार्थ—धीमरों ने बड़े मच्छ को लाकर शम्बर को भेट किया रसोईयों ने रसोड़े घर में लेजा कर उस अनूठे मच्छ को छुरी से चीर डाला, जिसके उदर में बालक को देखा, वह बालक मायावती को दे दिया ॥५॥

सुबोधिनी—उपायनमुत्कृष्टोपहारम् । सोऽप्यविचार्यैव सूदेभ्यः पाचकेभ्यो घातकेभ्यो वा दत्तवान । सूदाः पुनः महानसं स्थानं नीत्वा अवद्यन् । ततः अद्भुतं बालकं तस्य उदरे दृष्ट्वा मायावत्यै न्यवेदयन् । सा हि रतिः कामस्य भार्या आसीत् । ततो दग्धे कामे तद्भार्या यदा शम्बरेण नीयते, तदा माया तस्यां प्रविष्टा । तदा मायावतीति नाम प्राप्तवती । सा च तेन प्रतिक्षणं मायया मोहितेन पाकाध्यक्षा निरूपिता । ततो बालकः मायावत्या दृष्टः ।

व्याख्यार्थ—"उपायन" पद का भावार्थ है श्रेष्ठ भेट, उसने भी बिना बिचार किए ही रसो-

ईयों को वा घातकों को दी, रसोईयों ने उसको रसोई घर में ले जाकर मार डाला, पश्चात् उसके उदर में अद्भुत बालक देखा, जिसको मायावती को दिया, वह मायावती रति नामवाली काम की पत्नी थी, जब काम शम्भु देव के क्रोधाग्नि से जल गया तब उसको स्त्री रति को शम्बर ले आया जिसमें माया प्रविष्ट हो गई, तब उसका नाम मायावती प्रसिद्ध हुआ, माया से प्रतिक्षण मोहित उसने इसको रसोई घरको अध्यक्षा बनाई, पश्चात् मायावती ने वह बालक देखा ।।५।।

आभास—कोऽप्ययं कपटेन मां ग्रहीष्यतीति भयाच्छङ्कितचित्ता जाता, ततो नारदः पुनरागत्य तां बोधितवानित्याह नारदोऽकथयदिति ।

आभासार्थ—मायावती इस बालक को देख, भयपूर्वक चित्त में शंकित हुई, कि यह जो कोई भी है वह मुझे ग्रहण करेगा, अनन्तर नारद ने आकर इस मायावती को समझाया, जिसका वर्णन "नारदो कथयत्" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नारदोऽकथयत्सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ।
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम् ।।६।।

श्लोकार्थ—नारद ने शंकित चित्तवाली मायावती को यह बालक कौन है ? किससे उत्पन्न हुआ ? मत्स्य के उदर में कैसे प्रविष्ट हुआ ? यह सर्व कथा सुना दो ।।६।।

सुबोधिनी—बालस्य तत्त्वं कामत्वं उत्पत्तिं कृष्णान्नारदप्रेरणया शम्बरद्वारा मत्स्योदरनिवेशनम् । ततोऽत्रागमनं तु स्पष्टमेवेति त्रयमुक्तम् । सात्त्विकं राजसं तामसं च । यद्ययं मत्स्योदरे न निविष्टः स्यात्, तदाग्रे भगवतः कामात् स्त्री विवाहा अयुक्ताः स्युः ।।६।।

व्याख्यार्थ—यह बालक काम है, कृष्ण से उत्पन्न हुआ है, मेरी प्रेरणा से शम्बर द्वारा समुद्र में फेंकने से इसने मत्स्य के उदर में प्रवेश किया, पश्चात् यहाँ आना तो स्पष्ट ही है, जो आपने देखा हो है, इस प्रकार सात्विक, राजस और तामस तीन हो बात समझा दो, जो यह मत्स्य के उदर में प्रविष्ट नहीं होता तो आगे भगवान् जो स्त्री विवाह काम पूर्वक करते वे अयोग्य दीखते ।।६।।

आभास—ततस्तया ज्ञात्वा स गृहीत इति वक्तुं तस्याः स्वरूपमाह सा चेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जब मायावती ने उस बालक का स्वरूप जाना कि यह कामदेव मेरा पति है, तब उसका ग्रहण किया, यह बताने के लिए "सा च" श्लोक में उस मायावती के स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी ।
पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ।।७।।

श्लोकार्थ—वह यशस्विनी रति नाम वाली कामदेव की स्त्री, दग्धदेह वाले अपने पति के देह की उत्पत्ति की प्रतीक्षा कर रही थी ।।७।।

सुबोधिनी—तस्याः आकाङ्क्षित एवायं स्थितः । चकारस्त्वर्थसमुच्चयार्थः । नारदः अकथयत् । साप्याकाङ्क्षायुक्तेति । कामस्यैव पत्नी, न तु कामेन यस्य कस्यचित् । रतिरिति तस्या नामेति प्रसिद्धिः । अनेन लोकेऽपि तस्या निन्दाभाव उक्तः । यथा कामः पुरुषेषु, तथा रतिः स्त्रीषु प्रतिष्ठितेति प्रसिद्धिः । किञ्च । यशस्विनी प्राप्तयशाः । अतो यशःसम्बन्धात् नापकीर्तिसम्भावना । नन्वेतादृशी भर्तृमरणे वैधव्यधर्मपरिपालनाय योग्या कथं रूपान्तरस्थपतिं गृहीतवती, तत्राह पत्युर्निर्दग्धदेहस्येति । न हि पतिर्मृतोऽस्ति । अन्यथा जगदुत्पत्तिरेव न स्यात् । किन्तु देह एव दग्धः, तस्योत्पत्तिमेव प्रतीक्षते ।।७।।

व्याख्यार्थ—यह कामदेव उसको आकांक्षा करता हुआ स्थित था, अर्थात् रतिकी प्राप्ति कब और कहाँ होगी, ऐसा विचार एव इच्छा कर रहा था श्लोक में "च" पद अर्थ समुच्चय के लिए दिया हुआ है, नारद ने कहा कि, वह भी इसकी आकाँक्षा वाली है, काम की ही पत्नी है, न कि काम के कारण जिस किसी और की, उसकी "रति" नाम से सर्वत्र प्रसिद्धि है इस कारण से लोक में भी इसकी निन्दा नहीं हो रही है, यों कहा है जिस प्रकार पुरुषों में काम प्रतिष्ठित है वैसे ही स्त्रियों में रति प्रतिष्ठित है, यह प्रसिद्ध ही है और विशेष यह है कि इस ने यश प्राप्त किया है अतः यश से सम्बन्ध होने के कारण अपकीर्ति की सम्भावना भी नहीं है वैसी यशस्विनी होने से, तो इसके पति के मर जाने पर वैधव्य धर्म पालन करना ही योग्य था न कि अन्यरूप में स्थित पति को ग्रहण करना चाहिए, इस शंका के मिटाने के लिए कहते हैं कि "पत्युर्निदग्ध देहस्य" पति मरा नहीं था, जो वह विधवा हुई हो; उसका केवल शरीर ही जला था, यदि यह मर गया होता तो जगत की उत्पत्ति ही न होवे, किन्तु देह ही दग्ध हुई थी, जिससे देह की उत्पत्ति की ही प्रतिक्षा कर रही थी ।।७।।

आभास—तस्यास्तत्रागमने हेतुमाह निरूपितेति ।

आभासार्थ—वहाँ उसके आने में क्या कारण है वह "निरूपिता" श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक – निरूपिता शम्बरेण सा सूपोदनसाधने ।
कामदेवं शिशु बुद्ध्वा चक्रे स्नेह सदार्भके ।।८।।

श्लोकार्थ—उस "मायावती" को शम्बर ने दाल भात बनाने के लिए रसोई घर में नियुक्त कर रखी थी, वहाँ जो बालक मिला वह कामदेव था अतः उस बालक से प्रेम करने लगी ।।८।।

सुबोधिनी—सूपोदनानां पाचने । सा हि मायां जानाति सूपकाराणाम् । तन्माया प्राणहारिणी भवतीति तद्रक्षार्थं पाकस्थाने नियुक्ता । अनेन भक्ष्यभोज्यादिसम्पत्तिः तस्याः सिद्धा ।

लोकाः तस्याः पुत्रत्वेन तं जानन्ति। सा तु न पुत्रत्वेन तं प्रति पालितवती, अपि तु काममेव बुद्ध्वा, तत्रापि देवं पतिं शिशुत्वेन समागतम्, अर्भके स्नेहं चक्रे ॥८।

व्याख्यार्थ –दाल भात के पकाने में शम्बर ने इसको नियुक्त किया, कारण कि रसोईयों के छल कपट को वह जानता था उनके छल कपट प्राणों का हरण करने वाले होते हैं उस छल कपट से प्राणों की रक्षा हो, तदर्थ इसको रसोई घर में रखा था इससे भक्ष्य भोज्य आदि सम्पत्ति तो इसके पास ही है लोक तो बालक को इसका पुत्र ही समझते हैं, परन्तु वह तो इसका पुत्रपन से पालन नहीं करती थी किन्तु यह कामदेव मेरा पति है यों जान कर उसका केवल पालन नहीं किन्तु साथ में स्नेह भी करती थी ॥८॥

आभास—ततोऽल्पेनैव कालेन मत्स्योदरसम्बन्धात् भगवत्सम्बन्धाच्च सप्तम एव वर्षे यौवनं प्रादुर्भूतमित्याह नातिदीर्घेण कालेनेति।

आभासार्थ – पश्चात् थोड़े ही काल में अर्थात् सातवें वर्ष में ही वह युवा हो गया कारण कि उसका एक तो मत्स्य के उदर से सम्बन्ध हुआ था और दूसरा भगवान् से सम्बन्ध हुआ था इन दोनों कारणों से शीघ्र यौवन आगया जिसका वर्णन "नातिदीर्घेण" श्लोक में करते हैं।

श्लोक—नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम् ॥९॥

श्लोकार्थ—थोड़े ही काल में वह प्रद्युम्न तरुण हो गया, जो स्त्रियां देखती थी उनके मन का हरण हो जाता था ॥९॥

सुबोधिनी—षोडशे वर्षे यौवनप्रादुर्भावः, कस्यचित् द्वादशे, कस्यचिदष्टम एव। अयं नातिदीर्घः कालः, यतः कार्ष्णिः पितुः पुत्रः। रूढं यौवनं यस्य। तदा वीक्षन्तीनां विभ्रमं जनयामास। युवतीनां यदा मनोवृत्तिः, तदा सर्वजनीनं यौवनम्। अन्यथा अलौकिकमेव यौवनं स्यात्। किंबहुना वीक्षन्तीनां देवस्त्रीणामपि जनयामास ॥९॥

सुबोधिनी—सोलह वर्ष में यौवन प्रकट होता है, किसी की बारह वर्ष में और किसी की आठवें वर्ष में ही प्रकट हो जाती है यह बड़ा लम्बा समय नहीं है क्योंकि कृष्ण का पुत्र है अतः जैसा पति वैसा पुत्र, इस कारण से शीघ्र सातवें वर्ष में जवान हो गया, उस समय ही देखने वाली स्त्रियों में काम चेष्टा उत्पन्न हो जाती थी जब युवतियों की इस प्रकार की मनोवृत्ति होती है तब समझना चाहिए कि इसमें पूर्ण यौवन प्रकट हो गया है नहीं तो वह यौवन अलौकिक ही होता है, विशेष क्या कहा जाय, केवल मानव स्त्रियों के मन का हरण नहीं होता किन्तु देव स्त्रियों में भी देखने से इसी प्रकार चेष्टा हो जाती है ॥९॥

श्लोक—सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम् ।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रूवेक्षती प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः ॥१०॥

श्लोकार्थ—कमल दल के सदृश नेत्र वाले, लम्बी बाहुवाले, मनुष्य लोक में सुन्दर उस अपने पति को वह रतिरूपा मायावती लज्जा युक्त एवं मुसकान सहित ऊँची की हुई भृकुटी से ईक्षण करने लगी तथा प्रेम पूर्वक सुरत सम्बन्धी भावों से सेवन करने लगी ॥१०॥

सुबोधिनी—ततः पतित्वात् चिरमभिलषितत्वात् योवनविलम्बाच्च प्राप्ते यौवने तमुपतस्थे। एतदग्रिमकार्यार्थं निरूप्यते पद्मदलायतेक्षणमिति। कामोद्बोधकत्वात् कामत्वाच्च। तस्याः सङ्गाभावेन स्थातुमशक्तिमाह प्रलम्बबाहुमिति। उपगूहनसामर्थ्यं सर्वाङ्गसुखत्वाय। नरलोकसुन्दरमिति। तादृशे मोह उचित एवेति हेतुरुक्तः स्वभावोद्निरणार्थम्। प्रथमतो व्रीडा नवसङ्गमं भावयति। ततो जाते रसे हासः। उभाभ्यामुत्तम्भिता या भ्रूः। सङ्गेच्छां पातिव्रत्यं च कटाक्षदर्शनेन सूचयन्ती प्रीत्या उपतस्थे। इदमुपस्थानं न देवताराधनमिव, किन्तु सौरतैः सुरतभावैः, यत इयं रतिः। ततः प्रद्युम्नः क्रियाशक्त्यैवाविर्भूत इति ज्ञानाभावस्तस्य प्रकाश्यते भगवद्वैलक्षण्याय। अन्यथा तुल्यतैव स्यात्। यदि ज्ञानशक्तिरपि भवेत् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर बहुत समय से पति प्राप्ति को अभिलाषावाली रतिरूपा मायावती को बालरूप में पति मिला, योवन आने में भी विलम्ब हुआ जब योवन आ गया तब पति होने से उसकी सेवा करने लगी आगे जो कार्य होने वाला है उसके लिए यह निरूपण किया जाता है कि वह पति के साथ जिसके कमल दल के समान नेत्र थे, ऐसे नेत्रों से यह जताते हैं कि काम को जगाने वाले तथा काम रूप है, लम्बी बाहु वाला है इस से यह बताया कि रति के संग के सिवाय स्थिति असमर्थ (अशक्त) है, तथा लम्बी भुजाओं से यह भाव बताया है कि सर्व अंगों में सुख देने के लिए आलिंगन का सामर्थ्य है, मनुष्य लोक में सुन्दर नर है, जिसका भाव बताते हैं कि वैसे सुन्दर में ही मोह उत्पन्न होता है अतः स्वभाव के मिलने के लिए इसमें मोह योग्य ही है, स्त्रियों में जो प्रथम लज्जा का प्रदर्शन होता है वह नवीन संगम की भावना का द्योतक है अतः मायावती ने पहले लज्जा की, इसके बाद जब नवसंगम में रस उत्पन्न होता है तब हास होता है इन दोनों से ऊपर उठी हुई भौंह मिलन की इच्छा का एवं पातिव्रत्य का कटाक्षों द्वारा सूचना करती हुई, प्रीति से पास प्राप्त हो जाती है यह पास आना देवताओं की आराधना के समान नहीं है, किन्तु सुरत भावों से परस्पर मिलन है, क्योंकि यह रति है, प्रद्युम्न क्रिया शक्ति से ही प्रकट हुआ है इस से उसमें ज्ञान का अभाव दीखता है जिससे ही प्रद्युम्न की भगवान् से विलक्षणता (भेद) प्रकट होती है, जो ज्ञान शक्ति हो तो प्रद्युम्न की भगवान् से समानता हो जावे ॥१०॥

श्लोक—तामाह भगवान्कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ।
मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा ॥११॥

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न माता को कहने लगा कि हे माता ! आप की बुद्धि विपरीत हो गई है, जो मातृभाव को छोड़ कामिनी की तरह कर रही हो ॥११॥

सुबोधिनी—तामाहेति । भगवान् धर्मपरः, यतः कार्ष्णिः । मर्यादार्थमवतीर्णः । सदानन्दाङ्कुरोऽपि सदानन्द एवेति अपेक्षाभावाद्वा तथोक्तवान् । मातरिति सम्बोधनात् अज्ञानम् । व्यवहारे तथात्वात् । अनेन कामस्य धर्मविरोधित्वं सहजं निरूपितम् । अन्यथा मातृपदमुच्चार्य पश्चात्तस्यां सङ्गं न कुर्यात् । लौकिकी भाषेयमिति न पारमार्थिको विरोधः । माता हि मानं पालयति स्वस्य अन्यस्य च । न हि विवृतेष्वङ्गेषु मानं तिष्ठति । अतः सर्वप्राणिनामेव माता संरक्ष्या । अतो मातृभावं परित्यज्य गुप्तं काम दूरीकृत्य यथा कामिनी प्रकटकामा तद्वद्वर्तस इति ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् होने से धर्म में तत्पर है, क्योंकि कृष्ण की सन्तति है, और मर्यादा के लिए प्रकट हुआ है, सदानन्द का अंकुर भी, सदानन्द ही होता है अतः उसको किसी की भी अपेक्षा नहीं, जिससे यों कहा, कि हे माता ! इस सम्बोधन देने से अज्ञान प्रकट किया है, किन्तु व्यवहार में यों होने से. इससे काम, धर्म का सहज विरोधी है, यह निरूपण किया, यदि व्यवहार से माता शब्द न कहा हुआ होता तो, अनन्तर इससे संग न करे, किन्तु किया है अतः यह कहना व्यवहार मात्र है, यह भाषा लौकिकी है, जिससे इसमें परमार्थिक कोई विरोध नहीं है माता तो अपने और अन्य के सम्मान की रक्षा करती है, फैले हुए अङ्गों में सम्मान नहीं रहता है, अतः सर्व प्राणियों को ही माता सम्यक रीति से रक्षा करने योग्य है, अतः मातृभाव का त्याग कर, गुप्त काम को दूर कर, जैसे कामिनी अपनी कामना प्रकट दिखाती है उसी तरह तूं कर रही है ॥११॥

आभास—तदा तिरोहितज्ञानमेनं मत्वा अज्ञानादुक्तमनुक्तमिति बोधयति भवान्नारायणसुत इति ।

आभासार्थ—मायावती ने समझ लिया, कि अपने स्वरूप का ज्ञान इसका तिरोहित हो गया है, अतः इसने जो कहा है, वह अज्ञान से कहा है इसलिए इसका कहा हुआ न कहने के समान है, अतः इसको इसके स्वरूप का ज्ञान कराना चाहिए, इस विचार से "रति" इसको "भवान्नारायणसुत" श्लोक से स्वरूप ज्ञान कराती है।

रतिरुवाच—

श्लोक—**भवान्नारायणसुतः शम्बरेण हृतो गृहात् ।**
अहं ते दयिता पत्नी रतिः कामो भवान्प्रभो ॥१२॥

श्लोकार्थ—रति कहने लगी—कि आप श्रीकृष्ण के पुत्र हैं, शम्बासुर ने सूतिका गृह से आपका हरण किया है, मैं आपकी स्त्री "रति" हूँ और आप कामदेव हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—स हि शम्वरं पितरं तां च मातरं मन्यते । तन्निषेधार्थमाह नारायणसुत इति । एकनिषेधेनैव इतरस्य सिद्धत्वात् । स्वरूपं चाग्रे वक्तव्यमिति निरूपयति । नारायणपुत्रः कथमत्रागत इत्यत्रोपपत्तिमाह गृहाच्छम्बरेण हृत इति । साधारण्यपि धात्री मातृवदेव परिपाल्येति चेत्, तत्राह अहं ते दयिता पत्नीति । दयितात्वाल्लोकतस्त्यागं नार्हति । पत्नीत्वान्न वेदतः । तथापि लोके प्रसिद्ध्यभावात् कथमेवमिति चेत्, तत्राह रतिरिति । भवांश्च काम इति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वह शम्बर को पिता और मायावती को माता मानता है यों नहीं है, इसका ज्ञान कराने के लिए मायावती बालक को कहती है कि आप नारायण के पुत्र हैं इसलिए शम्बर आपके पिता नहीं है और मैं माता नहीं हूँ यों कहकर आप कौन हैं, वह कहती है, कि आप नारायण के पुत्र हैं इस पर यदि बालक पूछे, कि नारायण का पुत्र हूँ तो यहाँ कैसे आया ? इसलिए उसके पूछने से पहले ही, बतला देती है, कि शम्बर ने सूतिका गृह से आपका हरण किया है, यदि बालक कहदे, कि साधारण धात्री को माता की तरह पाला एवं समझा जाता है, इसलिए प्रथम ही बता देती है, कि मैं धात्रीवत् नहीं हूँ किन्तु आपकी दयिता (स्त्री) एवं पत्नी हूँ, दयिता (स्त्री) होने से लौकिक रीति के अनुसार भी मैं त्याग के योग्य नहीं हूँ और पत्नी होने से, वेद शास्त्र रीत्यनुसार भी आप मेरा त्याग नहीं कर सकते हैं-यों माना जाय तो भी लोक में इस बात का पता नहीं है, यदि यों कहे तो उत्तर देती है, कि मैं "रति" आपकी स्त्री हूँ और आप कामदेव मेरे पति हो ॥१२॥

आभास—कामस्य कथमत्र शत्रुगृहे स्थितिरिति, तत्राह एष त्वेति

आभासार्थ—मैं काम हूँ तो यहाँ शत्रु गृह में मेरा निवास कैसे हुआ ? इसका उत्तर "एष त्वा" श्लोक में देती हैं।

श्लोक—एष त्वाऽनिर्दशं सिन्धावाक्षिपच्छम्बरोऽसुरः ।
मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरादिह प्राप्तो भवान्प्रभो ॥१३

श्लोकार्थ—इस शम्बासुर ने आपके जन्म को दस दिन भी न हुए, उस समय आपको समुद्र में फेंक दिया, वहाँ आपको मत्स्य निगल गया, उसके पेट में से निकलने के अनन्तर आप यहां प्राप्त हुए हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—एष त्वामिति । असुरत्वात्तथाकरणम् । मत्स्यो हि स्वज्ञातिघाती । तदुदरादिह प्राप्त इत्यनेनसोऽपि हतो निरूपितः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—शम्बर असुर है इस कारण से यों किया अर्थात् शिशु अवस्था में आपको समुद्र में फेंक दिया मत्स्य अपनी ज्ञाति का घात करते हैं, उसके उदर से यहाँ प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार इसने उसको भी मारा यह निरूपण किया है ॥१३॥

आभास—शम्बरः परमवशिष्यते, अतस्तं जहीत्याह तमिममिति ।

आभासार्थ—शेष शम्बर बचा है, अतः "तमिमं" श्लोक से कहती है कि इसको मारो ।

श्लोक—तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः ।
मायाशतविदं त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः ॥१४॥

श्लोकार्थ—आपने इस दुर्धर्ष और अजेय शत्रु को मारो, यह सैंकड़ों माया के प्रकार जानता है, अतः इसको मोहन आदि मायाओं से ही मारो ॥१४॥

सुबोधिनी—सावधानत्वाय तस्य गुणानाह **दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुं मायाशतविदमिति** । दुर्धर्षत्वात् न लौकिकोपायेन मारयितुं शक्यः । अनेन विषदानादिप्रकारा अपि व्यावर्तिताः । दुर्जयत्वात् क्षत्रियधर्मेणापि मारयितुमशक्यः । शत्रुत्वान्नोपेक्षणीयः । आत्मन इति । घातादेव निवर्तते, नान्यथेति सूचितम् । तर्हि अलौकिकयुद्धेन मारणीय इति पक्षं निवारयति **मायाशतविदमिति** । तर्ह्यवध्यः कथं मारणीय इति चेत्, तत्रोपायमाह । **त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः** सहितः **इमं जहि** । आदौ मोहय, ततस्तन्मायाः प्रतियोगिमायाभिर्दूरीकुरु असुराणां हि माया भगवानिति, तस्मादेवंवित् सर्वैरेव प्रकारैः उपासीतेति उपासनायास्तुल्यत्वात् । अनेकधोपासकस्य विशिष्टत्वाच्च मोहनादिभिर्मायाभिस्तन्मायादूरीकरणं युक्तमेव ॥१४॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न को सावधान करने के लिए उसके गुणों का वर्णन करती है, दुर्धर्ष[1] है, इसलिए विषदान आदि लौकिक प्रकार से यह मरेगा नहीं, दुर्जय[2] है, इसलिए क्षत्रिय धर्म युद्ध से भी मरेगा नहीं. जो उपेक्षा की जाय, वह करनी भी योग्य नहीं है, क्योंकि अपना शत्रु है जो अलौकिक युद्ध से मारा जाय, इस सिद्धान्त का भी निवारण करती है । क्योंकि सैंकड़ो प्रकार की माया जानने वाला है, तो जो अवधा[3] है, वैसे को कैसे मारा जाय इसका उपाय कहिये, आप इसको अपनी मोहन आदि मायाओं से मारो, पहले इसको मोहित कर अर्थात् भ्रम में डाल दें, इसके बाद उसकी माया के प्रतिद्वन्द्वी मायाओं से इसकी माया को हटा दे, असुरों का भगवान् माया है, इसी कारण से इस प्रकार जानकार हो सर्व प्रकार उपासना तुल्य होने से, उपासना कर अर्थात् आप भी माया का आश्रय लेकर इसको मार, अनेक प्रकार से उपासना करने वाले उपासक की विशेषता होती है अतः मोहन आदि मायाओं से उसकी माया को दूर करना योग्य ही है ॥१४॥

आभास—ननु यथा ममाज्ञानम्, एवं तस्यापीति, ज्ञाने सत्येव अपकारित्वात्, न मारणीय इति चेत्, तत्राह **परिशोचतीति** ।

आभासार्थ—जैसे मुझे अज्ञान है, वैसे ही उसको भी अज्ञान है, ज्ञान होने पर ही अपकारीपन समझा जाता है । इसलिए इसको मारना नहीं चाहिये ? यदि आप यों कहो तो इसका परिणाम जो होगा वह 'परिशोचति' श्लोक में बताती है ।

---

१ जिसका सामना करना मुश्किल है । २–जिसको जीतना मुश्किल है । ३–मर नहीं सकता है ।

श्लोक—परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा ।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा ॥१५॥
प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—टिटहरी के बच्चे चले जावें तो जैसे वह सोच करती है, वैसे तेरी माता भी तुम्हारे जाने से शोक कर रही है; जैसे बछड़ा बिना गौ व्याकुल होती है, वैसे तेरी दीन माता भी पुत्र स्नेह के कारण आकुल हो रही है; यों कहकर महात्मा प्रद्युम्न को मायावती ने सर्व मायाओं को नाश करने वाली महामाया प्रदान की ॥१५-१६॥

सुबोधिनी—माता हि दयापात्रम्, अतस्तद्दु:खदूरीकरणार्थं मारणीय एवेति भावः। ते मातेति सम्भावनया वदति, तस्या रुक्मिणीत्वं वा वैदर्भीत्वं वा न शोकनिवारकमिति तन्नोक्तम्। कुररी विवेकरहिता, सा रात्रौ शोचति। अनेन निद्राभावोऽपि सूचितः। गतप्रजेति शोकहेतुः। गता केनचिदपहृता प्रजा यस्याः। नष्टायां पुनरावृत्तिशङ्काभावात्तथा न शोकः। सापि प्रजा पुत्ररूपेति नान्तःशोकमात्रं जनयति, किन्तु सर्वदेहेन्द्रियाणां सर्वक्रियाराहित्यमपि करोतीत्याह पुत्रस्नेहाकुलेति। पुत्रस्नेहोऽत्यन्तं व्याकुलतां सम्पादयतीति लोकप्रसिद्धिः। किञ्च। पितृभ्रात्रादिभिः विरोधात् परित्यक्ता। एवं बन्धुविरोधेन मातृपक्षसहायाभावात् दीना पुत्रेणैव समाहिता भवति। अतस्तदर्थमपि गन्तव्यमित्यर्थः। किञ्च। विवाहप्रभृतिमनःपरितोषाभावात् जाते पुत्रे पित्रादयः मानयेरन्। तस्मिन्नपि गते चिन्तया आतुरा अपि भविष्यतीत्याह आतुरेति। आतुरो ज्वरी। विवेकेन सर्वसमाधानं भविष्यतीति चेत्। तत्र दृष्टान्तमाह गौरिवेति। वत्साभावे यथा गौः। तस्या हि न क्वापि ममता, सर्वा ममता वत्स एव भवति। अन्येषां तु विभक्ता ममता भवति। अतो गोर्दृष्टान्तीक्रियते सर्वत्र। इयं च सर्वतो ममतामाकृष्य त्वय्येव स्थापितवतीति गोतुल्या भवति। एवं निरूपणमात्रेण कार्यं न सिध्यतीति। एवं प्रभाष्य विद्यामपि ददौ। स्त्रीदत्ताया विद्यायाः तदैव सिद्धिः। प्रद्युम्नो हि विद्याग्रहणयोग्यः, नाम्नैव प्रसिद्धत्वात्। महात्मन इति विद्या फलिष्यतीति सूचितम्। सा विद्या स्वस्मिन्नागता मायैवेति ज्ञापयितुं मायावतीत्युक्तम्। दैत्यादीनामिव माया साधारणी भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह महामायामिति। इयं हि सर्वानेव भगवदंशान् व्यामोहयितुं प्रवृत्ता महामाया। ननु दैत्यानां भगवानेव माया भवतीति कथमस्या महामायात्वम्, तत्राह सर्वमायाविनाशिनीमिति। तत्र हि स्वल्पाभिव्यक्तिः स्वधेत्यादाविव, परव्यामोहार्थं तद्रूपो भूत्वा पालयति। न तु तेषां मोक्षं प्रयच्छति। अतो बाधकेषु जीवचैतन्यमिव तदपि तिरोभूतमिति सर्वमायाविनाशित्वम् ॥१५-१६॥

व्याख्यार्थ—निश्चय से माता दया का पात्र है, अतः उसके दुःख को मिटाने के लिए इसको मारना ही चाहिये, यह भाव है। यहाँ माता शब्द सामान्य रूप से कहा है, अतः तुम्हारी माता का रुक्मिणीपन वा वैदर्भीपन भी शोक को मिटा नहीं सकता है यद्यपि रुक्म भ्राता के सर्व संबंध से सम्पत्ति
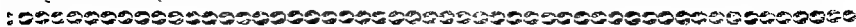
रुक्मिणी की है किन्तु वह सम्पत्ति भी इस शोक को निवृत्त नहीं कर सकेगी तथा वैदर्भीपन में यह भक्ति प्रधान है जिससे शोक की सम्भावना नहीं होनी चाहिये किन्तु यह पुत्र शोक ऐसा है जिसको यह भक्ति भी मेट नही सकती है, कारण कि कोई इसका पुत्र ले गया है जिसका शोक है अतः उसका विवेक चला गया है जिससे टिटिहरी की तरह शोक करती है। रात्रि के समय शोक करती है इस कारण उसको नींद भी नहीं आती है, प्रजा चली जाय, किन्तु फिर लौट आजायेगी तो ऐसा शोक न हो किन्तु तुम्हारे लौट आने की भी उसको आशा नहीं है, फिर प्रजा कन्या नहीं है किन्तु पुत्र रुप प्रजा है वह केवल अन्तःकरण में शोक उत्पन्न नहीं करती हैं लेकिन समस्त देह इन्द्रिय आदि की सर्व क्रिया शक्ति नष्ट कर देती है, अतः तुम्हारी माता पुत्र स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हो रही है, पुत्र का स्नेह असीम व्याकुलता उत्पन्न करता है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है, विरोध के कारण पिता भ्राता से त्यागी हुई है। उनके विरोध के कारण माता के पक्ष वाले भी सहायता नहीं करते हैं अर्थात् आश्वासन भी नहीं देते है जिससे वह तुम्हारी माता दीन है ऐसी अवस्था में पुत्र ही उसका सहारा होता है अतः उसके लिए भी तुमको इसको मारने के लिए जाना चाहिये, इस प्रकार कहने का तात्पर्य है, मन की प्रसन्नता के कारण विवाह आदि न होने पर भी, पुत्र उत्पन्न होता है तो पिता आदि मान देते हैं, यदि उत्पन्न हुआ पुत्र भी गुम हो जावे तो माता चिन्ता से आतुर भी होगी अतः तेरी माता भी आतुर है, आतुर की दशा वह होती हैं जैसे ज्वर वाले की होती है। विवेक से उसकी आतुरता का समाधान हो जायेगा, यदि यों कहो तो, यों भी समाधान न होगा, जिसमें दृष्टान्त देकर उसको सिद्ध करती है 'गौरिव' बछड़े के जाने पर गौ आतुर हो जाती हैं, क्योंकि गौ की ममता का स्थान केवल जैसे वत्स ही है,दूसरों की ममता तो बांटी हुई होती है किन्तु गौ की बांटी हुई नहीं होती है, इसलिए गौ का दृष्टान्त दिया है, तुम्हारी माता ने भी सबसे ममता को निकाल कर सम्पूर्ण ममता तुझ में ही स्थापित की है। इसलिए गौ के समान होने से उसकी भाँति ही आतुर व्याकुल है,मायावती ने इतना कहकर सोचा कि केवल यों समझाने से कार्य की सिद्धि नहीं होगी, अतः यों कह कर विद्या भी दी, स्त्री की दी हुई विद्या की सिद्धि तब होती है जब देने का समय होता है, मायावती ने सोचा कि अब इसको इस विद्या की आवश्यकता है, इस विद्या के सिवाय शत्रु मरेगा नहीं अतः देने का समय समझ विद्या दी, सर्व सुहृदों में स्त्री उत्तम है, और पति की अर्द्धांगिनी है, अतः उसकी दी हुई विद्या दान समय में देने पर सिद्धि होती है, लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि स्त्रियों का कहना शीघ्र ही हृदय में बैठ जाता है, प्रद्युम्न भी विया ग्रहण करने के योग्य है, नाम से ही प्रसिद्ध होने से, विद्या फली भूत होगी इसलिए 'महात्मनः' विशेषण दिया है, रति का नाम मायावती इसलिए ही हुआ कि वह माया विद्या इसमें आ गई है जैसे दैत्यों के पास साधारणी माया है वैसे यह भी होगी। इस संशय को मिटाने के लिए कहा है कि यह 'महामाया' है, यह 'महामाया' इसलिये कही जाती है कि सर्व भगवदंशों को मोहित करने के लिए प्रवृत्त हुई है, जब दैत्यों की माया भगवान् ही है तब यह महामाया कैसे ? इसके उत्तर में कहा है कि 'सर्व माया विनाशिनीम्' समस्त मायाओं को नाश करने वाली है अतः 'महामाया' है, जब 'स्वधा' कहकर जो पितरों को अन्न आदि दिया जाता है तब जैसे भगवान् पितृरुप होकर उस पुत्र की पालना करते है। नहीं कि प्रकट होकर तावता पुत्रों को मोक्ष देते हैं वा संघात में जो आत्म बुद्धि है उसको नाश करते है, इसी प्रकार अन्य को मोहित करने के लिए भगवान् मायारूप बनकर भक्त की भी पालना करते हैं, नहीं कि उनको मोक्ष देते हैं, अतः दैत्यों में विद्यमान भी जीव में स्थित भगवदंश रुप चैतन्य तिरोहित है जिससे वे केवल अपने जीवन का ही कार्य करते है, कर्मज्ञान आदि कुछ नहीं करते है इसी कारण से जीवत्व तुल्य होते भी दैत्यों

की अधर्म में रुचि होती है. दैवी सृष्टि में भगवदंश के तिरोभूत न होने से सम्मत कार्यों की सिद्धि होती है, इसी तरह शम्बर की माया में विद्यमान भी भगवत्त्व तिरोहित होने से पालने के सिवाय अन्य मायाओं को नाश करने में असमर्थ है, प्रद्युम्न की माया में भगवान् के आविर्भूत होने से समस्त मायाओं को नाश करने का सामर्थ्य है जिससे उसके सर्व कार्यों की सिद्धि होती है ।।१५-१६।।

आभास—ततः प्राप्तविद्यः अक्लिष्टकर्मा ज्ञापयित्वैव मारयिष्यामीति विद्याप्राबल्यं वक्तुमाह्वानमाह **स च शम्बरमिति** ।

आभासार्थ- पश्चात् जिसको कर्म करने में किसी प्रकार श्रम नहीं होता है, ऐसे प्रद्युम्न ने विद्या प्राप्त कर विचार करके निश्चय किया कि इसको जताकर ही विद्या से मरवाऊँगा, इसलिए विद्या की प्रबलता कहने के वा बताने के लिए 'सच शम्बरं' श्लोक में उसको युद्ध के लिए आह्वान करता है ।

श्लोक—स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत् ।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन्संजनयन्कलिम् ।।१७।।

श्लोकार्थ—वह प्रद्युम्न शम्बर के पास जाकर, जिन आक्षेपों को कोई भी सहन न कर सके, ऐसे वचन कहकर झगड़े को पैदा करता हुआ, उसको लड़ने के लिए बुलाया ।।१७।।

सुबोधिनी—चकारात्तद्गतो भगवान् । पूर्वक्रियया समुच्चयं वा आह । तथा सति विद्याग्रहणं तन्मारणार्थमेवेति फलिष्यति । **अभ्येत्य** निकटे गत्वा । शङ्काभावो निरूपितः । व्याजेन प्रवर्तनं वारयति **संयुगाय समाह्वयदिति** । बालवाक्यं मत्वा न प्रवर्तेतेति अधिक्षेपमप्याह **अविषह्यै**रिति । **तं** प्रसिद्धम् । प्रसिद्धो ह्यल्पमप्याक्षेपं न सहते । तत्रापि नान्यदीयमनुवदति, किन्तु स्वयमेव क्षिपति । स्नेहात्पुत्रादयोऽपि कदाचिदेवं कुर्वन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **संजनयन्कलिमिति** । कलहमुत्पादयन् । अहं प्रद्युम्नः कामः, त्वं शत्रुः, त्वां मारयिष्यामीत्यादिवाक्यान्युक्तवानित्यर्थः ।

व्याख्यार्थ—'च' पद श्लोक में दिया है जिसका आशय है कि उसमें मायारूप भगवान् प्रविष्ट हुए, अथवा 'च' पूर्व क्रिया समुच्चय के लिए दिया है, यों होने पर ही विद्या के ग्रहण का फल उसका मारना ही होगा, नजदीक गया, जिससे वह शूरवीर एवं दैत्य है उसके पास जाना शङ्का वाला है इस भ्रम का भी नजदीक जाने से निवारण कर दिया है कि हम इससे किसी प्रकार भी डरते नहीं है । यदि शम्बर बालक समझ के वचनों पर ध्यान न देवे तो इसलिये कहते हैं कि लोक में प्रसिद्ध पुरुष थोड़े अपमान सूचक शब्दों को भी सहन नहीं कर सकते हैं, उसमें भी दूसरे के कहे हुए नहीं कहता है, किन्तु स्वयं कहता है, वे भी ऐसे अपमान सूचक शब्द कहने लगा, जो केवल सहन करने योग्य नहीं थे, किन्तु झगड़ा उत्पन्न करने वाले थे, अचानक स्नेह के कारण पुत्र आदि भी यों कह देते हैं, इसकी व्यावृत्ति के लिये कहा है कि पुत्रादिकों के वचन स्नेह से कहे जाने से झगड़े को पैदा नहीं करते हैं,

इसके अपशब्द कलह को उत्पन्न करने वाले है, मैं प्रद्युम्न काम रूप हूँ तू मेरा शत्रु है इसलिये तुझे मारूँगा इत्यादि अपमान सूचक वाक्य कहने लगा ।।१७।।

आभास—ततो युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याह **सोऽधिक्षिप्त** इति ।

आभासार्थ– अनन्तर युद्ध के लिये प्रवृत हुआ जिसका वर्णन 'सोऽधिक्षिप्तो' श्लोक में कहा जाता है ।

श्लोक—सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पादाहत इवोरगः ।
निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः ।।१८।।

श्लोकार्थ—दुर्वचनों से तिरस्कृत वह शम्बरासुर जैसे पैर की ठोकर लगाने से सर्प फुंकारता है, वैसे ही क्रोध से लाल लोचन, गदा हाथ में लेकर बाहर निकला ।।१८।।

सुबोधिनी—यथा तस्मिन् स्नेहः, एवं द्वेषोऽपीति कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य आक्षेपस्य दुष्टत्वमाह **दुर्वचोभिरि**ति । दुर्वचोभिराक्षिप्तः पितापि पुत्रं मारयतीति कृत्रिमत्वे जाते कथं न प्रवर्ततेत्यर्थः । ननु मृत्युरयमिति विशेषेण समागत इति भयात् कथं न निवृत्तः, तत्राह **पादाहत इवोरग** इति । दीर्घरोषः सर्पः मरणमप्यङ्गीकरोति, न तु निवर्तत इति । तस्य हि क्रोध एव परिपाल्यः, नत्वन्ये । तत एकेन सह एकेनैव युद्धं कर्तव्यमिति गदापाणिरेव निर्गतः । नापि बद्धकवचः, नापि ससहायः । तथा निर्गमने हेतु**रमर्षात्ताम्रलोचन** इति । क्रोधवशान्न किञ्चिज्ज्ञातवान् । दृष्टेरपि ताम्रेति दृष्ट्वापि न ज्ञातवान् ।।१८।।

व्याख्यार्थ - जैसे उस बाल प्रद्युम्न में शम्बर का स्नेह था, वैसे ही द्वेष भी हुआ, इसलिये युद्ध के वास्ते कैसे प्रवृत्ति हुई ? जिसके उत्तर में कहा जाता है, कि निन्दा की दुष्टता कहते है, दुर्वचनों से यदि पिता का अपमान किया जावे, तो पिता भी पुत्र को मारता है यह पिता तो कृत्रिम (बनावटी) है वह मारने के लिये क्यों न प्रवृत्त होवे, शम्बर को यह ज्ञात हो गया, कि यह मृत्यु है इसलिये विशेष रूप से आया है, तब भय से क्यों न निवृत्त हुआ ? इस पर कहा कि 'पादाहत इव उरगः' जैसे पाद से आहत सर्प विशेष क्रोध ने आकर फुत्कार करता है, मरना कबुल करता है किन्तु यहां से निवृत्त नहीं होता है, क्योंकि उसको क्रोध की हो रक्षा करनी है न कि दूसरों की, इसलिये एक के साथ एक को ही युद्ध करना चाहिये इस कारण से हाथ में गदा लेकर अकेला ही बाहर निकला, न कवच धारण किया तथा न अपने साथ किसी सहायक को लिया था, बाहर आने में कारण, दुर्वचनों से क्रोध आ गया था जिससे उसके नेत्र लाल हो रहे थे, क्रोध के वश हो जाने से कुछ भी जान न सका, दृष्टि लाल हो जाने से देख कर भी जान नहीं सका ।।१८।।

आभास—ततः प्रथमत एव स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह **गदामाविध्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् स्वयं शम्बर ही प्रथम मारने के लिये प्रवृत्त हुआ, जिसका वर्णन 'गदामाविध्य' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने।
प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिर्घोषनिष्ठुरम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—उस दैत्य ने बहुत शीघ्रता से गदा को फिराकर महात्मा प्रद्युम्न के ऊपर फेंककर वज्र के गिरने के समय जो भारी घोष होता है, वैसी ध्वनि की ॥१९॥

सुबोधिनी - क्रोधवशान्महतीमपि गदामुत्तोल्य भ्रामयित्वा वा। तरसा यावन्न सावधानो भवति। अनेन अपराधादपि तस्य पराजय एवेति सूचितम्। महात्मन इति। तस्य पलायनाद्यभावः सूचितः। प्रक्षेपमात्रेणैव मारित इति मत्वा व्यनदत्। मूर्च्छितस्य तेन नादेन सुतरां मरणं भवतीति ज्ञापयितुं विशिनष्टि वज्रनिर्घोषनिष्ठुरमिति। वज्रस्य नितरां घोषः पातसमयशब्दः। ततोऽपि निष्ठुरमिति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—क्रोध वश होने से भारी गदा को ऊपर उठाकर अथवा घुमा कर, बहुत शीघ्र जब तक वह सावधान न हो जावे, उसके ऊपर उसका प्रहार किया, इस तरह अपराध करने से भी उसका पराजय ही सूचित हुआ। प्रद्युम्न को 'महात्मा' का विशेषण देकर यह बताया कि वह महती आत्मा है इसलिये पलायन भी न करेगा उस(शम्बर,ने समझा कि प्रहार मात्र से ही मैंने इसको मारा डाला, इसलिये जोर से ध्वनी करने लगा, वैसे नाद से मूर्च्छित का बहुत शीघ्र मरण हो जाता है, यह जताने के लिये, उस नाद के स्वरूप की दृष्टान्त से बखान करते हैं कि वज्र गिरने के समय जैसा भारी घोष होता है उससे भी यह नाद कठोर हैं ॥१९॥

आभास—एतादृशोऽप्युद्यमः व्यर्थो जातः (इति) प्रद्युम्नस्य पराक्रमेणेत्याह **तामापतन्तीमिति।**

आभासार्थ—प्रद्युम्न के पराक्रम से ऐसा भी शम्बर का पराक्रम व्यर्थ गया जिसका वर्णन 'तामापतन्तीं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तामापतन्तीं भगवान्प्रद्युम्नो गदया गदाम्।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत्स्वगदां नदन् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् प्रद्युम्न ने उस आती हुई गदा को अपनी गदा से दूर कर क्रोधित हो नाद करता हुआ अपनी गदा से शत्रु पर प्रहार किया ॥२०॥
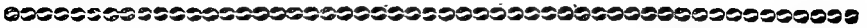
सुबोधिनी - स्वगदया तां गदामपास्य आगच्छन्तीं दूरादेव मारयित्वा ततः क्रुद्धः सन् तद्वत्स्वयमपि नदन्। शत्रुर्मारणीय एवेति, अन्यथा मारयिष्यतीति वा स्वगदां प्राहिणोत्। भगवानित्येतत्सामर्थ्यहेतुः। भगवत्कार्यत्वादावेशित्वाद्वा भगवान् ॥२०॥

व्याख्यार्थ - प्रद्युम्न ने अपनी गदा से उस गदा को दूर से ही तोड़कर, अनन्तर क्रोधित हो के, उसकी भांति आपने भी, शत्रु को मारना ही चाहिये नहीं तो वह मार डालेगा, यों नाद करता हुआ अपनी गदा का शत्रु पर प्रहार किया, भगवान् विशेषण इसके सामर्थ्य का कारण है, अथवा भगवान् के कार्य होने से वा प्रद्युम्न में भगवान् का आवेश है इसलिये भगवान् कहा है ॥२०॥

आभास—ततो लौकिकेन जयाभावमाशङ्क्य मायया भगवद्रूपया युद्धं करिष्यामीति प्रवृत्त इत्याह स च मायामिति।

आभासार्थ—'स च मायां' श्लोक में कहते हैं कि शम्बर लौकिक प्रकार अपनी जीत न होगी, यों समझ, भगवद्रूप माया से युद्ध कर जीतूंगा इस विचार से युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

श्लोक—स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्।
मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः ॥२१॥

श्लोकार्थ—वह शम्बर मय दैत्य की सिखाई हुई दैत्यों की माया का आश्रय लेकर आकाश में स्थित हो प्रद्युम्न पर अस्त्रों की वर्षा करने लगा ॥२१॥

सुबोधिनी—दैतेयीत्यनेन भगवत्त्वमुक्तम्। सम्यगाश्रयणं मनःपूर्वकं भक्त्या। मयदर्शितामिति। सिद्धादुपदेशः सफलो भवतीति ज्ञापनार्थः। ततः अदृश्यः सन् अस्त्रमयमाग्नेयाद्यस्त्रसमूहं कार्ष्णौ प्रद्युम्ने स्वयं विहायसि आकाश एव स्थितः वैहायसः। असुराणामन्तरिक्षेऽपि गतिरस्तीति सूचयितुं तथोक्तम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—'दैतेयी' पद से बताया कि यह माया दैत्यों के लिये भगवान् है, अच्छे प्रकार आश्रय का भाव है, कि मन पूर्वक भक्ति से उसका सहारा लिया है, यह विद्या मय की सिद्ध की हुई है, जिसके उपदेश की, की हुई है अतः सफल होगी, यह जानने के लिये मयदर्शिताम्' पद दिया है, अनन्तर अदृश्य हो आकाश में स्थित होते हुए प्रद्युम्न पर आग्नेय आदि अस्त्र समूह की वर्षा करने लगा, आकाश में स्थित कहने से यह बताया कि असुरों की अन्तरिक्ष में भी गति हो सकती है ॥२१॥

आभास—ततो मायाया भगवत्त्वात् काचित्पीडा जातेत्याह बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेणेति।

आभासार्थ—'बाध्यमानो' श्लोक में बताते हैं कि दैत्यों के लिये माया भगवान् है, अतः माया से बताये गये अस्त्रों से रुक्मिणी के पुत्र को कुछ पीड़ा हुई।

श्लोक—बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः ।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—अस्त्रों की वर्षा से पीड़ित महारथी रुक्मिणी के पुत्र ने सत्वमय सर्व माया की नाश करने वाली महाविद्या का प्रयोग किया ॥२२॥

सुबोधिनी—हीनत्वं सम्पादयितुं रौक्मिणेय इत्युक्तम् । नहि कृष्णपुत्रे बाधा सम्भवतीति । तथापि महारथः क्षत्रियजातित्वेन प्राप्तसामर्थ्यं सत्त्वात्मिकां प्रतिस्पर्धिनीं विद्यारूपां तया साक्षादुपदिष्टां समाश्रित्य स्वयमप्यस्त्रमयं वर्षं मुमुचे इति सम्बन्ध. ॥२२॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न को कार्ष्णेय[1] न कह कर रौक्मिणेय[2] कहा जिसका आशय उनकी यहां हीनता दिखानी है यदि कृष्ण का पुत्र कहे तो कृष्ण के पुत्र को कोई बाधा नहीं होती किन्तु बाधा इसलिये हुई कि रुक्मिणी से भी पुत्रत्व सम्बन्ध होने से इतनी हीनता है जो कुछ बाधा हुई, बाधा होने पर भी महारथी तथा क्षत्रिय जातिपन से सामर्थ्य प्राप्त किया था जिससे सत्वरूप, सकल माया को दबाने की इच्छा वाली विद्या रूप माया जिसका मायावती ने साक्षात् उपदेश किया हैं, अतः मंत्र आदि पढने के सिवाय वह माया साक्षात् स्वयं आ गई है उसका आश्रय कर स्वयं प्रद्युम्न भी अस्त्रों की वर्षा करने लगा ॥२२॥

आभास—ततस्तेनापि बह्व्यो माया. प्रदर्शिता इत्याह तत इति ।

आभासार्थ—"ततो गौह्यक' श्लोक में कहते है कि प्रद्युम्न की इस प्रकार वर्षा करने के अनन्तर उसने भी अनेक प्रकार मायाएं दिखाई ।

श्लोक—ततो गौह्यकगान्धर्वपैशाचोरगराक्षसीः ।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत्स ताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् दैत्य ने गुह्यकों की, गन्धर्वों की; पिशाचों की, उरगों की, राक्षसों की; इस प्रकार अनेक मायाओं का प्रयोग किया ॥२३॥

सुबोधिनी—पञ्चैता अङ्गमायाः, तेन हि साङ्गो भगवान् सेवित इति विज्ञायते । गन्धर्वा अपि दैत्यपक्षपातिनः । तेषामवान्तरभेदाः सन्तीत्याह प्रायुङ्क्त शतश इति । सर्वासामपि सकृदेव निराकरणं कृतवानित्याह । कार्ष्णिः सः पूर्वप्राप्तमायः ता व्यधमयत् ॥२३॥

---

[1]—कृष्ण का पुत्र [2]—रुक्मिणी का पुत्र

व्याख्यार्थ—ये पांच ही अंग मायाएं है इससे जाना जाता है कि इसने अंग सहित मायारूप भगवान् की आराधना की है, गन्धर्व भी दैत्यों के पक्षपाती हैं, उनके अवान्तर भेद भी हैं, इसलिये कहा है कि सैकड़ो प्रकार से प्रयोग किये उन सकलों का भी प्रद्युम्न ने एक बार ही निराकरण कर दिया, वह कृष्ण के पुत्र हैं, पहले ही माया प्राप्त करली है, जिससे उसकी समस्त मायाओं को दबा दिया अथवा नष्ट कर दिया ।२३।।

आभास—ततः पौरुषद्वयेऽपि नष्टे तं मारितवानित्याह निशातमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् प्रद्युम्न ने देखा कि दो बार किया हुआ उद्यम सफल न हुआ अतः उसको ही मारने लगा जिसका वर्णन 'निशातमसि' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् ।
शम्बरस्य शिरः कायात्ताम्रश्मश्र्वोजसाहरत् ।।२४।।

श्लोकार्थ—फिर तीक्ष्ण खड्ग लेकर किरीट और कुण्डल सहित उसके सिर को लालश्मश्रुवाले ने पराक्रम पूर्वक धड़ से अलग कर दिया ।।२४।।

सुबोधिनी—यथा श्येने दृष्टे पक्षिणो लीयन्ते, तथा तस्मिन् दृष्टे शम्बरो लीनो जात इति । निष्प्रभं तं स्वेच्छया असिमुद्यम्य किरीटकुण्डलसहितं परित उपरि च शोभायुक्तमधोऽपि दुर्धर्षं ताम्रश्मश्रुः ओजसा अहरत् । छित्त्वा नीतवानित्यर्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ—जैसे बाज को देख कर पक्षी छिप जाते हैं, वैसे ही प्रद्युम्न को देख कर शम्बर छिप गया, जिससे जाना गया कि अब इसकी प्रभा नष्ट हो गई है, वैसे उसको अपनी इच्छा से पराक्रम पूर्वक खड्ग को लेकर लालश्मश्रुवाले प्रद्युम्न ने किरीट तथा कुण्डल सहित नीचे और ऊपर चारों तरफ शोभायुक्त एवं दुर्धर्ष शिर को धड़ से अलग कर दिया ।।२४।।

आभास— एतत्कर्म न विगीतमिति विज्ञापयितुं देवानां सम्माननामाह आकीर्यमाण इति ।

आभासार्थ—यह कर्म निन्दनीय नहीं है, यह जताने के लिये देवों का सम्मान करने का वर्णन 'आकीर्यमाणो' श्लोक में करते है।

श्लोक—आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः ।
भार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा ।।२५।।

श्लोकार्थ—तब देवताओं ने स्तुति की और चारों तरफ फूल बरसाये अनन्तर

आकाश में भी जिसकी गति है, ऐसी मायावती आकाशमार्ग से प्रद्युम्न को द्वारका ले गई और वहां उसने अन्तःपुर में पहुँचाया ॥२५॥

सुबोधिनी—आकीरणं सर्वत्र वृष्टिः । कायिके वाचनिके चोक्ते । अर्थान्मानसिकमुक्तमिति सर्वथा देवानामादर उक्तः । ततो मायावत्या अम्बरचारिण्या विहायसा आकाशमार्गेण प्रद्युम्नो द्वारकां नीतः । आदौ भगवद्गृहे पुत्रत्वे सिद्धे पश्चादन्यत्र पुत्रत्वं सिध्यत्विति । पुरशब्देन अन्तःपुरमप्युच्यते । कृष्णान्तःपुरं नीतवती प्रद्युम्नस्य परिज्ञापनार्थम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—'आकीरण' शब्द से यह बताया है कि चारों तरफ फूलों की वृष्टि की, कायिक और वाचनिक कहे अब सर्वथा देवों की चारों तरफ पुष्प वृष्टि से आदर करने से मानसिक आदर भी कहा, अनन्तर आकाश मे फिर सकने वाली मायावती आकाश मार्ग से प्रद्युम्न को द्वारका ले गई, पहले इसका भगवद्गृह में पुत्रत्व सिद्ध हुआ था, पश्चात् दूसरे स्थान पर सिद्ध हो जाय, इसलिये उसको अन्तःपुर में ले गई, 'पुर' शब्द से अन्तःपुर भी कहा जाता है, प्रद्युम्न को ज्ञान कराने के लिये ही श्रीकृष्ण के अन्तःपुर मे ले गई ॥२५॥

श्लोक—अन्तःपुरवरं राजन्ललनाशतसंकुलम् ।
विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वह श्रीकृष्ण का श्रेष्ठ अन्तःपुर अनेक स्त्रियों से व्याप्त था; जैसे बिजली के साथ बादल आते हैं, वैसे इसने भी पत्नी के साथ आकाशमार्ग से अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥२६॥

सुबोधिनी—अन्तःपुरेषु वरम् । ललनाशतैः संकुलम् । विद्युतेव बलाहक इति शोभा दोषाभावश्चोक्तः । आकाशमार्गेण प्रवेशे विचारोऽपि न जातः । आधिदैविकास्तु जानन्तीति न विरोधं कुर्वन्ति । पत्न्या सह प्रवेशात् लौकिकोऽपि न दोषः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—अन्तःपुर में उत्तम, अनेक स्त्रियों से भरा हुआ, जैसे बिजली के साथ बादल आते हैं वैसे आए, यों कह कर शोभा तथा दोषों का अभाव दिखाया, आकाश मार्ग पर आने पर किसी प्रकार का वहां स्थितों को विचार अथवा मन में शंका भी न हुई, कारण कि आधिदैविक तो इस रहस्य को जानते हैं इसलिये विरोध भी न किया, पत्नी के साथ प्रवेश करने से लौकिक दोष भी नहीं है ॥२६॥

आभास—ततोऽन्तःपुरं प्रविष्टस्य विचारमाह तं दृष्ट्वेत्यष्टभिः ।

आभासार्थ—'तं दृष्ट्वा' इस श्लोक से आठ श्लोकों में अन्तःपुर मे प्रविष्ट हुए प्रद्युम्न के स्वरूप को देख कर जिसका जो कुछ विचार हुआ उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥२७॥
अलंकृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकादिभिः ।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह ॥२८॥
अवधार्य शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः ।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः ॥२९॥

श्लोकार्थ—मेघ के समान श्यामवर्ण, पीला पीताम्बर बांधे, लम्बी भुजा वाला, अरुण सम नेत्र वाला, सुन्दर मन्द हास्य युक्त, सुन्दर मुखारविन्द वाला, नील और वक्र आदि से अलंकृत मुख - कमल वाला; उसका स्वरूप देख उसको कृष्ण समझने लगी, जिससे कृष्ण की स्त्रियाँ जहाँ-तहाँ छिपने लगीं, धीरे-धीरे फिर उसके स्वरूप को श्रीकृष्ण से विलक्षणता पहचान कर प्रसन्न हुई कृष्ण की स्त्रियाँ पवित्र हास वाली होकर स्त्रीरत्न सहित आए हुए प्रद्युम्न के पास आने लगीं ॥२७–२९॥

सुबोधिनी—सर्वासां त्रिभिर्विचारः, रुक्मिण्याः पञ्चभिः । साधारणीनां विचारे हेतुं वक्तुं प्रथमतो मोहमाह । अन्तःपुरे यावन्तो जनाः, सुतरां स्त्रियः तं प्रद्युम्नं भगवत्सदृशं दृष्ट्वा, कृष्णं मत्वा, प्रथमतः ह्रीताः लज्जिताः सत्यः कृष्णस्य स्त्रियो निलिल्युः । ता हि स्वच्छन्द क्रीडमानाः स्थिताः अतो भगवान् दृष्टवानिति लज्जा । भगवत्समानतां वक्तुं विशेषणान्याह जलदश्याममित्यादिना । भगवान् षड्गुणसहितः, स्वयमयमपि सप्तधा समान इति । श्रीवत्सकौस्तुभौ विना अन्यस्योपलक्षणं वर्णनम् । जलदश्याममिति रूपतुल्यता । आकृतिस्तु पुत्रत्वादेव समाना भवति । पीतपट्टाम्बरमिति परिच्छदतुल्यता । प्रलम्बबाहुमिति स्त्रीणां सम्यक् ज्ञातावयवतुल्यता । ताम्राक्षमिति अनौचित्यात् क्रुद्ध इव स ज्ञातः । इदं वैलक्षण्यमग्रे वक्ष्यति । सुस्मितमिति । तासां भाव्यो धर्मः । रुचिराननमिति सर्वोत्कृष्टशोभा । अलङ्कृतं मुखाम्भोजं यस्य । नीलैर्वक्रैरलकादिभिः, आदिशब्देन कुण्डलकिरीटादिभिः, किं बहुना भगवदीया सर्वा सामग्री ग्राह्या । मुखं हि सर्वेषां भेदजनकम् । तदेव तुल्यं जातमिति भ्रमो युक्तः । यत्र क्वचिल्लीना इति निलीय दर्शनं सम्भवतीति निरूपितम् । ततो जिज्ञासायां भगवतः किञ्चिदाधिक्यं श्रीवत्सादिकं च दृष्ट्वा ईषद्वैलक्षण्येन साक्षाद्भगवानयं न भवतीति निश्चित्य, तत्तुल्यत्वेन तदीयत्वं च निश्चित्य, पुत्र एवायं भविष्यतीति प्रमुदिताः सत्यः स्त्रीरत्नसहितं तं द्रष्टुं सर्वा एव योषितः समागताः । शुचि स्मितं यासामिति तासां भावान्तरं निवारितम्॥२७-२९॥

व्याख्यार्थ—सकल स्त्रियों का विचार तीन श्लोकों से और रुक्मिणी का पांच श्लोकों से कहते हैं– साधारण स्त्रियों के विचार में हेतु को कहने के लिये प्रथम मोह को कहते है, अन्तःपुर में जितने जन हैं, बहुत कर स्त्रियां, वे, उस प्रद्युम्न को भगवान् के समान देखकर कृष्ण मानने लगी जिससे पहले लज्जित हो के छिपने लगी, क्योंकि वे उस समय स्वच्छन्द क्रीड़ा कर रही थीं, जिस क्रीड़ा को

अचानक आकर भगवान् कृष्ण ने देख लिया, इसलिये लज्जित हो गई, वह भगवान् जैसा ही है इसकी पुष्टि में उसके विशेषण कहे जाते हैं, जैसे भगवान् षड्गुण सहित हैं, वैसे यह स्वयं भी सातों प्रकार समान दीखता है, श्रीवत्स तथा कौस्तुभ मणि के सिवाय अन्य उपलक्षणों का वर्णन करते हैं, १-मेघ के समान श्याम वर्ण है जिससे रूप की समानता बताई आकृति तो पुत्र होने से समान होती है २-पीला पीताम्बर धारण किया था जिससे वस्त्रों से समानता हुई ३-लम्बी भुजाएं थी, जिससे स्त्रियों के अच्छी तरह अवयव के ज्ञान होने की समानता कही ४-अरुण नेत्र है क्योंकि अयोग्य कार्य होने से वह क्रुद्ध है यह जताया, वह विलक्षणता आगे स्फुट कहेंगे ५-सुन्दर मुसक्यान है यह स्त्रियों को प्रसन्न करने वाला धर्म है ६-मनोहर मुखवाला कहने से उसकी शोभा सबसे विशेष है यह दिखाया है नीले रंग की टेढ़ी अलकों तथा किरीट कुण्डलों मे अलकृत मुखाम्भोज है, विशेष क्या कहें, भगवान् की सर्व सामग्री से सुसज्जित है मुख तो समस्तों के चित्तका भेदन करने वाला है वह भी भगवत्समान था इसलिये यह भ्रम हुआ, कि कृष्ण है, वह भ्रम योग्य ही है, जहां कहां जो कुछ होता है वह लीला ही है इसलिये छिपकर देखने लगी, यों बन सकता है इसका निरूपण किया है, अनन्तर पूर्णतया जानने की ईच्छा होने से फिर ध्यान पूर्वक देखने लगी, तब ज्ञान हुआ कि भगवान् के स्वरूप में श्रीवत्स आदि चिन्ह विशेष हैं, वे इसमें नहीं है इस प्रकार थोड़ी विलक्षणता से समझ लिया कि यह साक्षात् भगवान् नहीं है, यों निश्चय कर उनके समान हैं जिससे उनका सम्बन्धी है ऐसा विश्वास कर यह भगवान् का पुत्र होगा, यों जानकर प्रसन्न हुई, हर्षित होती हुई स्त्रीरत्नसहित उसको देखने के लिये, सब स्त्रियां उसके पास आईं, उस समय पवित्र मुसक्यान वालियां सब थी, क्योंकि पहले जो कृष्ण होने से पतिभाव था वह बदल कर अब दूसरा भाव अर्थात् पुत्र भाव हो गया है । २७,२८,२९।।

आभास— तत्र रुक्मिण्यपि समागता, तासां तस्याश्च पूर्वोक्ता धर्मास्तुल्याः । विशेष वक्तु प्रक्रियान्तरमारभते अथेति ।

आभासार्थ - वहां रुक्मिणी भी आ गई, उनका और रुक्मिणी के पहले कहे हुए धर्म समान है, अब उसके विशेष धर्म कहने के लिये दूसरी प्रक्रिया 'अथ' से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक— अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी ।
अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा ।।३०।।

श्लोकार्थ— स्नेह से झर रहे स्तनों वाली, मधुर भाषिणी, श्यामकटाक्षवाली रुक्मिणी को खोये हुए पुत्र का स्मरण हो आया ।।३०।।

सुबोधिनी – भगवत्पुत्रो भवतीति सम्भावनया सिद्धम् । तासां स्वस्मत्पुत्रो न भवतीति निश्चयः । अस्यास्तु सन्देह इति भिन्नः प्रक्रमः । ननु पुत्रत्वे निर्धारिते पश्चात्स्वस्याः अन्यस्या वेति विचारो युक्त इत्याशङ्क्य, भगवत्पुत्रत्वं निर्धारयितु एक-हेलया स्वस्या अपि प्रथमतः सादृश्यं ज्ञातवती-त्याह । तत्र स्त्रीसमूहे असितापाङ्गी शोभनदर्शना, असिते कृष्णे वा अपाङ्गौ यस्या इति, तेन ज्ञान-दृष्टिरस्याः अन्यापेक्षया विलक्षणेति इयमेव सादृ-श्येन पुत्रं स्मृतवती, यतो वैदर्भी अत्यन्तं भक्ता ।

अन्तःकरणदेहयोः उत्तमत्वमुक्त्वा मध्ये वाचोऽप्युत्तमतामाह। अन्यथा कायवाङ्मनसां एकमतुल्यं स्यादिति। वल्गु भाषत इति वल्गुभाषिणी। साहश्येन संस्कार उद्बुद्ध इति स्वसुतं नष्टमस्मरत्। यद्यप्यत्यन्तांशिशोः स्थूलस्यापि नावयवादिसाधारण्यम्, तथापि तस्याः त्रिविधोऽप्युत्कर्ष उक्त इति ताहशस्यैव वृद्धावयं भावो भवतीति निश्चित्य स्वसुतं नष्टमस्मरत्। स्नेहेन स्नुतौ पयोधरौ यस्या इति। आधिभौतिकस्य देहस्य आधिदैविकस्यापि तत्सम्पादकस्य संवादो निरूपितः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का यह पुत्र है ऐसा सम्भावना से सिद्ध है, रुक्मिणी के सिवाय अन्यों को तो यह निश्चय हो गया था कि हमारा पुत्र नहीं है, इसको तो सन्देह हुआ, इसलिये यह कम अलग है यह भगवान् का पुत्र है ऐसा निर्णय होने के अनन्तर ही, अपना है या दूसरी का है जिसका विचार करना उचित है ? इस प्रकार संशय होने पर पुत्रत्व के निर्धार करने के लिये यकटक ध्यान करने से उसमें पहले अपनी सहशता जानने लगी, उस स्त्री समूह में सुन्दर थी अथवा कृष्णकटाक्षों वाली होने से इसकी ज्ञान दृष्टि अन्यों से विलक्षण है इसलिये इसके ही समानता के कारण पुत्र की स्मृति आ गई कि मेरा नष्ट हुआ पुत्र यही है, ऐसा स्मरण हो आने का कारण यह है, कि वैदर्भी परभक्त है, इस प्रकार अन्तःकरण और देह की उत्तमता कहकर मध्य में वाणी की भी उत्तमता बताते हैं, यदि तीनों की उत्तमता न कही जाय, तो उनमें समानता न होवे, मधुर भाषण करने वाली है, इस प्रकार तीनों की उत्तमता से एकता होने पर ही संस्कार जागृत हो गया, जिससे अपने खोये हुए पुत्र का स्मरण होने लगा, यद्यपि छोटे बालक और बड़े के स्थूल अवयवों में साधारण समानता नहीं दीखती है, तो भी उसके त्रिविध उतकर्ष के कारण वह समझ गई कि यह वही बालक है, बड़े होने से इस प्रकार हुआ है यह निश्चय कर नष्ट हुए पुत्र की स्मृति होने लगी जिससे स्नेह बढने के कारण स्तनों से दूध बहने लगा, आधिभौतिक देह को आधिदैविक देह बनाने वाले संवाद का निरूपण किया ॥३०॥

आभास—एतदोयाश्चत्वारो धर्मा निरूप्यन्ते। आन्तर एको, बाह्यास्त्रयः। आदौ परिदृश्यमानं सम्भावयति को न्वयमिति।

आभासार्थ- इसके चार धर्म निरूपण किये जाते है, एक आन्तर और तीन बाहर के, पहले प्रकट देखने में आने वाले का वर्णन 'को न्वयं' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**को न्वयं नरवैडूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः।**

धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥३१॥

श्लोकार्थ—कमल तुल्य नेत्रवाला, पुरुषों में श्रेष्ठ यह कौन है ? अथवा किसका है ? इसको किसने अपने कुक्षि में धारण किया है ? और इसने यह कौन स्त्री प्राप्त की है ? ॥३१॥

सुबोधिनी—नु इति वितर्के। अयं कः, देवादिषु मध्ये क इत्यर्थः। वैडूर्यमणिः श्यामपीतो भवति। अयं नीलमेघश्यामोऽपि तया सहितस्तत्कान्त्या वैडूर्यतुल्यो जातः। वैडूर्यमणिश्चेत्, नराकारः सहज एवोत्पन्नो भवेत्। सोऽपि चेतनो भवेत् तदा प्रद्युम्नतुल्यः स्यादिति मत्वाह नरवैडूर्य इति। ननु कस्यचिद्देशे एतादृशा एवोत्पद्यन्ते यथा देशविशेषे पाषाणा हीरकरूपा भवन्ति, तस्मान्नाश्चर्यमिति चेत्, तत्राह कस्य वेति। को वा एतादृशः यस्यायं पुत्रो भवेत्। कमलेक्षणत्वान्न स्थावरस्य। स्त्रिया अपि भावोऽस्मिन् दृश्यत इति न स्थावराज्जातः। नापि मानसः, नापि केवलात् पुरुषात्। अतः का वा तादृशपुरुषयोग्येति तां भावयति कया वा जठरे धृत इति। अस्तु वा इयं भार्या एतद्योग्या, कथमनेनोपलब्धेत्याह केयं लब्धेति। अनेनापि इयं का लब्धा। वेत्यानादरे। रुक्मिणीहृदये सा न सम्यग्भातीति। पूर्वजन्मसम्बन्धिनीति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—'नु' पद संदेह अर्थ में है यह देव आदि मे कौन है ? वैडूर्यमणि श्यामपीत होती हैं यह नील मेघवत् श्याम होते हुए भी मणि के संसर्ग से वैडूर्य मणि के संसर्ग से वैडूर्यमणि के समान हो गया है, यदि वैडूर्यमणि सम हो तो पुरुषाकार इसका सहज ही उत्पन्न होना चाहिये,वह चेतन भी होना चाहिये अतः यह प्रद्युम्न के बराबर है यों समझ कर कहा कि 'नरवैडूर्य' ऐसे नर जहाँ-तहाँ उत्पन्न नहीं होते है किन्तु किसी वंश में ही वैसे उत्पन्न होते है जैसे विशेष देश में हीरकरूप पाषाण पैदा होते हैं,इसी से कोई आश्चर्य नहीं है कि यह किसी ऐसे विशेष वंश में उद्भूत हुआ है यदि यों है तो किसके यहां उत्पन्न हुआ है? वह वंश कौन सा है? जिसमें यह पुत्ररूप से प्रकट हुआ है,उस वंश मे भी वह कौन सा पिता है जिसका यह पुत्र होके आया है। किसी स्थावर का भी नहीं है क्योंकि कमलनेत्र है, और यह भी दीख रहा है, कि इसमें स्त्री भाव भी है अर्थात् केवल स्त्री वा पुरुष से उत्पन्न नहीं हुआ और न केवल मन से प्रकट हुआ है ? ऐसे सुयोग को गर्भ में धारण करने वाली माता कौन है ? जिसने अपनी कुक्षि में इसको धारण किया ? अस्तु, इसके योग्य यह भार्या इसने कैसे प्राप्त की है ? अथवा 'वा' शब्द से अनादर प्रकट करती हुई कहती है कि यह इसने कैसी स्त्री प्राप्त की है ? रुक्मिणी के हृदय में वह अच्छी नहीं जचती है, कारण कि वह पूर्व जन्म की सम्बन्धिनी है इसका ज्ञान रुक्मिणी को नहीं है ऐसा प्रतीत होता है ॥३१॥

आभास—एतद्दर्शनेन स्वपुत्रस्मरणात् सादृश्यमेव स्मारकमिति सादृश्यमुपपादयति।

आभासार्थ—इसके देखने से पुत्र का स्मरण हो गया उस स्मृति का कारण सादृश्य है जिसका प्रतिपादन करती है।

श्लोक—मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात्।
एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥३२॥

श्लोकार्थ—मेरा पुत्र भी नष्ट हो गया था, जिसको कोई सूतिका गृह से हरण कर ले गया था, यदि वह कहीं जीता होगा तो उसकी इतनी ही आयु है और रूप भी ऐसा ही है ॥३२॥

सुबोधिनी—मम चापीति । यथा कस्याश्चिदयं पुत्रः, एवं ममापि पुत्र एतादृशो भवतीति । आत्मज इति गर्भाज्जातः । भिन्नतया विद्यमानं चारुदेष्णमन्यं वा तुल्यतया निरूपयतीत्याशङ्क्य व्यावर्तयति नष्ट इति । तर्हि मृतस्य कथं तुल्यतेत्याशङ्क्याह नीत इति । अयं नाशः अदर्शनार्थः । सूतिकागृहादित्यनिर्देश एव केनचिन्नीतः । तर्हि कथं रक्षसा घातकेनान्येन वा नीतः । तुल्यो भविष्यतीति चेत्, तत्राह यदि जीवति कुत्रचिदिति । तदा एतत्तुल्यं वयो रूपं च यस्य तादृशो भवेत् । एतावता स्वपुत्रस्य सम्भावनजीवितस्य एतत्तुल्यता निरूपिता ॥३२॥

व्याख्यार्थ—जैसे यह किसी का भी खोया हुआ पुत्र यहां आ गया है वैसे मेरा भी खोया हुआ पुत्र कहीं होगा ? 'आत्मज' शब्द से यह बताया कि वह मेरे गर्भ से उत्पन्न पुत्र नष्ट हो गया है पृथक्रूप से विद्यमान इसकी सुन्दरता वा अन्यगुणों से तुल्यता निरूपण करती हुई कहती है कि वह मर नहीं गया किन्तु खो गया था, वह भी जब उसके दस दिन भी नहीं बीते थे तब सूतिका गृह से कोई हरण कर गया था, राक्षस वा किसी दूसरा घातक लेगया होगा तो वह मार दिया गया होगा वा उनके पास होगा अतः इसको उसके साथ समानता कैसे होगी? यदि यों कहो तो मेरा कहना है कि यदि वह, कदाचित् जीवित है, तो इसके समान ही उसकी आयु है तथा रूप भी ऐसा ही है, यों कह–कर यह बताया है, कि जिसके जीने की सम्भावना है वैसे अपने मेरे पुत्र की इससे समानता है ॥३२॥

आभास—अतः परं भेदं निराकृत्य स एवायं भवितुं युक्त इति विशेषं निरूपयति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ— इसके बाद यह वह नहीं है, वैसे भेद को दूर कर दो श्लोकों से विशेषणरूप से निरूपण करती है कि वह ही यह होने के योग्य है ।

श्लोक—कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥३३॥
स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः ।
अमुष्मिन्प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ॥३४॥

श्लोकार्थ—इसने भगवान् के समान आकार, अवयव, चाल, स्वर, हास और दृष्टि कैसे प्राप्त की है ? कदाचित् वही बालक तो यह नहीं है ? जिसको मैंने गर्भ में धारण किया था; क्योंकि इसमें मेरा प्रेम अधिक हो रहा है, इसीलिए मेरी वाम भुजा भी फड़क रही है ॥३३-३४॥

सुबोधिनी - कथं त्वनेनेति । अस्तु वा अयमुत्तमः । तथापि शार्ङ्गधन्वनः सारूप्यं तदपुत्रत्वे कथमनेन संप्राप्तम् । शार्ङ्गधन्वन इत्यनेन ज्याघाताः भगवतो निरूपिताः । ते अस्मिन्नपि दृश्यन्त इति कायवाङ्मनोभिस्तुल्य इति । समानान् षड्धर्मानाह आकृत्या अवयवैः गत्येति । अवयवा-

वयविकार्याणि तुल्यानि निरूपितानि। स्वरो वाचिकः, हासावलोकनं मानसं भावसूचकमिति। एतत्तु भेदे न घटत इति स एवायं वा भविष्यतीति संभावयति। नूनं निश्चयेन। यो भगवत्पुत्रः, तत्रापि यो मया गर्भे धृत। ननु भगवाननेकपत्नीक इति द्वीपान्तरे देशान्तरे वा भगवतः सकाशात्कस्यांचिज्जातो भवतु, ततः सर्वमुपपद्यत इति, कथं त्वया जठरे धृतो भविष्यतीत्याशङ्कयाह वामः स्फुरति मे भुज इति। वामभुजस्फुरणमत्यन्तप्रियस्य समालिङ्गनं सूचयति। येन परमानन्दो भवति, तादृशः पुत्र एव ॥३३ ३४॥

व्याख्यार्थ—भले यह उत्तम हो, तो भी यदि यह भगवान् का पुत्र नहीं है तो इसने उनकी सरूपता कैसे प्राप्त की ? 'शार्ङ्गधन्वन्' भगवान् के नाम कहने से यह बताया कि जैसे भगवान् की आकृति में धनुष की रस्सी के घात है वैसे इसके आकार में भी प्रतीत होते हैं यों कहने से बताया कि यह काया, वाणी और मन से भगवान् के समान है. भगवान् के समान ६ धर्मों का वर्णन करती है, आकृति, अवयव और गति समान हैं, अवयव और अवयवि के कार्य तुल्य निरूपण किये हैं, स्वर, वाचिक है और हास से देखना मन के भावों का सूचक है, यह तो भेद होने पर नहीं बन सकता है, इसलिये वह ही यह है. जो भगवान् क पुत्र मैंने गर्भ में धारण किया था ऐसी निश्चय से सम्भावना है, यह तुम्हारा कहना कैसे निश्चित सत्य माना जाय, जब कि भगवान् की अनेक स्त्रियां है किसी दूसरे द्वीप वा देश में भगवान् द्वारा किसी स्त्री से उत्पन्न हुआ होवे ? यों मान लेने से सबकुछ बन सकता है तो तुमने गर्भ में इसको धारण किया यह माना जाय जिसके उत्तर में कहती है 'वाम स्फुरति मे भुजः' मेरी वाम भुजा फड़क रही है स्त्री का वाम भुजास्फुरण, अत्यन्त प्रिय के समालिगन का सूचना देता है, जिससे परम आनन्द होता है. वैसा होने से यह मेरा पुत्र ही है ॥३३-३४॥

आभास—एवं तस्मिन् स्वपुत्रत्वं निश्चित्यापि सम्यक् लोकतोऽपरिज्ञाने तथा व्यवहारः कर्तुं न शक्यत इति संदिहाना इव स्थिता। ततो भगवान् निश्चयार्थी सर्वैः सह समागत इति वदति **एवमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार यह मेरा ही है पुत्र यह निश्चय करके भी लोक को अब पूर्ण परिज्ञान नहीं हुआ है अतः उससे पुत्र व्यवहार नहीं किया जा सकता है इस प्रकार संदेह करती हुई के समान खड़ी ही रही अनन्तर भगवान् इसका निश्चय कराने के लिये समस्तों के साथ पधारे यह 'एव' श्लोक से कहा जाता है।

श्लोक—**एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः।**

देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी के विचार करते हुए, देवकी और वसुदेवजी के साथ उत्तमकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आए ॥३५॥

सुबोधिनी—यतोऽयं देवकीसुतः भक्तहितकारी, सुतरां स्त्रीणाम्, रुक्मिणी च भक्ता, सा च मीमांसमाना क्लेशेनैवं स्थिता। अतस्तद्दुःखनिराकरणार्थं पुत्रत्वेन स्वीकारे पित्रादयः प्रयोजका इति देवक्या आनकदुन्दुभिना च सहितः समागतः। यतोऽयमुत्तमश्लोकः। अन्यथा वाच्यता भवेदिति। अत्र भीतित्यतिं अक्षरच्युतकालङ्कारं बोधयति। यथा राक्षो रक्ताक्ष इति। अयं च पुत्रः च्युत एव स्थानात्पुनः प्राप्त इति सूचयितुं आ सर्वै सह अगमत् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—क्यों पधारे ? जिसका परिज्ञान कराने आचार्य श्री कहते हैं कि देवकी के पुत्र भक्त हितकारी है, सुतराम् स्त्रीभक्तों का, रुक्मिणी भक्त हैं वह तो अब तक विचार करती हुई क्लेश से स्थित थी, अतः उसके दुःख का निवारण करने के लिये यदि उसको पुत्र समझ स्वीकार किया जावे तो भी उसमें पिता-माता आदि की आज्ञा ही प्रेरक है,अतः भगवान् अकेले न पधारकर देवकी और वसुदेव को भी पधरा कर आये, क्योंकि यह उत्तम श्लोक हैं, यों न किया जाय तो निन्दा होती, भय से अक्षर न लिखे जाने पर उसको 'अक्षरच्युतकालंकार कहकर समझाया जाता है जैसे राक्षसों को रक्ताक्ष कहा जाता है, और यह पुत्र भी स्थान से च्युत ही हुआ और फिर प्राप्त हुआ है, यों सूचित करने के लिये 'आगमत्' पद मे 'आ' उपसर्ग और 'अगमत्'गम धातु का भूतकाल में लकार है जिसका अर्थ है सब के साथ आये। ३५॥

आभास—आगत्यापि स्वयं कथने बहिर्मुखाः लोभं संपादयेयुरिति तूष्णीं स्थित इत्याह **विज्ञातार्थोपीति**।

आभासार्थ—भगवान् आकर भी कुछ बोले नहीं चुप होकर खड़े रहे, क्योंकि भगवान् ने समझा कि यदि मैं स्वयं बोलूंगा तो बहिर्मुख लोग कहेंगे कि भगवान् पुत्र लोभ कर रहे है नारद के मुख से सारी कथा 'विज्ञातार्थोऽपि'श्लोक के द्वारा कहलाई।

श्लोक— **विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः।**
नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बराहरणादिकम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—आप सब जानते थे तो भी चुप होकर बैठ गए। तब नारद ने, शम्बर ने बालक का हरण किया, वहाँ से लेकर यहाँ लौटकर जैसे आया, वह सर्व वृत्तान्त कह सुनाया ॥३६॥

सुबोधिनी—ज्ञाने भगवानिति हेतुः। तूष्णींभावे जनार्दन इति। सहि जनानामविद्यामर्दयतीति। निन्दायां तु तेषामविद्या न गमिष्यतीति। तदा भगवदिच्छया नारदः समागत्योक्तवानित्याह नारदोऽकथयत्सर्वमिति। स्वकृतमेवेति दोषपरिहारोऽप्यनेन कृतः। शम्बरस्य आहरणमारभ्य समागमनपर्यन्तं सर्वमुक्तवान् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान में भगवान् हेतु हैं और मौन धारण में जनार्दन, वह मनुष्यों की अविद्या को नाश करने वाले है, निन्दा करने पर तो उनकी अविद्या नष्ट नहीं होगी तब भगवान् की इच्छा से

नारद ने आकर सर्व समाचार कहा, अपना किया हुआ ही कहा, यों कहते हुए अपने दोष का भी नारद ने परिहार किया अर्थात् अपना दोष मिटा दिया, शम्बर ने बालक का अपहरण किया वहां से लेकर यहां वह बालक स्त्री समेत आकर पहुँचा यह समस्त वृतान्त कहकर सुना दिया ॥३६॥

आभास—नारदवाक्यं हि सर्वेषामेव संमतम्, ततः सर्वैरङ्गीकर्तव्यमिति सापत्न्यात् कृष्णस्त्रियो रुक्मिणीव्यतिरिक्ताः प्रथममङ्गीकृतवत्य इत्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासार्थ – नारद का कहना सबको पसन्द आया, जिससे सबको अङ्गीकार योग्य है इसलिये पहले रुक्मिणी की जो सोतिन, श्रीकृष्ण की अन्य स्त्रियां थीं उन्होंने इस कहने को स्वीकार किया जिसका वर्णन 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक में करते है।

श्लोक—तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः ।
अभ्यनन्दन्बहूनब्दान्नष्टं मृतमिवागतम् ॥३७॥

श्लोकार्थ— यह बड़े आश्चर्य की बात सुन, भगवान् के अन्तःपुर की स्त्रियां बहुत वर्षों के बाद मानो मर कर पीछा आया हो, वैसे प्रद्युम्न को आया हुआ मान बहुत आनन्दित हुईं ॥३४॥

सुबोधिनी - राजस्य एताः । महदाश्चर्यं श्रुत्वेति । कथं मत्स्यभक्षितस्य जीवनम्, संपूर्णावयवत्वं च, कथं वा विशसने अक्षतत्वम्, समुद्रप्रक्षेपे वा अमरणमिति । तासामनङ्गीकारे बाधकमाह **कृष्णान्तपुरयोषित** इति । स्वस्याप्येवं पुत्रस्य नयने अन्या अप्यङ्गीकारं न कुर्युरिति भावः । अभ्यनन्दन् । अयं पुत्रो भवति अस्माकमिति । सापत्न्यभावेन दोषदर्शिन्यो न जाताः । किञ्च । परमस्नेहेन अमितः आनन्दयुक्ता अपि जाताः तत्र हेतुः । बहूनब्दान् बहुवर्षपर्यन्तं नष्टमदृष्टमिति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । न केवलं चिरकालदर्शनमेव तत्र हेतुः, किन्तु मृतश्चेदायाति शीघ्रमेव, तदापि महानान्दो भवतीति, मृतं पश्चात्स्वस्थमागतं यथा सादरं लोका अभिनन्दनं कुर्वन्ति । देहे विद्यमान एव जीवने अभिनन्दनम् । ॥३७॥

व्याख्यार्थ – ये राजसी हैं जो नारद से सुना वह बहुत आश्चर्य कारक था, जैसा कि, जिसको मत्स्य ने खाया वह कैसे बच गया ? फिर विशेष अचम्भा तो यह है कि समस्त अवयव ज्यों के त्यों हैं अथवा खड्ग के क्षत होने पर भी अक्षत रहा है, समुद्र में फेंकने पर भी मरे नहीं, वे यदि इसको अङ्गीकार न करें तो इनके लिये यह बाधक था कि श्रीकृष्ण के अन्तःपुर की स्त्रियां थीं, वे विचारने लगी की यदि हमारा पुत्र भी यों हरण हो कर पीछे लोटे तो दूसरी भी उसको अङ्गीकार न करेंगी । अतः वह सोतिन होते हुए भी प्रसन्न हुई, यह हमारा पुत्र है यों कहकर सोतिन के दोषवाले भाव दिखाये नहीं, किञ्च परम स्नेह से, पूर्णरीति से, आनन्द युक्त होने लगीं वैसे आनन्द होने में कारण बतलाते हैं कि बहुत वर्षो से जो खोया था, वह स्वस्थ अवस्था में आकर मिला है, केवल बहुत दिन से खोया हुआ मिला है यही प्रसन्नता में कारण नहीं है, किन्तु यदि मर गया हुआ जानने के बाद जल्दी

भी आ जावे तो भी हर्षोल्लास होता है, मर गया और फिर वह स्वस्थ आकर मिले तो उसका लोक आदर सहित अभिनन्दन करते हैं. देह में होते हुवे भी जीवन में अभिनन्दन होता है। ३७।

आभास— सात्त्विकानामभिनन्दनमाह देवकीति ।

आभासार्थ—"देवकी वसुदेवश्च" श्लोक से सात्विकों का अभिनन्दन कहते हैं।

श्लोक—देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः ।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—देवकी, वसुदेव, राम, कृष्ण तथा स्त्रियें और रुक्मिणी; ये सब युगल को पाकर अथवा इससे मिलकर आनन्द को प्राप्त हुए ॥३८॥

सुबोधिनी तथा स्त्रियः सात्त्विक्यः तौ दम्पती मायावती प्रद्युम्नश्च परिष्वज्य पुत्रत्वात् पुत्रवधूत्वाच्च मुदं ययुः । रुक्मिणी चेति भिन्नतया निरूपणं सर्वेषां यावत्सुखं तावदेकस्या एव जातमिति ज्ञापनार्थम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—देवकी, वसुदेव, राम और कृष्ण तथा सतोगुणी स्त्रियां मायावती (रति) और प्रद्युम्न से मिलकर 'आलिंगन कर" प्रसन्न हुऐ, क्योंकि एक पुत्र था दूसरी पुत्र वधु थी, रुक्मिणी का नाम पृथक् लेने का आशय यह है कि जितना आनन्द इन सकलों को हुआ उतना आनन्द एक रुक्मिणी को ही हुआ ॥३८॥

आभास—साधारणानां तामसानां सम्मतिमाह नष्टं प्रद्युम्नमायातमिति ।

आभासार्थ—वहां जो साधारण तामस गुण वाले स्थित थे उनकी सम्मति 'नष्टं प्रद्युम्न' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः ।
अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति ह्यब्रुवन् ॥३९॥

श्लोकार्थ—द्वारकावासी खोये हुए प्रद्युम्न का पीछा आना सुनकर कहने लगे कि मानो मर कर पीछा आया हो, वैसे यह बालक भी आ गया है, यह प्रसन्नता का विषय है, बहुत अच्छा हुआ ॥३९॥

सुबोधिनी - तेषां विपरीतभावनाभावाय वचनमाह अहो मृत इवायात इति । लौकिकभाषायामश्लीलवचनं न दोषाय । हेत्याश्चर्ये । अहो इति च । गमनागमनयोरुभयत्राश्चर्यमाह ॥३९॥

व्याख्यार्थ – उनको विपरीत भावना नहीं थी इसलिए कहा है कि 'अहो मृत इवायत इति' मानो मरकर फिर जीवित होकर लौटे हैं, लौकिक भाषा में अश्लील वचन कहने का दोष नहीं गिना जाता है, हे और अहो ये दोनों पद आश्चर्य बताते हैं, जाने और आने दोनों कार्य आश्चर्य कारक हैं ॥३९॥

आभास––कामस्य महता प्रयासेन देहग्रहणे फलं जातं नवेति सन्देहं निराकर्तुमाह यं वै मुहुरिति ।

आभासार्थ – कामदेव ने बहुत प्रयास के अनन्तर देह ग्रहण की जिसका फल हुवा या नहीं ? इस सन्देह का 'यं वै' श्लोक में निराकरण करते हैं ।

श्लोक––यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा-
स्तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः ।
चित्रं न तत्खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे
कामे स्मरेऽक्षविषये किमुतान्यनार्यः ॥४०॥

श्लोकार्थ––श्रीकृष्ण के सदृश प्रद्युम्न का रूप देख, उसमें अपने स्वामी की भावना हो जाने से, उसकी माता रुक्मिणी आदि वे भी उससे प्रेम करने लगीं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, लक्ष्मी के निवास स्थान श्रीकृष्ण के पुत्र कामदेव का केवल स्मरण होते ही जब मन चलायमान हो जाता है, तब साक्षात् मूर्तिमान कामरूप प्रद्युम्न के देखने से उनका मोहित होना कोई बड़ी अचम्भे की बात जब नहीं है, तो अन्य स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? ॥४०॥

सुबोधिनी – पितृसरूपतया पितुः समानं यद्रूपं तेन कृत्वा निजेशभावाः, कृष्ण एवायमिति बुद्धियुक्ताः । निजेशः कृष्णः । तस्य मातरोऽपि ऊढभावाः सत्यः तद्दर्शनेन उद्गतकामाः रहः एकान्तमभजन् । निलीना जाताः । एतच्चित्रं न रमाया आस्पदरूपं यद्बिम्बं भगवान् श्रीनिवासः तस्य बिम्बं कार्यं प्रतिबिम्ब इति यावत् । बिम्बवदेव प्रतिबिम्बेऽपि बुद्धिर्भवतीति न कोऽपि दोषः । रमास्पदपद लक्ष्म्या अपि तत्र अदर्शनार्थम् । तेन लक्ष्मीश्चेत्तत्र, वयं कथं नेति तासां भ्रमे हेतुर्मुख्यो निरूपितः । किञ्च, कामे कामात् सर्वं सम्भवति । किञ्च । स्मरे अक्षविषये सति स्मृत एवानर्थं करोति, किमुत प्रत्यक्षविषयः । यत्र भगवतस्त्रीणामेवैषा व्यवस्था, तत्रान्यनारीणां कामोद्बोधः किं वक्तव्य इत्यर्थः । एवं कामस्य सर्वलोकेषु प्रतिष्ठितत्वमुक्तम् । स्त्रीषु प्रतिष्ठितः सुखहेतुर्भवति, न तु पुरुषेष्विति तथोक्तम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ – प्रद्युम्न का पितृ समान रूप देख कर उसमें अपने पति का भाव हो जाने से, उसकी माताएं भी काम जागृत होने पर, एकान्त में उसका सेवन करने लगी, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, लक्ष्मी के आस्पद भगवान् का ही यह प्रतिबिम्ब है, प्रतिबिम्ब के समान ही बुद्धि होती है इस लिये कोई दोष नहीं है, वह लक्ष्मी का निवास स्थान है यों कहने से यह बताया है कि जब लक्ष्मी वहाँ रहती है तो हम वहाँ क्यों न रहें ? इस प्रकार उनके भ्रम होने में यह मुख्य कारण बताया है, काम होने पर, काम से सर्व होना सम्भव है, जब काम अक्ष विषय होता है तब केवल याद करते ही अनर्थ करता है, तो फिर प्रत्यक्ष होवे तो क्या अनर्थ करेगा वह कहा नहीं जा सकता, जहां उसके दर्शन से भगवान् की स्त्रियों की यह दशा है वहां अन्य स्त्रियों में काम जागृत हो अनर्थ करे इसमें कहना ही क्या है ? इस प्रकार सर्व लोकों में काम की प्रतिष्ठा हुई यों कहा, स्त्रियों में प्रतिष्ठित काम सुखका कारण होता है न कि पुरुषों में स्थित होने से सुख का कारण होता है, यों वैसे कहा है ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

राग बिलावल

प्रद्युम्न जन्म सुभ घरी लीन्हौ ।
काम अवतार लियौ बदत यह बात जग, ताहि सम तुल्य नहिं रूप चीन्हौ ॥
पृथी पर असुर संबर भयौ अति प्रबल, तिन उदधि माहिँ, तिहिँ डारि दीन्हौ ।
मच्छ लियौ भच्छि सो मच्छ मछवी गह्यौ, असुरपति कौं सु लै भेंट कीन्हौ ॥
मच्छ के उदर तें बाल परगट भयौ, असुर मायावती हाथ दीन्हौ ।
कह्यौ यह काम परिनाम तेरौ पुरुष बचन, नारद सुमिरि रति सु लीन्हौ ॥
भयौ जब तरुन तब नारि तासौं कह्यौ, रुक्मिनी मात हरि तात तेरौ ।
नाम मम रति बिदित बात जानत जगत, काम तुम नाम पुनि पुरुष मेरो ॥
असुर को मारि परिवार कौ देहि सुख, देउँ विद्या तुम्हें मैं बताई ।
बिना विद्या ताहि जीति सकि है नहीं, भेद की बात सब कहि सुनाई ।
प्रद्युम्न सकल विद्या समुझि नारि सौं, असुर सौं जुद्ध मांग्यौ प्रचारी ।
काटि करवार लियौ मारि ताकौं तुरत, सुरनि आकास जै धुनि उचारी ॥
बहुरि आकास मग जाइ द्वारावती, मातु मन मोद अति हीं बढायौ ॥
भयौ जदुवंस अति रहस मनु जनम भयौ, सूर जन मंगलाचार गायौ ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५६वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५३वां अध्याय

राजस-साधन-अवान्तर-प्रकरण

"७वाँ अध्याय"

स्यमन्तकमणि की कथा, जाम्बवती और सत्यभामा के साथ
श्रीकृष्ण का विवाह

कारिका—सप्तमे कामतः प्रोक्तो विवाहस्तामसः परः ।
सात्त्विकश्च प्रसङ्गेन क्लेशेनोभे निवारिते ॥१॥

क्लेशापनोदनार्थाय चौर्यमत्र निरूप्यते ।
वाचिकं कायिकं चैव कायेन वचनेन च ॥२॥

सम्बन्धी च तथा भवतः स्वापराधापनुत्तये ।
सत्यभामा जाम्बवती ताभ्यां सम्यक् निरूपिते ॥३॥

गुणा एतास्ततोऽग्रे तु विद्यारूपा निरूपिताः ।
एवमष्टौ महिष्यो हि सात्त्विक्यस्तु ततः पराः ॥४॥

विवाहाः सप्त कामेन कृपया तु सहस्रशः ।
विधितस्त्वेक एवोक्तो द्वयोरत्र निरूप्यते ॥५॥

कारिकार्थ— सातवें अध्याय में जो विवाह कहे हैं, वे काम से किए हुए हैं, उनमें से जाम्बवती का विवाह तामस है और सत्यभामा का सात्त्विक है; इन दोनों के विवाह तामस सात्त्विक कहने से शेष रुक्मिणी का विवाह स्वतः राजस सिद्ध है, यद्यपि रुक्मिणी जाम्बवती को विवाह भगवत्परिग्रह होने से सात्त्विक कहे जा सकते हैं, किन्तु उनको सात्त्विक न कहने का कारण यह है कि वे दोनों भगवान् क्लेशों से लाये हैं, अतः वे सात्त्विक विवाह नहीं है, सत्यभामा को पिता ने लाकर दान कर दी, जिससे उस विवाह में क्लेश न हुआ, जिससे वह सात्त्विक है, इसके विवाह में क्लेश न होने का कारण चौर्य प्रसङ्ग है, जिसका यहाँ वर्णन किया गया हैं, सत्राजित ने वाणी से झूठा कलङ्क लगाकर वाचिक और स्वयं गुफा में जाकर युद्ध किया, जिससे कायिक दोष किया, शतधनु के वचन से उस मिथ्या अभिशाप को मिटाया, ऐसे सत्राजित ने और भक्त जाम्बवान् ने अपने अपराध को मिटाने के लिए दोनों ने आकर सत्यभामा और जाम्बवती भगवान् को अर्पण की, सत्यभामा तथा जाम्बवती के विवाह का कारण वाचिक और कायिक मिथ्याभिशाप था, जिसका निरूपण किया। ये रुक्मिणी, जाम्बवती और सत्यभामा; रजो, तमो और सतोगुण रूप हैं, आगे तो विद्या रूप से इनका निरूपण हुआ है। इस प्रकार आठ महिषियाँ सात्त्विक गुण वालियाँ हैं और सात काम से हैं, कृपा से तो सहस्रों किए हैं,विधि अनुसार तो एक ही कहा है। इस प्रसङ्ग में दोनों का विवाह चौर्य प्रकरण में निरूपण किया है ॥१–५॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—रुक्मिण्या विवाहं पुत्रसम्पत्ति चोक्त्वा, निमित्तवशात् सत्यभामाया विवाहमाह **सत्राजित इति।**

आभासार्थ—रुक्मिणी का विवाह और पुत्र सम्पत्ति को कहकर, कारणवश 'सत्राजितः' श्लोक से सत्यभामा के विवाह का वर्णन शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः।**
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! सत्राजित् ने भगवान् का अपराध किया था, उस अपराध का दोष निवृत्त हो, इसलिए सत्राजित् ने स्वयं आकर श्यमन्तकमणि सहित अपनी कन्या भगवान् को अर्पण की ॥१॥

सुबोधिनी— सत्राजित्शब्दः तकारान्तः। अकारान्तोऽपि। सत्रान् रक्षकसहितानपि जयतीत्यर्थे क्विप्। सत्राणां जितं यस्मादिति क्तान्तेन बहुव्रीहौ अदन्तता भवति। एतदधीन एव महतामपि जय इति द्वितीयोर्थः। स्वतनयां स्वयमुद्यम्य दत्तवानिति। अप्रार्थितः अनभिप्रेतश्च। तथापि दाने हेतुः कृतकिल्बिष इति। कृतापराधः। तदपराधदूरीकरणार्थं स्यमन्तकेन मणिना सह। यत्कृते अपराधः तदपराधनिमित्तं दण्डार्थे कन्यां च दत्तवान्। संक्षेपकथेयमिति केचित्। वस्तुतस्तु न समाधिभाषा। नह्युदारलीलावतः अपकीर्त्यादिकं समाधिकार्यं भवति। भक्तिसाधकानामेव चरित्राणां वक्तव्यत्वात्। कृतकिल्बिष इति। यथाकथञ्चिदपराधोऽपि सम्भवति। अतोऽनभिप्रेतत्वेन कल्पान्तरत्वेन वा अवचनम्। वस्तुतः सत्यभामा सरस्वत्यंशा भूम्यंशा वेति तस्या विवाहार्थं तथोद्योगो भगवतैव कृतः। स्वीकारोऽत्र वक्तव्यो राजसानाम्, तदर्थं स्त्रीप्रकरणे सत्यभामादीनां परिग्रहमात्रमत्र वक्तव्यम् ॥१॥

व्याख्यार्थ - भगवान् ने सत्राजित से कन्या मांगी नहीं थी और न अभिप्रेत ही थी, तो भी सत्राजित ने स्वयं कन्या अर्पण की, जिसका कारण है कि सत्राजित ने भगवान् का अपराध किया था, जिसे मिटाने के लिये स्यमन्तकमणि लाकर दी और अपराध करने के दण्ड रूप में कन्या अर्पण की है, कोई कहते हैं कि यह कथा संक्षेप में कही गई है, वास्तविक रीति से तो यह कथा समाधि-भाषा नही है, क्योंकि, उदार लीला करने वालों की अपकीर्ति आदि समाधिभाषा का कार्य नहीं हो सकता है. समाधिभाषा में तो भक्ति साधक चरित्र ही वक्तव्य होते हैं, यहां केवल प्रथम श्लोक समाधिभाषा है, विस्तार जो है वह लौकिकी भाषा है, जैसे तैसे कभी अपराध भी होता है, अतः अभिप्रेत न होने से वा कल्पान्तर की कथा होने से नहीं कहा है, वस्तुतः सत्यभामा तो सरस्वती अथवा पृथ्वी की अंश रूपा है, इसलिये उसके विवाह के लिये भगवान् ने ही वैसा उद्योग किया है, यहां राजसों का स्वीकार वक्तव्या है, उसके लिये यहां स्त्री प्रकरण में सत्यभामादि का ही परिग्रह मात्र कहना चाहिये, मात्र पद से यह सूचित किया है कि रुक्मिणी विवाह के प्रसंग में जो विस्तार किया है, वह समाधि भाषा नहीं है, किन्तु लौकिकी भाषा है, इसलिये ही आचार्य श्री ने टीका में मात्र पद दिया है।

आभास—नन्वाकाङ्क्षापूरणाभावात् संक्षेपपरत्वमेव कुतो न भवतीति चेत्। मैवम्। मित्रविन्दाविवाहवद्यावदुक्तेनैव आकाङ्क्षानिवृत्तिसम्भवात्। विशेषं पृच्छति।

आभासार्थ—यदि कहो कि आकांक्षा पूर्ति के अभाव से संक्षेप पर है यों क्यों न कहा जावे तो कहते हैं कि इस प्रकार मत कहो, मित्रविन्दा के विवाह की भाँति सारा कहने से ही आकांक्षा निवृत्ति होती है अतः राजा पूछता है "सत्राजितः" श्लोक से।

श्लोक—राजोवाच—सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मन्कृष्णस्य किल्बिषम्।
स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद्दत्ता सुता हरेः ॥२॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा-हे ब्रह्मन् ! सत्राजित ने कृष्ण का कौन सा अपराध

किया ? स्यमन्तकमणि उसके पास कहां से आई ? उसकी कन्या भगवान् को किस कारण से दी ? ॥२॥

सुबोधिनी—सत्राजित इति । ब्रह्मन्निति ज्ञानार्थम् । कृष्णस्य सदानन्दस्य कथं वा कोऽप्यपराधं कुर्यात् । तत्रापि पालकस्य । अपराधनिमित्तः स्यमन्तको वा भगवद्भक्तानां कुतः । देवतान्तरभजनात् तथात्वे कथं वा तस्य निरोधे सम्बन्ध इति प्रश्नाभिप्रायः । विरुद्धानामपकारकरणं युक्तम् । तथा सति तेषां सर्वस्वेन सह कन्यादानं चायुक्तम्, तस्मात् कथमयमुभयात्मक इति । कस्माद्धेतोः सुतां दत्तवान् । कन्यापि सूर्यादेव प्राप्ता वरलब्धा, न तु तस्य औरसी, भगवान् नन्दपुत्र इव तस्यापि कन्येति पुराणान्तरव्यवस्था । अत एव यादवानां विवाहदोषो न शङ्कनीयः । अत्रापि 'स्त्रीरत्नं रत्नमेव चे'ति वाक्यात् देवादेव प्राप्तमिति लक्ष्यते । भगवानपि अक्लिष्टकर्मा सगोत्रापक्षे विवाहं न कुर्यात् ॥२॥

व्याख्यार्थ - हे ब्रह्मन् ! संबोधन श्रीशुकदेवजी को इसलिये दिया है कि आप को सबका ज्ञान है, जिससे आप सब कुछ बता सकोगे, सदानन्द स्वरूप तथा पालक कृष्ण का कैसे कोई भी अपराध कर सके ? भगवद्भक्तों का स्यमन्तक अपराध का कारण कैसे हो सकता है ? अन्य देव के भजन से यों होते हुए, फिर उसका निरोध में सम्बन्ध कैसे ? यह प्रश्न करने का अभिप्राय है जो विरोध करते हैं उनका अपकार करना योग्य ही है, यों होने पर उनको सर्वस्व के साथ कन्यादान करना तो उचित नहीं है इस कारण से यहां दोनों बात कैसे ? किस कारण से कन्या दी, वह कन्या सूर्य देव के वर में प्राप्त हुई थी,उसकी ओर से पुत्री न थी जैसे भगवान् नन्द का पुत्र है वैसे यह कन्या इसकी पुत्री थी, अन्य पुराण का यह निर्णय है, इस कारण से इससे विवाह करने में यादवों को दोष नहीं हैं, भागवत में भी स्त्री रत्न, रत्न ही है इस वाक्य से, देव से ही प्राप्त हुई जानी जाती है भगवान् भी अक्लिष्ट कर्मा हैं, जिससे सगोत्र का विवाह नहीं कर सकते ॥२॥

आभास—विस्तरेण वक्तुं कथामारभते आसीदिति ।

आभासार्थ— विस्तार से कहने के लिये 'आसीत्सत्राजितः' श्लोक से कथा प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-आसीत्सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा ।
प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् ॥३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा–सत्राजित भक्त का सूर्य स्वामी होते हुए भी परम मित्र था, जिससे सूर्य ने प्रसन्न होकर उसको स्यमन्तक मणि दी थी ॥३॥

सुबोधिनी—स्वतन्त्रकथेयमित्यप्यासीदित्यनेन सूचितम् । सत्राजित आसीदिति भिन्नं वाक्यम् । तस्य महत्त्वं ख्यापयितुमाह । सूर्योऽपि भक्तस्य परमः सखा आसीदिति । भक्तस्य सख्यं शीघ्रं प्रयच्छतीति सूर्यस्य स्वभावो वर्णितः । अनेन सूर्यः परमदयालुः,अल्पेऽपि भजने बहु प्रयच्छतीति

निरूपितम् । ततो यज्जातं तदाह प्रीतस्तस्मै मणि प्रादादिति । मणिः स्यमन्तकः । कुत्रत्यो मणिरित्याकाङ्क्षायामाह सूर्य इति । स हि मणि सूते । सर्वमेव सूर्यात्प्रभूतमिति तस्य मणिमात्रप्रसवे न दूषणम् । तदर्थमेव मणिरुत्पादित इति लक्ष्यते । यतः प्रीतः, तस्य भक्त्या संतुष्टः, स्यमन्तकमुत्पादितवान् । उत्पाद्यापि ततोऽपि प्रीतः प्रकर्षेणादात् । तस्मिन् सामर्थ्यं स्थापयित्वा अदात् । प्रकर्षेणैव दानात् भोगार्थं भोगसाधनसम्पादनार्थं च तज्जातमिति लक्ष्यते ॥३॥

व्याख्यार्थ -- "आसीत्" पद से यह भी बताया है कि वह स्वतन्त्रक था है. "सत्राजित था" यह प्रथक् वाक्य है उसका महत्व प्रकट दिखाने के लिये कहा है कि, सूर्य देव स्वामी होते हुए भी भक्त का परम मित्र था,सूर्य का स्वभाव ही ऐसा है,जो भक्त का शीघ्र ही सखा बन जाता है इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्य परम दयालु है, थोड़ा भी भजन करने से बहुत देता है यह निरूपण किया, उसके अनन्तर जो हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि सूर्य ने प्रसन्न होकर उसको मणि दी, मणि का नाम स्यमन्तक था, वह मणि सूर्य के पास कहां से आई ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है, कि सूर्य स्वयं मणि को उत्पन्न करता है, मणि को उत्पन्न करने में सूर्य के लिये किसी प्रकार का दोष नहीं है, क्योंकि जब सब सूर्य से पैदा हुआ है, तो मणिमात्र उत्पन्न करने में कौनसा दूषण उसको लगता है, यों जाना जाता है यह मणि इसके लिये पैदा की है क्योंकि इस पर भक्ति से प्रसन्न हुआ है जिससे मणि को पैदा किया है, न केवल पैदा ही की, किन्तु उससे भी विशेष प्रसन्न हो उसमें अपना सामर्थ्य स्थापित कर प्रसन्नता से मणि इसको दी, प्रसन्न हो के देने से वह मणि भोग और भोगके साधनों का साधक भी हुई यों जाना जाता है ॥३॥

आभास—अतस्तस्य प्रथमतो भोगमाह स तं बिभ्रदिति ।

आभासार्थ—इसी कारण से "स तं विभ्रन्" श्लोक में पहले उसके भोग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः ।
प्रविष्टो द्वारकां राजंस्तेजसा नोपलक्षितः ॥४॥

श्लोकार्थ—वह सत्राजित कण्ठ में उस मणि को धारण करने से सूर्य के समान प्रकाशमान हो गया और द्वारका में प्रविष्ट हुआ तो उसके तेज से इसको किसी ने नहीं पहचाना ॥४॥

सुबोधिनी – स्वतेजस्तस्मिंस्थापितमिति तद्धारणेन सूर्य एव धृतः । अत एव तत्प्रभावाद्यथा रविः, तथा भ्राजमानो जातः । स चेदन्यत्र तिष्ठेत्, न काप्यनुपपत्तिर्भवेत् । सूर्यश्च रक्षको भवेत् । स पुनस्तद्गृहीत्वा द्वारकास्थितान् भक्तान् वञ्चयन्निव समागतः । ततः सूर्येण उपेक्षित इत्यभिप्रायं वक्तुं तस्य द्वारकाप्रवेशमाह प्रविष्टो द्वारकामिति। राजन्निति सम्बोधनमन्यविषये अन्यो रक्षां न करोतीति ज्ञापयितुम् । तस्य मनोरथाः सिद्धा इत्याह तेजसा नोपलक्षित इति ॥४॥

व्याख्यार्थ—सूर्य ने मणि में अपना तेज स्थापित किया था, जिसके धारण करने से मानो

सत्राजित ने सूर्य को धारण किया है,इस कारण उसके प्रभाव से जैसा सूर्य है वैसा ही यह चमकनेलगा। यदि दूसरे स्थान पर मणि धारण करके जाता तो किसी प्रकार हानिनहीं होती क्योंकि वहां सूर्य रक्षा कर सकते. किन्तु वह तो मणि ग्रहण कर, द्वारका में स्थित भगवद्भक्तों को ठगने के लिये आया, जिससे सूर्य ने प्रसन्न हो, इसकी उपेक्षा की, इसकी उपेक्षा की, इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिये इसका द्वारका में प्रवेश का वर्णन किया है, राजन् यह सम्बोधन इस बातको जताने के लिये दिया है कि. दूसरों के कार्यों में कोई दूसरा रक्षा नहीं करता है उसका मनोरथ इतना ही था, कि मुझे कोई पहचान न सके। वह सिद्ध हुआ, मणि के धारण करने से पहचानने में नहीं आया ॥४॥

आभास—तस्य प्रभावः सर्वजनीनो जात इति वक्तुं लोकानां भ्रममाह तं विलोक्येति ।

आभासार्थ– उसका प्रभाव सब मनुष्यों पर हुआ, यह बतलाने के लिये लोकों को भ्रम का वर्णन 'तं विलोक्य' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः ।
दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशङ्किताः ॥५॥

श्लोकार्थ—लोक उसको दूर से देखकर, तेज से चकाचौंध दृष्टि हो गए, तब चौपड़ खेल रहे भगवान् के पास कोई आकर कहने लगा कि कदाचित् सूर्य आ रहा है ॥५॥

सुबोधिनी—निकटे ज्ञायेतापि । दूरादेव तत्रापि तेजसा मुष्टदृष्टयः । स्वस्वामिनः स्थाने महान्तोऽपि समायान्तीति संतोषात् भगवत्स्थाने समागताः । भगवानपि अन्यासक्तः नास्य सन्माननं करिष्यति, ततोऽयं अस्मान् विलम्बितः तेजसा पीडयिष्यतीति, सूर्यात् शङ्किताः लौकिकव्यसनरूपे द्यूते अक्षैर्दीव्यते भगवते शशंसुः । शतमक्षान् विजानातीति मध्येऽधिदेवन एव सभ्ये अक्षक्रीडेति विमर्शः । अन्यथा धर्मस्थापनार्थमवतीर्णः कथमक्षक्रीडां कुर्यात् । मुख्यं हि तदधर्मस्थानमिति । सूर्यस्य समागमनं बाधित मत्वाह भगवत इति ॥५॥

व्याख्यार्थ—निकट हो तो पहचान भी जाय, यह तो दूर थे और वहां से ही तेज के कारण नेत्रों की दृष्टि चकाचोन्ध हो गई अतः पहचान न सके। मन में समाधान किया, कि हमारे स्वामी के स्थान पर महान् आत्माएँ भी आती हैं यों संतोष कर भगवान् के स्थान पर गये, वहां देखा कि भगवान् तो अन्य कार्य में आसक्त हुवे हैं अतः इसका सम्मान अब नहीं करेंगे, इस कारण से वह हम को बहुत समय तक पीड़ा करेगा, क्योंकि मन में शंका होने लगी थी कि यह सूर्य है, अतः लौकिक व्यसन रूप चौपड़ का खेल खेलते हुए भगवान् को कहने लगे, विशेष प्रकार से चौपड़ खेलने वाले राजा लोगों को अधिदेवन के दिन चौपड़ खेल खेलने में कोई दोष नहीं, यों करने से उनको निद्रा भी नहीं आती है यों न होता तो धर्म स्थापन के लिये अवतार लेने वाले चौपड़ कैसे खेले ? चौपड़ के

खेल का स्थान मुख्य प्रधर्म का स्थान है, "भगवते" पद से यह बताया कि यह आगमन सूर्य का नहीं है, केवल लोगों को आशंका हुई है ।५।।

आभास—सूर्यागमनेन स्वतोपि ज्ञातमहत्त्वाः स्तुत्वा भगवन्तं विज्ञापयन्ति. नारायणेतित्रिभिः ।

आभासार्थ लोक स्वतः सूर्य के महत्व को जानते है अतः सूर्य का आगमन समझकर, भगवान् की पहले स्तुति करते हैं, अनन्तर प्रार्थना करते हैं कि सूर्य देव आ रहा है यह वर्णन "नारायण" इन तीनों श्लोकों से करते है।

श्लोक—नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।
दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ।।६।।
एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते ।
मुष्णन्गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः ।।७।।
नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः ।
ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ।।८।।

श्लोकार्थ—हे शङ्ख चक्र गदा धारण करने वाले नारायण ! हे दामोदर ! हे कमल नयन ! हे गोविन्द ! हे यदुनन्दन ! हे जगत् के पति ! यह तेज किरणों वाले, किरणों के समूह से मनुष्यों के नेत्रों की दृष्टि को हरण करते हुए, सूर्य नारायण आपको देखने (मिलने) के लिए आ रहे हैं। हे प्रभु ! त्रिलोकों में जो श्रेष्ठ देवता हैं, वे भी आपके मार्ग को ढूंढ़ने की इच्छा करते हैं, यादवों में गुप्त विराजमान आपको जानकर सूर्य नारायण दर्शन के लिए आज आ रहे हैं ।।६–८।।

सुबोधिनी—नारायणपदं सूर्यान्तर्यामी नारायण इति तस्मिन्नागते अन्तर्यामिप्रेरणव्यतिरेकेण कार्यं न सिध्यतीति विज्ञापनार्थं सूर्यागमनं सम्भवतीति हेतुरुक्तः। अतस्ते नमः। नमस्कारमात्रं वा अस्मत्साध्यमिति। शङ्खचक्रगदाधरेति। शेषशायिनं नारायणं व्यावर्तयति। नारायणत्वं वा स्थापयन्ति। दामोदरेति भक्तकृपालुत्वम्. तादृशस्यात्रागमने हेतुरुक्तः। अरविन्दाक्षेति। समागतस्य तापापनोदनं कार्यमुक्तम्। गोविन्देति तथाकरणे आवश्यकत्वम्। यतोऽयमिन्द्रो जातः। किञ्च, यदुनन्दनेति तदर्थमेवावतीर्णः।

अत एवात्र बहु कार्यं तवास्तीति स्वत आगमनाभावात् स्वयमागत इत्याहुः एष आयातीति। आगतस्य विज्ञाप्यमस्तीत्याहुः सवितेति। प्रसवितायम्। सांप्रतं च भगवान् लीलया च तिष्ठतीति तदनुगुणप्रसवार्थं प्रष्टुमागत इत्यर्थः। प्रश्नस्तु दूतद्वारापि सम्भवतीति विशेषमाहुः त्वां दिदृ-

क्षुरिति। स्नेहाभावेऽपि दर्शनमावश्यकमित्यत्र हेतुमाहुः जगत्पत इति। स्वस्य निवेदने हेतुं वदन्त आहुः मुष्णन्गभस्तिचक्रेणेति। दूरे स्थितस्य गभस्तयोऽल्पीयांसः समायान्ति, निकटे तु गभस्तिचक्रेण पीडयति। नृणामित्यल्पसत्त्वता। तर्ह्ययं दोषो निवारणीय इत्याशङ्क्य तस्य स्वाभाविकोऽयमित्याह नृणां चक्षूंषि तिग्मगुरिति। ज्ञानप्रदो भगवान् अत्र समागतः। ज्ञानसाधनमेव दूरीकरोतीति प्रतिविधेयः।

ननु तथापि भवन्तोन्तरङ्गाः, तान्निवारयतेति चेत्, तत्राह नन्वन्विच्छन्तीति। देवाः समागच्छन्तः कथं वारणीयाः, तत्रापि स्वप्रभुं द्रष्टुम्, तत्रापि विबुधर्षभाः। किञ्च। अद्य यदुषु गूढं ज्ञात्वा समागताः। तत्र यदि कश्चिन्निवारणं कुर्यात्,तदा अनेनैव प्रतार्यंत इति तमेव मारयेयुः। ननु तथापि सूर्यो नायास्यति, स हि सर्वदा व्यापृतः, तत्राह द्रष्टुं वायात्यज इति। ब्रह्मा वा द्रष्टुमायाति। अवतीर्णस्य रूपान्तरस्वीकरणेनान्यथात्वे पूर्वव्यवहारोऽनुचित इत्याशङ्क्याह प्रभो इति। हे सर्वसमर्थ ॥६-८॥

व्याख्यार्थ— आप सूर्यान्तर्यामी नारायण हैं, उनके आने पर ही कार्य सिद्ध होता है क्योंकि अन्तर्यामी की प्रेरणा के सिवाय कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है, यों जताने के लिये सूर्य का आगमन बन सकता है, यह हेतु कहा है, अतः आपको नमस्कार है, नमस्कार के सिवाय विशेष तो हम से हो नहीं सकता। शंख,चक्र और गदा को धारण करने वाला विशेषण देने से शेष नारायण से पृथक्ता दिखाई, अथवा नारायणत्व की स्थापना की है, 'दामोदर' नाम से यह बताया है कि आप सदैव भक्त पर कृपा करते हैं, भक्त कृपालुत्वही आपके यहां आने का कारण है, 'कमलनयन' नाम से बताया है, कि आप यहां पधार कर विरही भक्तों के ताप दूर करने का कार्य करते हैं 'गोविन्द' नाम से यह बताया है कि आपको यों करना आवश्यक है कारण कि आप इन्द्र बने हैं, विशेष में आप 'यदुनन्दन' हैं, जिससे आपने इसके लिये ही अवतार लिया है ॥६॥

आपको यहां बहुत कार्य हैं जिससे सूर्य ने समझा, कि आप का आगमन न हो सकेगा अतः स्वयं वह आया है, आये हुवे को कुछ जानने वा पूछकर कार्य करने की इच्छा है इसलिये 'सविता' नाम दिया है, इस समय भगवान् लीला कार्य करने में स्थित हैं अतः उसके अनुकुल कार्य करने आप से पूछने के वास्ते आया है, यदि पूछना है तो दूत द्वारा भी पुछा सकता है, फिर आया क्यों ? इसके उत्तर में कहा है, कि केवल पूछना नहीं है, किन्तु उसको आपके दर्शन की भी इच्छा थी इसलिये भी आया है, स्नेह होने पर भी आपका दर्शन करना आवश्यक है क्योंकि आप जगत् के स्वामी हैं, हम आपको इसलिये निवेदन करते हैं कि यह सूर्य तेज किरणों वाला है जिसके तेज से हमारे नेत्र चकाचौंध हो कर पीड़ित हो रहे हैं, दूर में स्थित की किरणें थोड़ी चकाचौन्ध करती है, हम मनुष्य अल्पबलवाते हैं, जिससे यह पीड़ा सहन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह इसके लिये स्वाभाविक है, जो मनुष्यों के नेत्रों का अपने तेज रश्मियों से चकाचौन्ध कर पीड़ित करे, यहां ज्ञान देने वाले भगवान् आये हैं, ज्ञान साधनों को दूर फेंक देते हैं अत. इनका समादर स्वागत करिये।

हम क्यों करें, आप भी हमारे अन्तरंग है, आप ही इनका निवारण करो, यदि आपका इस प्रकार कहना हो, तो उसके लिये हमारा निवेदन है, कि देवता आपके यहां मिलने, दर्शन करने वा किसी कार्य के लिये आवे उनको कैसे रोका वा लौटाया जाय ? आप उनके स्वामी है, स्वामी के दर्शन के लिये आते हैं और आने वाले देवों में श्रेष्ट देव आते है और विशेषता तो यह है, कि आप यादवों

में गुप्त रूप से पधारे हैं, आज इस गोप्य को जान कर आये हैं, ऐसी स्थिति में कोई उनको रोके, तो वे समझेंगे, कि यह ही हम से प्रवंचना करता है यों समझ, उसको ही मारे, आप ज्यों समझते हैं कि सूर्य आ रहा है यों नहीं है वह न आवेगा क्योंकि उसको बहुत काम है जिनमें रुका हुआ रहता है, यदि वह नहीं है, तो कदाचित ब्रह्मा दर्शन के लिये आ रहा है, अवतार लेने पर दूसरा रूप धारण होता है, इसलिये उस अन्य रूप में पहलेसा व्यवहार करना उचित नहीं है, यदि यों कहो तो वह बात असमर्थों के लिये है, आप तो 'प्रभु' होने से सर्व समर्थ हैं कोई रूप धारण करे, तो भी वे के वे ही हैं बदलते नहीं हो, अतः श्रेष्ठ देव आते ही रहते हैं ॥६-७-८॥

आभास—तदा भगवान् कर्म न परित्याज्यमिति स्वयं तथैव स्थितः प्रजानां मोहं दूरीकृतवानित्याह **निशम्येति** ।

आभासार्थ- ये वचन उन के सुनकर भी, प्रारम्भ किया हुआ कर्म नहीं छोड़ना चाहिये यों विचार कर आप वैसे ही बैठे रहे, और प्रजाओं के भ्रम को दूर कर दिया जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक से करते है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः ।
प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कमल नेत्र भगवान् बालकों जैसे प्रजा के वचन सुनकर हँसे और उनका भ्रम मिटाने के लिए कहने लगे कि यह सत्राजित है, जो मणि से प्रकाशित हो रहा है, सूर्य देव नहीं है ॥६॥

सुबोधिनी—बालानां अज्ञानां वचनम् । ते हि स्वोत्कर्षमेव विचारयन्ति । नतु निमित्तम् । तथैतेऽपि स्वोत्कर्षत्वेन मदुत्कर्षमेव भावयन्ति । ततो यं कञ्चन समागच्छन्तं महत्त्वेन मत्सम्बन्धित्वेन च कल्पयन्ति । तस्मात् स्वोत्कर्षपरान् अज्ञान् दृष्ट्वा प्रहस्य दृष्ट्यैव तेभ्यः सुखं दत्तवानित्याह **अम्बुजलोचन** इति । असौ देवरूपो रविर्न भवति, किन्तु रवेस्तेजो । रविभक्तश्चायं भवति, तेन देवपदं संगच्छते, किन्तु सत्राजिदयम् । कथमेवं जात इति चेत्, तत्राह **मणिना ज्वलन्निति** ॥६॥

व्याख्यार्थ—बाल शब्द यहां अज्ञों[1] के लिये दिया है अर्थात् भगवान् अज्ञों के वचन सुनकर हंसने लगे, क्योंकि ये अपनी बड़ाई का ही विचार करते हैं किन्तु कारण का विचार नहीं करते है, वैसे ये भी अपने उत्कर्ष से मेरे उत्कर्ष की ही भावना करते है, वा मेरा उत्कर्ष ही बटाते है इस कारण से जो कोई आता है, उसको मेरे सम्बन्धित्व के कारण महान् समझते हैं, और भगवान् कमल नेत्र हैं जिससे इन मूर्खों को अपने उत्कर्ष के परायण देख, हँस कर, दृष्टि से ही उनको सुख देने

१—नादानों, अनजानों

लगे, एवं कहने लगे कि यह देवरूप सूर्य नहीं है किन्तु सूर्य का तेज है, यह जो आ रहा है वह सूर्य का भक्त सत्राजित है, भक्त होने के कारण देव कहा गया है, वह ऐसे कैसे हो गया ? इस पर कहते हैं कि मणि को कण्ठ में बान्धा है इसलिये ऐसा प्रकाशित हो रहा है ॥९॥

आभास—मणिना तस्य भोगमुक्त्वा अर्थसम्पत्तिमाह सत्राजित्स्वगृहमिति ।

आभासार्थ—मणि से प्राप्त (भोग) कह कर 'सत्राजित्स्वगृहं' श्लोक से अर्थ की सम्पत्ति कहते हैं।

श्लोक—सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम् ।
प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—सत्राजित ने अपने घर में उत्सवार्थं माङ्गलिक कराके प्रवेश किया, अनन्तर देव-मन्दिर में ब्राह्मणों द्वारा मणि की स्थापना कराई ॥१०॥

सुबोधिनी—भगवत्कृपया पूर्वमेव श्रीमत्कृतानि कौतुकानि मङ्गलानि च यत्र । अनेन धर्मकामौ निरूपितौ । एवं स्वतःसिद्धत्रिवर्गं गृहं प्रविश्य तत्र भक्त्यतिशयात् देवसदने देवपूजागृहे दैत्यानां प्रवेशाभावाय विप्रैः सह मन्त्रपूर्वकं मणिं न्यवेशयत् । नितरां स्थापितवान् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की कृपा से, पहले ही मांगलिक कार्य हुवे हैं, जिससे धर्म और काम की सिद्धि का होना निरूपण किया, इस प्रकार जिस घर में धर्म अर्थ और काम तीन कार्य सिद्ध हुवे हैं वैसे घर में प्रवेश कर वहां देवों के पूजास्थान में जहां दैत्य प्रवेश नहीं कर सकते है वहां ब्राह्मणों के साथ जाकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक मणि की स्थापना की ॥१०॥

आभास—स्थापितस्य फलमाह दिने दिने इति ।

आभासार्थ—अब 'दिने दिने' श्लोक में मणि के स्थापन करने से जो फल हुआ उसका वर्णन करते है।

श्लोक—दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो ।
दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः ।
न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः ॥११॥

श्लोकार्थ—यह मणि प्रति दिन आठ भार अर्थात् ४० मन सुवर्ण देती थी, जहाँ मणि है, वहाँ अकाल, महामारी, अकल्याण, सर्प, आधि, व्याधि और दूसरे अशुभ भी नहीं होते तथा मायावी लोगों का रहना भी नहीं हो सकता।

सुबोधिनी—पञ्चमणमात्रं भारः, चत्वारिंशद्वरणानि मण उच्यते मानविशेषः। ते चाष्टौ चत्वारिंशन्मणान् सुवर्णस्य प्रत्यहं सृजति। सविता हि तस्य मूलम्। अतोऽयमपि प्रसविता। प्रभो इति सम्बोधनं तदाकाङ्क्षाभावाय। न केवलमिष्टसाधकत्वम्, किन्त्वनिष्टनिवारकत्वमपीत्याह दुर्भिक्षेति। अनावृष्टिकृतं दुर्भिक्षम्। मारी शीतलादिदेवाधिष्ठितव्याधिमरणम्। अरिष्टान्यन्यानि आधिव्याधिहेतुभूतानि। आधिव्याधयश्च। अशुभाः स्वप्नादयोऽपि। मायिनो राक्षसाः पूतनादयः। यत्रायमभ्यर्चितो मणिस्तिष्ठति, तत्र नैते भवन्तीति मणेर्दृष्टादृष्टसामर्थ्यं निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—चालीस सेर का मन होता है, पांच मन का एक भार वजन होता है; वे आठ भार प्रतिदिन मणि देती थी अर्थात् मणि हरेक दिन ४० मन सोना देती थी, मणि यों कैसे कर सकती ? इस शंका का समाधान आचार्य श्री करते हैं, कि यह मणि सूर्य से उत्पन्न होने से, इसकी जड़ सूर्य है अतः जैसे सूर्य पैदा कर सकता है वैसे ही यह भी पैदा कर सकती है, भगवान् को 'प्रभु' सम्बोधन देकर यह बताया, कि आप सर्व समर्थ हो आपको ऐसे मणि की इच्छा हो नहीं सकती है। यह मणि केवल इच्छित पदार्थ ही नहीं देती है, किन्तु अनिष्टों का भी निवारण करती है, जैसे कि अनावृष्टि से दुर्भिक्ष होता है उसके निवारण के लिये समयानुसार उचित वर्षा करती है, शीतला आदि देव जिन रोगों के अधिष्टाता हैं उन रोगों से जो मृत्यु आदि होती है उन रोग मृत्यु को होने नहीं देती है, आधि व्याधि के हेतु जो अरिष्ट है उनको नाश करती है, अशुभ स्वप्न आदि तथा पूतना आदि राक्षसों का यहां आना भी नहीं होता है, जहां यह मणि पूजी जाती है वहां ऊपर कहे हुए अनिष्ट होते ही नहीं है यों मणि के दृष्ट तथा अदृष्ट सामर्थ्य का वर्णन किया है ॥११॥

आभास—अयोग्ये महान् धर्मो न युक्त इति विचार्य भगवान् अनेन मणिना सत्राजितो नाशो भविष्यतीति, स्वपुरे च नाशो न युक्त इति, देवान्तराणामत्र सामर्थ्याभावात् तत्प्रसादोऽपि व्यर्थ इति, तस्य लोकद्वयेष्टसिद्धयर्थं यावद्द्रव्यं तत उत्पद्यते, तावद्ग्रामादिद्वारा तस्मै दापयित्वा, उग्रसेनाय मणिं दापयितुं सत्राजितं प्रति किञ्चिदुक्तवानित्याह **स याचित** इति।

आभासार्थ—जो योग्य न हो उसमें बड़ा धर्म, वा वस्तु का होना योग्य नहीं है, भगवान् ने विचारा कि यह सत्राजित इस मणि के योग्य नहीं है, अतः इस मणि के कारण इसका नाश होगा, अपने नगर में इसका नाश हो यह भी उचित नहीं है, अन्य देवका यहां सामर्थ्य चल नहीं सकता है, उसकी कृपा भी व्यर्थ है, इसलिये इसका दोनों लोकों में हित सिद्ध हो, तदर्थ जितना द्रव्य इससे होता है, उतना ग्राम आदि द्वारा इसको दिला कर, यह मणि उग्रसेन को देने के लिये भगवान् सत्राजित को कुछ 'स याचित' श्लोक से कहने लगे।

श्लोक—**स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा।**
नैवार्थकामुकः प्रादाद्याच्ञाभङ्गमतर्कयत् ॥१२॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कुछ समय के लिए मणि को यदुराज उग्रसेन को देने के

वास्ते सत्राजित से मणि मांगी, किन्तु पैसे के लोभी उसने यह मणि नहीं दी और किसी तरह भी भगवान् की याचना का भङ्ग हो, वैसा विचार करने लगा ॥१२॥

सुबोधिनी - क्वापीति । कियत्कालं प्रयच्छ । यावता मृत्युरपगच्छति ततः स्वयमेव ग्राह्यमिति भगवदभिप्रायो बोधितः । ननु तस्यैव मृत्युर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यदुराजायेति** । शौरिणेति सामर्थ्यं दापने निरूपितम् । लौकिकपक्षपातश्च । तथापि न दत्तवानित्याह **नैवार्थकामुक** इति । स ह्यर्थमेव कामयते सिद्धम्, न तु मृत्युनिराकरणमपि, अतो न प्रादात् । यथैवायं न याचते, तथोपायं च विचारितवान् । सूर्यो वक्तव्यः, तद्द्वारा उपद्रवश्च कारणीयः, ततो न याचिष्यतीति याच्ञाभङ्गं तर्कितवान् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—कुछ समय के लिये, यह मणि उग्रसेन जो यादवों का राजा है उस को दे, जब तक तुम्हारा मृत्युकाल टल जावे पश्चात् स्वयं ही ले लेना इस प्रकार भगवान् ने अपना अभिप्राय बताया, यह शंका नहीं करना कि उसकी ही मृत्यु होगी क्योंकि वह शूरकुल में उत्पन्न होने तथा यादवों का राजा होने से उनमें सामर्थ्य है जिससे मणि के द्वारा उनकी मृत्यु न हो सकेगी, अथवा लौकिक पक्षपात के कारण भी भगवान् ने यों कहा है, भगवान् की ऐसी इच्छा होने पर भी, मणि नहीं दी । क्योंकि अर्थ ही सिद्ध करना चाहता है, मृत्यु को टालना नहीं चाहता है । मणि न देने के ये ही कारण हैं, सत्राजित् उस उपाय का विचार करने लगा, जिससे भगवान् मणि की याचना करे नहीं, सूर्य को कहा जाय और उसके द्वारा उपद्रव कराये जावें, यों होने से मांगेंगे नहीं, इस प्रकार याचना भंग कराने का विचार करने लगा ॥१२॥

आभास— एवं दोषद्वयं तस्य निरूपितम् । आज्ञोल्लङ्घनमपकारचिन्तनं चेति । तत्र स्वस्यैवापकारो जातः । आज्ञाभङ्गफलं मृत्युरपि जात इत्यध्यायद्वयेन निरूप्यते । एतादृशोऽपि मणिः भगवद्भावरहितः अनर्थपर्यवसायी जात इति निरूपयन् भगवदाज्ञोल्लङ्घनात् तदीयानां बुद्धिरेव दुष्टा जातेति, पूज्यमपि मणिं सत्राजिन्मात्रपरिधेयं च, भक्तस्यैव भगवद्धर्मा उपकारिण इति सामान्यं तं मणिं ज्ञात्वा प्रसेनोऽपि तत्प्रतिष्ठार्थं तद्भ्राता कण्ठे उन्मुच्य गत वानित्याह **तमेकदेति** ।

आभासार्थ - इस प्रकार उसके दो दोषों का निरूपण किया १-आज्ञा का उल्लंघन और बुराई हो, ऐसा विचार कर, वहां उसकी ही बुराई हुई, आज्ञा भंग का फल मृत्यु भी हुआ, जिसका दो अध्यायों में निरूपण किया जाता है, यद्यपि मणि, धन सम्पत्ति आदि देने वाली, रोगादि नाशक है, तो भी भगवद्भाव रहित होने से, अनर्थ फल देने वाली हुई । भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन से तदीयों की बुद्धि ही दूषित हो गई, पूज्य ने भी मणि केवल सत्राजित के ही धारण करने के लिये दी थी, भगवान् के धर्म, भक्त का ही हित करते हैं, मणि को सामान्य मणि समझ कर उसका भ्राता प्रसेन भी उसकी प्रतिष्ठा के लिये कण्ठ में डाल कर वन में गया, जिसका वर्णन "तमेकदा मणि" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्मिकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् ।
प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद्वने ॥१३॥

श्लोकार्थ—एक दिन सत्राजित का छोटा भाई प्रसेन बड़ी प्रकाशमान उस मणि को कण्ठ में बाँध घोड़े पर सवार होकर शिकार करने के लिए वन में गया ॥१३॥

सुबोधिनी कण्ठे मणिं प्रतिमुच्य एतत्प्रभया मृगा अन्धा भविष्यन्ति, ततो वर्तव्या इति, महाप्रभं सूर्यवत्प्रकाशमानम्. प्रसेनः प्रकृष्टसेनायुक्तोऽपि एकाकी हयमारुह्य मृगयां कर्तुं व्यचरत्। मृगा यान्त्यस्यामिति मृगनाशिका राजलीला मृगया, तामुद्दिश्य वने व्यचरत् ॥१३॥

व्याख्यार्थ - प्रसेन ने कण्ठ में मणि इसलिये धारण की थी कि इसके तेज से मृग अन्धे हो जायेंगे, तो उनको पकड़ने में सुगमता होगी, यद्यपि प्रसेन के पास बहुत सेना थी, तो भी अकेला ही घोड़े पर चढ़कर शिकार खेलने के लिये वन में फिरने लगा, शिकार, वह राजलीला है जिसमें मृगनाश किये जाते हैं अर्थात् जिस लीला में मृग नाश के मुख में जाते हैं, इसलिये इसको संस्कृत में 'मृगया' कहते हैं ॥१३॥

आभास—महाप्रभत्वात् असहिष्णुः सिंहः तं हत्वा मणिं नीतवानित्याह प्रसेनमिति ।

आभासार्थ—उसकी महती प्रभा को न सहकर सिंह ने उसको मारकर मणि लेली यह चरित्र "प्रसेनं' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी ।
गिरिं विशञ्जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता ॥१४॥

श्लोकार्थ—एक सिंह वहाँ वन में घोड़े समेत प्रसेन को मारकर मणि ले पर्वत की गुफा में जाता था, तो मणि को चाहने वाले जाम्बवान् ने उसको मार डाला ॥१४॥

सुबोधिनी—अलौकिकेनोपायेन न मृगा हन्तव्याः, भगवांस्तेषु नालौकिकं दत्तवानिति, मृगयैव तदर्थं निर्मिता । तेषां वधं मणिना चिन्तयन् तेनैव स्वमृत्युं प्राप्तवान् । स मणिर्देवरूप इति क्रुद्धो मणिर्यत्रैव स्थितः, तमेव घातयतीति परम्परया बहूनां वध उच्यते । हयसहितं प्रसेनं हत्वा मणिः केसरिणा गृहीतः । सोऽपि निकृष्टस्थाने मणिं नयन् गिरिं विविक्षन् कन्दरां प्रविशन् जाम्बवता निहतः । ननु महान् सः, किमिति सिंहं हतवान् तत्राह **मणिमिच्छतेति** । अहतः सिंहो मणिं न मुञ्चतीति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—मृग अर्थात् सिंह आदि पशु अलौकिक उपाय से मारे नहीं जाते कारण कि भगवान्

ने उनको मार डालने की अलौकिक बुद्धि नहीं दी है, उनको मारने का उपाय शिकार ही बनाया है उनका वध मणि से होना ही विचारा हुआ था, उससे ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, वह मणि साधारण पत्थर की मणि नहीं थी, किन्तु देव रूप मणि थी, अतः क्रुद्ध हुई मणि जिसके पास जाती है उसका ही वध करवाती है, यों परम्परा से बहुतों का वध कहा जा सकता है; घोड़े समेत प्रसेन को मार कर मणि सिंह ने ग्रहण की, वह भी अधम स्थान, पर्वत की गुफा में प्रविष्ट होते ही, जाम्बवान् ने उसे मार डाला, वह सिंह महान् है, उसको क्यों मारा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मणि इच्छता:' जाम्बवान् को मणि लेने की इच्छा थी इसलिये उसने सिंह को मारा, यदि मारते नहीं तो जीवित सिंह मणि को छोड़ता नहीं, इसलिये मारने के सिवाय अन्य कोई उपाय मणि लेने का नहीं था ।।१४।।

आभास—तस्य मणेः प्रयोजनमाह सोऽपि चक्र इति ।

आभासार्थ—"सोऽपि चक्रे" श्लोक में उस मणि के लेने का प्रयोजन बताते हैं ।

श्लोक—सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले ।
अपश्यन्भ्रातरं भ्राता सत्राजित्पर्यतप्यत ।।१५।।

श्लोकार्थ—उसने भी मणि को लेकर बिल में अपने कुमार का खिलौना बना दिया, वहां प्रसेन का भ्राता सत्राजित अपने भ्राता को न देखकर शोक करने लगा ।।१५।।

सुबोधिनी—बिले स्वस्थ नविवरे कुमारस्यातिबालकस्य (स्थाने) क्रीडनकं क्रीडासाधनं चक्रे । एतावदेकेनैव दिनेन निर्वृत्तम् । ततो भ्रातुरन्वेषणार्थं सत्राजिता मनुष्याः प्रस्थापितः । ततो न क्वाप्युपलब्धः । ततो भ्रातृस्नेहात् भ्रातरमपश्यन् सत्राजित्पर्यतप्यत । मणिरपि गतो, भ्रातापि गत इति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—जाम्बवान् का छोटा बालक जिस स्थान पर रहता था, उस अपने स्थान के बिल में, मणि को उसने बालक का खिलौना बनाया, इससे यह समझा जाता है, कि यह कार्य एक ही दिन में पूरा हो गया, पश्चात् सत्राजित ने भ्राता की खोज करने के लिये मनुष्य भेजे, उसका कहीं भी पता न लगा, उससे भ्रातृस्नेह के कारण भ्राता को न देखने से, सत्राजित शोकातुर होने लगा, मणि भी गई और भ्राता भी गया इसलिये सन्तप्त हुआ ।।१५।।

आभास—ततः किं जातमिति विचारे भ्रातुरिवास्यापि दुर्बुद्धिरुत्पन्नेत्याह प्रायः कृष्णेनेति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर, भ्राता की तरह इसकी बुद्धि भी दुर्बुद्धि हो गई जिसका वर्णन 'प्रायः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः ।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपज्जनः ॥१६॥

श्लोकार्थ—गले में मणि बांध वन में गए हुए मेरे भाई को बहुतकर कृष्ण ने मार डाला, यह सुनकर नगर के लोग आपस में कहने लगे कि सत्राजित के भाई को मार कर कृष्ण मणि ले आए हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—अयमपि गतः । भगवान् स्वतोऽन्येन वा स्वयमपि मृगयां गतो मारितवानिति । प्राय इत्युत्कटा कोटिः । कृष्ण एव समर्थो मणिगुणान् दूरीकर्तुम् । हेतुश्चाप्यस्ति । मणिः पूर्वं याचित इति, वने च मारणे न कोऽपि ज्ञास्यतीति । एवं निश्चित्य भगवति क्लिष्टमारोपितवान् । ननु केनापि नोच्यते, कथं त्वं कल्पयसीत्याशङ्कयाह भ्राता ममेति । मम तु प्रिय इत्यहं ब्रवीमि, अन्यः किमर्थं वक्ष्यतीति भावः । तद्गृहे उक्तं भार्यादिस्थाने, पश्चात्कर्णे कर्णे समागतमजपत् । मन्त्रवत् शनैः भगवत्कीर्तिमुक्तवान् । यतो जनाः, नह्यल्पेन दोषेण जन्ममरणादिकं प्राप्नोति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—सत्राजित ने कहा कि जैसे मेरा भाई वन में गया वैसे यह भी गए । भगवान् स्वतः गये अथवा दूसरों को भी ले गये, वहां जाकर मेरे भाई को स्वयं ने मारा अथवा दूसरों से मरवाया, बहुत कर तो स्वयं ने ही मारा है, यह विशेष कोटि है, क्योंकि कृष्ण ही समर्थ हैं और मणि के गुणों को जानते हैं अथवा उनको दूर भी कर सकते हैं, यों करने में कारण भी हैं, जो पहले मुझ से उग्रसेन के लिये माँगी थी, मैंने नहीं दी थी, वन में जाकर मारने से कोई जान न सकेगा, इस प्रकार विचार कर निश्चय किया कि कृष्ण ने ही मारा है और यह दोष कृष्ण पर आरोप किया । यह तो केवल तू ही कहता है दूसरा कोई भी नहीं कहता । तुम यह कल्पना कैसे करते हो? इसके उत्तर में कहता है, कि मेरा भाई है, जिससे मुझे प्यारा है, इसलिये मैं कहता हूँ दूसरे को क्या प्रयोजन है जो कहे । यह समस्त वर्णन अपने अन्तःपुर में किया, पश्चात् प्रत्येक कान कान में कहने लगा । मन्त्र की भांति धीरे धीरे भगवत्कीर्ति को कहने लगे क्योंकि मनुष्य हैं वह थोड़े दोष से जन्म मरण आदि को प्राप्त नहीं होता है ॥१६॥

आभास—पूर्णं भगवान् विदितवृत्तान्तोऽपि लोकन्यायेनैव व्यवहरन् स्वयमपि श्रुत्वा आप्तमुखात् तत्प्रतीकारार्थं यत्नं कृतवानित्याह भगवानिति ।

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् ने पहले ही सर्व वृतान्त जान लिया था, तो भी, लौकिक व्यवहार दिखाने से लिये मनुष्यों के मुख से जब स्वयं ने सुना, तब उसके प्रतिकार के लिये यत्न करने लगे, जिसका वर्णन "भगवांस्तदु" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनः ।
मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः ॥१७॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने को वह कलङ्क लगा सुनकर, उसको मिटाने के लिए अपने साथ कुछ नगर निवासियों को लेकर जहाँ से प्रसेन गया था, उस रास्ते से उसको ढूंढ़ने के लिए गए ॥१७॥

सुबोधिनी—तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा आप्तमुखात् अकस्माद्वा उपश्रुत्य। उपश्रुति सर्वानेव ज्ञापयति। ततस्तत्प्रतीकारार्थं प्रवृत्त इति वक्तुं निराकरणीयत्वे हेतुमाह **दुर्यशो लिप्तमिति**। दुर्यशस आलिप्तमालेपनं लेपवदुपर्यपि प्रतिभासनम्। **आत्मन इति**। यदि भगवान् न दूरीकुर्यात्, सर्वेषामात्मा स्वयमिति तद्दोषे कस्यापि मुक्तिर्न भवेत्। अतो युक्तमेव तन्निराकरणम्। तल्लोकन्यायेनैव कर्तव्यमिति प्रसेनपदवीं नागरैः पदमार्गाभिज्ञैः तद्गतमार्गमन्वपद्यत। तेनैव मार्गेण स्वयं नागरैः सह गतः। अन्यथा लोकाः कृत्रिमं जानीयात् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वह सत्य वृत्तान्त आप्त (सत्य जानने वाले व कहने वाले) पुरुषों से अथवा अचानक सुनकर, उपश्रुति सबको ही जनाती है, इस कारण से उसके प्रतीकार के लिए प्रवृत्त हुए, उसको मिटाने की क्या आवश्यकता थी? जिसका कारण कहते हैं कि अपयश से लिप्त हो जाने से अर्थात् वैसी निन्दा होने लगी, जो लेप की भाँति सर्वत्र भासमान होने लगी, सारांश यह है कि जहाँ-तहाँ प्रत्येक मनुष्य भगवान् की निन्दा करते हुए कहने लगे कि भगवान् प्रसेन को मारकर मणि ले आए हैं, अतः इस असत्य कलङ्क को मिटाने के लिए यदि भगवान् प्रयत्न न करते तो उस कलङ्क रूप दोष के कारण किसी की भी मुक्ति न हो सकती थी; क्योंकि सबकी आत्मा भगवान् ही है, भगवान् कलङ्क से दोषी हुए तो सब दोषी हुए, अतः उसका निराकरण करना योग्य ही है, वह निराकरण भी अलौकिक रीति से न कर, लौकिक प्रकार से ही करना चाहिए, इसलिए उन नागरिकों को साथ ले गए, जो पद-मार्ग को जानते थे, जिससे उसके जाने के मार्ग को पहचानकर वहाँ पहुँच गए, यों न करते तो लोक कृत्रिम (बनावटी) जानते ॥१७॥

आभास—ततस्तं दृष्टवानित्याह **हतं प्रसेनमिति**।

आभासार्थ—'हत प्रसेन' श्लोक से कहते हैं कि अनन्तर उसको जाकर मरा हुआ देखा।

श्लोक—हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने।
तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—वन में प्रसेन और अश्व को सिंह से मरा हुआ देखा और उस सिंह को मनुष्यों ने पर्वत के ऊपर रीछ के हाथ से मरा हुआ देखा ॥१८॥

सुबोधिनी—केसरिनखानां चिह्नदर्शनात् केसरिणैव हतं ज्ञातवन्तः। ततो मणिरप्यस्मै देय इति, यादवः स्वगोत्रजो मारित इति पदाभिज्ञैरेव केसरिमार्गमन्वगमत्। तं चापि अद्रिपृष्ठे पर्वतोपरि निहतं ददृशुः सर्व एव जनाः। तत्रापि ऋक्षेण ऋक्षपदचिह्नैस्तज्ज्ञानम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ - केसरी सिंह के नखों के चिन्ह प्रसेन के देह पर देख समझ लिया कि इसको सिंह ने मारा है, तब जान लिया कि मणि भी इसको मिली है, अपने गोत्र में उत्पन्न प्रसेन यादव मारा गया है, पागियों के साथ ही सिंह के रास्ते से पीछे गए तो वहाँ मनुष्यों ने पर्वत के ऊपर देखा कि इस सिंह को किसी रीछ ने मार डाला है; क्योंकि वहाँ रीछ के पैरों के चिन्ह देखने में आ रहे थे ॥१८॥

आभास— ऋक्षान्वेषणार्थं भगवान् प्रवृत्त इत्याह **ऋक्षराजबिलमिति** ।

आभासार्थ— 'ऋक्षराजबिलं' श्लोक से कहते हैं कि भगवान् रीछ को ढूँढने में प्रवृत्त हुए ।

श्लोक—**ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसावृतम् ।**
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः ॥१९॥

श्लोकार्थ—रीछों के राजा की गुफा बड़ी भयंकर और अन्धकार से व्याप्त थी, इसलिए प्रजा को बाहिर ही खड़ी रख आप अकेले प्रविष्ट हुए ॥१९॥

सुबोधिनी—यद्यपि भगवान् भक्तार्थमेव तत्र प्रविष्टः, तथापि लोके मण्यर्थं कष्टमपि कृतवानिति ज्ञापयितुं तस्मिन्बिले प्रविष्टः । ननु ऋक्षः प्राकृतः पशुः, भगवांस्तत्र किमर्थं गत इत्याशङ्क्याह राजेति । ऋक्षाणां राजा महानेव भवति । तत्रान्यस्य प्रवेशाभावाय विशिनष्टि भीममन्धेन तमसावृतमिति । अन्तःकरणस्य इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यभावाय विशेषणद्वयम् । अन्धतमः कदापि सूर्यतेजोरहितम् । अनेन मणिनापि तत्र प्रकाशो न कृत इति सूचितम् । अतो भगवान् अन्यान् स्थापयित्वा दयावन्तमिवात्मानं ज्ञापयित्वा । साधारणत्वादसमर्थत्वादनियामकत्वाच्च ताभिर्भगवन्निवारणं न कृतमिति ज्ञापयितुं प्रजापदम् । साधारणास्तु ततो निवृत्ता इति ज्ञापयितुं प्रजानामेवावस्थापनमाह । प्रायश्चित्तमेकेनैव कर्तव्यमिति मर्यादां पालयन्निव भगवानेक एव प्रविष्टः । यादवा अपि भगवदिच्छया अकीर्त्यापि शङ्किता न सङ्गे गताः ॥१९॥

व्याख्यार्थ - यद्यपि भगवान् बिल में भक्त के लिए गये थे, तो भी, लोक में यह जताने के लिये, कि भगवान् ने मणि की प्राप्ति के लिए कष्ट भी किया है । रीछ प्राकृत पशु है, जिसके लिए भगवान् [illegible] है, राजा महान् ही होता है, दूसरे किसी को क्यों नही भेजा ? इसके उत्तर में कहा है कि वहाँ दूसरा कोई जा नहीं सकता था, कारण कि गाढ़ अन्धकार से वह बिल व्याप्त था, जिससे अंतःकरण तथा इन्द्रियों को वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, घोर अन्धकार है, कारण कि वहाँ कभी भी सूर्य का दर्शन नहीं होता है. जिससे सूर्य के प्रकाश से वह स्थान रहित है इस कारण से मणि ने भी वहाँ प्रकाश नहीं किया, यों सूचित किया, भगवान् अपनी दयालुता प्रकट करते हुए अन्यों को बाहर ही ठहरा कर स्वयं प्रविष्ठ हुए, बाहर ठहरने वालों के लिये "प्रजा" पद देकर यह सूचित किया है कि वह साधारण असमर्थ और अनियामक थी इसलिये भगवान् को ऐसे स्थान पर जाने से रोका नहीं । जो साधारण थे वे तो लौट गये, इसलिये प्रजा को बाहर ही ठहराने का कहा है. किसी दोष हो जाने पर समुदाय

में से प्रायश्चित एक ही करता है यह नियम है. इस नियम के पालनार्थ भगवान् एक ही प्रविष्ट हुए, यादव भी भगवान की इच्छा से अथवा अपकीर्ति से शंकित हो भगवान के साथ प्रविष्ट न हुए ॥ १६ ॥

आभास—तत्र प्रविष्टस्य मणिदर्शनमाह तत्र दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—"तत्र दृष्ट्वा" श्लोक से कहते हैं कि वहाँ प्रविष्ट हुए भगवान् ने मणि देखी—

श्लोक—तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम् ।
हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके ॥२०॥

श्लोकार्थ—वहाँ बालक ने मणि को अपना खिलौना किया है, यह देख उसको लेने का विचार कर भगवान् बालक के पास खड़े हो गए ॥२०॥

सुबोधिनी—यद्यपि तत्र नागलोकमणयः अन्येऽपि दिव्याः सन्ति,ततः स्यमन्तकपरिज्ञानं कठिनम्, तथापि स्वत एवोत्तममिति लौकिकेनापि प्रकारेण ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापयितुं मणिश्रेष्ठमित्युक्तम् । तथापि मणिः गुप्त एव स्थाने स्थाप्यत इति भगवान् लौकिकप्रकारेण कथं दृष्टवान्, तत्राह बालक्रीडनकमिति । बालस्य क्रीडार्थमुपरि निबद्धमित्यर्थः । पुराणान्तरे तु स्यमन्तकमणिज्ञापकं वाक्यमपि श्रुतवानित्युक्तम् । तत्र धात्री बालं लालयन्ती आह । 'सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः । सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तक' इति । अतो लौकिकेनापि प्रकारेण ज्ञात्वा अपकीर्तिनिराकरणार्थमिदं हर्तव्यमिति स्वाभाविकं चैतस्य न भवतीति, उपयोगश्च तथा नास्तीति, बालप्रबोधो वर्णमात्रेणापि भवतीति, पूजाभावात् धनप्रसवो नास्तीति, सुवर्णेनाप्युपयोगाभाव इति, अक्लिष्टकर्मापि पामरा न प्रष्टव्या इति स्वयमेव हर्तुं कृतमतिर्जातः । ततो मत्यैव सर्वा सामग्री अक्लिष्टत्वाय सम्पादितेत्याह आदौ भगवान् अर्भकान्तिके तूष्णीं कियत्कालमवतस्थे, न तु गृहीत्वा ततो निर्गतः । चौर्यादिना जीवत् अपथप्रवृत्तः महानपि भक्तोपि विषयासङ्गात् प्राकृतो जातः । अतस्तत्सम्बन्धात् तदीया अपि प्राकृता एव जाताः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में "मणि श्रेष्ठ" पद देने का भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यद्यपि वहाँ नागलोक की दूसरी भी अनेक दिव्य मणियाँ थी जिससे स्यमन्तक मणि की पहचान कठिन थी तो भी यह स्वत ही उत्तम थी जिससे लौकिक प्रकार से भी यह पहचानी जा सकती थी इसलिये इसको "मणि श्रेष्ठ" कहा गया है. यों हैं, तो भी ऐसी मणि तो गुप्त स्थानों में रखी जाती है तो भगवान् ने लौकिक रीति से कैसे देख ली ? इसके उत्तर मे कहा है, कि "बालक्रीडनकं" बालकों के क्रीड़ा के लिये ऊपर बांध रखी थी; अन्य पुराणों में तो ऐसी कथा है कि जब भगवान् वहाँ पधारे तब धात्री बालक को लालन करती हुई कहती थी "सिंहः प्रसेनमवधीत्, सिंहो जाम्बवता हतः । सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः" सिंह ने प्रसेन को मारा. फिर जाम्बवान् ने सिंह को मार डाला, हे सुन्दर कुमार ! तूं रो मत यह स्यमन्तक तेरी है, ये शब्द सुन कर, लौकिक प्रकार से भी जान लिया अतः अपकीर्ति को निराकरण करने के लिए यह मणि हरण

करनी चाहिये, ऐसा स्वभाव तो इनका नहीं हो सकता है, और उसका उपयोग भी करना नहीं है. बालक को तो शब्द मात्र से प्रसन्न किया जा सकता है,मणि से धन की प्राप्ति तब हो जब उसकी पूजा की जाए. पूजा के अभाव से धन भी उत्पन्न नहीं होता है सुवर्ण से भी उपभोग का अभाव है, आप अक्लिष्टकर्मा हैं इसलिये पामरों से पूछने की आवश्यकता नहीं थी, इसलिये स्वयं ही मणि के हरण का विचार करने लगे, यों विचार करने के बाद परिश्रम न हो इसलिये सर्व सामग्री तैयार करली. पहले भगवान् बालक के पास मौन धारण कर कितने समय खड़े रहे किन्तु वहाँ से मणि लेकर नहीं निकले, चोरी से जीवन बुरे मार्ग पर जाता है, जिससे महान् हो, चाहे भक्त हो. वह विषयों में आसक्त होने से प्राकृत हुवा, अतः उसके सम्बन्ध से तदीय भी प्राकृत हो गये ॥ २० ॥

आभास—अतो भगवन्तं दृष्ट्वा सद्बुद्ध्यभावात् विषयाभिनिवेशाच्च विचारमकृत्वापि आक्रोशं कृतवतीत्याह **तमपूर्वमिति** ।

आभासार्थ—भगवान् को देखकर, वह दाई जो बालक की रक्षा कर रही थी उसमें सद्बुद्धि न होने के कारण और इस काम में आग्र होने से बिना विचार आक्रोश[1] करने लगी, जिसका वर्णन "तमपूर्व" श्लोक में करते है —

श्लोक—तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत् ।
तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत्क्रुद्धो जाम्बवान्बलिनां वरः ॥२१॥

श्लोकार्थ—दाई ने उस अपूर्व नर को देख डरे हुए के समान चिल्लाया, वह चिल्लाना सुनकर बलवानों में श्रेष्ठ, क्रोधित जाम्बवान् भगवान् के निकट आया ॥२१॥

सुबोधिनी—देवादीनामन्यतरश्चेद्वाक्स्तम्भनादिकमपि कुर्यादिति । तदभावात् भगवतो क्लिष्टकर्मत्वं ज्ञात्वा नरोऽयमिति ज्ञातवती । आकृतिवचनो वा नरशब्दः । स्वस्थस्याप्याक्रोशो भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पुत्रं वा मारयिष्यतीति बुद्ध्या जाम्बवानपि महानिति तथा भयाभावात् भीतवत् चुक्रोश । यतो धात्री बालकरक्षापरा। ततोऽन्तःकार्यान्तरव्यापृतोऽपि तद्वाक्यं श्रुत्वा समागत इत्याह तच्छ्रुत्वेति । मदायतनेऽपि मण्यर्थं कः समागत इति क्रोधः । **जाम्बवानिति** नाम्ना प्रसिद्धो रामायणे बुद्धिविशेषे, तादृशोऽप्यविचार्य समागतः । तत्र हेतुर्बलाभिमान इति अभिप्रायेणाह **बलिनां वर** इति । बलिभिरपि वरणीय इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—देव आदि में से कोई एक होवे, तो वाणी का स्तम्भन भी करदे, किन्तु भगवान् ने ऐसा किया नहीं, भगवान् का क्लिष्ट कर्म जान कर समझने लगी कि यह कोई मनुष्य है, अथवा यह नर शब्द आकृति के कारण कहा गया है, सुखी भी कभी चिल्लाहट करता है यह चिल्लाना वैसा नहीं था, किन्तु यह आया हुआ, पुत्र को मारेगा, इस विचार से यद्यपि जाम्बवान् महान् होने से

---

१ — चिल्लाने लगी

निर्भय था, तो भी डरे हुवे के समान चिल्लाने लगा, कारण कि दाई बालक की रक्षा कर रही थी, यद्यपि स्वयं भीतरी अन्य कार्यों में रुका हुआ था तो भी दाई का वाक्य सुनकर भगवान् के पास आ गया. वाक्य सुनते ही इसको क्रोध उत्पन्न हुआ क्योंकि यह विचार होने लगा, मेरे घर में रखी हुई मणि को लेने के लिए यह कौन है ? जो मेरे घर के भीतर आ गया है, जाम्बवान् के लिये रामायण में प्रसिद्ध हैं, कि बड़ा बुद्धिमान है, वैसा बुद्धिमान होकर भी, बिना विचार किये आ गया, यों आने का कारण बल का अभिमान था, इसलिये श्लोक में 'बलिनांवर' बलवानों में श्रेष्ठ कहा है, बली भी इसका वरण करते हैं ।। २१ ।।

आभास—एतादृशोऽपि कालादिवशादज्ञो भूत्वा भगवता सह युद्धं कृतवानित्याह स वा इति ।

आभासार्थ—ऐसा समझदार होते हुए भी कालादि के वश हो जाने से अज्ञ बन गया जिससे भगवान् के साथ युद्ध करने लगा, जिसका वर्णन 'स वं भगवता' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स वं भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः ।
पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित् ।।२२।।

श्लोकार्थ— वह जाम्बवान् निश्चय से, उनके प्रभाव को न समझ प्राकृत मनुष्य मानकर, अपने स्वामी उन भगवान् से युद्ध करने लगा ।।२२।।

सुबोधिनी—स्वयमपि प्रसिद्धः, तथा कुर्वन् लोके अपकीर्तिमपि प्राप्स्यतीति सूचितम् । तत्रापि वं निश्चयेन । शारीरेण जीवस्याराध्यो भगवान् । तत्राप्यात्मना स्वामिना स्वस्यैवोपास्यरूपेण । तत्कथमित्याकाङ्क्षायामाह तेनेति । रघुनाथेन । कृष्ण एव रघुनाथः, तामेव सर्वां सामग्रीं गृहीत्वा समागत इति । स एव लक्ष्मणो बलः । सैव सीता रुक्मिणी । ते वानरा यादवाः, सैवायोध्या द्वारका, सैव सरयूर्गोमतीति । तर्हि कथं युयुधे तत्राह पुरुषमिति । प्राकृतं पुरुषं मत्वा प्रकृत्यधिष्ठातारम् न तु पुरुषोत्तमम् । ननु महतः कथमेतादृशमज्ञानमिति चेत्, तत्राह कुपितो नानुभावविदिति । दृष्ट्वा क्रोधवशात् अलौकिकत्वं न ज्ञातवान् । पूर्वं तु कृतो गोवर्धनधरेनुभावो न श्रुतः सत्सङ्गाभावात् बिलेशयत्वाच्च । अतोऽनुभावानभिज्ञत्वात् कोपावेशाच्च स्वामित्वेनाज्ञात्वा युयुधे । अक्लिष्टकर्मा च भगवान् । अनुक्त्वैव स्वयं युद्धं कृतवान् । भगवत उत्तरार्धलीलायां प्रकृतिः कालादयश्चासहमाना जाताः । तेषां पीडार्थं, पुरुषं परित्यज्य सप्तविंशति तत्त्वानि, यथा काठिन्यं जहति, तथा मुष्टिप्रहारैः सेवककृतैः चलने पादाविव कोमलानि कृतानीत्येके । चिरकालं मल्लयुद्धाकाङ्क्षया तथा कृतमित्यन्ये । रामावतारे हि तस्मै वरो दत्तो रामेण 'त्वदाराधनां ग्रहीष्यामी'ति । पुनस्तेन विज्ञापनायां कृतायां बल मदीयं व्यर्थं जायत इति । ततो भगवान् बुद्धिमिदानीं प्रकटीकुरु, बलं पश्चात्प्रकटीकरिष्यसीत्याह । नहि कश्चिज्जीवस्त्वत्पराक्रमं सोढुं शक्त इति । अतस्तत्र स्थापितां ज्ञानशक्तिं पूर्वावतारे गृहीत्वा इदानीं बलशक्तिमपि गृह्णन् पूजां गृहीत्वा तं मुक्तं करिष्यतीति तथा भगवदुद्योगः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवान् स्वयं प्रसिद्ध था, अतः इस प्रकार भगवान् से युद्ध करने से अपकीर्ति को प्राप्त होगा, यह सूचित किया, यह सूचना साधारण नहीं है, किन्तु निश्चयपूर्वक है, जीव को भगवान् की आराधना शरीर से करनी चाहिये, उसमें भी अपने स्वामी उपास्य रूप की तो करनी ही चाहिये 'तेन' पद से यह दिखाया है. जाम्बवान् का उपास्य जो रघुनाथ है, वे कृष्ण ही हैं अतः उसी सकल सामग्री को लेकर यहाँ आये हैं जैसे वही लक्ष्मण बलराम है, वही सीता रुक्मिणी है, वे बन्दर यादव हैं, वह ही अयोध्या अब द्वारकापुरी है वह सरयू गोमती है, जब यों है, तब जाम्बवान् अपने उपास्य से कैसे लड़े ? इस पर कहते हैं कि प्रकृति के अधिष्ठाता को प्राकृत समझा, न कि पुरुषोत्तम जाना। वह जाम्बवान् महान् बुद्धिमान है उसको ऐसा अज्ञान कैसे हुआ ? क्रोध ऐसी वस्तु है जो ज्ञानी को अज्ञानी बना देता है, यह भी क्रूर था, अतः क्रोध के कारण प्रभाव को न जान सका, अलौकिक की पहचान न हो सकी, भगवान् ने जो गोवर्धन धारण कर अपना प्रभाव दिखाया था, वह इसने न देखा और न सुना था क्योंकि एक तो सत्सग का अभाव था, अर्थात् सत्संग नहीं किया था तथा दूसरा बिल में भी रहता था जिससे माहात्म्य जान न सका था अतः माहात्म्य का ज्ञान न होने से, कोप के आवेश से और यह मेरा स्वामी है इस अज्ञान से लड़ाई करने लगा। भगवान् तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, अर्थात् भगवान् को किसी भी कार्य करने में परिश्रम तो होता ही नहीं है, इसलिये कुछ न कहकर ही स्वय युद्ध करने लगे। भगवान् की उत्तरार्ध की लीला को प्रकृति[1] तथा काल[2] आदि[3] सहन न कर सके, उनकी[4] पीड़ा के लिए, जैसे पुरुष को छोड़ सत्ताईस तत्व कठिनता का त्याग करते हैं, वैसे ही सेवकों के किये हुवे मुष्टि प्रहारों से चलने में पैरों की तरह कोमल किये, यों कोई एक कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि बहुत समय से मल्लयुद्ध लड़ने की चाहना थी इसलिये यों किया। रामावतार में श्री रामचन्द्रजी ने इसको वरदान दिया था, तेरी सेवा ग्रहण करूंगा तब जाम्बवान् ने फिर प्रार्थना की कि मेरा बल तो व्यर्थ ही चला जायेगा। तब भगवान् राम ने कहा, बुद्धि अब प्रकट कर, अर्थात् बुद्धि से सेवा अब कर, उसको अब स्वीकार करूंगा, शेष बल पीछे प्रकट करना, अर्थात् बल की सेवा की स्वीकृति कृष्णावतार में करूंगा, क्योंकि तेरा ऐसा उत्कृष्ट पराक्रम है, जो कोई भी जीव सहन न कर सकेगा, अतः उसमें स्थापित ज्ञान शक्ति को रामावतार में ग्रहण कर अब बल शक्ति द्वारा पूजा ग्रहण कर उसकी मुक्ति करेंगे इसलिये ही भगवान् का यह उद्यम है ॥ २२ ॥

आभास—ग्रहादिवशाज्जयो न जायत इति कदाचित्तस्य शङ्का स्यात्, अतस्तन्निराकरणार्थं सर्वेष्वेव नक्षत्रेषु युद्धं निरन्तरं कृतवानित्याह द्वन्द्वयुद्धमिति।

आभासार्थ—ग्रह आदि के वश से जीत नहीं होती है, इसलिये किसी को शंका होती हो, तो

१—प्रकृति शब्द का तात्पर्य है लोक धर्म का अनुसरण करना।

२—सत्ताईस नक्षत्रों को यहाँ काल कहा है।

३—आदि पद से कर्म और स्वभाव समझने चाहिए।

४—भगवान् ने जो सेवक पर मुष्टि प्रहार किये, तत्वों के पीड़ा के लिए युद्ध किया है, जिसका कारण सत्ताईस तत्वों की कठिनता छुड़ाना है।

उसके मिटाने के लिए समस्त नक्षत्रों में निरन्तर युद्ध करने लगे, जिसका वर्णन "द्वन्द्वयुद्धं" श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः ।
आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव ॥२३॥

श्लोकार्थ—जीतने की इच्छा वाले उन दोनों को आयुध, पत्थर, वृक्ष, द्रुम और भुजाओं से भारी भयंकर द्वन्द्व लड़ाई वैसे होने लगी, जैसे क्रव्य (माँस) के लिए बाज पक्षियों में आपस में होती है ॥२३॥

सुबोधिनी—उभयोरेव युद्धं द्वन्द्वयुद्धं सम्यक् प्रकारेण, न तु नटवदभिनयमात्रेण । तुमुलमविक्रमम् । प्रहारे सर्वबलविनियोगस्तुमुलता । उभयोर्विजिगीषतोरिति तथा करणे हेतुः । शीघ्रमेव प्रहारेण व्यथितः । युद्धं त्यजत्विति जेतुमिच्छा अज्ञानाज्जाम्बवतः जित एव जानातीति ज्ञापनार्थं भगवतः । तत्र युद्धसाधनान्यनेकान्याह आयुधेति । आदौ नानाविधान्यायुधानि । महाशूरत्वात् भगवतेऽपि दत्वा युद्धं करोतीत्येके । यदेवायुधं जाम्बवान् गृह्णाति, तज्जातीयमेव भगवानाविर्भावयतीत्यपरे । यदेव प्रक्षिपति, तदेव गृहीत्वा तेन प्रहरतीति वस्तुस्थितिः । अश्मानस्तु सुलभाः,द्रुमाश्च । सर्वेष्वेव भग्नेषु दोर्भ्यां दोर्भिः । ननु तस्य युद्धस्य को विधिरिति चेत्, तत्र दृष्टान्तमाह क्रव्यार्थे श्येनयोरिवेति । क्रव्यस्थानीयः स्यमन्तको मणिः, श्येनो वै वयसां बलिष्ठो भवति । यावत्स्यमन्तकप्राप्तिः, तावद्युद्धमित्यर्थः अत्यावश्यकमाग्रहं च जनयतीति क्रव्यतुल्यता । क्रव्यमुत्कृष्टमपक्वं मांसं सर्वथा जीवनार्थमपेक्षितम्, तथा लोकापवादनिराकरणार्थं भगवतोऽपेक्षितम् । तस्यापि भास्वरं जयेन प्राप्तमिति मोहादपेक्षितम् । क्षुत्पीडा च श्येनजातीयस्य गोमायोश्च नास्तीति बहूनर्थान् तुल्यान् दृष्ट्वा श्येनौ दृष्टान्तीकृतौ ।२३।

व्याख्यार्थ—दोनों की लड़ाई अच्छे प्रकार से होने लगी । यह लड़ाई नटों की तरह दिखावा मात्र नहीं थी, किन्तु वास्तविक घोर युद्ध था । सारा बल जिस युद्ध में लगाया जावे, उसको तुमुल युद्ध कहा जाता है ऐसी भारी लड़ाई का कारण यह था, कि दोनों चाहते थे, कि हमारी जीत होनी चाहिये, किन्तु भगवान् के प्रहार से शीघ्र दुःखी हो गया, लड़ाई बन्द हो, ऐसी इच्छा जाम्बवान् को होने लगी । तो युद्ध क्यों किया? जीतने की इच्छा से किया । परन्तु वह इच्छा, अज्ञान से उत्पन्न हुई थी । भगवान् ने तो समझ लिया कि मैंने जीत लिया, मेरा सेवक ही मेरे स्वरूप को जान सकता है, अथवा यह भगवान् है यों जताने के लिए कहता है, कि मैंने अज्ञान से जीतने की इच्छा की थी । अब युद्ध बन्द होना चाहिये, भगवान् ने मुझे जीत लिया । उस युद्ध में युद्ध के साधन अनेक थे । पहले तो अनेक प्रकार के आयुध थे, कोई तो यों कहते हैं कि जाम्बवान् बड़ा योद्धा था, इसलिये उसके पास इतने बहुत आयुध थे जो भगवान् को भी स्वयं आयुध देता था और कहता था कि अब लड़ो, दूसरों का कहना है, कि नहीं जैसा शस्त्र जाम्बवान् लेता था वैसा शस्त्र भगवान् प्रकट करते । वास्तव में वस्तुस्थिति ऐसी होता थी, कि जो शस्त्र जाम्बवान् भगवान् पर फेंकता था, उसी को लेकर भगवान् प्रहार करते थे । पत्थर तथा पेड़ तो सुलभ मिल जाते थे, वे सब टूट जाते तब भुजाओं से युद्ध करते

थे। इस युद्ध करने की विधि क्या है ? जिसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा दिया है, जैसे मांस के लिये बाज पक्षी लड़ते हैं, वे जब तक मांस अपने को न मिलता है, तब तक लड़ते हैं वैसे ही यहां जब तक मणि की प्राप्ति न हो जाय, तब तक लड़ते रहना, कच्चा मांस बाज पक्षियों को जीवन के लिये अवश्य अपेक्षित है, वैसे ही भगवान् को अपना कलंक मिटाने के लिये मणि की आवश्यकता अपेक्षित है। कलंक मिटकर सत्यरूप शोभा तब बढ़ेगी, जब यह मणि विजय से प्राप्त की जायेगी। इस प्रकार के मोह के कारण ही भगवान् को मणि अपेक्षित है। बाज जाति और शृगाल को क्षुधा से पोड़ा नहीं होती है अथवा क्षुधा और पीड़ा नहीं होती है। इस प्रकार बहुत अर्थों की समानता देखकर श्येनौ दृष्टांत दिया है ॥ २३ ॥

आभास—एवं युद्धस्य कालमाह आसीत्तदष्टाविंशाहमिति।

आभासार्थ—"आसीन्तदष्टा" श्लोक से युद्ध कितने दिन चला सो बताते हैं—

श्लोक—**आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः।**
वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—वज्र के प्रहार से भी कठोर मुकों से विश्राम लिए बिना दिन-रात अट्ठाईस दिन तक परस्पर दोनों लड़ते रहे ॥२४॥

सुबोधिनी—अष्टाविंशे दिवसे ज्ञानं जातमिति तदपि दिनं फलरूपं युद्धमध्ये गृहीतम्। इतरेतरमुष्टिभिः वज्रनिष्पेषादपि परुषैस्तद्युद्धं मध्ये विश्रामरहितम्। अहर्निशमिति ऐहिकावश्यककालकृतोऽपि विश्रामो नास्तीति सूचयति। भगवांस्तावत् प्रहारं करोति, यावत्स करोति, सोऽपि बलरूपो भवतीति वज्रनिष्पेषादपि तत्प्रहारः परुषः। अतस्तुल्यत्वात् न विरमणम्, नाप्येकस्य पराजयः। भक्तत्वाद्भगवतो न मारणीयः। भगवांस्त्वशक्य एव। अत्र काचिद्विरुद्धा कथा। महामायोपस्थानस्याग्रे निरूपितत्वात् तेन विरोधादुपेक्षणीया। कल्पान्तरीयेत्यन्ये समादधुः ततः कालकृतं तस्य बलमिति सप्तविंशात्मके काले प्रतीते। प्राकृतबलपक्षेऽपि अष्टाविंशतिप्रकारं तद्बलमिति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—अट्ठाईसवें दिन, जाम्बवान् को ज्ञान हुआ कि यह तो मेरे उपास्य स्वरूप हैं, वह दिन भी फलरूप होने से, युद्ध में गिना गया है. वास्तव में उस दिन लड़ाई नहीं हुई है, वज्र के प्रहार से भी कठोर घुंसों से जो इतने दिन लड़ाई बिना विश्राम के दिन रात चली, वह तुमुल भारी लड़ाई हुई, काल ने रात्रि विश्राम के लिये बनाई है, किन्तु वह कालकृत विश्राम भी न लेकर लड़ते रहे. जब तक वह प्रहार करे, उससे पहले भगवान् कर देते, वह भगवान् का प्रहार बलरूप हो जाने से वज्र गिरने से भी कठोर होता था, वे दोनों तुल्य होने से, विश्राम नहीं लेना चाहते थे, यों होते हुवे भी एक का भी पराजय न हो सका जिसका कारण यह था, कि जाम्बवान् भक्त था इसलिये भगवान् उसको मारना नहीं चाहते थे, भगवान् का तो अशक्य ही है, अतः दोनों वैसे ही रहे और लड़ते रहे। इस विषय में एक विरुद्ध कथा हरिवंश में कही गई है कि 'भगवान् ने जब जाम्बवान् के बिल में प्रवेश किया तब वसुदेव आदि लौट कर द्वारका आ गये वहां कहने लगे कि कृष्ण मर गये

हैं। यह कथा महामाया के उपस्थान से आगे कही गई है इससे यह विरुद्ध होने से उपेक्षा करने योग्य है दूसरे इस प्रकार समाधान करते हैं कि कथा दूसरे किसी कल्प की है, सप्तविंशात्मक काल पूरे होने पर उसका काल कृत बल भी पूरा हो गया, प्राकृत बल के पक्ष में भी अठ्ठाईस प्रकार का उसका बल था ॥ २४ ॥

आभास—यदैव पुरुषप्रकारः समागतः, तदैव तस्य विवेक उत्पन्न इत्याह कृष्णमुष्टीति ।

आभासार्थ- प्रकृति काल आदि का प्रकार गया और जब पुरुष प्रकार आया तब ही उसको विवेक आया जिसका वर्णन 'कृष्णमुष्टि'' श्लोक मे करते हैं—

श्लोक—कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः ।

क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के घूँसों के प्रहार से उसके अङ्गों के सब बन्धस्थल शिथिल हो गए और बल शक्ति क्षीण हो गई, शरीर पसीने से भर गया, तब जाम्बवान् अचम्भे में आ उनसे कहने लगा ॥२५॥

सुबोधिनी—तस्य क्षीणेऽपि बले भगवतो बलं न क्षीणमिति । पश्चादल्पप्रहारैरपि निष्पिष्टाङ्गः। अङ्गानां चोरुबन्धनानि यस्य । विशीर्णसर्वावयवो जात इत्यर्थः । हस्तपादादयो भग्नाः । ततः अशक्तः जिज्ञासायां प्रवृत्त इति वक्तुं बाह्याभ्यन्तराशक्तिमाह क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्र इति । अन्तःकरणे विवेकधैर्ये क्षीणे, गात्रेषु प्रस्वेदेन शरीरमपि क्षीणम्, निष्पीडितमिवाभूत् । ततो विस्मितो जातः । विचारे क्रियमाणे समागमनादिभिः प्राकृतधर्मैर्जीवत्वे ज्ञाते स्वसमानबलतैव कस्यापि नास्ति । ततोऽधिकबलः कथं जात इत्याश्चर्यम् । भगवत्त्वे वा कथमेवंरूपेणागत इति उभयत्र विरोधादतीव विस्मितो जातः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवान् का बल क्षीण हो गया किन्तु भगवान् का बल क्षीण न हुआ, अनन्तर थोड़े भी प्रहार से उसके अंगों के बन्धन ढीले पड़ गये जिससे सर्व अवयव शिथिल हुए, हाथ, पैर टूट गये, पश्चात् अशक्त हो यह कौन है ? इस प्रकार जानने की इच्छा की, बाहर तथा भीतर की शक्ति जाने से निर्बल हो गया, जिससे समग्र शरीर पसीने से व्याप्त हो गया। विवेक धैर्य सहित अन्त करण क्षीण हुआ, अङ्गों में पसीना आ जाने से शरीर भी कमजोर हो गया, वैसी स्थिति आ जाने से विशेष प्रकार से अचम्भे में पड़ गया विचार करने पर देखा कि इससे मिलाप आदि किया है तो यह प्राकृत धर्मों से जीव जाना जाता है, किन्तु कोई भी जीव मेरे समान भी बलवाला नहीं है, यह तो मुझसे भी अधिक बलवाला कैसे हुआ ? यह अचम्भा है, यदि भगवान् है तो इस प्राकृत रूप से कैसे आए ? दोनों परस्पर विरुद्ध देख बहुत ही अचम्भे में पड़ गया ॥२५॥

आभास ततो विरोधपरिहारे विचार्यमाणे लीलयापि प्राकृतवच्चेष्टा भवतीति निश्चित्य बलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च भगवानेवायमिति ज्ञात्वा स्वस्य पराजयः नातीव न इति ...मन-पीडाकरीति ज्ञापयन् भगवन्त स्तौति जा...

आभासार्थ —पश्चात् विरोध कैसे मिटे ? इसका विचार करने पर ध्यान में आया कि भगवान् की लीला करने के समय प्राकृतों की भांति चेष्टा[1] हो सकती है. यह निश्चय कर लिया; क्योंकि उन का विशेष बल तो प्रत्यक्ष देख लिया, अतः यह भगवान् ही है, यों जानकर इससे पराजय होना मन को विशेष पीड़ा नहीं करने वाली है, यों जताते हुए भगवान् की स्तुति 'जाने त्वां' से तीन श्लोकों द्वारा करता है।

श्लोक —जाने त्वां सर्व भूतानां प्राण ओजः सहो बलम्।
विष्णुं पुराण पुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम् ॥२६॥
त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत्।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथात्मनाम् ॥२७॥
यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षैर्वर्त्मादि-
शत्क्षुभितनक्रतिमिङ्गलोऽब्धिः।
सेतुः कृतः स्वयशसोज्ज्वलिता च लङ्का
रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि ॥२८॥

श्लोकार्थ—मैं आपको जानता हूँ, आप सब प्राणियों के प्राण, ओज, सह और बल हैं तथा विष्णु, पुराण पुरुष, उद्भवकर्त्ता और सर्व के नियन्ता काल रूप भी हैं, आप विश्व की रचना करने वालों के भी सृजन करने वाले हैं, जो रचे हुए सत् पदार्थ हैं, वे भी आप ही हैं, नाश करने वालों के भी काल रूप आप है, आत्मा के परमात्मा भी आप हैं। जिनके स्वल्प ही उद्दीपित क्रोध भरे कटाक्षों के पात से समुद्र के नक्र और मगर जब क्षोभित हो गए, तब समुद्र ने मार्ग दिया, अनन्तर समुद्र में पुल बाँधी, अपने यश से लंका को प्रकाशित किया, बाणों से राक्षसों के सिर पृथ्वी पर गिराये, वे रामचन्द्र प्रभु आप है ॥२६-२८॥

कारिका—राजसैः सात्त्विकैश्चैव तामसैस्त्रिभिर्गुणैः।
सम्पूर्णः सहितो विष्णुर्भगवानेव नान्यथा ॥१॥

१- प्रयत्न या कार्य

कारिकार्थ—राजस, सात्त्विक और तामस; इन तीन सम्पूर्ण गुणों के प्रकाश से युक्त यह भगवान् विष्णु ही हैं दूसरा कोई नहीं है ॥१॥

सुबोधिनी—कथं निवृत्त इत्याकाङ्क्षायां ज्ञात्वा निवृत्त इत्याह जान इति। ज्ञानमार्गानुसारेणापि ज्ञानं सम्भवतीत्यत आह त्वामिति। त्वामहं जाने। तत्र प्रकारानाह सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलमिति। प्राण आसन्यः, तस्य कार्यमोजः इन्द्रियशक्तिः। सहोऽन्तःकरणस्य। बलं शरीरस्य। एवं सर्वप्राणिषु बलात्मा कार्यकारणभेदेन विभक्तवीर्य आसन्यस्त्वमेव। एवं नरोत्तमत्वमुक्त्वा पुरुषोत्तमत्वमाह विष्णुमिति। विष्णुरधिकार्यपि भवतीति तावन्मात्रतां निराकर्तुं विशेषमाह पुराणपुरुषमिति। पुरुषोत्तमम्। किञ्च। तादृशोऽपि प्रभविष्णुः। लोकमुद्भावयति। प्रकर्षेण भावयति वा। किञ्च। अधीश्वरं सर्वनियन्तारं कालरूपम्। पूर्वं क्रियाशक्तिर्निरूपिता चतुर्धा रूपभेदेन। इदानीं ज्ञानशक्तिर्निरूप्यते चतुर्धा, ज्ञानं च चतुर्विधम्। नियामकमेकम्, इष्टसाधनतां ज्ञापयित्वा प्रवर्तकं द्वितीयम्, ततः फलदातृत्वेन स्थितं तृतीयम्. ततो निर्वाहकसर्वरूपं चतुर्थम्। तद्विष्णुपदेन प्रत्यवरोहक्रमेण अन्यैः पदैश्च निरूपितम् ॥२६॥

एवं पूर्णक्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेन भगवन्तं निरूप्य तस्य जगज्जन्मादिमोक्षान्तकार्याणि चत्वारि निरूपयति त्वं हीति। श्रुतयः सम्मत्यर्थं गृहीताः। विश्वसृजां तत्त्वानामपि त्वं स्रष्टा। सृज्यानामपि घटादीनां सत्स्वरूपं भवानेव। अनेन स्थितिरुक्ता। कलयतां कालमहादेवयमादीनामपि त्वं काल उपसंहारकर्ता। एवं सृष्टिस्थितिप्रलयानुक्त्वा मोक्षदातृत्वमाह परमात्मेति। आत्मनां सर्वेषामेव जीवानां परमात्मा फलरूपः सायुज्यस्थानमिति यावत्। तथात्मनां वा परमात्मत्वेन सेवमानानां परमात्मा मोक्षदाता। अथवा। भगवतः सर्वत्र वक्तुं सदंशस्योत्पत्त्यादिजनकत्वेन स्वरूपं भगवानित्युक्त्वा, चिदंशमपि भगवानेवात्मेति वदन्, आत्मत्वेनैवस्वरूपता सिद्धेति तन्नियामकान्तर्यामिरूपत्वेन भगवन्तं निरूपयति परेति ॥२७॥

एवं मूलकार्यरूपे निरूप्य य एव रामो मम स्वामी, स एव भगवानिति वक्तुं रामावतारपौरुषमाह यस्येषदिति। ईषदुत्कलितः पुष्पप्रायः क्रोधः, तत्रापि ऊर्ध्वं कलिकामात्रं जातः, सोऽपि मनस्येवेत्याह कटाक्षमोक्षैरिति। अल्पीयसि क्रोधे मनसि जाते दृष्टिस्तादृशी जाता। सापि न संपूर्णा, किन्तु कटाक्षरूपा, ते च पुनः दृष्ट्यवयवा. मोक्षरूपा इति ज्ञापयितुं कटाक्षाणां मोक्षा निरूपिताः। अल्पजीवाश्चेतनाः तैर्भीता भविष्यन्तीति किं वक्तव्यम्। ततः अब्धिरपि वर्त्म आदिशत्। मदुपरि मार्गं कृत्वा गच्छन्त्वित्युक्तवान्। ननु देय एव मार्गः, कथमुपायमुपदिष्टवानित्याह क्षुभितनक्रतिमिङ्गिल इति। नक्राणां तिमिङ्गिलानां च क्षोभं दृष्ट्वा तथोक्तवानित्यर्थः। अब्धिश्च आपो धीयन्ते अस्मिन्निति तासां निरन्तरमुत्पत्तिर्बाधिता स्यात्। अतो मर्यादारक्षार्थमपि तथोक्तवान्। अप्स्वभावः भगवत्कृतः। तेनान्यथाकर्तुं न शक्यत इति मार्ग एव कर्तव्य इति भगवानेव प्रार्थितः। अन्तरिक्षेणापि गमनेन गत्वा मारयितुं शक्यम्. तथा सति राक्षसैस्तुल्यता भविष्यतीति अलौकिके कर्तव्ये प्रस्तराणामेव समुद्रे प्लवनं निरूपितम्, न वानराणामिति भगवता सेतुः कृत इत्याह। क्रमेण चरित्रत्रयं निरूप्यते। सेतुबन्धो राजसः, दाहः सात्त्विकः, रक्षसां वधश्च शिष्ट इति। जलाग्न्यासन्यानां निमित्तत्वात् सत्त्वादिक्रमो वा। स्वयशसा लङ्का उज्ज्वलितेति। ऊर्ध्वं ज्वलिता ज्वालिता उज्ज्वलीकृता वा अनेनैतत् ज्ञापितम्, रघुनाथेनैव लङ्का प्रकाशितेति। अन्यथा लङ्कां को जानीयात्। नह्यन्यानि राक्षसस्थानानि लोके प्रसिद्धानि। इषुभिः क्षतानि स्वयमेव भूमौ पेतुः। क्षतमात्रेणैव भगवत्सामर्थ्यादेव पतितानि ॥२८॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवान् युद्ध से कैसे निवृत्त हुआ ? इसके उत्तर में कहा है कि प्रभु के स्वरूप को जब जान गया; तब निवृत्त हुआ, ज्ञान मार्ग के अनुसार भी ज्ञान होता है। अतः कहता है, मैं आपको जानता हूँ कि आप सकल प्राणियों के आसन्य प्राण हैं, उसका कार्य ओज अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति भी आप हैं, अन्तः करण का बल और शरीर का बल भी आप हैं, इस प्रकार सर्व प्राणियों में बलात्मा,कार्य कारण से जिसका वीर्य बांटा हुआ है वह आसन्य आप ही हैं,इस तरह नरों में उत्तम कहकर अब कहता है कि पुरुषोत्तम भी आप है; क्योंकि पुराण पुरुष विष्णु हो, यों तो केवल विष्णु कहने से अविकारी विष्णु समझा जाता, वैसा होते हुए भी लोक को प्रकट करने वाले तथा प्रकर्ष से भावित करने वाले होने से प्रभु विष्णु भी आप ही हैं, सबको नियम में रखने वाले कालरूप भी आप हैं। पहले रूप भेद से चार प्रकार की क्रिया शक्ति का निरूपण किया अब चार प्रकार से ज्ञान शक्ति निरूपण की जाती है, ज्ञान चार प्रकार का है, एक नियामक, इष्ट की साधनता जताकर प्रवृत्त करने वाला, दूसरा फलदातापन से स्थित तीसरा निर्वाह करने वाला सर्व रूप, चौथा है वह ज्ञान रूप अवरोह क्रम से और अन्य पदों से निरूपित है ॥ २६ ॥

इस प्रकार भगवान् के पूर्ण ज्ञान क्रिया शक्ति वाले स्वरूप का निरूपण कर, अब उनके जगत् के जन्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त चारों कार्यों का निरूपण करता है, कि विश्व की रचना करने वाले तत्वों का सृष्टा आप ही हैं, बने हुए कार्यरूप घट आदि का सत् स्वरूप आप ही हैं, यों कहने से स्थिति बताई, नाश करने वाले काल महादेव और यम आदि के भी कालरूप आप ही हैं, इस प्रकार सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्ता स्वरूपों को कहकर, मोक्ष दाता होने से परमात्मा आप ही हैं, अर्थात् समस्त जीवों की परम आत्मा होने से फलरूप आप हैं। सारांश यह है कि सायुज्य स्थान आप हैं, आपकी परमात्मा रूप से सेवा करने वाले जीवों को मोक्ष देने वाले परम आत्मरूप आप मोक्ष दाता हैं अथवा सर्व भगवान् हैं यों कहने के लिये सदंश से उत्पत्ति आदि करने वाले स्वरूप होने से, भी आप भगवान् हैं, चिदंश जीव का आप भगवान् ही आत्मा हैं, यों कहते हुए आत्मापन से ही सबकी स्वरूपता सिद्ध हो गई उनका नियामक अन्तर्यामी रूप भी आप भगवान् हैं यों निरूपण करने के लिये कहता है, कि 'पर'' रूप आप ही हैं, अर्थात् आप से उत्तम वा 'पर' कोई नहीं हैं इस विषय में सम्मति के लिये श्रुतियां ली हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार मूल स्वरूप के कार्यों का रूप वर्णन कर, जो ही राम मेरा स्वामी वही आप है, यों कहने के लिये, रामावतार के पराक्रमों का वर्णन करता है। अल्प ही उभरा हुआ फूल सम क्रोध, वह भी बढा हुआ कली जैसा हो गया। वह भी मन में ही उत्पन्न हो रहा था, थोड़ा भी क्रोध मनमें उत्पन्न होता है, तो दृष्टि भी वैसी हो जाती है। अर्थात् दृष्टि बदल जाती है। जिससे यह ज्ञान होता है, कि इसको क्रोध उत्पन्न हुआ है श्री राम की दृष्टि पूर्ण क्रोध से युक्त न थी, अतः कटाक्ष रूप हो थी, फिर वे दृष्टि के अवयव मोक्ष रूप थे यों जताने के लिये कटाक्षों के मोक्ष का निरूपण किया है। अर्थात् राम ऐसी स्थिति में अपनी दृष्टि के कटाक्षों को समुद्र पर फेंका जिससे डर कर समुद्र ने ही जब मार्ग दे दिया, तो चेतन जीव उनसे डरे उसमें कहना ही क्या है ? समुद्र ने डर से, भगवान् रामजी को कहा, कि यह मार्ग है, मेरे ऊपर मार्ग बनाकर आप निःसंकोच हर्ष से पधारिये। समुद्र को जाने का मार्ग दे देना चाहिये था ? उपाय क्यों बताया ? जिसके उत्तर में कहा है, कि समुद्र ने सोचा कि यदि रास्ता दूंगा, तो मेरे भीतर जो नक्र मगर आदि भंयकर जीव हैं, वे उनको कष्ट देंगे। अतः

मार्ग बता दिया अथवा समुद्र को संस्कृत में "अब्धि" नाम भी दिया है, वह इस लिये दिया है, कि इसमें निरन्तर पानी पैदा होता ही रहता है. यदि वहाँ से रास्ता दिया जाता तो पानी की उत्पत्ति में रुकावट हो जाती, अतः रास्ता न देकर ऊपर पुल बान्धने का उपाय बता दिया जिससे मर्यादा की भी रक्षा की गई इस प्रकार उत्पत्ति होने में जल का स्वभाव भगवान् ने बनाया है, इस तरह अन्य प्रकार से कर नहीं सकते, इसलिए भगवान् को ऊपर मार्ग बनाने की प्रार्थना की है, अन्तरिक्ष से भी जाकर मारा जा सकता था. इस प्रकार मारने से राक्षसों से समानता हो जाती, इसलिये कुछ अलौकिक भी दिखाना इस विचार से पाषाणों को ही समुद्र में स्नान कराते तैराना योग्य ही है। यह निश्चय कर पत्थरों से पुल बनवाई यों निरूपण किया है। यह पुल वानरों ने नहीं किन्तु भगवान ने सिद्ध किया है, भगवान् ने तीन प्रकार से चरित्र किया है। १-पुल बान्धना यह राजस चरित्र है। २-रावण की पुरी का वा रावण का दाह यह सात्विक चरित्र है, शेष राक्षसों का वध यह तामस चरित्र है, अथवा जलकार्य सत्व, अग्नि कार्य राजस आसन्य कार्य तामस है, इन कार्यों के निमित्त होने से तीन गुणों का क्रम है, श्री राम ने अपने यश से लंका प्रकाशित करदी वा जलाई इससे यह बताया कि रघुनाथ ने ही लंका को जगत में प्रसिद्ध किया नहीं तो लंका को कौन पहचानता था। जैसे अन्य राक्षस-स्थान, लोक में प्रसिद्ध नहीं वैसे वह भी नहीं होती, बाणों से क्षत हो राक्षसों के सिर स्वयं पृथ्वी पर गिर जाते, क्षत होते ही गिरने का कारण भगवान् का सामर्थ्य ही है॥२८॥

आभास—एवं कृते स्तोत्रे भग्नसर्वाङ्गं यथापूर्णं कृत्वा भगवानुवाचेत्याह इतीति।

आभासार्थ—जाम्बवान् ने जब इस प्रकार स्तुति की तब भगवान् ने उसके टूटे हुवे अंगों को पहले जैसे सिद्ध कर दिये और उसको "इति" श्लोक से कहने लगे।

श्लोक—इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः।
व्याजहार महाराज भगवान्देवकीसुतः॥२९॥

श्लोकार्थ—हे महाराज! इस प्रकार जिस रीछों के राजा को विशेष ज्ञान हो गया है, उसको देवकी के पुत्र अच्युत भगवान् स्पष्ट कहने लगे॥२९॥

सुबोधिनी—विशेषेण ज्ञातं विशेषज्ञानं यस्य, स्वभावतोऽपि महान्तमृक्षराजानम्, अच्युतः सर्वतः धर्मा अपि तस्य तथेति। एतत्प्रयोजनमुत्तरश्लोके वक्तव्यम्। तत्कृतपीडाभावाय वा। व्याजहार स्पष्टमुक्तवान्। निन्दितत्वात् कदाचित् व्याजेनापि वदेत्। अत एतदुक्तम्। महाराजेति संबोधनं सेवकापराधापरिगणनज्ञापनार्थम्। ननु कथं स्पष्टं वचनं कथं वा नाज्ञापितवानित्याह भगवानिति। सर्वसमर्थः। तादृशोऽपि देवकीसुतो भक्तकृपालुः। अतो युक्तमेवास्य स्पष्टवचनमिति भावः॥२९॥

व्याख्यार्थ—जिसको विशेष ज्ञान हुआ है, और जो स्वभाव से भी महान् है, क्योंकि रीछों का राजा है, अतः उस महान् ऋक्षराज को स्पष्ट कहने लगे इस का प्रयोजन उत्तर श्लोक में कहा जावेगा अथवा उसको जो पीड़ा हुई उस पीड़ा को मिटा देने के लिये स्पष्ट कहने लगे, भगवान् जो स्पष्ट कहने

लगे,वह स्पष्ट कहना छल से भी हो सकता है;क्योंकि रीछ ने ऐसे कार्य किये हैं, जो निन्दा के योग्य है, इसका स्पष्टीकरण करते हुवे परीक्षित् को महाराज सम्बोधन देकर, इस शंका का निवारण करते हैं कि सेवक के अपराधों को गणना नहीं की जाती है, आप राजा हैं इस बात को जानते हो हैं, स्पष्ट वचन क्यों कहे? आज्ञा क्यों न दी, इसका उत्तर देते हैं कि आप अच्युत एवं भगवान् हैं, अच्युत होनेसे सर्व समर्थ हैं अर्थात् आज्ञा करें वा स्पष्ट वचन कहें,उनकी जैसी इच्छा हो त्यों करें किंच देवकी के पुत्र हैं, वह स्वरूप तो भक्तों पर कृपा ही करता है, अतः इनका स्पष्ट वचन कहना उचित ही है ।।२६।।

आभास—वचनात्पूर्वमेव तस्य हितं च कृतवानित्याह अभिमृश्येति ।

आभासार्थ—स्पष्ट कहने से पहले ही उसका कल्याण किया जिसका वर्णन 'अभिमृश्य'' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अभिमृश्यारविन्दाक्ष. पाणिना शंकरेण तम् ।
कृपया परया भक्तं मेघगम्भीरया गिरा ।।३०।।

श्लोकार्थ—कमल नेत्र भगवान् ने परम कृपा से उस भक्त पर अपना कल्याण करने वाला हाथ फेरा और मेघ की गरज के समान गम्भीर आनन्द देने वाली वाणी से कहने लगे ।।३०।।

सुबोधिनी—तस्याभिमर्शोऽपि सकृत् कृतो नित्यं तिष्ठति । सामान्यस्यैव वाभिमर्शः सुखकरो भवति तत्क्षणम्, किं वक्तव्यमानन्दमयस्य । तत्रापि यस्मिन् क्षणे स निष्पादितः, ततःप्रभृति तथैवानुवर्तत इति पूर्वावस्थां ततोऽप्यधिकां वा प्राप्तवान् । मानसीं व्यथां दूरीकर्तुमाह अरविन्दाक्ष इति । दृष्ट्यैव सर्वसुखदायी । शंकरेण पाणिनेति । तस्मिन्नतिशयाधानमप्युक्तम् । येनाग्रे सद्बुद्धिरप्युत्पद्यत इति । एवं कायेन मनसा च सान्त्वनं कृत्वा वचसापि सान्त्वनमाह मेघगम्भीरयेति । मेघा हि शब्दत एव भाविवृष्टिं सूचयन्तः चिन्तादिसर्वतापहारका भवन्ति । तथाप्यनुचितं कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह कृपया परयेति । अनेन वा मानसं सान्त्वनम् । तमिति तथा स्तोत्रकर्तारं सान्त्वनोचितम् । त्रिविधसान्त्वनेऽपि हेतुर्भक्तमिति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—उनका इस प्रकार एक बार भी हाथ फिराना नित्य रहता है । सामान्य मनुष्य भी यदि यों हाथ फिरावे तो वह भी उस समय ही देता है, तो आनन्द मय का हस्त फिरे, तो उससे जो सुख होगा, वह कहा नहीं जा सकता है, उसमें भी जिस क्षण में वह कल्याणकारो हस्त धरा उस समय से लेकर, वह सुख वैसा हो बढ़ता रहता है यों उसकी जो पहले अवस्था थी उससे भी अब विशेष सुन्दर अवस्था हो गई अर्थात् भगवात् का शरीर पर हाथ का स्पर्श होने से उसके टूटे हुए अंग तो जुड़ गये किन्तु पूर्व से सुन्दर भी हो गये थे, न केवल अंग सुन्दर हुए किन्तु मन की व्यथा भी मिट गई क्योंकि भगवान् अरविंदाक्ष हैं, जैसे कमल से ताप मिटता है, वैसे भगवान् भी अपने कमल समान नेत्रों से भक्त के भीतरी व्यथा, यानि ताप को शान्त कर, सर्व प्रकार सुख देते हैं, कल्याण कर हस्त धरने से आश्रय भी दिया,जिससे आगे सद्बुद्धि भी उत्पन्न होती रहे। इस प्रकार काया तथा मन से सांत्वन।

देकर अब वचन से भी सान्त्वना करते है। मेघ सम गम्भीर वाणी से सान्त्वना दी। जिसका भावार्थ यह है, कि जैसे मेघ गर्जना कर बताते हैं कि हम वर्षा करेंगे, सुभिक्ष होगा चिन्ता मत करो, यह गर्जना सुन प्रजा का सुन का ताप मिट जाता है, वैसे ही भगवान् की वाणी से इसके ताप मिट गये। आज्ञा न कर स्पष्ट कहा, यह उचित सा नहीं था यों क्यों कहा ? इसका समाधान करने के लिये "परया कृपया" पद दिया हे जिसका आशय है, कि परम कृपा के कारण यों किया है। कृपा से जो किया जाता है, वह उचित ही है उसमें भा यहां परम कृपा है जिसके लिये क्या कहा जाय? इससे मानस सान्त्वना भी कहा समझा जा सकता है, "तं" शब्द से यह बताया हैं कि जिसने स्तुति की है, उसकी सान्त्वना करना उचित ही है, तीन प्रकार की सान्त्वना कहने का कारण यह है कि वह "भक्त" है ॥ ३० ॥

आभास—वाक्यमाह मणिहेतोरिति ।

आभासार्थ—"मणिहेतोः" श्लोक से वह स्पष्ट वाक्य कहते है —

श्लोक—मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम् ।
मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे रीछों के पति ! हम यहाँ बिल में मणि के लिए आए हैं; क्योंकि हम पर जो झूठा कलंक लगाया गया है, वह इस मणि से मिटाया जाएगा ॥३१॥

सुबोधिनी—अत्रागमने मणिरेव हेतुः। मणिं नेतुमागताः। बहुवचनं पूर्वदृष्टसर्वसाहित्यं सूचयति। हेतुशब्दो वा निमित्तवाची। मणिनिमित्तं वयं समागता इत्यर्थः। ऋक्षपत इति। ज्ञात्वैवागमनं निरूपितम्। अन्यथा बिले समागमनं न स्यात्। मणेरपि प्रयोजनमाह मिथ्याभिशापं प्रमृजन्निति। एतद्विस्तरेणोक्तमिति लक्ष्यते। मिथ्याभिशापः अकृतापकीर्तिकीर्तनम्। लोकाः अत त्त्वविद इति। दृष्टिमेव मन्यन्त इति। अमुना मणिना अभिशापं प्रमृजन् इहागत इति सम्बन्धः। यद्यपि अग्रे मिथ्याभिशापापगमः, तथापि क्रिया प्रारब्धेति वर्तमानप्रयोग एव युक्तः। एकवचनं तु मिथ्याभिशाप एकस्यैवेति। आत्मन इत्यावश्यकता अन्यथा भक्तेद्वारो न सम्भवतीति भावः ॥३१॥

व्याख्यार्थ – यहाँ आने में मणि कारण है, मणि लेने के लिये हम यहाँ आये हैं बहुवचन इस लिये कहा, कि पहले अपने साथ जो सब आये थे उनकी सूचना दी, हेतु शब्द निमित्त वाची है, अर्थात् मणि के निमित्त हम आये हैं हे ऋक्षपति! यहां मणि है यह जानकर ही हम यहाँ आये है, यह कारण नहीं होता तो हमारा इस बिल में आना नहीं होता, मणि लेने का भी प्रयोजन बताते हैं। यों भी आप न समझना कि मणि इतना सोना देती है इस लोभ से आये है वह प्रयोजन नहीं हैं, धन आदि की लालसा हमको बिलकुल नहीं है, किन्तु हम पर मणि ले जाने का झूठा कलंक लगाया गया है कि मैंने सत्राजित के भ्राता प्रसेन को मारकर मणि लेली है। इस नहीं किये हुवे कार्य का आरोपण झूठा कलंक लगाया गया है, यह अपकीर्ति सर्वत्र हो रही है लोक तो सत्य को जानते नहीं हैं, देखे हुवे

को प्रमाण मानते हैं, अतः यह मणि ले जा कर सारी कहानी सुना के अपना कलंक मिटाऊंगा, इस लिये ही हमारा आना हुआ है। यद्यपि आगे झूठी निन्दा मिट जाती, तो भी कार्य प्रारम्भ किया है इसलिये वर्तमान प्रयोग करना ही योग्य हैं। एक वचन इसलिये दिया है कि झूठी निन्दा एक की हुई है. "आत्मन:" पद आवश्यक था क्योंकि मेरी ही निन्दा हो रही है, नहीं तो भक्त का उद्धार ही न हो सकता यों भी है ॥ ३१ ॥

आभास—एवं स्वाभिप्राये निरुक्ते कथं देयमिति विचार्य तावन्मात्रे दत्ते स्वस्य सेवकत्वं न सिध्यति, याचितं सर्व एव प्रयच्छतीति स्वकन्यां च दत्तवानित्याह इत्युक्त इति।

आभासार्थ—इस प्रकार जब भगवान् ने अपना अभिप्राय स्पष्ट कह दिया, तब जाम्बवान् ने विचार किया कि इनको मणि किस प्रकार दूँ ? केवल मणि देने से तो मेरा सेवकपन सिद्ध न होगा, अतः माँगने वाले को सब ही देना चाहिये यह निश्चय कर, मणि तथा अपनी कन्या भी दी, यह "इत्युक्त" श्लोक में शुकदेवजी वर्णन करते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच–इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा।
अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥३२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा–भगवान् ने जब यों कहा, तब जाम्बवान् ने प्रसन्नता से अपनी जाम्बवती कन्या को लाकर कृष्ण के पास स्थापित की और पूजार्थ मणि भी दी ॥३२॥

सुबोधिनी- जाम्बवतः अपत्यं जाम्बवती, अनेन पालिता कन्या न भवतीति सूचितम्। ऋक्षाणां विधानान्तराभावात् दानमेव कृतवान्। सापि ततः पूर्वं कन्या अदत्तैव स्थिता। मुदेति भाग्यं जातमिति। भगवानपि पूजितः, कन्यायाः वरोऽपि प्राप्त इति। ततस्तस्या एव कन्यायाः दानसमये अर्हणार्थं मणिमपि दत्तवान्। एतद्-द्वयमपि न कुशोदकपूर्वकं प्रादात्, किन्तु उपजहार समीपे आनीय स्थापितवानित्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवान् की सन्तति जाम्बवती इस प्रकार नाम होने से यह कन्या जाम्बवान् की केवल पाली हुई नहीं है, किन्तु उत्पन्न की हुई है। रीछों के लिये कन्या का विवाह कराने का कोई विधान नहीं है। अतः दान ही की, वह कन्या पहले कहीं दी हुई नहीं थी। अप्रसन्न होकर नहीं दी किन्तु देने से प्रसन्न ही हुआ। कारण कि, समझने लगा कि मेरा सौभाग्य है, जिससे कन्या को ऐसा श्रेष्ठ वर मिल गया और मैंने भी भगवान् का पूजन किया। अनन्तर जब कन्या का दान भगवान् को देने लगा तब पूजन के निमित्त मणि भी भगवान् को अर्पण की, ये दोनों हाथ में कुश और जल लेकर भगवान् को नहीं दी थी किन्तु भगवान् के समीप आकर भेंट की भाँति धर दी ॥ ३२ ॥

आभास—एवमन्तःस्थितिमुक्त्वा बहिःस्थितिमाह अदृष्ट्वा निर्गममिति त्रिभिः।

आभासार्थ—इसी भाँति भीतर की दशा को कहकर, अब बाहर की हालत का वर्णन "अदृष्ट्वा" से लेकर तीन श्लोकों से करते है—

श्लोक—अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः।
प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः ॥३३॥
निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन्बिलात्कृष्णमनिर्गमम् ॥३४॥
सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः।
उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये ॥३५॥

श्लोकार्थ—भगवान् के संग गए हुए मनुष्य गुफा में न जाकर बाहर खड़े थे, भगवान् अकेले ही भीतर गए, संगी मनुष्य भगवान् के लौट आने की प्रतीक्षा में बाहर खड़े रहे। जब १२ दिन तक भगवान् बाहर नही आए, तब दुःखी हो अपने पुर को लौट गए। उन्होंने जाकर भगवान् का बाहर न आने का समाचार सबको सुनाया। वसुदेव, देवकीदेवी, रुक्मिणी, मित्र और बान्धव; कृष्ण का बिल से बाहर न आना सुन शोक करने लगे। वे दुःखी हुए द्वारकावासी सत्राजित को शाप देने लगे, इस प्रकार उसको गाली-गलोच करते हुए कृष्ण की प्राप्ति के लिए महामाया दुर्गा के पास गए ॥३३-३५॥

सुबोधिनी—प्रविष्टो हि तस्मिन्नेव दिवसे समायास्यतीति तत्रत्या बहिःस्थिताः निरन्तराकाङ्क्षया भोजनादिरहिताः द्वादशदिवसपर्यन्तं स्थित्वा द्वादशाङ्केष्वपि क्षीणेषु जना विवेकरहिताः भगवानपि शौरिरिति विशेषतस्तत्प्रमाणानभिज्ञाः दुःखिताः सन्तः द्वादशाहानि प्रतीक्ष्य स्वपुरं ययुः। 'संवत्सरप्रतिमा वै द्वादशरात्रय' इति। ततो येऽपि नागताः, तेऽपि द्वारकायां स्थिताः भगवन्निर्गमाभावं श्रुत्वा दुःखिता जाता इत्याह निशम्येति। स्त्रीणामविवेको भूयानिति। तत्रापि पुत्रस्नेहो महानिति देवक्यादिक्रम उक्तः त्रयो मुख्याः। अन्येऽपि सुहृदः सम्बन्धिनः ज्ञातयो गोत्रिणश्च बिलादनिर्गतं कृष्णं श्रुत्वा अशोचन्। वस्तुतत्त्वानभिज्ञाः। कृष्णो हि भक्तहितार्थमेवावतीर्णः। कथं विलम्बं कृतवानिति। एवं सर्वेषां शोकं राजसं दुःखमुक्त्वा तामसं सात्त्विकं चाह सत्राजितं शपन्तस्त इति। दुरात्मायं सत्राजित्, प्रसेनवन्म्रियतामिति। एवं शापे हेतुः दुःखिता इति। दुःखेऽपि विशिष्टो हेतुः द्वारकौकस इति। मथुरां परित्यज्य देशप्रान्ते द्वारकायां स्थिताः कृष्णैकशरणाः भगवत्यनागते दुःखिता भवन्तीति युक्तमित्यर्थः। द्वारकावासित्वेन तेषां शापोऽपि सत्राजिति फलिष्यतीति सूचितम्। सात्त्विकं दुःखमाह उपतस्थुर्महामायामिति। माया हि

भगवदुद्गमे प्रतिबन्धिका भवति · भगवांश्च तस्यै वरं दत्तवान् 'अर्चिष्यन्ती'ति। अतो भगवता दत्तो वरः अवश्यं तेनैव सत्यः कर्तव्य इति देवतान्तरभजनापेक्षया। भगवदाविर्भावार्थं दुर्गैवानुसन्धेया ॥३३-३५॥

व्याख्यार्थ— द्वारकावासी जो बाहर खड़े हो गये थे उन्होने सोचा था कि भगवान उसी दिन ही लौट आयेंगे, किन्तु भगवान् जब उस दिन नहीं लौटे तो दूसरे दिन सोचा कि कल नहीं आए तो आज तो आ हो जाएंगे यों निरन्तर आकांक्षा करते हुए उनको वहाँ बिना भोजन के बारह दिन बीत गये, इतने दिन निराहार रहने से उनके १२ अंग शिथिल हो गये, जिससे उनका विवेक जाता रहा, भगवान् भी शूरवंश में उत्पन्न हुवे हैं इसलिये उनके स्वभाव को न जान सके थे जिससे दुःखी हो १२ दिन उनकी राह देखकर अनन्तर अपने पुर अर्थात् द्वारका चले गये "संवत्सरप्रतिभावे द्वादश रात्र्य" इस वाक्यानुसार १२ रात्रियाँ भोजन के बिना संवत्सर के समान है।

जो साथ नहीं आये थे और द्वारका में ही स्थित थे वे भी भगवान् का बिल से बाहर न आना सुन कर दुःखी हुए, जिसका वर्णन 'निशम्य" श्लोक में हुआ है—

पुरुषों से स्त्रियों में अविवेक विशेष होता है, उसमें भी फिर पुत्र का स्नेह अधिक अविवेक करता है,इसलिये पहले देवकी से प्रारम्भ किया है,सम्बन्ध में तीन मुख्य होते हैं,माता,पिता और स्त्री। दूसरे भी सुहृद, मित्र, सम्बन्धी, ज्ञाति वाले और गोत्र वालों से भी सम्बन्ध होता है, अतः वे सब भी कृष्ण का बिल से बाहर न आना सुन कर शोक करने लगे। शोक करने का कारण यह था, कि वे वस्तु के तत्वों को नहीं समझते थे। श्रीकृष्ण तो भक्तों के हित के लिये ही प्रकटे थे,अतः कैसे विलम्ब किया है?

इस प्रकार सर्व का राजस शोक और दुःख कहकर अब तामस और सात्विक कहते है—

यह सत्राजित दुरात्मा है, जैसे प्रसेन मरा वैसे यह भी मरे तो अच्छा, इस प्रकार शाप देने लगे, शाप देने का कारण है, श्रीकृष्ण के बाहर न आने से दुःखी होना, दुःख में इससे भी विशेष कारण, यह भी था कि द्वारका वासी थे। मथुरा छोड़ कर देश के एक कोने में द्वारका है उसमें जाके रहे थे, वहाँ इनके रक्षक कृष्ण ही है उनके न आने से दुःखी होना उचित ही है। द्वारकावासी होने से, यह भी सूचना दी है, कि इन्होंने जो सत्राजित को शाप दिया है वह सफल होगा। सात्विक दुःख कहते हैं, कि माया ही भगवान् के प्रकट होने में बाधा डालती है, भगवान् ने उसको वर दिया है, कि तुझे सब पूजेंगे अतः भगवान् ने जो वर दिया है, वह वर उनको ही सत्य करना है, इसलिए अन्य देव की पूजा की अपेक्षा भगवान् के आविर्भाव के लिए दुर्गा की पूजा करनी चाहिये॥ ३३, ३४, ३५॥

आभास—एवं भक्तानां त्रिविधं दुःखं दृष्ट्वा स्वयमाविर्भावं कुर्वन्नेव कृतकार्यः अर्धमासव्रते कृत एवयमाविर्भूतः, स्ववाक्यमपि सत्यं कृतवानित्याह **तेषां तु देव्युपस्थानादिति**।

आभासार्थ—इसी तरह भक्तों के तीन प्रकार के दुःख देख कृतकार्य भगवान् अपना आविर्भाव करने लगे, द्वारकावासियों के १५ दिन का व्रत पूर्ण होते ही स्वयं प्रकट हुए, अपना वाक्य भी सत्य किया जिसका वर्णन "तेषां तु" श्लोक में करते है—

श्लोक—तेषां तु देव्युपस्थानात्प्रत्यादिष्टाशिषासवः।
प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन्हरिः ॥३६॥

श्लोकार्थ— देवी के उपस्थान करने से ज्यों देवी ने प्रसन्न हो आशीर्वाद दिया, त्यों ही कार्य सिद्ध कर स्त्री को भी संग ले हरि भगवान् सबको आनन्दित करते हुए प्रकट हो गए ॥३६॥

सुबोधिनी - प्रत्यादिष्टा: आशिषा सह असवो येन तादृशो भगवान् स्वयमेव समागतः। असुशब्दात् समासान्ता अच्प्रत्ययः। आशिषेत्यलुक् तृतीयायाः। प्रत्यादिष्टमुपदिष्टम्। प्रतिरानुगुण्ये। देव्युपस्थानात् या आशीः तया सह भगवान् प्राणानपि दत्तवानिति। अथवा। देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषा कृत्वा दुर्गाया आशीर्वादेन सवो यज्ञरूपः प्रादुर्भूतः। प्रत्यादिष्टाशिषां सवेति पाठश्चिन्त्यः। राजानं प्रति वा। वो युष्माकं भक्तानां स कार्यकर्ता सिद्धार्थः सन् प्रादुर्भूत इति। दुर्गाया वा आशीर्निराकृत्य प्रत्यादिष्टाशिषा कृत्वा स्वयमेव सर्वकामपूरको यज्ञः प्रादुर्भूतः। सिद्धार्थः स्यमन्तकसहितः। सदारः स्त्रीसहितोऽपि। हर्षयन् हरिरिति। हृष्टः सर्वाभरणभूषितः। भोजनादिना च पुष्टो, नतु ग्लानियुक्तः। यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता॥३६॥

व्याख्यार्थ—जिसने आशीर्वाद के साथ प्राण भी दिये वह भगवान् स्वयं ही आ गये, देवी के उपस्थान से जो आशीर्वाद मिला उसके साथ भगवान् ने प्राण भी दिये, अथवा देवी के उपस्थान से प्राप्त आशीर्वाद से यज्ञरूप भगवान प्रादूर्भूत हुए, "किसी पुस्तक की प्रति में "प्रत्यादिष्टाशिषां सवेः" पाठ है, वह विचारणीय है वा राजा के प्रति कहता है कि आप भक्तों के वह कार्य करने वाले भगवान् अपना कार्य पूर्णकर प्रकट हुए हैं अथवा दुर्गा के आशीर्वाद का निराकरण करके दी हुई आशीर्वाद से सर्व के कामनाओं के पूर्ण करने वाले यज्ञ रूप आप ही प्रकट हुए हैं, स्यमन्तक मणि को ले आने से अपना अर्थ सिद्ध किया है हर्ष उत्पन्न करते थे क्योंकि केवल मणि नही ले आये किन्तु साथ में स्त्री भी ले आये हैं और सर्व आभरणों से अलंकृत थे एवं भोजनआदि से पुष्ट हो कर आये थे, ग्लानि युक्त नहीं थे, कारण कि सर्व दुःख हर्ता हरि है ॥ ३६ ॥

आभास—ततः परमानन्दो जात इत्याह उपलभ्येति।

आभासार्थ—"उपलभ्य" इस श्लोक में कहते है कि भगवान् की प्राप्ति से परम आनन्द हुआ—

श्लोक—उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम्।
सहपत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—मानों मर कर पीछे आए हो, ऐसे श्रीकृष्ण को कण्ठ में मणि धारण किए हुए तथा स्त्री को संग में लेकर आने को पाकर सब लोग बड़े आनन्द मग्न हो गए ॥३७॥

सुबोधिनी—असभ्यो दृष्टान्तो लौकिकभाषायां न दोषाय। श्वशुरेणैव स मणिः कण्ठे निबद्धः। अतस्तदनुरोधेन मणिः स्वकीय एवेति ज्ञापयन् स्त्रीसहितो मणिग्रीवः स्वयमागतः। न केवलं समागमने अपकीर्त्यभावः, किन्तु निरोधोऽप्यनेन जात इत्याह सर्वे जातमहोत्सवा इति। हृषीकेशत्वात्तथैव तेषु प्रेरितवान् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—लौकिक भाषा में यदि असभ्य दृष्टान्त भी दिया जावे तो दोष नहीं है, ससुर ने ही वह मणि कण्ठ में बान्धी थी अतः उसके ही आग्रह से यह मणि अपनी ही है यों जताते हुए स्त्री सहित मणिग्रीव होकर आप स्वतः आ गये, आने में केवल अपयश का मिट जाना नहीं है, किन्तु इससे सम्बन्धी तथा भक्तों का आपसे निरोध भी हुआ है, जिससे सब अत्यन्त प्रसन्न हो उत्सव मनाते हुए आनन्द मय हो गये भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं इसलिये उनको वैसी ही प्रेरणा की ॥ ३७ ॥

आभास—एवमपि प्राप्य उपक्रमबलीयस्त्वार्थं समानयनार्थं प्रक्रान्त इति सत्राजितायैव दत्तवानित्याह सत्राजितमिति।

आभासार्थ—भगवान् इस प्रकार मणि को प्राप्त कर भी, उपक्रम बलवान् होने के कारण, मणि ले आने के लिये उद्यम करने लगे इस लिये वह लाई हुई मणि सत्राजित को ही दे दी जिसका वर्णन 'सत्राजितं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**सत्राजितं समाहूय सभायां राजसंनिधौ।**
प्राप्तिं चाख्याय भगवान्मणिं तस्मै न्यवेदयत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने सत्राजित को राजा के समीप सभा में बुलाकर मणि कैसे लाए हैं, वह सब समाचार सुनाकर मणि उसको दे दी ॥३८॥

सुबोधिनी—यदादौ भगवान् विचारयति, तदेव करोति। आदौ च तस्य स्यमन्तक इति प्रवृत्तः। न केनाप्युपायेन स्वकीयं मन्यते। अत एवाग्रेऽपि न ग्रहीष्यति। निबन्धे त्वन्योऽपि हेतुरुक्तः।

व्याख्यार्थ—भगवान् पहले ही जो विचार कर लेते हैं, वह ही करते हैं, यह स्यमन्तक मणि सत्राजित की है जिससे उसको किसी भी भांति अपनी नहीं मानते हैं. इस कारण से मिलने पर भी आप ग्रहण नहीं करेंगे निबन्ध में तो दूसरा ही हेतु कहा है।

कारिका—सर्वात्मनान्यहृदयं न गृह्णाति हरिः स्वयम् ।
सर्वात्मनाऽप्रपन्नं च नाशयेव सुयोधनम् ॥१॥ इति ।

कारिकार्थ—भगवान् आप जिसमें दूसरे का चित्त आसक्त है, वह वस्तु बिलकुल किसी प्रकार भी स्वतः नहीं लेते हैं, जो सर्वात्मभाव से शरण नहीं आया है, उसका तो दुर्योधन की भाँति नाश ही होता है ॥१॥

सुबोधिनी—सभायामाह्वानम् । पश्चाद्दुरात्मा अन्यथा वक्ष्यतीति, लज्जां च जनयितुम्, तत्रापि राजसन्निधौ निर्भयम् । यथा राजापि न ग्रहीष्यतीत्याज्ञापयितुं वा । प्राप्त्युपायं प्रकारं वा सम्यगुक्त्वा तत्सत्तां दूरीकृत्य मणिं तस्मै न्यवदेयत् । यतो भगवान् स्वेच्छो, मारयितुं वा, न कोऽपि ज्ञातवान् किमर्थं दत्तवानिति । निवेदनं 'तवेदमानीतं गृहाणे'ति ॥३८॥

व्याख्यार्थ - सत्राजित को सभा में बुलाया, वह दुरात्मा है, लज्जा आने से दूसरी तरह कहने लगेगा, उसमें भी राजा के सम्मुख निर्भय हो कर कहेगा जैसे राजा भी न ग्रहण करेंगे और आज्ञा भी न करेंगे । प्राप्ति का उपाय स्पष्ट रीति से बताया जिससे मणि पर उसकी सत्ता नहीं है यह सिद्ध कर दिया, फिर भी मणि उसको दे दी, यद्यपि भगवान् अपनी इच्छा वाले हैं मार भी सकते हैं, किन्तु मारा नहीं किन्तु मणि निवेदन की अर्थात् कहा कि यह मणि तुम्हारी है तुम लेलो, इस प्रकार देने के गुप्त भावार्थ को किसी ने भी समझा नहीं ॥ ३८ ॥

आभास— ततस्तस्य कृत्यमाह **स चातिव्रीडित** इति पञ्चभिः ।

आभासार्थ —अनन्तर उसका कृत्य "स चातिव्रीडित" श्लोक से पांच श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः ।
अनुतप्यमानो भवनमगमत्स्वेन पाप्मना ॥३९॥

श्लोकार्थ—अनन्तर वह अति लज्जित हो नीचे मुख कर मणि ले, अपने अपराध के कारण सन्तप्त होता हुआ घर को गया ॥३९॥

सुबोधिनी—लोभाद्दण्डभयाच्च गृहीत्वा लज्जितो जातः । लोके अपकीर्तिमुत्पादितवानिति अवाङ्मुखो जातः । ततः पूर्वोक्तादेव हेतोः अपकीर्तिजननात् । अनुतापोऽपि तत एव । अतोऽस्य प्रायश्चित्ते परलोकशुद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम् । न कोऽपि तस्य बन्धुरिति कमप्यपृष्ट्वा स्वभवनमेवागमत् । ननु रत्नं प्राप्य संतोषे कर्तव्ये कथमनुताप इति चेत्, तत्राह **स्वेन पाप्मनेति** । देवान्तरप्रसादापेक्षया भगवदपराधो महानिति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—उसको मणि लेने में लज्जा आने लगी, किन्तु लोभ से अथवा दण्ड के भय से मणि

ली. मैंने लोक में भगवान् की वृथा निन्दा करवाई. जिससे मुख नीचा कर दिया पहले कहे हुए अप-कीर्ति कराने वाले हेतु से पश्चाताप भी करने लगा, अतः इस प्रकार किये हुए पाप कर्म का प्राय-श्चित रूप पश्चाताप करने पर परलोक की शुद्धि होगी, यह जनाया है वहाँ उसका कोई भी बन्धु नहीं था, इसलिये किसीसे भी पूछे बिना अपने ही घर गया, मणि प्राप्त होने से तो संतोष होना चाहिये प्रत्युत इसने पश्चाताप कैसे किया ? इसके उत्तर में कहा कि अपने किये हुए भगवद् अपराध के स्मरण से पश्चाताप हुआ अन्य देव की प्रसन्नता को अपेक्षा भगवदपराध महान् है ।। ३९ ।।

आभास-बलवता विग्रहे आकुलः सन् तमेवार्थमनुध्यायन् जात इत्याह सोऽनुध्यायन्निति ।

आभासार्थ—बलवान् से विग्रह करने से व्याकुल हो, उसही कर्म का ध्यान करने लगा, जिसका वर्णन "सोऽनुध्यायंस्" श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सोऽनुध्यायंस्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः ।
कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाच्युतः कथम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—बलवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ विग्रह हो जाने से व्याकुल सत्राजित अपने किए अपराध का विचार करते हुए सोचने लगा कि यह अपना पाप कैसे दूर करूँगा और अच्युत मुझ पर प्रसन्न हो, इसका अब क्या उपाय है ॥४०॥

सुबोधिनी—अयत्नेनापि स एवार्थः ध्यातो भवति यद्यपि विग्रहः स्वयं न कृतः, नापि करिष्यति, भगवानपि न करोति, तथापि भगवदीयैः बलवद्भिः सह विग्रहः संभविष्यतीति व्याकुलता। अयं दोषस्तदापगच्छेत्, यदि भगवान् प्रसन्नो भवेत् । तदेव विचारयति **कथं मृजामीति** । स हि देवोपासक इति तस्य प्रायश्चित्ते मतिः । **रजः** पापम् । अच्युतस्य सर्वथा नित्यधर्मस्य अवश्यंभाविनरके हेतुभूतापराधस्य कृतत्वात् तत्प्रसाद एव तदपगम इति **प्रसीदेद्वाच्युतः कथमिति** विचारयति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वह यत्न नहीं करता था तब भी वही बात ध्यान में आजाती, जो कि विग्रह स्वयं नहीं किया है, और न करेगा, भगवान् भी नहीं करते हैं तो भी जो बलवान् भगवदीय हैं उनसे साथ विग्रह होगा, इसलिये घबराहट हो रही थी, यह दोष तब मिटेगा जब भगवान् प्रसन्न होंगे उसका ही विचार करता है कि कैसे इस पाप को मेटूंगा; वह उपासना करने वाला है, इसलिये उसकी बुद्धि प्रायश्चित में हुई है यहाँ "रज" शब्द का अर्थ है "पाप" जिसका कोई भी धर्म कभी भी कम नहीं होता है अर्थात् जिसके सर्वधर्म नित्य ही हैं, उसके अपराध से अवश्य नरक की प्राप्ति होने वाली है, जिसकी निवृत्ति उस प्रभु की कृपा से ही हो सकती है किन्तु वे प्रभु प्रसन्न कैसे हों ? इसका विचार कर रहा है ।। ४० ।।

आभास—यथा वाक्येन अपकीर्तिर्जाता । अधुना क्रियया कथं कीर्तिर्भविष्यतीति तदाह किं कृत्वेति ।

आभासार्थ—जैसे वाक्य कहने से अपकीर्ति हो गई, वैसे अब क्रिया से यश कैसे होगा ? वह "किं कृत्वा" श्लोक में कहता है—

श्लोक—किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा ।
अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—मैं क्या करूँ ? जिससे मेरा भला हो और अदूरदर्शी क्षुद्र, मूढ और द्रव्य लोभी को लोग शाप न देवे ॥४१॥

सुबोधिनी—मास्तु वा कीर्तिः, जनो लोकः यथा न शपेत् । शापे हेतुर्वाग्दोष एव मम, न त्वन्यदिति । स्वदोषाननुवदति **अदीर्घदर्शनमिति** । स्यमन्तकेन वचनेन वा इष्टमनिष्टं वा भविष्यतीति दीर्घदर्शनं कर्तव्यम्, तन्न कृतमिति सात्त्विको दोषः । तत्रापि हेतुः **क्षुद्रमिति** । अल्पोऽहं राजसः। महान्तो हि गम्भीरा भवन्ति । किञ्च । प्रथमवाक्योल्लङ्घनमेव मम दोषः पतितः । तत्र हेतुः **द्रविणलोलुपमिति** ॥४१॥

व्याख्यार्थ मेरी कीर्ति चाहे न हो, किन्तु लोक जैसे शाप न देवें । शाप देने में मेरी वाणी का दोष ही कारण है न कि दूसरा अपने दोष दिखाता है,मैं अदीर्घदर्शी हूं,स्यमन्तक मणि भगवान् ले गये इस वाक्य के कहने से लाभ होगा या हानि होगी, यह विचार न किया, यह दूरदर्शिता करनी योग्य थी इसलिए मैं अदूरदर्शी हूं, इसमें भी कारण यह है कि मैं क्षुद्र हूं अर्थात् अल्प व नीच राजस हूं, महान् पुरुष गम्भीर होते हैं, विशेष यह है, कि मैंने भगवान् की पहली आज्ञा न मानी, यह दोष मुझ पर पड़ा उसके न मानने का कारण यह था कि मैं धन का लोभी हूं ॥ ४१ ॥

आभास—एवं दोषत्रये कः प्रतीकार इति चिन्तायां क्रियमाणायां निमित्तभूतो मणिरेव देय इति स्वस्य स्फुरितः । तदा सूर्यः । न मणिर्देयः, अपि तु देयत्वात् कन्यैव देयेति । तर्हि उभयं देयम्, तथा सति भगवानपि संतुष्टो, लोका अपि न वाच्यं वदिष्यन्ति इति निश्चित्य, स्वाध्यवसायमाह **दास्ये दुहितरमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार मेरे तीन दोष हैं इसका प्रतिकार क्या है ? इस का विचार करते हुए इसके ध्यान में आया कि इन दोषों के होने का मूल निमित्त मणि है, वह मणि ही दे देनी चाहिये, मणि दी जाएगी तो सूर्य कहेंगे कि मणि मत दो, दोषों के मार्जन के लिये यदि देना है तो दान योग्य कन्या ही दो, अतः एक के देने से दोनों ही दी जाय तो अच्छा होगा भगवान् भी सन्तुष्ट होंगे और लोक भी निन्दा न करेंगे, यह निश्चय किया, उस निश्चय को "दास्ये" श्लोक में कहता है—

श्लोक—दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च ।
उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा ॥४२॥

श्लोकार्थ—उनको कन्या दूंगा, केवल कन्यारूप स्त्री रत्न नहीं, किन्तु मणि रत्न भी दूंगा, यह उपाय उत्तम है, इससे इनको शान्ति होगी, अन्य प्रकार से शान्त न होगे ॥४२॥

सुबोधिनी—तस्मै प्रसिद्धाय । सर्वथा ग्रहीष्यतीत्यत्र हेतुः स्त्रीरत्नमिति । यथा जाम्बवान् कायिकमपराधं कृत्वापि मणिं दुहितरं च दत्वा कृतार्थो जातः एवमहमपि भविष्यामीत्यभिप्रायेणाह रत्नमेव चेति । नन्वन्यः भक्तिमार्गानुसारी उपायः कथं न क्रियते, तत्राह उपायोऽयं समीचीन इति । व्यवहारे अस्मिन्नर्थे अयमेवोपायः समीचीनः, अन्यथा तस्य शान्तिर्न भविष्यतीति । स्वस्यार्थदुर्बुद्धिः, भवेदेवं यदि भगवान् (न) मणिं गृह्णीयात्, सर्वथा प्रपन्नता च न कृतेति ॥४२॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण नाम न देकर "तस्मै" पद देने का भावार्थ यह है कि लोक वेद में प्रसिद्ध जो पुरुषोत्तम हैं, वह यह ही हैं जो क्या कन्या को वे लेंगे ? इसके उत्तर में कहता है, कि सर्वथा ग्रहण करेंगे, क्योंकि स्त्री रत्न रूप है, जैसे जाम्बवान् कायिक अपराध कर भी मणि तथा कन्या देने से कृतार्थ हो गया वैसे ही मैं भी हो जाऊंगा, इस अभिप्राय से कहा कि कन्या के साथ मणि भी दूंगा इस उपाय से भी दूसरा कोई भी, भक्ति मार्गीय उपाय क्यों नहीं करते हो ? इसके उत्तर में कहता है, कि यह उपाय सुन्दर है, कारण कि यह व्यवहार का लौकिक कार्य है । लौकिक में लौकिक उपाय चाहिये जिससे यह उपाय उत्तम है । दूसरे उपाय से उनकी शान्ति न होगी, जो भगवान् मणि न ग्रहण करें तो अपनी आधी बुद्धि दुष्ट हैं यों मानूंगा और पूर्ण शरणागति नहीं हुई है ॥ ४२ ॥

आभास—न केवलमेवं विचारितवान्, किन्तु कृतवानित्याह एवं व्यवसित इति ।

आभासार्थ—केवल यों विचार ही नहीं किया, किन्तु वैसा किया भी, वह "एवं व्यवसितो" श्लोक में कहते है—

श्लोक—एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित्स्वसुतां शुभाम् ।
मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥४३॥

श्लोकार्थ—सत्राजित अपनी बुद्धि से ऐसा निश्चय कर अपनी सुन्दर कन्या तथा मणि स्वयं लेकर कृष्ण के पास आ उनको अर्पण की ॥४३॥

सुबोधिनी—बुद्ध्यैव, न तु कश्चित्पृष्टः । शुभां शोभनरूपाम् । विवाहे समलङ्कृतां स्वयं गृहे नीत्वा दोषपरिहाराय कृष्णाय सदानन्दरूपाय उपजहार । हेत्याश्चर्ये, कथमेवं कृतवानिति ।४३।

व्याख्यार्थ—अपनी बुद्धि से ही यह निश्चय किया, किसी दूसरे से पूछा भी नहीं, विवाह समय में जैसे समलंकृत की जाती है वैसे अलंकृत कर सुन्दर कन्या आप घर में ले जाकर दोषों के परिहार के लिये सदानन्द कृष्ण को अर्पण की "ह" पद आश्चर्य में है कि ऐसा कार्य सत्राजित ने कैसे किया ॥ ४३ ॥

आभास—ततो भगवानेकं गृहीतवान् एकं नेत्याह द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् ने दो में से एक ही ग्रहण की, जिसका वर्णन दो श्लोकों में किया है—

श्लोक—तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—सत्तचरित्र, सुन्दररूपा तथा उदारता आदि गुणों से युक्त बहुतों से माँगी हुई, उस सत्यभामा से भगवान् ने शास्त्रविधि अनुसार विवाह किया॥४४॥

सुबोधिनी—तां सत्यभामामिति । सत्येनैव भासत इति सत्यरूपा कान्तिरूपा च । यद्यपि तेन निवेदनमेव कृतम्, तथापि स्वयं यथाविधि उपयेमे । अन्यथा अन्यस्मै देया पतिष्यतीति । तत्र हेतुः बहुभिर्याचितामिति । सा हि पूर्वमन्यस्मै सन्दिग्धा प्रतिश्रुता । अतो विवादास्पदेति यथाविध्येव विवाहः कर्तु मुचितः । किञ्च । गुणा अपि तस्यां सन्तीत्याह शीलेति । शीलमन्तःकरणधर्मं इन्द्रियाणां वा क्रियारूपम् । रूपं शरीरस्य । औदार्यमन्तःकरणस्य । एवमुत्कृष्टैर्गुणैरन्विताम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—सत्य से ही जो प्रकाशित हो रही है, इस लिये सत्यरूपा कान्तिरूपा होने से, सत्य भामा नाम से प्रख्यात थी यद्यपि सत्राजित ने निवेदन ही की थी, तो भी भगवान् ने शास्त्र विधि अनुसार उससे विवाह किया, यदि भगवान् यों न करते तो अचानक दूसरे किसी को दे दे तो, क्योंकि पहले इसकी मंगनी बहुतों ने की थी जिससे अनिश्चित रूप से देने का विचार दिखाया भी था अतः यह कार्य विवाद का विषय था इसलिए विधिअनुसार ही विवाह करना उचित था और कन्या में योग्य गुण भी हैं स्वभाव सुन्दर था जो अन्तःकरण का धर्म है अथवा इन्द्रियों का क्रिया रूप है. रूप शरीर का धर्म है, वह भी सुडौल तथा श्रेष्ठ था उदारता थी वह भी अन्तःकरण का धर्म है । इस प्रकार उत्तम गुणों से युक्त कन्या जान, भगवान् ने उससे विधिपूर्वक विवाह कर विवाद को नष्ट कर दिया ॥ ४४ ॥

आभास—एकं गृहीत्वा द्वितीयं प्रत्याचष्टे भगवानाहेति ।

आभासार्थ—एक का ग्रहण कर दूसरी को लेने का "भगवानाह" श्लोक में निषेध किया—

श्लोक— **भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप ।**
तवास्तु देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः ।।४५।।

श्लोकार्थ—हे नृप ! भगवान् कहने लगे कि हम मणि की इच्छा वाले नही है, आप सूर्य देव के भक्त हैं, अतः यह आपके पास ही रहे; हम तो फल के भोक्ता हैं ।।४५।।

सुबोधिनी—ईश्वरत्वान्नात्र संनियोगशिष्टन्यायो वक्तुं शक्यः । **न मणिं प्रतीच्छाम** इति । विवाहे तु अहमेव प्रयोजकः । मणौ तु सर्वसम्मतिरपेक्ष्यत इति । अत एव **वयमिति** बहुवचनम् । नृपेति परीक्षित्संबोधनं भगवानाहेति वाक्ये संबध्यते, न तु भगवदुक्ते । राजानो हि तथा वदन्तीति ज्ञापनाय । किञ्च । द्वयं समर्पितम् । तत्रैकं ममास्तु, एकं च तवास्त्वित्याह **तवास्त्विति** । तत्र हेतु **देवभक्तस्येति** । अन्यथा सूर्यः क्रोधं करिष्यतीति भावः । तथापि निवेदितं कथं त्यज्यत इत्याशङ्क्याह **वयं च फलभागिन** इति । मणिफलमस्माकमपि भविष्यति । श्वशुरस्य धनसम्पत्तौ जामातैव भोक्ता भवतीति । चकारात् कश्चित्समुच्चितः । सत्राजितस्तु स्वात्मानं समुच्चिनोतीति प्रत्ययः । भगवदभिप्रायस्त्वक्रूरः । तस्मै पूर्वं तेन कन्या प्रतिश्रुता । उभयग्रहणे तस्य दुःखं भविष्यतीति भक्तहितं भक्तिमार्गं च सत्यं कर्तुं तथोक्तवानित्यर्थः ।।४५।।

व्याख्यार्थ श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, इसलिए यहाँ "संनियोगशिष्टन्याय" लागू नहीं होता है, हम मणि की इच्छा नहीं करते हैं, विवाह करने में (मैं) हम ही प्रयोजक है, मणि लेने में सबकी सम्पत्ति की अपेक्षा है इस कारण से ही "वयं" बहुवचन दिया है, नृप यह परीक्षित के लिये जो संबोधन दिया है वह भगवान् 'आह' इस वाक्य से सम्बन्ध है, अर्थात् शुकदेवजी राजा परिक्षित को सम्बोधन कर कहते हैं कि भगवान् ने सत्राजित को यों कहा राजा लोग इस प्रकार कहते हैं यह जताने के लिये आपने जो दो वस्तु एक कन्या और एक मणि उनमें से एक वस्तु (कन्या) मेरी हो और एक (मणि) तुम्हारी हो, क्योंकि तुम सूर्य देव के भक्त हो जो मणि अपने पास न रखोगे तो सूर्य देव क्रोध करेगा। मैंने तो निवेदन कर दी है, उसका आप त्याग कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि हम फल के भोक्ता है मणि का फल हमको भी मिलेगा क्योंकि ससुर की धन सम्पत्ति का लाभ जवांई लेता है, "च" पद से कोई इकठ्ठा किया हुआ पदार्थ, सत्राजित तो अपने को वा अपनी आत्मा को इकठ्ठा करता है प्रत्यय दिया हैं, भगवान् का अभिप्राय तो कोमल है उसने पहले उनको कन्या देने की प्रतिज्ञा की है दोनों ही ग्रहण करने से उनको दुःख होगा इसलिये भक्त का हित और भक्ति मार्ग को सत्य करने के लिये भगवान् ने वैसा ही किया है ।। ४५ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण का सातवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

जाम्बवती और सत्यभामा का विवाह

राग सारंग

हरि दर्शन सत्राजित आयौ।
लोगनि जान्यौ आदित आवत, हरि सौं जाइ सुनायौ॥
हरि कह्यौ आयौ है सत्राजित, मनि है ताके पास।
रवि प्रसन्न ह्वै दीन्ही ताकौं, यह ताकौ परकास॥
आइ गयौ सोऊ तिहिं अवसर, हरि तिहिं कह्यौ सुनाइ।
यह मनि अति अनुपम है, सो सुनि दै न सक्यौ ललचाइ॥
इक दिन तासु अनुज लै सो मनि, गयौ अखेटक काज।
ताकौ मारि सिंह मनि लै गयौ, सिंह हत्यौ रिछराज॥
रिछराज वह मनि तासौं लै, जाम्बवती कौं दीन्ही।
जब प्रसेन कौं बिलंब भई, तब सत्राजित सुधि लीन्ही॥
जहाँ तहाँ कौ लोग पठाए, काहूँ खोज नहिं पायौ।
तब लोगनि सौं कहन लाग्यौ, जदुराइ ताहि मरवायौ॥
हरि यह सुनत गए ता बन में, सो प्रसेन मृत देख्यौ।
सिंह खोज बहुरौ तहँ पायौ, सिंह बहुरि मृत पेख्यौ॥
बहुरौ जांबमंत पग देख्यौ, तहाँ जाइ जदुराई।
द्वादस दिवस अवधि आवन कहि, बिल में पैठे धाई॥
जामबंत दिन बीस चारि लौं, जुद्ध कियौ तब जान्यौ।
हाथ जोरि करि अस्तुति कीन्ही, मैं तुमकौं न पिछान्यौ॥
बिहँसि कह्यौ जादवपति तासौं, मनि कारन मैं आयौ।
जांबवती समेत मनि दै, पुनि अपनो दोष छमायौ॥
संग के लोग अवधि के बीते, कह्यौ नगर में जाइ।
मातु पिता व्याकुल ह्वै धाए, मग में बैठे आइ॥
मनि सत्राजित कौं प्रभु दीन्ही, रह्यौ सु सीस नवाइ।
सतभामा समेत लै आयौ, मनि कौं हरि सिर नाइ॥
और बहुत दायज दीन्हे उन, करि बिवाह ब्योहार।
भयौ परम आनन्द दुहूँ, दिसि मंगलचार अपार॥
मनि ताकी ताकौं फिरि दीन्ही, सुजस जगत में छायौ।
श्री गुरु चरन प्रताप चरित, यह सूरदास जन गायौ॥